संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायाः सप्तनवतितमं पुष्पम्

विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य्यविरचिता

कारिकावली

सिद्धान्तमुक्तावलीसंवलिता

'चन्द्रिका' हिन्दीटीकासहिता

सम्पादकः

प्रो. रमेशकुमारपाण्डेयः

कुलपतिः

सहसम्पादकः

डॉ. नोदनाथमिश्रः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016

कारिकावली

प्रो. रमेशकुमारपाण्डेयः

संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायाः सप्तनवतितमं पुष्पम्

विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य्यविरचिता

कारिकावली

सिद्धान्तमुक्तावलीसंवलिता

'चन्द्रिका' हिन्दीटीकासहिता

खण्डवलाकुलसमुद्भूतेन मिथिलान्तर्गत-मधुबनी-सतगामा
राज्याधिपेन श्रीहिमकरसाहबापरनामधेयेन श्रीमच्चन्द्रधारीसिंह-
शर्म्मणा निर्मितया चन्द्रिकाख्यया हिन्दीव्याख्यया
न्यायकोशादिभिश्चित्रावल्या च चमत्कृता।

सम्पादकः
प्रो. रमेशकुमारपाण्डेयः
कुलपतिः

सहसम्पादकः
डॉ. नोदनाथमिश्रः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली - 110016

प्रकाशक:
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानित-विश्वविद्यालय:)
कुतुब सांस्थानिकक्षेत्रम्
नवदेहली-११००१६

आई.एस.बी.एन : 81-87987-71-5

प्रकाशन वर्ष - 2015

© श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठस्य।

मूल्यम् : ₹ 450/-

मुद्रक:
अमरप्रिंटिंगप्रैस:
8/25 विजयनगरम्, देहली-११०००९
दूरभाष: : 9871699565

समर्पणम्

प्रभो, सर्वां शक्तिं त्वयि वदति वेदः, परमिमान्।
जनौघान् व्यापारैर्वलयसि निजादृष्टविवशान्।।
इतिन्याय-प्राप्तां पदकमलयोस्ते कृतिमिमाम्।
समर्प्याशासेऽहं बटुजन-पटुत्वं हिमकरः।।2।।

Babu Chandradhari Sinha

पुरोवाक्

भारतीय आस्तिक दर्शन में यद्यपि छह दर्शनों का परिगणन होता है, किन्तु मुख्यतः न्याय, मीमांसा और वेदान्त ये तीन विशिष्ट हैं। अन्य तीन सांख्य, योग और वैशेषिक किसी न किसी रूप में न्याय आदि के उपकारक ही हैं। वैसे 'न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि' इस श्रुतिवाक्य से न्यायदर्शन की प्रधानता मानी गई है। न्याय दर्शन सहित अन्य सभी दर्शन पद्धतियों में 'मोक्ष' को चरमलक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। सामान्यतः दुःखनिवृत्ति और तत्फलस्वरूप सुखशांति की प्राप्ति ही मोक्ष है।

न्याय दर्शन के जनक अक्षपादगौतम थे और उनके 'न्यायसूत्र' से इस दर्शन को प्रधानता मिली। इसी प्रकार नव्यन्याय का शुभारम्भ आचार्य उदयन के समय में हो गया था और उसे शास्त्रीय प्रधानता 'न्याय तत्त्वचिन्तामाणि' के रचयिता आचार्य गङ्गेशोपाध्याय से मिली।

न्याय शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः और नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः' इत्यादि प्रकारों से किए जाने पर प्रमाण द्वारा पदार्थ के परीक्षण में है। अर्थात् न्याय विद्या की प्रवृत्ति तीन प्रकार से होती है- उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा। पदार्थ का नाम निर्देश करना 'उद्देश्य' कहलाता है, तो परिचय के लिए उसके स्वरूप का निरूपण 'लक्षण' होता और लक्षण की उपयुक्तता का विचार 'परीक्षा' से होता है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन- ये पाँचों न्यायशास्त्र के अवयव हैं। शब्द, अनुमान, प्रत्यक्ष और उपमान ये चारों न्यायशास्त्रीय प्रमाण से संबद्ध हैं। इससे भी अधिक कहा जाय तो प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ न्याय दर्शन के प्रतिपाद्य विषय हैं।

वेद में सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए आत्मदर्शन की बात कही गई है–

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या वा विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति।'

(बृहदारण्यकोप. 4/2/5/1)

(आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से करना चाहिए)। अत एव उपपत्ति या तर्क द्वारा आत्मा के मनन स्वरूप उपासना के लिए न्यायशास्त्र की उत्पत्ति हुई। पहले आचार्य मुख से आगमोक्त आत्मा का श्रवण करना चाहिए, बाद में तर्क से उसका मनन करना चाहिए।

श्रोतव्यः पूर्वमाचार्यात आगमतश्च पश्चान्मन्तव्यस्तर्कतः। श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।

न्यायदर्शन सर्वशास्त्रोपकारक है। इसे प्राचीनकाल में आन्वीक्षिकी विद्या भी कहा जाता था।

सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिप्रकाशिका।
प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम्।।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।।

कहते हैं कि प्रायः शास्त्रार्थ और वाद-विवाद द्वारा विद्वज्जन अपने वैदुष्य का परिचय देकर एक दूसरे को परास्त करने में अपना गौरव समझते थे और इससे न्यायशास्त्र की महत्ता सिद्ध होती थी।

वस्तुतः न्यायदर्शन की अत्यन्त दूरूहता को देखते हुए तर्कविद्यार्णव विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य ने (1700 ई०) 'कारिकावली' की सरल व्याख्या करके 'सिद्धान्तमुक्तावली' नामक टीका के माध्यम से सुबोध और सरल बना दिया। तथापि वर्तमान युग में न्यायदर्शन की जटिलता

को अत्यधिक सरलरूप में आत्मसात् करने के लिए जिज्ञासु अध्यैषियों की हितकामना से, मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक विद्वान् खण्डबला-कुलभूषण तत्कालीन शासक श्री चन्द्रधारी सिंह शर्मा ने 'सिद्धान्तमुक्तावली' की 'चन्द्रिका' नामक हिन्दी टीका करके अत्यन्त सुबोध शैली में प्रस्तुत की थी। उन्होंने यह टीका परंपरागत शास्त्रार्थशैली में प्रस्तुत कर पठन-पाठन के लिए न्यायदर्शन के ज्ञातव्य प्रमुख विषयों को सरल किया। लगभग पचहत्तर वर्ष पूर्व वि.सं. 1995 सन् 1939 ई. से 'चन्द्रिका' टीका न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं का मार्गदर्शन करती हुई अपनी सुबोध्य शैली और मनोरमता के लिए ख्याति प्राप्त करती रही है। इसकी उपादेयता के बारे में तत्कालीन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रमुख विद्वान् श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण देव शर्मा, श्री दामोदर गोस्वामी, श्री शंकरतर्करत्न देव शर्मा, श्री बालकृष्ण मिश्र तथा काशी के अन्य प्रतिष्ठित विद्वान् श्री चण्डीचरण शुक्ल, श्री हरिहरकृपालु द्विवेदी आदि ने अपनी सम्मति द्वारा टीका की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। नैयायिक टीकाकार ने स्वयं अपनी भूमिका में स्वीकार किया है कि उनके न्यायशास्त्र के गुरु पण्डित पुण्यनाथ मिश्र के आशीर्वाद और प्रेरणा से न्यायदर्शन के अध्ययन को सुगम बनाने में वे सघन श्रम करने में समर्थ हो सके।

'चन्द्रिका' टीका युक्त 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' का प्रथम संस्करण सन् 1939 ई. में प्रकाशित हुआ था। तदुपरान्त उसका पुनर्मुद्रण नहीं हुआ और पुस्तक की प्रति भी प्राय: अनुपलब्ध रही, जिसका अभाव न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को प्राय: खलता रहा।

संयोग ऐसा आया कि टीकाकार के पौत्र प्रो. (डा.) श्रुतिधारी सिंह शर्मा जी के सौजन्य से उक्त दुर्लभ ग्रंथ की प्रति श्री ला.बा.शा. रा.सं.विद्यापीठ को उपलब्ध हुई और लोकोपकार की भावना से प्रेरित हो उन्होंने इसे प्रकाशित करने के लिए विद्यापीठ को अधिकृत किया। विद्यापीठ प्रो. सिंह की इस उदारता के लिए आभार व्यक्त करते हुए असीम आनन्द का अनुभव कर रहा है।

विवेच्य ग्रंथ की अन्य अनुपम विशेषता यह भी है कि इसमें 'न्यायकोष' के साथ-साथ पदार्थ की चित्रसारिणी तथा 'कारिकावली' का हिन्दी रूपान्तर भी परिशिष्ट में समाविष्ट है। आशा है यह ग्रन्थ विद्यापीठ की प्रकाशन शृङ्खला के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए न्यायदर्शन के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

सम्पादक

भूमिका

मानव-वृन्द की समस्त प्रवृत्तियों का मूल 'सुख की खोज' है। इन्द्रिय-जन्य सांसारिक सुख यद्यपि सुलभ होता है तथापि उसकी अवश्यम्भावी भङ्गुरता दीर्घदृष्टि विवेकी जनों को इस ओर से शीघ्र ही परावृत्त करने लगती है। क्षणिक सुख की प्राप्ति से असन्तुष्ट होकर बुद्धिमान् मनुष्यप्राणी नित्य सुख की खोज में अमृतत्व की प्राप्ति में संलग्न हो जाता है। हमारे दर्शन एवं शास्त्र इसी खोजके सुन्दर फल हैं।

पाश्चात्य शिक्षाभिमानी आधुनिक विकासवादी भलेही अपने मूल पुरुषोंको अज्ञानी, असभ्य और जंगली बताकर ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति का सेहरा अपने शिर वान्ध लें पर हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारे मूलपूर्वज त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनि थे जिन्होंने अपने समस्त अलौकिक ज्ञान का भण्डार वेदों में सञ्चित कर रक्खा है। हमारे ये वेद इस बातके अकाट्य प्रमाण हैं कि हमारे पूर्वजोंने किस प्रकार अमृतत्व की जिज्ञासा प्रारम्भ की तथा किन साधनों से किस प्रकार अमृतत्व का लाभ किया और हमारे कल्याण का मार्ग सदाके लिये परिष्कृत बना रक्खा।

हम 'आधुनिक विकासवाद' के सर्वाङ्ग-समर्थक नहीं। हमारी समझ से समय की प्रगति ऊर्ध्वमुखीन नहीं अपितु अधोमुखीन है। समय के प्रभाव से मनुष्य में शक्तिका ह्रास होता गया जिके परिणामस्वरूप वेदों के निगूढ़ तत्वोंका समझना कठिन होता गया। मनुष्य की इस बर्द्धिष्णु असमर्थता तथा अयोग्यता को ध्यान में रखकर समय-समय पर अधिकारी पुरूषों ने आवश्यकतानुसार वेदों की टीका, व्याख्या तथा नाना प्रकार से रहस्योद्घाटन किया। उनकी यह कल्याणेच्छा उपनिषद्, दर्शन, विविधशास्त्र, पुराण तथा इतिहास के रूप में आज भी हमारे सम्मुख विद्यमान है।

आवश्यक होने पर भी विस्तार भयसे हम इस विषय के वर्णन का अपना लोभ संवरण कर लेते हैं कि किस प्रकार मूलतत्वजिज्ञासा वेद मन्त्रों में बीजरूपेण वर्तमान है, किस प्रकार यही बीज ब्राह्मण और उपनिषदों के रूप में पल्लवित हुआ तथा किस प्रकार इसी पौधे ने वेदान्त के प्रकाण्ड वृक्ष का रूप धारण किया पर सभी तो वेदान्त के परमोच्च तत्व के अधिकारी नहीं। अतः यज्ञ-यागात्मक क्रिया-कल्प का प्रतिपादन करने वाले मीमांसाशास्त्र की रचना हुई जिसके द्वारा मध्यमाधिकारी अपनी तत्व-जिज्ञासा शान्त करते थे। इसी कोटि के अधिकारियों की भिन्न रुचि तथा भिन्न प्रवृत्ति को देखते हुए सांख्य, पातञ्जल इत्यादि दर्शनों का आविर्भाव हुआ। पर अभागे मनुष्य प्राणी को तत्व करने की अक्षमता काल की महिमा बढ़ती ही गयी और अन्त में न्यायदर्शन का आविर्भाव हुआ जो 'सर्व शास्त्रोपकारक' है जिस की प्रशंसा में पक्षिलस्वामी को भी मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ा है कि–

सेयमान्वीक्षिकी विद्याः प्रमाणादिप्रकाशिका
प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम्
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।

पर अब तो न्यायदर्शन अतिकठोर शास्त्र समझा जाता है जिसकी कठिनाई से त्रस्त होकर लोग इसके अध्ययन से अपना मुँह मोड़ने लगे हैं। तर्कविद्यार्णव विश्वनाथपञ्चानन अपने प्रियतम राजीव नाम के शिष्य को तर्क में अक्षय देखकर दया से आर्द्र हो गये और न्यायपदार्थों का इतस्ततः संकलन कर सिद्धान्तमुक्तावली का सीधा सरल स्वरूप उन्होंने खड़ा कर दिया। पर खेद का विषय है कि उक्त मुक्तावली भी अब सकल साधारण के लिये ज्ञानगम्य नहीं रही।

भौतिक विकास के इस युग में राजस और तामस प्रकृति के मनुष्यों की प्रधानता हो गई है। सत्त्व तो ढूँढने पर भी नहीं मिलता। सत्व-हीनता के कारण लोग तपस्या से पराङ्मुख हो गये हैं। कष्ट के भय से किसी विषय की दीर्घ-कालिक साधना का अभाव-सा हो रहा है। बाल-विवाह की बुरी प्रथा ने तो ब्रह्मचर्याश्रम का एक प्रकार से समूल उच्छेद ही कर डाला है। इस आर्थिक चिन्ता से सारा संसार व्यग्र

हो रहा है। विद्योपार्जन अब जीविकोपार्जन एकमात्र लक्ष्य हो गया है। उसका उपशम या आत्मसाक्षात्कार से कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

ऐसी अवस्था में सब शास्त्रों में ज्ञान-लाभ के लिये अति सुलभ ग्रन्थों की रचना आदरणीय होती जा रही है। समय का प्रभाव ही ऐसा है कि लोग किसी शास्त्र के विधिवत् अध्ययन में अधिक समय लगाना चाहते नहीं। अतः वे चाहते हैं ऐसी सरल रचना जिसके द्वारा अत्यल्प समय में उन जटिल ग्रन्थों का ज्ञान-लाभ कराया जा सके।

समय की यह बढ़ती हुई मांग देखते हुये शास्त्रीय विषयों पर उपयुक्त सरल ग्रन्थों का अभाव हमारे हृदय में बहुत दिनों से खटक रहा था। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने मुक्तावली को हिन्दी बाना पहनाने के इस कठिन कार्य में हाथ डाला है। हम यह अच्छी तरह समझते हैं कि 'सिद्धान्तमुक्तावली' ऐसे संस्कृत भाषा के दुर्गम्य न्याय-दर्शन के ग्रन्थ के भाल में राष्ट्रभाषा हिन्दी की बिन्दी लगाना हम जैसे अनधिकारी का कार्य नहीं है। यह कार्य्य हम से सुचारु रूपेण कभी भी सम्पन्न न हो सकेगा। हम यह भी भलीभांति जानते हैं कि इस कार्य को करके हम सुयश के भागी नहीं हो सकेंगे प्रत्युत लाञ्छना ही के मिलनेकी पूरी संभावना है फिर भी हमने इस दुरूह कार्य का बीड़ा उठा ही तो लिया और अपने इस चिर सञ्चित भावना को कार्यमें परिणत करही डाला क्यों और किस लिये? केवल भारत और भारती (राष्ट्र भाषा हिन्दी) की सेवा के लिये। सेवा का अधिकार तो सब को समान है।

जहाँतक हो सका हमने इस ग्रन्थ को सुलभ से सुलभ बनाने की भरपूर चेष्टा की है। अन्य अन्यान्य-ग्रन्थों से भी कुछ-कुछ सहायता लेकर इस ग्रन्थ को सजाने का प्रयत्न किया है जिससे इस एकही ग्रन्थ से समस्त न्यायदर्शन के पदार्थों का सार-रूपेण ज्ञान कराया जा सके। इस ग्रन्थ में हमने पदार्थ की चित्रावली भी लगादी है जिससे न्याय की कठोरता और जटिलता परिणत हो गई है मृदुता, सरलता और सुलभता में।

इस चित्रसारिणी के बनाने में हमें जिन कठिनाइयों का सामना और जैसा अथक परिश्रम करना पड़ा है वह सब तबही सार्थक होगा जब इस चित्रसारिणी से देश का कुछ उपकार हो। मुक्तावली को अति सुलभ बनाना ही हमारा एकमात्र ध्येय रहा है। न्यायपदार्थ की शुद्धता का पूर्ण रूपेण संरक्षण करते हुए, उसकी बारीकियों पर से ध्यान न हटाते हुए, उसकी उलझलनों को धैर्यपूर्वक सुझलाते हुए हमने यह भाषान्तर प्रस्तुत किया है। यह केवल भाषान्तर ही नहीं है। आवश्यकतानुसार ग्रन्थान्तर की भी बात इसकी पाद-टिप्पणी में दे दी गयी है। कहीं कहीं हमने अपना स्वतन्त्र-मत भी प्रस्थापित किया है। जैसे रूप-चित्र में की टिप्पणी में भास्वर नीलादि का हमने उल्लेख किया है। यद्यपि यह न्याय वैशेषिक सिद्धान्त के विरूद्ध है तथापि हमने अपने स्वातन्त्र्य का उपयोग करते हुए ऐसा लिखने का साहस किया है क्योंकि भास्वर नीलादि के चाक्षुष प्रमाण से शनिग्रहादि में उपलब्धि होती है। न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का कोष बहुत जगहों से संकलित कर बिस्तार रूपसे इस में जोड़ दिया गया है। चित्रावली और न्यायकोष इस ग्रन्थ की विलक्षणता है। पदार्थोंकी शुद्धता को अक्षुण्ण बचाये रखते हुए इस दुर्गम और जटिल ग्रन्थ को अति सरल, सुगम और सुबोध्य बनाने में हमने अपनी ओर से कुछभी उठा नहीं रक्खा है। अत्यल्प श्रम से जो न्यायपदार्थ का कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं वे 'न्यायकोषयुक्त सचित्र सिद्धान्तमुक्तावली के हिन्दी अनुवाद' का अध्ययन करने के अधिकारी हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि ईश्वर हमारी इस सेवा को जगदुपकार में अवश्य परिणत करेगा।

कृतज्ञता प्रकाश

हमारे न्यायशास्त्र के गुरु, नैयायिकप्रवर, देशप्रसिद्ध, स्मार्त श्री सदनमिश्र जी के सुपुत्र, स्वर्णपदकभूषित, न्यायोपाध्याय, लालगंज-ग्रामवास्तव्य, श्रोत्रियप्रवर पण्डित श्री पुण्यनाथ मिश्र जी हैं। ये जगतप्रसिद्ध पूज्यपाद पण्डित प्रवरश्रीशंकर मिश्र के साक्षात वंशधर हैं। इस वंश में सरस्वती निरवच्छिन्न विद्याधारा बहाती आ रही हैं। उच्च कोटि की विद्या

के साथ-साथ बंश की आचारपरायणता, सरलता, पवित्रता और धार्मिकता सुवर्ण में सुगन्ध के दृष्टान्त का स्मरण कराती है।

हमसे जो कुछ जनता की सेवा बन पड़ी है सब इन्हीं महानुभावकी कृपा का प्रसाद है। हमारी आशा है कि हमारे वंशज भी इनकी और इनके वंशजों की ओर हमारे ही समान श्रद्धा और भक्ति दिखलावेंगे। उपकृत रहना अन्तःकरण के विकास का एक प्रमुख लक्षण है।

चन्द्र-नगर ड्योढ़ी
मधुबनी। **श्री चन्द्रधारीसिंह शर्म्मा**

सम्मति-पत्राणि

श्री श्री विश्वनाथो विजयते

सर्वशास्त्रप्रदीपकल्पाया आन्वीक्षिक्याः सम्यक् परिचयमन्तरेण व्यावहारिकेषु आध्यात्मिकेषु च तत्त्वेषु जिज्ञासूनां धीमतामपि विवेको नितरां दुरवाप इति सुविदितमेव प्रेक्षावताम्।

तस्याः खल्वान्विक्षिक्यास्तत्त्वसमधिगमाय विरचितेषु नव्यन्यायग्रन्थेषु सिद्धान्तमुक्तावलीसहितो भाषापरिच्छेदो न्यायतत्त्ववुभुत्सुभिः प्रायः सर्वैरेव विद्यार्थिभिर्महता प्रयत्नेन समादरेण परिश्रमेण च समधीयते।

तत्खल्वध्ययनं प्रवीणात्मनैयायिकाध्यापकसाहाय्यं विना नैवसाफल्य मुपैतुमलम् तादृशाध्यापकान्तेवासित्वमपि साम्प्रतं विद्यार्थिनामतितमांदुः सम्पादनमेवेति तेषां सौर्य्येण न्यायतत्त्वसारसमधिगमाय विदुषां तर्करसिकानां मनोविनोदनाय च विरचिता गीर्वाणवाणीमयी सिद्धान्तमुक्तावलीसहित भाषापरिच्छेदस्य काचन नवीना हिन्दीमयी चापरा टीका खण्डवलाकुलदुग्धाब्धिसुधाकरेण मिथिलाप्रदेशान्तर्गत चन्द्रनगराधिपतिना व्याकरणशास्त्रमधिकृत्य न्यायव्यवसायविधायकेन प्राणायामपरायणेन सुशीलेन विनीताग्रेसरेण समुत्साहसम्पन्नेन श्रीमता चन्द्रधारिसिंहशर्ममहोदयेन। तत्रैका चन्द्रिकाभिधा द्वितीया चित्तरुचिराख्या तदिदं टीकद्वयं समवलोक्य महान्मे सन्तोषो जातः।

सिद्धान्तमुक्तावलीसमेतभाषापरिच्छेदवुभुत्सवो विशेषतो हिन्दी भाषाभिज्ञा विद्यार्थिनोऽस्य टीकाद्वयस्य साहाय्येनानायासतो मूलग्रन्थतात्पर्यनिर्णये प्रभविष्णवो भवेयुरितिमे सुदृढो विश्वासः। इति निवेदयति।

श्रीप्रमथनाथतर्कभूषणदेवशर्मा

महामहोपाध्यायः, डाइरेक्टर, हिन्दूविश्वविद्यालयः, काशी

श्री श्री गौरकृष्णःशरणम्।

चैत्रकृष्ण १३ सं० १९९४ बे

काश्याम्

मिथिलाऽधीशवंश मौक्तिकतल्लजेन श्रीमता श्रीचन्द्रधारिसिंहशर्मणा हिन्दी भाषयाऽऽरचितां न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीव्याख्यां स्थालीपुलाकन्यायेनावेक्ष्य टीकयैनयोक्तग्रन्थवाजिगमिषूँस्तदीयलेखादन्तरमायासम्नुभवतः कल्पशाखिनामरण्यानीमान्वीक्षिकीं प्रविविक्षूनविचिकित्समुपचिकीर्षुणि चेतस्यायत्ततां टीककस्यानुमाय प्रससिद्यानमासोऽन्तरमान्तमिव संमदं कतिपयाभिनन्दनाक्षरैः प्रचिकाशयिषुर्जगदीश्वराच्चन्द्रिकामाविष्कर्तुः सर्वपथीनंभावुक माशासानोमुधाविस्तरात् विरमतीति शम्।

दामोदरगोस्वामी (काशी)

श्रीमन्माध्व संप्रदायाचार्यः दार्शनिक सार्वभौमः

साहित्य दर्शनाद्याचार्य्यः न्यायरत्न तर्करत्नम्।

ओं शिवः।

मिथिलाजनपदान्तर्गत चन्द्रनगराधीश्वरः खण्डवलाकुलकमलभास्करः श्रीमान् चन्द्रधारिसिंहशर्मा महाशयो व्याकरणाध्ययनपादुर्भावित व्युत्पत्तिप्रतिभासितो न्याय व्यवसायपरायणः प्रथमानया हिन्दीभाषया मुक्तावली टीकां चन्द्रिकां प्रचुरचित्ररुचिरामरचयत्। स्थालीपुलाकन्यायेन यामवलोकभानस्य मे मानसंप्रमोद-मावहति। सेयं समीचीना वैशेषिकशास्त्रं समासतोऽक्सातुमुसुत्सुकानामुपकृतयेऽवश्यंभविष्यतीत्यस्या उपादातव्यतायां न विद्यते विप्रतिपत्तिः।

इत्यभिप्रैति।

श्री श्री शंकरतर्करत्नदेवशर्मा

हिन्दू विश्वविद्यालय-न्यायप्रधानाध्यापकः

विद्या धर्मेण शोभते।

एकस्याभाषायाः परस्यां भाषायामनुवादोऽतिकठिनः तत्रापिदार्शनिकग्रन्थस्यानुवादस्तु नितरामतिकठिनतमः। श्रीमद्भिश्चन्द्रधारिसिंह शर्म्मभिरति-

परिश्रमणातिविशदश्शुद्धोऽनुवादो विदुषां मनोहरोऽकारितमाम् इतिस्थाली पुलाक न्यायेनावलोक्यनिरचैषीदेष श्रीमतांजन:प्रमोदरसाप्लावित हृदय सरोज:।

चण्डी चरण शुक्ल:
भूतपूर्व गोयनका विद्यालय प्रधानाध्यक्ष:।
(कंशी)

श्रीगुरु: शरणम्।

श्रीमद्भि: मिथिलामण्डलमण्डनायमानै: सुप्रंसिद्धचन्द्रधारिमहोदयै: मुक्तावली चन्द्रिकानाम्नी हिन्दीभाषाग्रथिता मुक्तावलीटीका प्रणीय विदुषामग्रे स्थापित। प्रस्ताररूपेण न्यायशास्त्रसिद्धपदार्थानां कोष्ठकानिच कृतानि। इदंकार्य सिंह महोदयातामतीवप्रशंसार्हम्। प्राय: ''काणादंपाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारक'' मिति उक्तरीत्या धर्मशास्त्रादि ज्ञानमपि न्यायशास्त्रापरिज्ञाने असम्भावनीयमेव।

प्रत्यक्षं चानुमानंच शास्त्रंच विविधागमम् ।। त्रयंसुविदितंकार्यं धर्म शुद्धिनमभीप्सता।। पुराणन्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता:।। वेदा: स्थानानिविद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश। इत्यादि स्मृतिवचनान्यप्यमुमेवार्थ मुपोद्वलयन्ति। समयेऽस्मिन् संस्कृतभाषा प्रचारस्यातीव विरलतया महती विद्यानां धर्मस्य चाविशुद्धि: प्रसक्ता अत: भाषयाऽपि न्याय शास्त्रार्थप्रचारणं धर्मविवृद्धि कामानामभीप्सितमेवेदानीं वर्तते। तदिदं सर्वापेक्षितं महत्कार्यं श्रीचन्द्रधारीसिंह महोदयैरेतद्ग्रन्थ निर्माणमुखेन उपक्रान्तमिति दृष्ट्वा सभया महानानन्दोऽनुभूयते। कुशाग्रधिषणानामपि दुरवगाहे महत्यस्मिनन्यायशास्त्र-प्रपञ्चे सिंहमहोदयै: स्वग्रन्थद्वारा यत्पदार्थनिरूपणं कृतं दृष्टवत: कस्य वा सचेतस: सकौतुकानि चेतांसि न स्यु:। इदं-प्रथमोप्ययं प्रयत्न: प्रायेण साफल्यमाससादेति वक्तुमस्माकं जिह्वा नैव कुण्ठी भवति। शनिग्रहस्य नील-भास्वररुपवत्व कथनं कालिकपरत्वस्यातीन्द्रियत्व कथनं नित्यगतस्य तस्य नित्यत्वकथनं च यद्यपि तत्रापवादभूतं दृश्यते तथापि भूयसा हि व्यपदेशा भवन्ति।

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातमित्यादि रीत्यासिंहमहोदयस्य कृते: शोभा न कथमपि न्यूनीभवति प्रत्युत तदीय प्रतिभावैचित्र्यमुखेन सचेतसां चेतश्चमत्रोत्येवेतिभाषामय-न्यायशास्त्र प्रणयनेन

प्रत्यग्रमुदीयमानायास्मै सभया सानन्दं वहुशो धन्यवादा वितीर्यन्ते, इत्यलम्

श्री गीर्वाण वाग्वर्धिनी सभाया इति मतं सम्मन्यते।

सभापतिः मन्त्री

श्रीगणेशदीक्षितः **हरिरामशुक्लः**

श्री राजेश्वरशास्त्रि द्राविडस्याप्ययमर्थः सम्मतः

श्रीमदमृतमयसप्रखरकिरणनिकरनिराकृत निरवशेष सर्दाण (?) समावरणा करुणा तिमिर समुदयसमधिकदयोदय-कोविद-कुल कोमल मनः कुतुदानवरत समुल्लासनानलस-स्वभाव श्रीचन्द्रधारिसिहंशर्म सूरिभि-र्विरचितां न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीटीकां चन्द्रिकां स्रवत्सुधा-विन्दुवृन्दतया चन्द्रिकमिवामन्दानन्द-सन्दोहप्ररोहप्रदां स्थालीपुलाकन्यायेन निरीक्ष्य निरामन्त-रतूतुषम्।

अश्रममकृतश्रमाणामधुरीणधिषणानामपि अदसीयार्थवोधो जायता-मित्यैदम्पर्येण तात्पर्येणाभाषाशब्द विग्रहा अजातविग्रहा संस्कृतार्थाऽपि स्वयमसंस्कृता अनपेक्षितव्याकरणापि विदामुपादेया रुचिररचनाञ्चिता परोपकृतिप्रयुक्तजातात्मलाभा कृतिरियंविपश्चितां चेतांसि चिरं प्रचुरं चमत्करिष्यति इति पृथु प्रत्याशासे। कलिल-कलेवरे कलौ श्रीसरस्वती निरतिशय-प्रेमगेह देहानामीदृशां पुरुषधौरेयाणां वैरल्यं तथापि सन्तीति मत्वा बहुमुखमखिलस्य चेतसि सम्मदः समुल्लसति। सदागमपरायण मानसाना मूदृक्षाणां शरदां शतं सशर्मावस्थानं स्यादित्यनन्तेशमनन्तमनन्त मर्थये। संख्यातिगाश्च धन्यवादाः प्रदीयन्ते इति कृतं भूरि भाषितेन।

इति **हरिहरकृपालुद्विवेदी**

काशीस्थः

महामहोपाध्यायः गोयनकाविद्यालयप्रधानाध्यक्षः

Benares Hindu University
Principal M.M. Pandit Balkrishna Misra
College of Oriental Learning

२५–२–१९३८

सत्यामपि वर्धमानायां समृद्धौ सत्यपि प्रात्याहिक श्रौतस्मार्त योगादि क्रियाकलापानुष्ठाने श्लाघनीयेनोत्साहेन प्रेम्णा च नैसर्गिकेण व्याकरणन्यायशास्त्रयोर्यथाविधि श्रमक्रमाभ्यामध्ययनेन झटिति व्युत्पत्तिं कलयता खण्डवलाकुल-कैरव-कलाकरेण बाबूश्री श्री चन्द्रधारिसिंह महाशयेन सफललोकोपकाराय समस्तभारतप्रतिभासमानया हिन्दीभाषया निबद्धांसिद्धान्तमुक्तावली-टीकां टिप्पणीभिश्चित्रैश्च साकमामूलचूलमालोचित-वानसीमं परिष्कार: क्वचन च पौरस्त्योत्तरपक्षप्रतिपादनग्रत्यप्रतया कान्तिमातनोति मनसि पदार्थसार्थव्यवस्थापनेऽतितरां न चिराय साहाय्यमाचरन्ति रुचिराणि चित्राणि। पुरोदीरितायां भाषायामेवंविधमधुनावधि व्याख्यानं न केनापि निर्मितं प्रतिभाति।

अतएव स्तोकतोऽपि नास्तिपुस्तकस्यैतस्यैतस्योपादेयतायां विप्रति-पत्तिरिति।

बालकृष्णमिश्र:

विषयसूची

प्रत्यक्ष परिच्छेद

क्र.	विषय	पृ.सं.
i	*समर्पण : कारिकावली कर्ता का मंगलाचरण*	iii
ii	*पुरोवाक्*	v
iii	*भूमिका*	ix
iv	*सम्मति-पत्राणि*	xv
1.	विषय-निर्देश	2-6
	मंगलाचरण में नास्तिक की शंका	
	नास्तिक शंका पर प्राचीनों का मत	
	नास्तिक शंका पर नवीनों का मत	
	अनुमान द्वारा ईश्वर का मत	
	ईश्वर साधन में श्रुति प्रमाण	
2.	पदार्थ विभाग	7-8
	द्रव्यादि पदार्थों का भावत्वरूप से विभाग क्यों नहीं किया?	
	शक्ति और सादृश्य में पदार्थान्तरत्व शंका	
	शक्ति-पक्षी का उपपादन	
	सादृश्यपक्षी का उपपादन	
3.	शक्तिपक्ष का खण्डन	9
	सादृश्यपक्ष का खण्डन	
4.	द्रव्य विभाग	10-12
	द्रव्यत्व जाति पर शंका समाधान	
	तमस को दशवाँ द्रव्य मानने में शंका समाधान	
5.	गुण विभाग	13-15
	कर्म विभाग	
	सामान्य निरूपण	

6.	जाति-बाधक की विस्तर व्याख्या	16-17
7.	जातियों में परापरत्व साधन	18-20
8.	विशेष निरूपण	21-25
9.	समवाय निरूपण	26-29
10.	अभाव निरूपण	30-33
	सप्तपदार्थ साधर्म्यवैधर्म्य निरूपण	
	द्रव्यादि पाँचों का सा.वै. निरूपण	
	द्रव्यादि त्रय एवं गुणादि पाँचों का सा.वै.निरू.	
11.	सामान्यादि 4 का सा.वै.निरू.	34-36
	पारिमाण्डल्य से भिन्न का सा.वै.निरू.	
12.	त्रिविध कारणता निरूपण	37-39
13.	अन्यथासिद्ध पदार्थ निरूपण	40-41
14.	द्रव्यमात्रवृत्ति समवायिकारणत्व निरूपण	42-44
15.	गुण-कर्म-मात्रवृत्ति असमवायि कारणत्व निरू.	45
16.	नित्य द्रव्यभिन्न सा.नि.	46
17.	क्षित्यादि 9 का सा.निरू.	47-53
	क्षित्यादि 4 एवं मन का सा.निरू.	
	आकाशादि 4 का सा.निरू.	
	क्षित्यादि 4 और 5 का सा.निरू.	
	आकाश, आत्मा का सा.निरू.	
18.	क्षित्यादि त्रय का सा.निरू.	54-56
	क्षिति, जल का सा.निरू.	
	क्षिति, तेज का सा.निरू.	
	आत्मा भूत वर्ग सा.निरू.	57-62
19.	उक्त पदार्थों का वै.निरू.	
	प्रत्येक द्रव्य में गुणों का निरू.	
	क्षिति निरूपण	
	क्षिति में रूपादि 4 का निरू.	
20.	पृथ्वी द्विविधत्व निरूपण	63-67
	अनित्य पृथ्वी भेद निरूपण	
	अवयवी मानने में बौद्धों की शंका और उसका समाधान	

21.	पार्थिव शरीरादि निरू.	68–73
22.	जल निरूपण	74–82
	जल परमाणु साधारय्येन जलत्व जातिका साधन	
	जल में रूपादि निरूपण	
	जल नित्यानित्यत्व निरूपण	
23.	तेजो निरूपण	83–88
	तेजो विषयादि निरूपण	
	सुवर्णों में तेजस्त्व का अनुमान	
25.	वायुनिरूपण	89–91
	वायुत्वजातिसिद्धि	
	वायु में प्रमाण	
26.	वायु नित्यानित्यत्व एवं विषयादि निरूपण	92
27.	आकाश निरूपण	93–96
	आकाशानुमान	
	आकाशेन्द्रियविचार	
28.	काल निरूपण	97–98
	काल का अनुमान	
	काल में प्रमाणान्तर दर्शन	
29.	दिशा और उसमें एकत्व का निरूपण	99–100
	प्राच्यादिव्यवहार निरूपण	
30.	आत्मनिरूपण	101–107
	आत्मनिरूपण में नास्तिक का शंका समाधान	
	शरीरेन्द्रियात्म वाद खण्डन	
	मन आत्मवाद खण्डन	
31.	बौद्ध मत (क्षणिक विज्ञानरूप आत्मवाद खंडन)	108–125
	वेदान्त मत (नित्य विज्ञानरूप आत्मवाद खंडन)	
	सांख्य मत खण्डन	
	न्याय सिद्धान्त (स्वतन्त्र आत्मवाद) निरूपण	
32.	आत्मा में बुद्ध्यादि गुण निरूपण	126–129
	बुद्धि प्रभेद निरूपण	
	अनुभूति प्रभेद निरूपण	

	षड्विध प्रत्यक्ष निरूपण	
33.	घ्राणेन्द्रिय गोचर विषय	130–131
	रसना श्रोत्रेन्द्रिय गोचर विषय	
	चक्षुरिन्द्रिय गोचर विषय	
	चक्षुर्योग्यत्व गोचर विषय	132
34.	त्वगिन्द्रियगोचरविषय	133–135
35.	त्वङ् मनस्संयोग में ज्ञानकारणता का विचार	136–138
36.	मनोग्राह्य निरूपण	139
37.	निर्विकल्पकज्ञाननिरूपण	140–142
38.	6 प्रत्यक्ष में महत्त्व को कारणत्व का निरूपण	143–155
	द्रव्यादि के साथ महत्त्वसम्बन्ध का विचार	
	इन्द्रिय लक्षण	
	करण लक्षण	
	इन्द्रिय के षड्विध व्यापार	
	अनुपलब्धि कारणता निरूपण	
39.	त्रिविध अलौकिक व्यापार निरूपण	156–163
	सामान्य लक्षण निरूपण	
	ज्ञान लक्षण निरूपण	
40.	योगज सम्बन्ध निरूपण	164
	अनुमान परिच्छेद	
41.	अनुमान प्रमाण निरूपण	165–169
	परामर्श निरूपण	
	मीमांसक की शंका और उसका समाधान	
42.	व्याप्ति निरूपण	170–191
	व्याप्ति का सिद्धान्त लक्षण	
43.	पक्षतानिरूपण	192–199
44.	हेत्वाभासविभाग	200–220
	हेत्वाभास सामान्य निरुक्ति	
	त्रिविधा नैकान्तिक निरूपण	
	विरुद्ध निरूपण	
	सत्प्रतिपक्ष निरूपण	

	असिद्धि निरूपण	
	वाध निरूपण	
	साधारण निरूपण	
	असाधारणनिरूपण	
	अनुपसंहारिनिरूपण	
	विरुद्धनिरूपण	
45.	त्रिविधासिद्धयुदाहरण	221–222
	सत्प्रतिपक्षलक्षण	
46.	बाधोदाहरण	223–224
	उपमानखण्डनम्	
47.	उपमान प्रमाण निरूपण	
	शब्दपरिच्छेद	
48.	शब्दप्रमाणनिरूपण	227–245
	शक्तिनिरूपण	
	शक्तिग्राहक निरूपण	
	जातिशक्तिखण्डन	
	चतुर्विध पद निरूपण	
49.	लक्षणा निरूपण	246–259
	वाक्यलक्षणाखण्डन	
	समासशक्तिखण्डन	
50.	शाब्दबोध आसत्यादि का कारणत्व और उनका निर्वचन	260–272
	स्मृति प्रक्रिया	**273–275**
	स्मरण के प्रति अनुभव को कारणत्व का विचार	
51.	मनो निरूपणम्	276–278
52.	गुण निरूपण	279–290
	गुणसामान्यलक्षणम्	
	मूर्त्तान्यावृत्तिगुणनिरूपण	
	मूर्त्तावृत्ति गुणनिरूपण	
	मूर्तामूर्तोभय गुणनिरूपण	
	अनेकाश्रित.गुणनिरूपण	
	एकैकवृत्ति गुणनिरूपण	

	विशेषगुणनिरूपण	
	सामान्यगुणनिरूपण	
	द्वीन्द्रिय ग्राह्य गुणनिरूपण	
	बाह्यैकेन्द्रिय ग्राह्य गुणनिरूपण	
	अकारणगुणोत्पन्न गुणनिरूपण	
	करणगुणोत्पन्न-गुणनिरूपण	
	कर्मज-गुणनिरूपण	
	असमवायि कारण गुणनिरूपण	
	निमित्त कारण गुणनिरूपण	
	द्विविधकारण गुणनिरूपण	
53.	प्रादेशिक गुणनिरूपण	
54.	रूपनिरूपण	391-298
55.	रसनिरूपण	299
56.	गंधनिरूपण	300-301
	स्पर्श निरूपण	
57.	रूपादि में पाकजत्व और पाकजत्व का निरूपण	302-314
	वैशेषिक मत	
	क्षण प्रक्रिया	
	नैयायिक मत	
58.	संख्या निरूपण	315-317
59.	अपेक्षाबुद्धि निरूपण	318-319
60.	परिमाण निरूपण	320-324
61.	पृथक्त्व निरूपण	325-326
62.	संयोग-निरूपण	327-328
63.	विभाग-निरूपण	329-331
64.	पारत्वापरत्व-निरूपण	332-334
65.	अप्रमाज्ञान-निरूपण	335-336
	विपर्यास-निरूपण	
66.	संशयनिरूपण	337-340
	प्रमा और अप्रमा में गुणदोष-जन्यत्व निरूपण	
67.	प्रमा लक्षण	341-349

	निर्विकल्पक ज्ञान निरूपण	
	प्रमात्व स्वतोग्राह्यत्व परतोग्राह्यत्व विचार	
68.	व्याप्ति-ग्रहोपायप्रदर्शन	350–352
	तर्कस्वरूप प्रदर्शन	
69.	उपाधि-निरूपण	353–359
	उपाधि का प्रयोजन	
70.	शब्द और उपमान में पृथक्-प्रामाण्य व्यवस्थापन	360–362
71.	अनुमान त्रैविध्य	363–368
	व्याप्तिका द्वैविध्य	
	अर्थापत्ति की व्याप्ति में अन्तर्भाव	
72.	सुखनिरूपण	369–392
	दु:खनिरूपण	
	इच्छानिरूपण	
	द्वेषनिरूपण	
	प्रयत्ननिरूपण	
73.	गुरुत्वनिरूपण	393–405
	द्रवत्वनिरूपण	
	स्नेहनिरूपण	
	संस्कारनिरूपण	
	धर्माधर्म (अदृष्ट) निरूपण	
74.	शब्दनिरूपण	406–409
	परिशिष्ट : चित्र सारिणी	**410**

॥*॥ श्री गणेशाय नमः ॥*॥

अथ न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली

चन्द्रिकाटीकासहिता

कारिकावली-१

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥१॥

[१]विवादग्रस्तसत्त्वाय काणादाप्तस्थिताय च।
जगदुद्धारबीजाय जगन्नाथाय ते नमः॥

का० अर्थ-

नवीन मेघ की कान्ति के सदृश (फलोन्मुख) कान्ति वाले, तथा गोपों की युवती स्त्रियों के कपड़ों को चुरानेवाले संसाररूप वृक्ष के बीज (निमित्त कारण) जो विश्व प्रसिद्ध कृष्ण भगवान् उन्हें (मेरा) नमस्कार है।

मु० मङ्गल-

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः॥१॥

---

१. विगाद से ग्रस्त है सत्त्व जिसका (एतावता वौद्धादि षड्विध नास्तिकों के वितण्डावाद से सन्दिग्ध हो गया है आस्तिकाभिमत-"ईश्वरोस्ति" इत्याकारक सत्त्व जिसका) पुनः काणाद से आप्त है स्थिति जिसकी (अर्थात् कणादप्रणीत न्याय शास्त्र प्रतिपादित युक्ति परम्परा ही से स्थिति=अवस्थान जिसका) पुनः जगत्=जीव मात्र के उद्धार का बीज=निमित्त कारण है (याने ब्रह्माण्ड में सुखी, दुःखी स्थावर, जंगम सबका उद्धार करने वाला) ऐसे तुझ जगत् के नाथ को मैं नमस्कार करता हूँ। स्थित शब्द में "क्त" प्रत्यय भाव में किया गया है।

मु॰ अर्थ—

चूड़ामणि के समान व्यवहृत हुआ है चन्द्रमा जिनसे (अर्थात् आरोपित चूड़ामणित्ववच्चन्द्रसमलंकृत) एवम् वलय के समान व्यवहृत किया गया है वासुकी नाग जिनसे ऐसे जो स्वेच्छा हेतुक ताण्डव नृत्य में निपुण भव (महादेव) वह कल्याण के लिये हों।

विषयनिर्देश—

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशंवदः॥२॥

वि॰ अर्थ—

मैं अपने राजीव नाम के शिष्य के प्रति दया से वशीभूत होकर प्राचीन आचार्य्यों के शब्द से अत्यन्त संक्षिप्त वचन प्रतिपाद्य युक्ति के अनुसार स्वरचित कारिकावली को अनायास विशद करता हूं।

विषयनिर्देश—

[१]सद्द्रव्या गुणगुम्फिता सुकृतिनां सत्कर्मणां ज्ञापिका।
सत्सामान्यविशेषनित्यमिलिताऽभावप्रकर्षोज्ज्वला ॥
विष्णोर्वक्षसि विश्वनाथकृतिना सिद्धान्तमुक्तावली।
विन्यस्ता मनसोमुदं वितनुतां सद्युक्तिरेषा चिरम्॥३॥

वि॰ अर्थ—

इस श्लोक के दो पक्षों में अर्थ होते हैं जिसमें मुक्तावली (मोतीमाला) उपमान है और न्याय-सिद्धान्तावली रूप ग्रन्थ उपमेय है। एतावता सद्द्रव्यादि पदवत्त्व धर्म्म से मुक्तावली निरूपित सादृश्य ग्रन्थात्मक उपमेय में ग्रन्थकार से रूपक के लिये सूचित किया गया है। यथा—न्याय-सिद्धान्तावली सद्रव्य है नव द्रव्य से युक्त है, चौबीस गुणों से गुथी है, उत्क्षेपणादि पञ्चविध कर्म की बोधिका है, सामान्य, (जाति) विशेष, नित्यमिलित (समवाय) पदार्थों से युक्त है, अभाव पदार्थ के प्रकर्ष की (वाद प्रतिवादपूर्वक स्थापना की चातुर्विध्य की) प्रकाशिका है और सत्

---

१. सद्रव्येति पाठान्तरम्।

(साधु) युक्ति (उपपत्ति) सहित है। द्वितीयपक्ष में–सत् (उत्तम) द्रव्य से (हीरकादि से) युक्त (है,) गुण से (सूत्र से) गुथी (है), धार्मिकों के धर्म्म की ज्ञापिका (है), क्रमिक सामान्य, विशेष (छोटी बड़ी) गुटिका से निरन्तर संगठित (है), अभाव (तेजोऽभाव=अन्धकार) में प्रकर्ष से प्रकाश करने वाली है, एवम् सत् (उत्तम) युक्ति (गुटिकाओं के योग) से रमणीय है, ऐसा मोती-माला-स्वरूप यह ग्रन्थ विष्णु के वक्षस्थल (हृदय) में विश्वनाथ (ग्रन्थकार) से अर्पित किया हुआ विद्वानों के मनोमोद को चिरकाल बढ़ावे।

मुक्तावली–

(१) विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति। (२) नूतनेत्यादि। ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसं प्रति नवा समाप्तिं प्रति कारणं विनापि मङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरिसमाप्तिदर्शनादिति चेन्न॥

मु॰ अर्थ–

(१) (ग्रंथ की समाप्ति और उसके प्रचार आदि के प्रतिबन्धकरूप) विघ्नके ध्वंसार्थ किये हुये मंगल को ग्रन्थारम्भ ही में ग्रन्थकार निवद्ध करते हैं; ताकि शिष्यलोग भी ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करें। (२) यहाँ ग्रन्थकार शङ्का करते हैं कि–आप ग्रन्थसमाप्ति के प्रति वा विघ्नध्वंस के प्रति मंगल में कारणता नहीं मान सकते क्योंकि नास्तिकों के ग्रंथ बिना मंगल के भी निर्विघ्न समाप्त होते हैं। कारणता सर्वत्र अनन्यथा सिद्ध अन्वय और व्यतिरेक के ग्रह से सिद्ध होती है। नास्तिक ग्रन्थ में मङ्गलाभाव में भी समाप्ति होने के कारण व्यतिरेक व्यभिचार है। [१]एवम् कादम्बरी ग्रन्थ में मङ्गल रहते भी समाप्ति नहीं है; अतः अन्वय व्यभिचार है। किन्तु ऐसा सम्यक् नहीं है।

(३) अविगीतशिष्टाचार विषयत्वेन मङ्गलस्य सफलत्वे सिद्धे तत्र च फलजिज्ञासायां सम्भवति दृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया

१. "मंगलम् समाप्ति जनकत्वाभाववत् समाप्ति समानाधिकरणाभाव प्रतियोगित्वांत्" यथा घटः इस अनुमानसे मंगलमें समाप्ति जनकत्वाभाव सिद्ध होता है।

अन्याय्यत्वात् उपस्थितत्वाच्च समाप्तिरेवहि फलं कल्प्यते। (४) इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते। (५) यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र बलवत्तरो विघ्नो विघ्न प्राचुर्य्यं वा बोध्यं, प्रचुरस्यैवास्य वलवत्तरविघ्ननिराकरणकारणत्वं, विघ्नंध्वसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः॥

(३) (समाधान) "मङ्गलं सफलम् अविगीतशिष्टकृतिविधेयत्वात्" "मङ्गलं समाप्तिफलकम् समाप्तीतर फलाजनकत्व समानाधिकरण सफलत्त्वात्" यहाँ प्रथम अनुमान से अनिन्दित और सकल कर्म्मारम्भ में भ्रमरहित शिष्टों का प्रयत्न विशेष मङ्गलाचरण में रहने के कारण फलकारणत्व की सिद्धि होती है। कि सफल की कारणता है? ऐसी फलजिज्ञासा में समाप्तिरूप दृष्ट फल को त्यागकर अदृष्टफल कल्पना आचार्य्यों से अयुक्त मानी जाने के कारण उपस्थित समाप्तिरूप मङ्गल का फल द्वितीय अनुमान से सिद्ध करते हैं। (४) ऐसा अनुमान होने पर नास्तिक ग्रन्थ में जहाँ मङ्गल प्रत्यक्ष नहीं है और समाप्ति है वहाँ "अयं नास्तिकग्रन्थः स्वानुकूलव्यापारवत्पुरुष प्रयत्न जन्यत्वरूप साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन मङ्गलवान्" स्वप्रतियोगि चरमवर्णघटितत्वसम्बन्धेन समाप्तिमत्वात् (चरमवर्णध्वंसरूप फलवत्वात्) भारतादिवत् इस जन्मान्तरीय मङ्गलानुमान द्वारा उक्त व्यतिरेक व्यभिचार का वारण होता है। (५) जहाँ मङ्गलाचरण है और समाप्ति नहीं है वहाँ बलवत्तर विघ्न या विघ्न का प्राचुर्य्य समझना चाहिये। "वलवत्तर विघ्नध्वंसप्रति प्रचुरमङ्गलं कारणम्" अथवा "प्रचुर विघ्नध्वंसं प्रति प्रचुरमङ्गलङ्कारणम्" इस प्रकार कार्य्यकारण भाव मानने से बलवत्तर विघ्न वा प्रचुर विघ्न के ध्वंसानुकूल प्रचुर मङ्गल के अभाव प्रयुक्त विघ्नध्वंस और मङ्गल के कार्य कारण भाव में अन्वय व्यभिचार नहीं लगा। विघ्नध्वंस समाप्ति के जनन में मङ्गल का द्वार है अर्थात् विघ्नध्वंस द्वारा मङ्गल समाप्ति का कारण है ऐसा प्राचीनों का मत है।

(६) नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापात्। (७) नच स्वतः सिद्धविघ्नविरहवता कृतस्य मङ्गलस्य निष्फलत्वापत्तिरितिवाच्यम्। (८) इष्टापत्तेः,

विघ्नशङ्कया तदाचरणात्। तथैव शिष्टाचारात्। (९) नच तस्य निष्फलत्वे तद्बोधकवेदाप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यं, सति विघ्ने तन्नाशस्यैव वेदबोधितत्वात्। (१०) अत एव पापभ्रमेण कृतस्य प्रायश्चित्तस्य निष्फलत्वेऽपि न तद्बोधकवेदाप्रामाण्यम्। (११) मङ्गलं तु विघ्नध्वंसविशेषे कारणं विघ्नध्वंसविशेषे च विनायकस्तपाठादि। (१२) क्वचिच्च विघ्नात्यन्ताभाव एव समाप्तिसाधनं प्रतिबन्धक-संसर्गाभावस्यैव कार्यजनकत्वात्। (१३) इत्थं च नास्तिकादीनां ग्रन्थेषु जन्मान्तरीयमङ्गलजन्यदुरितध्वंसः, स्वतः-सिद्धविघ्नात्यन्ताभावो वास्तीति न व्यभिचार इत्याहुः॥

(६) नवीनों (गङ्गेशोपाध्याय आदि) के मत से मङ्गल विघ्नध्वंस ही के प्रतिकारण है। ग्रन्थ समाप्ति तो मङ्गल कर्त्ता को शास्त्रीय बुद्धि और नव नव स्फूर्त्तिशालिनी प्रज्ञारूप प्रतिभा और विघ्नध्वंस इन सब कारणों से होती है। (७) (पूर्वपक्ष) जिस पुरुष को विघ्न हुआ ही नहीं उससे किये हुए मङ्गल को विफलता (वैयर्थ्य) हो जायगी। (८) (समाधान) विघ्नरहित पुरुषकृत मङ्गल में निष्फलतापत्ति को मैं नष्ट करता हूँ, विघ्न सन्देह से मङ्गलाचरण किया गया है वैसे ही शिष्टों का आचार है। (९) (शङ्का) मङ्गल को यदि निष्फल कहें तो "मङ्गलम् वेद बोधित कर्त्तव्यताकम् अलौकिकाविगीतशिष्टकृतिविषयत्वात्दर्शपौर्णमासादिवत्" इस अनुमान से एवं सकल कर्मारम्भ में भ्रमरहित शिष्टपुरुषों के व्यवहार से कल्पित "विघ्नध्वंसकामो मङ्गलमाचरेत्" इत्यादि मङ्गल में सफलताबोधकश्रुति को अप्रामाण्य हो जायगा। (समाधान) उक्त श्रुति विद्यमान विघ्नावस्था में उस ही विघ्नध्वंस के लिये प्रवृत्ति कराती है। अर्थात् विघ्नसमानाधिकरण मङ्गल में विघ्नध्वंसजनकत्व श्रुतिप्रतिपाद्य है। (१०) अतएव पाप भ्रम से निष्पाप पुरुषकृत प्रायश्चित्ताचरण में निष्फलत्व होने पर भी "पापी प्रायश्चित्तमाचरेत्" एतदर्थक वेद वाक्य में अप्रामाण्य नहीं होता। (११) मङ्गल के वाद जायमान विघ्नध्वंस के प्रति मङ्गल कारण है और गणेशस्तवपाठ के वाद जायमान विघ्नध्वंस के प्रति गणेशस्तवपाठ आदि कारण हैं। (१२) किसी किसी स्थल में विघ्न का

अत्यन्ताभाव ही समाप्ति का कारण है। क्योंकि कार्य सामान्य के प्रति प्रतिबन्धक का ससर्गाभाव को कारणता है। (१३) इस प्रकार से यहाँ यह पर्य्यवसित हुआ कि नास्तिकादिकृत ग्रन्थों में जन्मान्तरीयमङ्गल से विघ्न का ध्वंस है या स्वत: सिद्ध-विघ्नात्यन्ताभाव है जिससे ग्रन्थ समाप्त हुआ।

(१४) संसारेति। संसार एव महीरुहो वृक्षस्तस्य बीजाय। (१५) एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति। (१६) तथाहि यथा-घटादि कार्य्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि। (१७) नच तत्कर्तृत्वम-स्मदादीनां संभवतीत्यतस्तत्कर्तृत्वेकेनश्वरसिद्धि:। (१८) न च शरीरा-जन्यत्वेन कर्त्रजन्यत्वसाधकेनसत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम्, अप्रयोकत्वात् (१९) मम तु कर्तृत्त्वेन कार्यत्वेन कार्यकारणभावएव अनुकूलस्तर्क:। (२०) "द्यावाभूमी जनयन्देव एक: विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" इत्यादय आगमा अप्यनुसन्धेया:॥१॥

(१४) इसका अर्थ कारिकार्थ में ही स्पष्ट किया गया है। (१५) संसार के प्रति ईश्वर निमित्त कारण है इस कथन से ईश्वर में प्रमाण भी दिखलाया गया है। (१६) कार्य्य किसी कर्त्ता से जन्य है तथा पृथ्वी, अङ्कुर आदि कार्य भी किसी कर्त्ता से जन्य है। (१७) वह पृथिव्यादि रूप कार्य्य कर्तृत्व अस्मादादिनिष्ठ सम्भव नहीं है अत: उक्त कार्य्य कर्तृत्व हेतु से ईश्वर-सिद्ध होता है। "एतावता क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि हुई। (१८) (शङ्का) यदि कहें कि "क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यत्वाभाववत् शरीराजन्यत्वात् गगनादिवत्" इस अनुमान से हेतु को सत्प्रतिपक्षित होने के कारण पूर्वोक्त अनुमान में हेत्वाभास दोष लग जाता है। ऐसी शङ्का नहीं कर सकते। (समाधान) "शरीराजन्यत्वं कृत्यजन्यत्वव्यभिचारिनवा" इत्याकारक व्यभिचार शङ्का निवर्त्तक तर्क हेतु में नहीं रहने के कारण यह अनुमान अप्रयोजक हो जायगा तब सत्प्रतिपक्ष कैसे? क्योंकि समान बल रहने पर सत्प्रतिपक्ष होता है। (१९) मुझ ईश्वरादी को "यदि कार्य्यत्वं सकर्तृकत्वं व्यभिचारिस्यात् तदा कृतित्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्य्यतावच्छेदकं न स्यात्" इत्याकारक व्यभिचारशङ्कानिवर्त्तक तर्क मिलता है अत: मेरे

अनुमान में हेतु प्रयोजक है। (२०) "द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" "विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" इत्यादि श्रुति भी ईश्वर सत्व में प्रमाण है।

॥ इति मङ्गलवादः ॥

पदार्थान्विभजते=पदार्थोंका विभाग करते हैं।

कारिका–२

[1]द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्तकीर्त्तिताः॥२॥

का० अर्थ–

(नैयायिक का अविरोधी वैशेषिक सिद्धान्तं)

द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव, ये सात पदार्थ प्राचीनों से बार-बार कहे गये हैं। (नाकि मुझसे ही कहे जाते हैं)।

मुक्तावली।

(१) अत्र सप्तमस्याभावत्वकथनादेव षण्णां प्राप्तं तेन भावत्वेन पृथगुपन्यासो न कृतः। (२) एते च पदार्था वैशेषिके प्रसिद्धाः नैयायिकानामप्यविरुद्धाः। (३) प्रतिपादितं चैवमेव भाष्ये। (४) अत एवोपमानचिन्तामणौ सप्तपदार्थभिन्नतया शक्तिसादृश्यादीनामतिरिक्तपदार्थत्वमाशङ्कितम्। (५) ननु कथमेत एव पदार्थाः शक्ति सादृश्यादीनामप्यतिरिक्तपदार्थत्वात्। (६) तथाहि। मण्यादि समवहितेन वह्निना दाहो न जन्यते तच्छून्येन तु जन्यते। (७) तत्र मण्यादिना वह्नौ दाहानुकूला शक्तिर्नाश्यते उत्तेजकेन मण्याद्यपसारणेन च जन्यत इति कल्प्यते। (८) एवं सादृश्यमप्यतिरिक्तिः पदार्थः। (९) तद्धि न षट्सु भावेष्वन्तर्भवति सामान्येऽपि सत्त्वात्। (१०) यथा गोत्वं नित्यं तथाश्वत्वमपीति सादृश्यप्रतीतेः। (११) नाप्य

---

१. कर्म और अभाव इन दोनों में अतिरिक्त पदार्थत्व सूचना करने के लिये दो "तथा" पदों का उपादान किया गया।

भावे सत्वेन प्रतीयमानत्वादिति चेन्न,

मु॰ अर्थ।

(१) कारिका में सातवें पदार्थ को अभाव कहने ही से पूर्व ६ पदार्थों में भावत्व ज्ञात हो जाता है। इसलिये लेख गौरवग्रस्त "पदार्थो द्विविधः भावोऽभावश्च तत्र भावः षड्विधः," इत्यादि रीति का अनुसरण न किया गया। (२) ये सात पदार्थ वैशेषिक शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। और नैयायिकों को भी विरुद्ध नहीं है। (३) वैसे ही भाष्य में प्रतिपादित हैं (न्याय सूत्र, प्रथम अध्याय प्रथम आह्निक तृतीय सूत्र भाष्य) (४) इसी कारण से न्यायतत्व चिन्तामणि के उपमानखण्ड ग्रन्थ में शक्ति और सादृश्यको सात पदार्थोंसे भिन्न पदार्थ मानने के लिये शङ्का की है। (यदि ये सात पदार्थ नैयायिक के अविरुद्ध नहीं रहते तो शक्ति और सादृश्य में अतिरिक्तशक्ति का पूर्व पक्ष करना अनुचित होता)। (५) (प्र॰) जब सातसे अतिरिक्त शक्ति और सादृश्य पदार्थ हैं तब सात ही पदार्थ क्यों माने गये? (६) (उपादान) ऐसा है कि चन्द्रकान्तमणि मन्त्र और औषधि प्रभृति के ठीक तौर से रहने पर आग से, दाह उत्पन्न नहीं होता है किन्तु न रहने ही से होता है। (वक्तव्य का सारांश यह है कि दाह के प्रति वह्नित्वेन कारणता मानने में यहाँ अन्वय व्यभिचार लगेगा उसका वारण करने के लिये शक्ति मानिये। जब मानते हैं तब दाहानुकूल शक्तिमत्वेन कारणता मानी जायगी अब व्यभिचार नहीं लग सकता है क्योंकि–) (७) उस स्थल में चन्द्रकान्तमणि प्रभृति से अग्नि की दाहानुकूला शक्ति नष्ट हो जाती है– शक्तिमद्वह्नि नहीं है। अगर वही चन्द्रकान्तमणि सूर्य्यकान्तमणि के साथ कर दिया जाय या चन्द्रकान्तमणि हटा दिया जाय तो (दोनों स्थितियों में) दाहानुकूलाशक्ति फिर उत्पन्न हो जाती है तब दाह होने में कोई बाधा नहीं है। उस शक्ति का अन्तर्भाव सात पदार्थों में नहीं हो सकता है इसलिये उसे अतिरिक्त पदार्थ मानना आवश्यक है। (८) इस प्रकार सादृश्य भी एक अतिरिक्त पदार्थ है। (९) वह सादृश्य ६ भाव पदार्थों के अन्तर्गत नहीं है। क्योंकि जाति में छे भाव पदार्थान्तर्गत एक भी पदार्थ नहीं रहता है किन्तु सादृश्य रहता है इसलिये एक और

सादृश्य नामका भाव पदार्थ मानना अभ्यर्हित है। (१०) जैसा गोत्व नित्य है वैसा आश्वत्व भी नित्य हैं। इस रूप से अश्वत्व में गोत्व के सादृश्य की प्रतीति होती है। इससे सादृश्य में जाति वृत्तित्व की सिद्धि हुई। अतएव "सादृश्यं न द्रव्यादिभावषट्कान्तर्गतं जातिवृत्तित्वात्" इस अनुमान में स्वरूपासिद्धिदोष नहीं लगा। (११) सादृश्य अभाव पदार्थ के अन्तर्गत भी नहीं है; क्योंकि उसकी प्रतीति भावरूप से ही होती है (अभाव की प्रतीती तो वैसी नहीं है)।

(१२) मण्याद्यभावविशिष्टवह्नयादेर्दाहादिकं प्रति स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते। (१३) अनेनैव सामञ्जस्ये अनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पनानौचित्यात्। (१४) न चोत्तेजके सति प्रतिबन्धकसद्भावेऽपि कथं दाह इति वाच्यम्। (१५) उत्तेजकाभाव विशिष्टमण्यभावस्य हेतुत्वात्। (१६) सादृश्यमपि न पदार्थान्तरं किन्तु तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वम्। (१७) यथाचन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादिमत्वम् मुखेचन्द्र-सादृश्यमिति।।

(१२) (शक्ति के पूर्वपक्षका उत्तर) चन्द्रकान्तमणि मन्त्र और जड़ी-बूटी इत्यादि से रहित अग्नि अथवा चन्द्रकान्तमणिका अभाव और अग्नि ये दोनों स्वतन्त्र रूपसे दाह के प्रति कारण हैं। (१३) जब उक्त कारणता की कल्पना से ही निर्वाह (उक्त व्यभिचार का वारण) हो जाता है तब अनन्त शक्ति, उनके प्रागभाव और ध्वंस मानकर अनुचित गौरव क्यों सहा करें? (१४) (प्र०) चन्द्रकान्तमणि जब प्रतिबन्धक है तब सूर्य्यकान्तमणि के साथ हो जाने पर अग्निसे दाह कैसे होगा? (चन्द्रकान्तमण्यभावरूप कारण तो नहीं रहा)। (१५) (उ०) इसलिये सूर्य्यकान्तमणि रहित जो चन्द्रकान्तमणि उसका अभाव दाह के प्रति कारण है। प्रकृत में सूर्य्यकान्तमणि से रहित चन्द्रकान्तमणि नहीं है। तब उसका अभाव रह गया। अत: शक्ति को न मानने पर भी दाह होने में कोई अनुपपत्ति न हुई। (१६) सादृश्य भी अतिरिक्त पदार्थ नहीं है किन्तु उससे भिन्न और उस पर रहने वाला धर्म ही सादृश्य है। (अर्थात्

उपमान और उपमेय इन दोनों में रहने वाला धर्म ही सादृश्य हैं। साधारण धर्म प्रयोज्यता उसमें नहीं मानते हैं)। (१७) [१]जैसा कि चन्द्रमा से भिन्न कान्तामुख है किन्तु चन्द्रमा में जो आह्लादकत्व (सुख विशेष जनकत्व) है वही मुख में भी है। इसलिये आह्लादकत्व से अतिरिक्त सादृश्य नहीं है। वस्तुतः सुखत्त्वव्याप्यजाति ही यहाँ सादृश्य है। उसको स्वावच्छिन्न जन्यता निरूपित जनकतावच्छेदक प्रत्यक्षीय विषयतावत्व सम्बन्ध से उपमेयोपमान साधारणत्व है।

।इति सप्तपदार्थ सामान्य निरूपणम्।।

द्रव्याणिविभजते=द्रव्योंका विभाग करते हैं।

कारिका नं० ३–

क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योम कालदिग्देहिनो मनः।

द्रव्याणि..........

का० अर्थ–

क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम, काल, दिक्, देही और मन (ये नव) द्रव्य (पदार्थ) हैं।

मुक्तावली।

(१) क्षित्यबिति। (२) क्षितिः पृथिवी, आपो जलानि, तेजो वह्निः, मरुद् वायुः, व्योम आकाशः, कालः समयः, दिगाशा, देही आत्मा, मनः, एतानि नव द्रव्याणीत्यर्थः। (३) ननु द्रव्यत्वजातौ किं मानम्? (४) नहि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं घृतजतुप्रभृतिषु द्रव्यत्वाग्रहादिति चेत्। (५) न।

मु० अर्थ–

(१) अर्थान्तर भ्रम वारणार्थ क्षिति आदि पदों का विवरण किया जाता है। (२) क्षिति पद का पृथ्वी, अप पदका जल, तेजस् पद का

१. का० सादृश्यात्मक धर्म दो प्रकार के होते हैं। जातिरूप और उपाधिरूप। (१) जातिरूप=घट सदृशः पटः। (२) उपाधिरूप=गोत्वम् नित्यम् तथा अश्वत्वमपि।।

वह्नि, मरुत् पद का वायु, व्योम पद का आकाश, काल पद का समय, दिक् पद का दिशा, देहिन् पद का आत्मा और मनस् पद का मन अर्थ है और यही नव द्रव्य हैं। (३) प्र० सकल द्रव्य में रहनेवाला द्रव्यत्व जाति) है इसमें क्या प्रमाण? (४) [1]"इदं द्रव्यम्–इदं द्रव्यम्"–इस अनुगताकारक प्रतीति से द्रव्यत्व जाति में प्रत्यक्ष प्रमाण मानना उचित नहीं। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्षयोग्य सकल आधार में जिस जातिका आपामर साधारण को प्रत्यक्ष होता है वही जाति प्रत्यक्ष सिद्ध मानी जाती है। घी और लाह प्रभृति में सकल साधारण को द्रव्यत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि उक्त पदार्थों में द्रव्यपद निरूपितशक्तिज्ञान (जो उक्त प्रत्यक्ष में कारण है) सकल साधारण को नहीं है। (५) नहीं।

(६) कार्यं समवायिकारणतावच्छेदकतया संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकतया तत्सिद्धेरिति। (७) ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतोनोक्तं? तद्धि प्रत्यक्षेण गृह्यते तस्य च रूपवत्त्वात् कर्म्मवत्वाच्च द्रव्यत्वं, तच्च गन्धशून्यत्वान्न पृथिवी, नीलरूपत्वाच्च न जलादिकं, तत्प्रत्यक्षे चालोक निरपेक्षं चक्षुः कारणमिति चेत्। (८) न। (९) आवश्यक तेजोऽभावेनोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। (१०) रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा। (११) कर्म्मवत्ता-प्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। (१२) तमसोऽतिरिक्तत्वे-ऽनन्तावयवादिकल्पनागौरवं च स्यात्। (१३) स्वर्णस्य यथा तेजस्यन्तर्भावस्तथा वक्ष्यते॥

(६) [2](अनुमानका आकार) समवाय सम्बन्धावच्छिन्न कार्य्यत्वा-

---

१. का न० ३ टि० इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण से सकल द्रव्य साधारण द्रव्यत्व जाति सिद्ध नहीं की जा सकती किन्तु अनुमान प्रमाण ही से सकल द्रव्य में द्रवत्व जाति की सिद्धि होती है।

२. (क) समवायसम्बन्धावच्छिन्नत्व तीनों कार्य्यताओं में विशेषण समझना चाहिये।

(ख) कारणतावच्छेदक धर्म लाघव से जातिरूप माना जाता है उसका भी साधक वे ही अनुमान प्रमाण है, यह अधिकरण सिद्धान्त है।

(ग) कार्य्यत्वावच्छिन्न कार्य्यता के बदले संयोगत्वावच्छिन्न कार्य्यता का

वच्छिन्न कार्य्यतानिरूपित वा संयोगत्वावच्छिन्न कार्य्यता निरूपित वा विभागत्वावच्छिन्न कार्य्यता निरूपित जो तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न कारणता वह किसी धर्म से अवच्छिन्ना है। क्योंकि कारणता किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्ना अवश्य रहती है। जैसे कि घट का कारण दण्ड है उस दण्ड में रहनेवाली कारणता दण्डत्वावच्छिन्न होती है। (समवाय सम्बन्ध से कार्य्य के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से द्रव्य कारण है)। (७) (प्रश्न) अन्धकार को दशम द्रव्य क्यों नहीं कहा है? वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञायमान है। उसको रूपवत् और क्रियावत् होने के कारण द्रव्य कहना चाहिये "तमोद्रव्यं रूपवत्वात् क्रियावत्वाच्च"—यह पूर्वपक्षी का अनुमान है। वह गन्धशून्य है इसलिये पृथ्वी नहीं है, नीलरूपाश्रय है इसलिये जलादि भी नहीं है। तस्मात् दशम द्रव्य उसको मानना चाहिये। उसके प्रत्यक्ष में प्रकाश के विनाही चक्षु कारण है। अर्थात् तमोभिन्न द्रव्य विषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति आलोक संयोग कारण है। (८) (उत्तर) वह नहीं। (९) क्योंकि जब अन्धकार को तेज (जिसका मानना आवश्यक है) का ही अभावरूप मान लेने से उपपत्ति (समन्वय) हो जाती है; तब अन्धकार को द्रव्यान्तर क्यों मानना चाहिये? (१०) अन्धकार में जो रूप का भान होता है वह भ्रम मात्र है। (११) और

निवेश किया है। इसका कारण यह है कि एक ही वस्तु अवच्छेद्य और अवच्छेदक दोनों नहीं हो सकता है जो दोष कार्य्यत्वावच्छिन्न कार्य्यता में विद्यमान है क्योंकि जो ही कार्य्यत्व अवच्छेदक है वही कार्य्यता अवच्छेद्य है। इसलिये संयोगत्वावच्छिन्न कार्य्यता अवच्छेद्य है। इसलिये संयोगत्वावच्छिन्न कार्य्यता का निवेश किया है। अब संयोगत्वावच्छिन्न कार्य्यता में भी दोष पाया जाता है। क्योंकि जो विभुद्वय संयोग मानते हैं उनके मत से संयोगत्वावच्छिन्न कार्य्यताही अप्रसिद्ध है। इसमें कारण यह है कि संयोगत्व नित्य विभुद्वय संयोग मानते हैं उनके मत से संयोगत्वावच्छिन्न कार्य्यताही अप्रसिद्ध है। इसमें कारण यह है कि संयोगत्व नित्य विभुद्वय संयोग में है। कार्य्यता उसमें नहीं है। तब अतिप्रसक्त होने के कारण संयोगत्व कार्य्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। इसलिये निर्दुष्ट विभागत्वावच्छिन्न कार्य्यता घटित पक्षक अनुमान से द्रव्यत्व जातिकी सिद्धि की गई है। संयोग वा विभाग नवो द्रव्यों में समवाय सम्बन्धेन रहता है जो कई एक जगह पाया जायगा।

क्रियाका भी जो भान होता है वह भी दीपादि के संचाररूप उपाधि से भ्रान्ति ही है, उक्त अनुमान स्वरूपासिद्धि दोषग्रस्त होने के कारण तमस में द्रव्यत्व का साधक नहीं हो सकता है। (१२) अन्धकार को यदि अतिरिक्त द्रव्य मानेंगे तो उसके अनन्त अवयव, अनन्त प्रागभाव और अनन्त ध्वंस की कल्पना से गौरव भी होगा इसलिये अन्धकार दशम द्रव्य नहीं माना गया। (१३) सोने का जिस प्रकार तेज में अन्तर्भाव होता है वह आगे कहा जायगा।

इति नवद्रव्याणि

गुणान्विभजते=गुणों का विभाग करते हैं।

का० न० ३, ४, ५।

अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम्॥३॥
स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम्।
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम्॥४॥
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वकम्।
द्रवत्वं स्नेह संस्कारावदृष्टं शब्द एव च॥५॥

का० अर्थ।

(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (12) बुद्धि (१३) सुख (१४) दुःख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) यत्न (१८) गुरुत्व (१९) द्रवत्व (२०) स्नेह (२१) संस्कार (२२) धर्म (२३) अधर्म (२४) शब्द, ये चौबीस गुण हैं। (अदृष्ट शब्द से धर्म और अधर्म विशेष रूप से लिये जाते हैं क्योंकि अदृष्टत्व जाति नहीं है)।

मुक्तावली।

(१) एते गुणाश्चतुर्विंशतिसंख्याकाः कणादेन कण्ठतः च शब्देन च दर्शिताः। (२) तत्र गुणत्वादिकजातिसिद्धिरग्रे वक्ष्यते।

मु॰ अर्थ।

(१) ये चौबीस गुण कणाद से कण्ठ द्वारा और च शब्द से दिखलाये गये हैं। "रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व बुद्धि सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्च गुणाः" यह कणाद का सूत्र है। (१ अ॰ ३ य सू॰) यहाँ च कार से सात लिये जाते हैं।[१] (२) गुणत्वादि जाति जिस रीति से सिद्ध होती है वह आगे गुणनिरूपण के आरम्भ में "द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता" इत्यादि ग्रन्थ से कहा जायगा।

इति गुणाः।

कर्माणिविभजते=कर्मोका विभाग करते हैं।

का॰ न॰ ६

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानिपञ्च च॥

का॰ अर्थ–

(१) उत्क्षेपण (वस्तु को ऊपर फेंकना), (२) अपक्षेपण (वस्तु को नीचे फेंकना), (३) आकुञ्चन (यथा पटादि विस्तृत पदार्थों को संकुचित करना), (४) प्रसारण (संकुचित पदार्थों को विस्तृत करना) और (५) गमन (चलना-फिरना) ये पाँच कर्म हैं।

मुक्तावली।

(१) कर्मत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा। (२) एव मुत्क्षेपणत्वादिक मपि॥

मु॰ अर्थ–

(१) कर्मत्व जाति तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। (२) [२]इसी प्रकार उत्क्षेपणत्वादि पाँच जातियाँ भी प्रत्यक्ष सिद्ध हैं।

---

१. (टि॰) गुणत्वादि=गुणत्व, रूपत्व इत्यादि।

२. (टि॰) उत्क्षेपणत्वादि पाँच–उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व, आकुञ्चनत्व, प्रमाणत्व और गमनत्व।

(३) नन्वत्र भ्रकणादिकमपि पञ्चकर्माधिकतया कुतो नोक्तमत आह–

[१](३) जब यहाँ भ्रमणादि भी पाँच अतिरिक्त कर्म हैं तब केवल उत्क्षेपणादि पाँच ही को क्यों कर्म कहा है? इसलिये कहते हैं।

का० नं० ७।

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेवच।
तिर्यग्गमनंमप्यत्र गमनादेव लभ्यते॥

का० अर्थ–

(१) भमण (गोलाकार चलना), (२) रेचन (पिघलना), (३) स्यन्दन (ढुलकना), (४) उर्ध्वज्वलन (दीप-शिखादिवत् ऊर्ध्वमुख जलना) और (५) तिर्यग्गमन (सर्प्पादि के समान टेढ़ा चलना)। ये पाँच कर्म भी गमन के अन्तर्गत होने से गमन पद ही से लिये जाते हैं।

इति कर्माणि।

सामान्यं निरूपयति=सामान्य का निरूपण करते हैं।

का० नं० ८।

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते॥

का० अर्थ–

सामान्य दो प्रकार का कहा गया है–पर और अपर। द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली सत्ता पर सामान्य कही जाती है।

मुक्तावली।

(१) तल्लक्षणंतु नित्यत्वेसति अनेकसमवेतत्वम्। (२) अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्त्यत उक्तं नित्यत्वे सतीति। (३) नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्त्यत उक्तमनेकेति। (४) नित्यत्वेसति अनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावेऽप्यस्त्यतो वृत्तित्वंसामान्यं विहाय समवेतत्वमित्युक्तम्।

मु॰ अर्थ–

(१) सामान्य (जाति) का लक्षण है कि नित्य हो और अनेक में समवाय सम्बन्ध से वृत्ति हो। (२) [१]अगर जाति का लक्षण केवल इतना ही करें कि अनेक में समवाय सम्बन्ध से जो वृत्ति हो वही जाति है तब संयोगादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि संयोगादि में भी अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसलिये जाति-लक्षण में नित्यत्व का निवेश करना चाहिये। संयोग और विभाग आदि अनित्य ही है इसलिये संयोगादि अब अतिव्याप्ति नहीं होगी, यहाँ नित्यत्व ध्वंसाप्रतियोगित्व या प्रागभावाप्रतियोगित्वरूप ही निविष्ट है, दोनों का निवेश करना विफल है। (३) [२]अगर जातिका लक्षण केवल इतना ही करें कि नित्य हो और समवाय सम्बन्धेन वृत्ति हो तब गगनपरिमाणादि में अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि गगनपरिमाणादि नित्य हैं और गगन में समवाय सम्बन्ध से रहते भी हैं। इसलिये अनेक का निवेश किया है। (४) [३]फिर यदि जाति का लक्षण ऐसा करें कि नित्य हो और अनेक में वृत्ति हो तो अत्यन्ताभाव से वृत्ति हो तो अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य है और अनेक में स्वरूप सम्बन्ध से वृत्ति भी होता है। इसलिये वृत्तित्वमात्र को छोड़कर समवायसम्बन्धेन वृत्तित्व का निवेश किया है।

(५) एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जातिः, तथा चोक्तम्–

(क[५])-व्यक्तेरभेद (ख[५])-स्तुल्यत्वं (ग[५])-संकरोऽ (घ[५])-थानवस्थितिः। (ङ[५])-रूपहानि (च[५])-असम्बन्धो" जातिबाधक-संग्रहः"। (5) एक वस्तु मात्र में वृत्ति जो धर्म वह जातिरूप नहीं होता है। जैसा कि कहा गया है–

---

१. (टि॰) आदि पद से विभाग द्वित्व द्विपृथक्त्व प्रभृतिका ग्रहण है।

२. (टि॰) आदि पद से=गगन का एकत्वादि ग्राह्य है। गगन को एक मात्र होने से उसका परिमाणादि अनेक में नहीं होता है इसलिये अब अतिव्याप्ति नहीं होगी।

३. (टि॰) अब अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि अत्यन्ताभाव स्वरूपसम्बन्ध से वृत्ति होता है न के समवाय सम्बन्ध से।

(क) व्यक्ति का (आश्रय का) अभेद, (ख) तुल्यत्व, (ग)-सङ्कर, (घ) मनवस्था, (ङ) रूपहानि और (च) असम्बन्ध" ये छह जाति के बाधक है।

(क) व्यक्त्यभेद का उदाहरण।

आश्रय जिसका एक मात्र हो वह जाति नहीं है यथा–आकाशत्व का आश्रय एक मात्र है, इसलिये वह जाति नहीं है।

[1](ख) तुल्यत्व का उदाहरण।

घटत्व और कलशत्व में समनियतत्व है; इसलिये ये दोनों भिन्न-भिन्न जाति नहीं हैं। नियम है कि जो स्वभिन्नजातिसमनियत होता है वह जाति नहीं है। तब यदि घटत्व और कलशत्व भिन्न हो तब स्वभिन्नजाति-समनियतत्वरूप तुल्यत्व घटत्व और कलशत्व दोनों में रह जायगा; इसलिये इन दोनों में एक भी जाति नहीं होगी।

[2](ग) साङ्कर्य्य का उदाहरण।

परस्पर अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहने वाले दो धर्मों का एक अधिकरण में समावेश (रहना) सङ्कर है। यथा–भूतत्व और मूर्त्तत्व जाति नहीं है, क्योंकि भूतत्व का अत्यन्ताभाव मन में है जहाँ मूर्त्तत्व है एवम् मूर्त्तत्व का अत्यन्ताभाव आकाश में है जहाँ भूतत्व है। एवं पृथ्वी, जल, वायु और तेज में भूतत्व तथा मूर्त्तत्व दोनों का समावेश है। इसलिये भूतत्व या मूर्तत्व कोई जाति नहीं है। (किन्तु नवीन आचार्य्य लोग साङ्कर्य्य को जाति-बाधक नहीं मानते हैं अतएव उनके मत से भूतत्व और मूर्त्तत्व दोनों ही जाति है)।

---

१. (टि०) तुल्यत्व सामनैत्यस्य परस्पर व्यापकत्व या "व्यापकत्वेसति व्याप्यत्व" अर्थात् बराबर जगह में रहना। वह भेद मात्र का निषेधक होता है जैसा कि घटत्व, कलशत्व में।

२. (टि०) समानाधिकरण जातिद्वय में व्याप्यव्यापकभाव रहता ही है इस नियम को मानकर प्राचीन साङ्कर्य्य को जातिबाधक कहते हैं। किन्तु जिस हेतु दीधितिकारप्रभृति नवीन इस नियम को नहीं मानते इसलिये साङ्कर्य्य में जाति बाधकता स्वीकार नहीं करते हैं।

(घ[५]) अनवस्था का उदाहरण।

अप्रामाणिक अनन्त पदार्थ की कल्पना अनवस्था कहलाती है। इस अनवस्था दोष के डर से जातियों में जाति नहीं मानी जाती है क्योंकि जातियों में अगर जातित्व नाम की एक जाति मानी जाय तो वह जातित्वरूप जाति एवं घटत्व–पटत्वादिरूप जाति इन जातियों में एक जातित्वरूप जाति फिर मानी जायगी एवं इस जाति के साथ घटत्व–पटत्वादि नाना जातियोंमें फिर एक जातित्व नाम की जाति मानी जायगी। इस प्रकार विश्राम कहीं नहीं होने से अनन्त जाति कल्पना प्रयुक्त अनवस्था लग जायगी। इस हेतु जातियों में जाति नहीं मानी जाती है।

[१](ङ[५]) रूपहानि का उदाहरण।

(क) रूपहानि स्वरूप की हानि अर्थात् स्वतोव्यावर्त्तकत्व की हानि। अगर विशेषत्वजाति मान ली जाय तो विशेष में स्वतोव्यावर्तकत्व (भेद साधकत्व) का भङ्ग हो जायगा। इसलिए विशेष जातिमत् नहीं हो सकता।

ङ[५] (ख) एक परमाणु में दूसरे परमाणु का भेद है। इस भेद के साधन करने के हेतु यह अनुमान है–"अयम् परमाणुः तत्परम णुतोभिन्नः तद्विशेषात् यहाँ तद्व्यक्तित्व तादात्म्य सम्बन्ध से तद्व्यक्तिस्वरूप है अतएव परमाणुनिष्ठतद्व्यक्तित्व परमाणुस्वरूप होने के कारण भेद साधक नहीं हो सकता है, यदि तद्व्यक्तित्व परमाणु से भिन्न मानें तथापि तद्विशेषात्मक ही होगा। विशेष में स्वेतरभेद स्वतः सिद्ध है। अतः स्वतः व्यावृत्तत्व विशेष में सिद्ध हुआ।

ङ[५] (ग) विशेषत्व को जाति मानने से विशेष में सिद्ध जो स्वतोव्यावर्त्तकत्व उसकी हानि हो जायगी, क्योंकि नियम है कि– "सामान्याश्रयस्य सामान्यरूपेणैव व्यावर्त्तकत्वम्"।

---

१. अवयवियों में परस्पर भेद अवयव भेदकृत होने से द्व्यणुक तक भेद सिद्ध करने के लिये विशेष मानने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन निरवयव परमाणुओं में अवयव भेद कृत भेद असम्भव है। इस हेतु नित्यद्रव्य में (पृथ्वी, जल, तेज, वायु–इन चारों के परमाणुओं में तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन सबों में भिन्न भिन्न विशेष मानना आवश्यक है।

च[5] असम्बन्ध का उदाहरण।

[1]च (क) प्रतियोगित्व और जात्यतिरिक्त निष्ठ प्रतियोगितानिरूपिता-नुयोगित्वान्यतर सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपक समवायाभाव यहाँ असंबंध पदार्थ है वह समवाय और अभाव में जातिमत्व का बाधक है।

(च[5]) (ख) जहाँ पर जाति से अतिरिक्त पदार्थ समवाय सम्बन्ध से रहता है वहाँ जात्यतिरिक्तनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपितानुयोगिता सम्बन्ध से समवाय रहता है।

(च[5]) (ग) जो पदार्थ समवाय सम्बन्ध से रहता है वहाँ प्रतियोगिता सम्बन्ध से समवाय रहता है।

(च[5]) (घ) इन दोनों से जो भिन्न है उनमें प्रतियोगित्व और जात्यतिरिक्तनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपितानुयोगित्वान्यतर सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक समवायाभाव रहता है।

(६) द्रव्यादीति। (७) परत्वमधिकदेशवृत्तित्वम, अपरत्वमल्पदेश वृत्तित्वम्! (८) सकलजात्यपेक्षयाऽधिकदेशवृत्तित्वात् सत्तायाः परत्वं, तदपेक्षया चान्यासां जातीनामपरत्वम्॥

(६.७) अधिक देश में वृत्ती जो जाति वह "परसामान्य" और अल्प देश में वृत्ति जो जाति वह "अपर समाान्य" कही जाती है।

[2](८) जितनी जातियाँ हैं उनमें से प्रत्येक जाति के प्रति सत्ता

---

१. (टि०) (क) प्रतियोगिता सम्बन्धेन समवाय जन्यद्रव्य-गुण कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँचों पदार्थों में रहता है। जात्यतिरिक्त जो (जन्य-द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष तन्निष्ठ प्रतियोगिता निरुपितानुयोगित्व सम्बन्धेन समवाय द्रव्य में रहता है। इसलिये प्रतियोगित्व और जात्यतिरिक्तनिष्ठप्रतियोगितानिरुपितानु-योगित्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितानिरुपकसमवायाभाव समवाय और अभाव इन दोनों पदार्थों में रहता है इसलिए इन दोनों पदार्थों में जाति नहीं मानी जाती है।

२. (टि०) इस का कारण यह है कि द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में सत्ता रहती है। अन्य अन्य जाति वैसी नहीं है। अतएव प्राचीन ग्रन्थों में महासामान्य शब्द से सत्ता का व्यवहार किया है।

अधिक देश वृत्ति है, इसलिये वह प्रत्येक जाति के प्रति परसामान्य है और सत्ता को छोड़कर जितनी जातियाँ हैं उनमें से प्रत्येक प्रत्येक जाति सत्ताकी अपेक्षा अल्पदेश वृत्ति है; इसलिये सत्ता के प्रति तत्तत् जाति अपर सामान्य है।

का० न० ९, १०।

परभिन्ना च या जातिः सैवापरतयोच्यते।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते।
व्यापकत्वात्परापि स्याद्व्याप्यत्वादपरापि च।

का० अर्थ।

पर सामान्य से भिन्न जो जाति वही अपर (व्याप्य) जाति कहलाती है। और द्रव्यत्वादि जातियाँ पर और अपर दोनों सामान्य कहलाती हैं। द्रव्यत्वादि जाति घटत्वापेक्षया व्यापक होने के कारण पर सामान्य और सत्ता पेक्षया व्याप्य होने के कारण अपर सामान्य भी कही जाती है।

मुक्तावली।

[१] पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिक देश वृत्तित्वात् द्रव्यत्वादेः परत्वं सत्तापेक्षया व्याप्यत्वादल्पदेश वृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वं, तथा च धर्मद्वय समावेशादुभयमविरुद्धम्॥

मु० अर्थ–

(१) पृथ्वीत्वादि जातियों में प्रत्येक के प्रति द्रव्यत्वादि जिस हेतु अधिक देशवृत्ति है याने व्यापक है। इसलिये द्रव्यत्वादि में परत्व है और सत्ताकी अपेक्षा द्रव्यत्वादि अल्पदेश वृत्ती है याने व्याप्य है इसलिये द्रव्यत्वादि में अपरत्व भी है। तब यही पर्य्यवसान हुआ कि द्रव्यत्वादि में विरुद्ध धर्मों का (परत्व और अपरत्व का) समावेश होने पर भी कोई दोष नहीं हुआ (विभिन्न दो पदार्थों से निरुपित होने के कारण)।

द्रव्यत्वादि=द्रव्यत्व, गुणत्व, और कर्मत्व प्रत्येक "पर" "अपर" दोनों सामान्य कहे जाते हैं। द्रव्यत्व=पृथिवीत्वादि जातिके अन्तर्गत प्रत्येक

के प्रति "पर" और सत्ता के प्रति "अपर" है। गुणत्व रूपत्वादि चौबीस के अन्तर्गत प्रत्येक के प्रति "पर" और सत्ता के प्रति "अपर" है। कर्मत्व=उत्क्षेपणत्वादि पाँच के अन्तर्गत प्रत्येक के प्रति "पर" और सत्ताके प्रति "अपर" है। गुणत्वरूपत्वादि चौबीस के अन्तर्गत प्रत्येक के प्रति "पर" और सत्ता के प्रति "अपार" है। कर्मत्व–उत्क्षेपणात्वादि पाँच के अन्तर्गत प्रत्येक के प्रति 'पर' और सत्ता के प्रति "अपर" है।

इति सामान्यम्।

विशेषं निरूपयति=विशेष का निरूपण करते हैं।

का० नं० १०–

अन्त्यो नित्यद्रव्य वृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः॥१०॥

का० अर्थ–

अन्त्य विशेष है और वह नित्य द्रव्यों में रहता है।

मुक्तावली।

(१) अन्ते अवसाने वर्तत इत्यन्त्यः, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। (२) घटादीनां द्वयणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात्परस्परं भेदः परमाणूनां परस्पर भेदको विशेष एव। (३) स तु स्वत एव व्यावृत्तः, तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्तीति भावः।

मु० अर्थ–

(१) अन्तमें अर्थात् व्यावर्तक अवसान में जो रहे वही "अन्त्य" कहा जाता है। जिसकी अपेक्षा कोई भी दूसरा विशेष (भेदक) नहीं हो यही तात्पर्य्य है। (२) [1]घटादि से लेकर द्वेयणुक पर्यन्त तत्तत् अवयवों

---

१. (टि०) यथा–यह अवयवी (घट) उस अवयवी (घट) से भिन्न है। इसका कारण यही है कि इस अवयवी (घट) के अवयव (कपाल) उस अवयवी के अवयव (कपाल) से भिन्न है। इसका कारण यही है कि इस अवयवरूप अवयवी का अवयव (कपालादि) उस अवयवरूप अवयवी के अवयव (कपालादि) से भिन्न है, इसी प्रकार क्रमशः ऊपर जाते जाते द्वयणुक भेद

के भेद से तत्तत् अवयवियों का भेद समझा जाता है; किन्तु तत्तत् परमाणुओं का परस्पर भेदक उक्त विशेष ही है। (३) [१]वह विशेष स्वयं ही अपना भेदक है इसलिये तत्तत् परमाणुओं में रहनेवाले तत्तत् विशेषों में परस्पर भेद सिद्ध करने के लिये किसी अन्य विशेष पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। (दूसरे विशेष का भेदक कोई दूसरा विशेषान्तर स्वीकृत तत्तत् विशेष की अपेक्षा प्रयोजन नहीं है)।

इति विशेष निरूपणम्।

समवाय दर्शयति=समवाय का निरूपण करते हैं।

का० नं० ११।

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः॥

का० अर्थ–

घटादि (अवयवी) कपालादि (अवयवों) में; गुण और कर्म्म द्रव्य में; जाति-द्रव्य तथा गुण कर्म में, और विशेष नित्य-द्रव्य में; जिस सम्बन्ध से रहते हैं वह "समवाय" सम्बन्ध कहा जाता है।

मुक्तावली।

(१) अवयवावयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः, क्रियाक्रियावतो-र्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः (२) समवायत्वं-नित्यसम्बन्धत्वम्॥

स्थिर हो जाने के बाद शङ्का होती है कि अब परमाणु-परमाणुका भेदक कौन होगा? इसलिये विशेष माना गया है जो परमाणुओं पर रहता है और स्वयं अपना भेदक (व्यावर्तक) अपने ही है।

१. (टि०) स्वतो व्यावृत्त शब्द का परिष्कृतार्थ है वस्तुविशिष्टानुमित्यविषय। वैशिष्ट्यनियामक सम्बन्ध ये हैं–स्वविशेष्वकत्व, स्वेतरलिंगजन्यत्व, और स्वेतरभेद प्रकारकत्व।

मु॰ अर्थ।

(१) अवयवी+अवयव में; जाति+व्यक्ति में; गुण और क्रिया+द्रव्य में; एवम् विशेष नित्य द्रव्य में जिस सम्बन्ध से रहते हैं वह "समवाय" सम्बन्ध है। (२) (समवायका लक्षण) समवायत्व नित्यसम्बन्धत्व है।

(३) तत्र प्रमाणंतु गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्य-सम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वात्, "दण्डीपुरुष" इति विशिष्ट बुद्धिवत् इत्यनुमानम्। (४) एतेन संयोगादिबाधात्समवायसिद्धिः

[1](३) समवाय में प्रमाण–

"लाठी वाला पुरुष" यह एक विशिष्ट बुद्धि है। यह विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को विषय करता है। उसी प्रकार गुण क्रियादि से युक्त की बुद्धि विशिष्ट बुद्धि होने के कारण, विशेषण, विशेष्य सम्बन्ध विषयक ही होती है। (यह अनुमान का स्वरूप है)। [2](४) यह अनुमान संयोगादि (सम्बन्ध) को सिद्ध करने में बाधित होने के कारण समवाय का ही सिद्ध करता है।

(५) नच स्वरूपसम्बन्धेन सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरं वा, अनन्त स्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पने गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धिः। (६) नच समवायस्यैकत्वे वायौ रूपवत्ताबुद्धिप्रसङ्गः, तत्र रूपसमवाय-सत्त्वेऽपि रूपाभावात्।

[3](५) अगर आप यह कहे कि गुण और द्रव्य में समवाय सम्बन्ध

---

१. (टि॰) समवायमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अनुमान प्रमाण है।

२. (टि॰) (क) संयोगादि=संयोग सम्बन्ध और स्वरूप सम्बन्ध।
(ख) दो दव्यों में संयोग होता है; इसलिये दण्ड और पुरुष दोनों में संयोग सम्बन्ध उचित है क्योंकि दोनों द्रव्य हैं। किन्तु "गुणद्रव्यम्" इस प्रतीति में एक गुण है और एक द्रव्य है। इसलिये संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता।

३. (टि॰) सिद्धसाधन=प्रतिपक्षी लोग तो यहाँ स्वरूपसम्बन्ध उसको मानते ही हैं। अगर नैयायिक भी उसको स्वीकार करलें तो प्रतिपक्षिमत से सिद्ध "स्वरूप सम्बन्ध" को पुनः सिद्ध करना यह एक "सिद्ध साधन" दोष है। अर्थान्तर=जिस विषयको सिद्ध करने चले उससे भिन्न ही पदार्थ का सिद्ध हो जाना "अर्थान्तर" दोष है।

नहीं मान कर स्वरूप सम्बन्ध ही मानना उचित है। इस हालत में सिद्ध साधन या अर्थान्तर हो जायगा। (नयायिक का समाधान)—ये सिद्ध साधन और अर्थान्तर दोष देना युक्त नहीं है। क्योंकि "गुणवद्द्रव्यं" इत्यादि स्थल में स्वरूप सम्बन्ध के मानने से गुण; द्रव्य आदि अनन्त होने के कारण अनन्त द्रव्यादियों में सम्बन्धत्व की कल्पना करनी होगी, जिससे अनन्त होने के कारण अनन्त द्रव्यादियों में सम्बन्धत्व की कल्पना करनी होगी, जिससे गौरवदोष होगा। इसी दोष से बचने के लिये एक समवाय सम्बन्ध मानना आवश्यक है। [१](६) (शङ्का) अगर समवाय सम्बन्ध एकही मानें तो वायु में रूप प्रत्यय को प्रमात्व हो जाय? (उत्तर) वायु में रूपका समवाय रहने पर भी रूप का अभाव होने के कारण रूपवत्ता बुद्धि में प्रामाण्यापत्ति नहीं होती है।

(७) न चैवमभावस्य वैशिष्टयम् संवन्धान्तरं सिध्येदिति वाच्यम् (८) तस्य नित्यत्वे भूतले घटानयनानन्तरमपि घट। भावबुद्धिप्रसङ्गात्। घटाभावस्य तत्र सत्वात् तस्य नित्यत्वात्।

(७) (वैशिष्ट्य सम्बन्धवादी का प्रश्न) :–

अच्छा! फिर आप जब गौरव के भय से पदार्थान्तर ही मानने लगे तो अनन्तस्वरूप सम्बन्ध के बदले लाघवात् वैशिष्ट्य को अभाव का सम्बन्ध मानिये। तब एक ही वैशिष्टय सम्बन्ध से अनन्त अभावों का

---

१. (टि०) जिसका सम्बन्ध जहाँ रहता है वह पदार्थ भी वहाँ रहता है; सम्बन्धि सत्ता का नियामक सम्बन्ध का सत्ता है। इस युक्ति से वायु में रूपमानना पड़ेगा; क्योंकि रूपसमवाय, स्पर्शसमवाय एक है, तब "वायुरूपवान्" इस प्रतीति में प्रमात्व होना चाहिये—यह पूर्वपक्ष है। तत्प्रतियोगिकत्व विशिष्टसम्बन्ध की अधिकरणता तदधिकरणता का नियामक मानकर नैयायिक समाधान देते हैं जो विशिष्ट की अधिकरणता विलक्षण होने के कारण रूपप्रतियोगिकत्व विशिष्ट समवाय की अधिकरणता वायु में न रहने से रूपाधिकरणता नहीं रह सकती। अतएव उक्त प्रतीति को प्रमात्व नहीं हुआ। "तद्वति तत्प्रकारकानुभवत्व" प्रमात्व का लक्षण है।

प्रत्यय हो जायगा। (८) [१](स्वरूप सम्बन्धवादी का उत्तर) अगर वैशिष्टय सम्बन्ध नित्य हो तब जहाँ (जिस भूतल में) घट नहीं है वहाँ घट लाने के बाद भी घटाभाव को नित्य होने के कारण और उसका (घटा भाव का) उक्त भूतल में सम्बन्ध रहने के भी कारण घटाभाव की प्रतीति प्रमा हो जायगी जो नहीं होती है, इसलिये वैशिष्टय सम्बन्ध नित्य नहीं हो सकता।

(९) अन्यथा देशान्तरेऽपि तत्प्रतीतिर्न स्यात् वैशिष्टयस्य च तत्र सत्वात्। (१०) ममतु घटे पाकरक्ततादशायां श्यामरूपस्य नष्टत्वान्न तद्वत्ताबुद्धिः। (११) वैशिष्ट्यस्या नित्यत्वे त्वनन्त वैशिष्टय कल्पने तवैव गौरवम्। (१२) इत्थं च तत्तत्कालीन तत्तद्भूतलादिकं तत्तदभावानां संवन्धः॥

(९) यदि घटाभाव ही अनित्य माना जाय तब घट शून्य देश में भी घटाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा। इसका कारण यह है कि घटसामान्या भाव एक ही लाघवात् माना जाता है सो तो नष्ट हो गया। (१०) (स्वरूपसम्बन्धवादी के जो एक ही नित्य समवायसम्बन्ध मानते हैं उस समवायसम्बन्ध पर दोष लेकर निवारण करते हैं) उत्तर–नित्य एक समवायसम्बन्धवादी के मंत में तो श्यामरूप वाला कच्चा घट के पक जाने के बाद श्यामरूप का समवायसम्बन्ध मात्र रहने पर भी श्यामरूप का नाश हो जाने के कारण (घट पक कर लाल हो जाने के बाद) उस घट में श्याम रूप का प्रत्यय नहीं होता है। [२](११) (स्वरूप सम्बन्ध

१. (टि॰) स्वरूपसम्बन्धवादी वैशिष्ट्यसम्बन्धवादी को कहते हैं कि अगर आप वैशिष्ट्यसम्बन्ध मानते हैं तो नित्य मानते हैं या अनित्य? अगर नित्य मानते हैं तो यह दोष है (जो कि उपपादित हो चुका है)।

२. (टि॰) (प्रश्न) स्वरूपसम्बन्धवादी भी अनन्त स्वरूपसम्बन्ध मानते हैं और वैशिष्ट्यसम्बन्धवादी को भी अनन्त वैशिष्ट्यसम्बन्ध मानना पड़ा। इस हालत में भी स्वरूपसम्बन्धवादी वैशिष्ट्यसम्बन्धवादी को गौरव दोष क्यों देते हैं? (उत्तर) जिस समय में जिस देश में जिस अभाव की प्रतीति होती है तत्समयविशिष्ट तद्देश उस अभाव का स्वरूपसम्बन्ध कहा जाता है, उनके इन तत्तत् भूतलादियों से भिन्न, कोई दूसरा अभावका स्वरूपसम्बन्ध होता है। इस लिये स्वरूपसम्बन्ध माननेवाले को एक ही वस्तु माननी पड़ी; केवल नाम

वादी गौरव देते हैं) अगर आप वैशिष्टयसम्बन्ध को अनित्य मानें तब अनन्त वैशिष्टयसम्बन्ध की कल्पना करनी होगी। जिसके कारण (उलटे) आपही को गौरव हो जायगा। [१](१२) (स्वरूपसम्बन्धवादीका सिद्धान्त)। (इसलिये परामर्श यह हुआ कि) तत्तत् कालीन जो तत्तत् भूतल वे ही तत्तत् अभावों के सम्बन्ध हैं।।

।। इति समवाय निरूपणम् ।।

अभावम् विभजते=अभाव का विभाग करते हैं।

का० नं० १२. १३.

अभाबस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च।।१२।।
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते।

का० अर्थ।

संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव के प्रभेद से अभाव दो प्रकार के होते हैं। जिनमें संसर्गाभाव के तीन प्रभेद हैं। यथा—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव।

मुक्तावली।

(१) अभावत्वंद्रव्यादिषट्कान्योऽन्याभाववत्वम्। (२) संसर्गा भावान्योन्याभावभेदादित्यर्थः। (३) अन्योन्याभावस्यैकविधत्वात्तद्विभागा भावात्संसर्गाभावं विभजते।।

मात्र से दो मालूम पड़ते हैं। किन्तु अनन्त वैशिष्ट्यसम्बन्धवादी सप्तपदार्थ से भिन्न अनन्त वैशिष्ट्यसम्बन्ध तो मानते हो हैं, साथ साथ तत्तत्ज्ञानकालीन जो तत्तत्भूतलादि (जो स्वरूप सम्बन्धरूप है) उनकोभी मानते हैं। इसलिये वैशिष्ट्यसम्बन्धवादी का उक्त दो प्रकार की वस्तु मानने के कारण सुतरां गौरव सिद्ध हुआ।

१. (टि०) तत्तत् कालीन="घटा भाववद् भूतलम्" इत्याकारक यथार्थ प्रतीति कालीन।

मु० अर्थ।

[१](१) द्रव्यादि ६ के जो ६ स्वतन्त्र अन्योन्याभाव तद्वत्त्व ही "अभाव" का लक्षण है। (२) संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के भेद से अभाव दो प्रकार का होता है– [२](३) अन्योन्याभाव के एक होने के कारण उसका विभाग नहीं हो सकता। इसलिये संसर्गाभाव ही का विभाग करते हैं।

(४) प्रागभाव इति॥

(४) 'प्रागभाव' इत्यादि ग्रन्थ पर विचार॥

(५) संसर्गाभावत्वम्, अन्योन्याभावभिन्नाभावत्वम्। (६) अन्योन्याभाबत्वम् तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताका भावत्वम्। (७) विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम्। (८) जन्याभावत्वं ध्वसत्वं। (९) नित्यसंसर्गाभावत्वम् अत्यन्ता भावत्वम्।

(५) अन्योन्याभाव से भिन्न जो अभाव वही संसर्गाभाव है। [३](६) तदात्म्य (ऐक्य) सम्बन्धावच्छिन्न जो प्रतियोगिता उसका निरूपक जो अभाव वही अन्योन्याभाव है [४](७) विनष्ट होने वाला जो अभाव उसे

---

१. (टि) इन ६ के अन्योन्याभाव इन छह में नहीं रहेंगे किन्तु सातवां पदार्थ जो है उसी में रहेंगे। अतएव लक्षण में अतिव्याप्त्यादि दोष नहीं लगा।

२. (टि) जिज्ञासा होती है कि जब अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव दोनों का उल्लेख है तब अन्योन्याभाव का विभाग नहीं किया और संसर्गाभाव का किया। इस वैषम्य की निवृत्ति के लिये कहा है।

३. (टि०) यथा देवदत्त तादात्म्य सम्बन्ध से अपने ही में (देवदत्त में) हैं जैसे कि घट अपने (घट) में तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न जो प्रतियोगिता वह घटनिष्ठ प्रतियोगिता उसका निरूपक जो अभाव वंह घटका अन्योन्याभाव, वह अन्योन्याभाव पटादि में रहता है। यहाँ पर प्रतियोगिता सम्बन्ध की प्रतियोगिता नहीं समझनी चाहिये किन्तु अभाव की।

४. (टि०) प्रागभाव का नाश मात्र होता है किन्तु उत्पत्ति नहीं होती है वह अनादि और सान्त है। प्रागभाव का प्रत्यक्ष कपालद्वय संयोगक्षण में होता है।

प्रागभाव कहते हैं। [१](८) जो अभाव उत्पन्न होता है (जन्य) वह "ध्वंस" कहाता है। (९) नित्य जो संसर्गाभाव वही अत्यन्ताभाव है।

(१०) यत्रतुभूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतं च तत्र घटकालस्य संवन्धाघटकतया अत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटकाले न घटात्यन्ताभावबुद्धिः। (११) तत्र उत्पाद विनाश शाली चतुर्थोऽयमभाव इति केचित्॥

[२](१०) जिस भूतल से (जहाँ पहले घटादि थे) घटादि हटा दिये गये और पुनः कालान्तर में वही लाये गये वहाँ पर (अत्यन्ताभाव के नित्य होने के कारण घटादि के रहने से भी घटादि के अत्यन्ताभाव का प्रत्यय क्यों नहीं होता है? (उत्तर यह है कि) अत्यन्ताभाव के नित्य रहने परभी घटादि वर्तमान रहने के समय घटाद्यभाव का तत्कालरूप विशेषण युक्त भूतल रूप स्वरूप सम्बन्ध नहीं रहने के कारण घटादि भाव काल में घटाद्यभावों की प्रतीति नहीं होती है। (११) संसर्गाभाव के अन्तर्गत तीनों अभावों को मान ही कर उत्पादविनाश-शाली एक चौथा अभाव भी कोई आचार्य्य मानते हैं।

(१२) अत्र ध्वंसप्रागभावयोरधिकरणे नात्यन्ताभव इति प्राचीन मतं, श्यामघटे रक्तो नास्तीति रक्तघटे श्यामो नास्तीतिधीश्च प्रागभावं ध्वंसं चावगाहते न तु तदन्त्यन्ताभावम्। (१३) नव्यास्तु तत्र विरोधे मानाभावात् ध्वंसादिकालावच्छेदेनाप्यत्यन्ताभावो वर्तते इति प्राहुः। (१४) नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेन्न, अनन्ताधिकरणात्मकत्वकल्पनापेक्षयातिरिक्तकल्पनाया एव लघीयस्त्वात्।

---

१. (क) ध्वंस की उत्पत्ति होती है किन्तु नाश नहीं होता।
(ख) ध्वंस का ध्वंस नहीं होता है क्योंकि ध्वंस का यदि ध्वंस हो तो प्रथम ध्वंस के प्रतियोगि का पुनः उद्भव हो जायगा।

२.. इसलिये विशेषण के रहने पर भी विशेषण+विशेष्य का सम्बन्ध नहीं रहने के कारण विशेषण की प्रतीति नहीं होती है।

[१](१२) अभावप्रकरण में प्राचीन आचार्य्यों का मत है कि ध्वंस और प्रागभाव के अधिकरण में अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। श्यामघट में (कच्चे घट में) रक्तरूप नहीं है और रक्तघट (पक्के घड़े) में श्याम रूप नहीं है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि श्यामघट में रक्त-रूप का और रक्तघट में श्याम रूप का अत्यन्ताभाव है। किन्तु श्यामघट में रक्तरूप का प्रागभाव है, इस कारण "श्यामघटे रक्तो नास्ति" यह ज्ञान रक्त के प्रागभाव को विषय करता है एवम् रक्तघट में श्यामरूप का ध्वंस है। अत: "रक्तघटे श्यामो नास्ति" यह ज्ञान श्यामरूप के ध्वंस को विषय करता है। [२](१३) नवीन आचार्य्यों का मत है कि ध्वंस और प्रागभाव के अधिकरण में भी अत्यन्ताभाव रहता है। विरोध में कुछ प्रमाण नहीं रहने के कारण ऐसा कहा है कि जिस समय जिस अधिकरण में प्रागभाव रहता है उस समय उसी अधिकरण में अत्यन्ताभाव भी रहता है। एवम् जिस समय जिस अधिकरण में ध्वंस रहता है उस समय उसी अधिकरण में अत्यन्ताभाव भी रहता है, [३](१४) (शङ्का) करते हैं कि लाघव के हेतु तत्तत् अभावों को तत्तत् अधिकरण रूप ही मानो (किन्तु ऐसा नहीं) तत्तत् अभावों को तत्तत् अधिकरणरूप मानने की अपेक्षा एक स्वतन्त्र अभाव पदार्थ ही मानने में लाघव है। क्योंकि अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने से अनन्त अधिकरणों में अभावत्व की कल्पना करनी होगी।

(१५) एवं च आधाराधेयभावोऽप्युपपद्यते। (१६) एवं च तत्तच्छब्दगन्धरसाद्यभावानां प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते। (१७) अन्यथा तत्तदधिकरणानां तत्तदिन्द्रियाणामग्राह्यत्वादप्रत्यक्षत्वं स्यात्। (१८) एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमत्यन्ता भावस्येति प्रत्युक्तम-प्रत्यक्षत्वापत्तः।

---

१. (टि०) अबगाहते-विषयी करोति [विषय करता] है।

२. (टि०) यथा-श्याम घट में रक्त प्रागभाव को रहने पर भी उसी घट में रक्त रूप का अत्यन्ताभाव भी रहता है। एवं रक्त घट में रूप का ध्वंसाभाव रहने पर भी उसी अधिकरण में श्याम रूप का अत्यन्ताभाव भी रहता है।

३. (टि०) मीमांसक प्रभाकर का मत। नैयायिक का उत्तर।

(१५) अभावों को तत्तत् अधिक स्वरूप नहीं मानकर एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने से आधाराधेयभाव की भी उपपत्ति होती है। अन्यथा अधाराधेयभाव नहीं होगा एक पदार्थ में आधाराधेयभाव नहीं होता है। (१६) अभाव को स्वतन्त्रपदार्थ मानने से तत्तत् शब्द गन्ध और रसादि के अभावों का प्रत्यक्ष भी उपपन्न होता है। [१](१७) अभाव को स्वतन्त्रपदार्थ नहीं मानने से (अधिकरणस्वरूप मानने पर) तत्तत् शब्दाभाव का अधिकरण पृथ्वी, तत्तत् गन्धाभाव जल एवं तत्तत् रसाद्यभाव का तेज भी है। इन अधिकरणों का श्रोत्रादि इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होने के कारण तत्तत् शब्द, गन्ध, और रसादि के अभावों का प्रत्यक्ष नहीं होगा। (१८) जो कोई अत्यन्ताभाव को ज्ञानविशेषस्वरूप अथवा कालविशेष (प्रतियोग्यनधिकरण काल) स्वरूप मानते हैं उन सबों के मत भी उक्त युक्ति से ही खण्डित हो गये। क्योंकि। (१) ज्ञानविशेषवादी या (२) काल विशेषवादी अत्यन्ताभाव को प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं कर सकते हैं।।

इति–अभाव निरुपणम्।

इदानीं पदार्थानां साधर्म्यं बैधर्म्यं च वक्तुं प्रक्रमते–

(अर्थ) अब पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं।

का० नं० १३

सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते ।।१३।।

का० अर्थ।

[२]द्रव्यादि सातों पदार्थों का साधर्म्य ज्ञेयत्व, वाच्यत्व और प्रमेयत्व है।

---

१. सर्वसम्मत नियम है, कि जो व्यक्ति जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है वह उस व्यक्ति में रहने वाली जाति और उसका अभाव ये सब उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। अब देखिये कि शब्द, गन्ध, रसादि के अभावका प्रत्यक्ष नहीं होगा। क्योंकि पृथ्वी, जल, और तेज श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रियसे क्रमशः ग्राह्य नहीं है। अतः अभावको अधिकरण स्वरूप न मानकर स्वतन्त्र मानना चाहिये।

२. ज्ञेयत्वादि=ज्ञेयत्व, वाच्यत्व, प्रमेयत्व,=ज्ञानविषयता, पदशक्यत्व, और यथार्थ ज्ञानविषयत्व।

मुक्तावली।

(१) ममानो धर्मोयेषां ते सधर्माणःतेषां भावः साधर्म्यं समानो धर्म इति फलितोर्थः (२) एवंविरुद्धो धर्मोयेषां ते विधर्माणः तेषां भावो वैधर्म्यं विरुद्धो धर्म इति फलितार्थः। (३) ज्ञेयत्वं ज्ञान विषयता सा च सर्वत्रैवास्ति ईश्वरादिज्ञानविषयतायाः केवलान्वयित्वात्। (४) एवमभिधेयत्वप्रमेयत्वादिकं वोध्यम्।

मु० अर्थ।

(१) जिनपदार्थों का धर्म एक ही है वे पदार्थ सधर्मा कहे जाते हैं और सधर्मा पदार्थों के भाव साधर्म्य याने (समानधर्म) अर्थात् एक धर्म कहाता है। यही फलितार्थ हुआ। (२) इसीप्रकार जिनपदार्थों का धर्म (अपने में) विरुद्ध है (व्यधिकरण है) वे पदार्थ विरुद्धधर्मा कहाते हैं। और विरुद्ध धर्मापदार्थों के भाव वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म कहलाता है यही फलितार्थ हुआ। [१](३) ईश्वरादि का जो ज्ञान उसकी विषयता को केवलान्वयी होने के कारण ज्ञेयत्व धर्म सातों पदार्थों में रहता है। (४) इसी प्रकार अभिधेयत्व और प्रमेयत्व केवलान्वयि होने के कारण सातों पदार्थों में है ऐसा समझना चाहिये।

का० नं० १४

द्रव्यादयः पञ्चभावा अनेके समवायिनः।
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निर्गुणक्रियः॥१३॥

का० अर्थ–

द्रव्यादि पाँचभाव पदार्थों के साधर्म्य दो हैं। यथा–(१) अनेकत्वेसति भावत्व, समवायित्व (२) द्रव्य, गुण और कर्म्म का साधर्म्य सत्तावत्व है और गुणादि छः पदार्थों का निर्गुणत्व एवम् निःक्रियत्व साधर्म्य है।

---

१. केवलान्वयी=एक जाति सम्बन्धसे सब जगह रहनेवाला। हम सबों की सप्तपदार्थान्तर्गत सब पदार्थ का ज्ञान नहीं है। तब फिर ज्ञेयत्व सब पदार्थ में कैसे रहा। इसलिये कहा है कि ईश्वर एवं योगियोंको भी सब पदार्थ का ज्ञानहै, इसलिये सब पदार्थों में रह सकता है।

मुक्तावली।

(१) द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेषाणां साधर्म्यमनेकत्वं समवायित्वं च। (२) यद्यप्यनेकत्वमभावेऽप्यस्ति तथाप्यनेकत्वे सति भावत्वं पञ्चानां साधर्म्यम् (३) तथा चानेकभाववृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्वमिति फलितोऽर्थः। (४) तेन प्रत्येकं घटादावाकाशादौ च नाव्याप्ति॥

मु० अर्थ।

(१) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँचों के अनेकत्व और समवायित्व साधर्म्य है। (२) अगर उक्त पाँचों भावों का साधर्म्य अनेकत्व मात्र कहें तो अभाव में अतिव्याप्त हो जायगा। (क्योंकि अभाव भी अनेक है)। इसलिये अनेकत्वे सति भावत्व साधर्म्य है। (३) अनेकत्वेसति भावत्व का फलितार्थ है कि अनेक भाव में वृत्ति जो पदार्थ विभाजक उपाधि (धर्म) तदा श्रयत्व। [१](४) ऐसा कहने से अब प्रत्येक घटादि (एक एक घट, पटादि में) और आकाशादि (आकाश, काल, दिशा) में भी अव्याप्ति नहीं होगी।

(५) समवायित्वं च समवायसम्बन्धेन सन्वन्धित्वं नतु समवायबत्वं सामान्यादावभावात्। (६) तथा च समवेतवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्वमिति फलितोऽर्थः। (७) तेन नित्यद्रव्येषु नाव्याप्तिः॥

(५) समवायित्व से अनुयोगित्व प्रतियोगित्वान्यतर सम्बन्ध से समवाय विशिष्टत्व अर्थ समझना। न कि समवायवत्व समझना। (अभिप्राय यह है कि समवाय सम्बन्ध अपने अनुयोगी अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म्म में एवं अपने प्रतियोगी सामान्य तथा विशेष में भी उक्त अनुयोगित्व

---

१. (टि०) एक एक घट, घटादि में, और आकाश काल दिशा में जिस हेतु एकत्व है उस हेतु अनेकत्वका समावेश करने से अव्याप्ति लगती है; इसलिये खासकर "अनेकत्वे सति" का अभिप्राय अनेक भाव में वृत्ती पदार्थ विभाजक उपाधि द्रव्यत्वादि हुए। वह प्रत्येक घटादि में और आकाशादि में रह गया। स्ववृत्तित्व और स्वेतर भाववृत्तित्व उभय सम्बन्ध से भावविशिष्टत्व अनेक भाववृत्तित्व का अर्थ समझना चाहिये।

प्रतियोगित्वान्यतर सम्बन्ध से है)। इसलिये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष पाँचों गृहीत हुए। अगर समवायवत्व करें तो अनुयोगी मात्र द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन ही लिये जायेंगे। सामान्य अैर विशेष का ग्रहण नहीं होगा जिसका ग्रहण होना आवश्यक है। (६) जैसा कि–समवेत में (अवयवीद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष में) वृत्ति जो पदार्थ विभाजक उपाधि (द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व और विशेषत्व) तदधिकरणत्व फलित अर्थ हुआ। (७) इस लक्षण की नित्य द्रव्य में (पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणु और आकाश काल दिशा आत्मा तथा मन में) अव्याप्ति नहीं होगी।

(८) सत्तावन्त इति। (९) द्रव्यगुणकर्मणां सत्तावत्वमित्यर्थः॥

(९) द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का साधर्म्य सत्तावत्व है।

(१०) गुणादिरिति। (११) यद्यपि गुणक्रिया शून्यत्व माद्यक्षणे घटादावतिव्यासं क्रियाशून्यत्वंच गगनादावतिव्याप्तं तथापि गुणवदवृत्ति धर्मवत्वं कर्मवदवृत्ति पदार्थ विभाजकोपाधिमत्वं तदर्थः। (१२) नहि घटत्वादिकं द्रव्यत्वं वा गुणवदवृत्ति कर्मवदवृत्ति वा किन्तुगुणत्वादिकं तथा। (13) आकाशत्वादिकं तु न पदार्थ-विभाजकोपाधिः॥

[१](११) गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव का अगर गुण शून्यत्व और क्रिया व शून्यत्वसाधर्म्य कहें तो घटादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। एवम् आकाशादि में भी अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि घटादि (द्रव्य) के उत्पत्ति क्षण में गुण एवं कर्म नहीं रहते हैं और पुनः आकाशमें भी–क्रिया नहीं है। अतः वहाद् भी अतिव्याप्ति हुई। इसलिये

---

१. (टि०) गुणवत द्रव्य में अवृत्ती जो गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व, प्रभावत्व धर्म्म सो गुण, कर्म्म, सामान्य, और विशेष इन्हीं छह पदार्थों में रहेंगे। और कर्मवत् में याने पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन में अवृती जो पदार्थ विभाजक उपाधि (गुणत्व, कर्म्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व समवायत्व और अभावत्व) तदधिकरणत्व [गुणादि छह] में रहेंगे।

गुणवत (द्रव्य) में अवृत्ति जो धर्म तदाश्रयत्व कर्माश्रय (मूर्त्त=पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन) में अवृत्ती जो पदार्थ विभाजक उपाधि तदाश्रयत्व यही निर्गुणत्व और निःक्रियत्व का क्रमिक अर्थ है। (१२) गुणत्वादि ६ गुणवत् (द्रव्य) में और कर्मवत् में आवृत्ति है; नकि घटत्वादि और द्रव्यत्वादि अवृत्ती होगा। घटत्वादि और द्रव्यत्व गुणवत् और कर्मवत् में वृत्ति ही है। (१३) (पदार्थविभाजक निवेशका फल) आकाशत्वादि आकाशत्व, कालत्व, दिशात्व, आत्मत्व वे चार कर्मासमानाधिकरण होने पर भी पदार्थविभाजक उपाधि नहीं है। (किन्तु द्रव्यविभाजक उपाधि है) इसलिये आकाशादि चारों में भी अतिव्याप्ति नहीं हुई।

का० नं० १५

सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः।
पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्॥१५॥

का० अर्थ–

सामान्यादि चार पदार्थो का साधर्म्य सामान्य शून्यत्व है। अगुपरिमाण, परम महत् परिमाण अतीन्द्रिय सामान्य और विशेष से भिन्न का साधर्म्य कारणत्व है।

(१) सामान्यानधिकरणत्वं सामान्यादीनांमित्यर्थः। (२) पारिमाण्डल्येति। (३) पारिमाण्डल्यमणुपरिमाणं कारणत्वं तद्भिन्नानामित्यर्थः। (४) अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम्। (५) तद्धिस्वाश्रयारब्ध द्रव्य परिमाणरम्भकं भवेत् तच्च न संभवति परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमान्महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्। (६) एवं परममहत्परिमाण-मतीन्द्रियसामान्यं विशेषाश्च बोध्याः। (७) इदमपि योगिप्रत्यक्षे विषयस्य न कारणत्वम्॥

(१) सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव–इन चारों का साधर्म्य सामान्य शून्यत्व है। [१](३) पारिमाण्डल्य अणुपरिमाणको कहते हैं।

१. (टि०) अणुपरिमाण परमाणु और द्व्यणुक में रहता है।

अणुपरिमाण से भिन्न का साधर्म्य कारणत्व है। (४) अगुपरिमाण किसी का कारण नहीं है। [१](५) अणुपरिमाण को कारणता मानने से अणुपरिमाण (परमाणुपरिमाण, द्व्यणुकपरिमाण) स्वाश्रयपरमाणु और द्व्यणुक से आरब्ध, जो द्व्यणुक और त्रसरेणु इनके परिमाण का आरम्भक उक्त परमाणु का और द्व्यणुक का परिमाण होंगे–यह नहीं हो सकता है। नियम है कि (परिमाण) अपने सजातीय जो उत्कृष्ट परिमाण उसका ही जनक होता है। इस नियमके अनुसार जैसे महत् परिमाण महत्तर परिमाण का जनक होता है वैसे ही अणुपरिमाण अणुतर परिमाण का जनक होगा। तब परमाणु और द्व्यणुक में रहने वाला जो परिमाण है वह द्व्यणुक और त्रसरेणुक के परिमाण को अणुतर नहीं होने के कारण द्व्यणुक और त्रसरेणु के परिमाणका जनक नहीं होगा। (६) इसी प्रकार आकाशादियों में परम महत् परिमाण अतीन्द्रिय जाति (मनस्त्व, गुरूत्वादि) और विशेष पदार्थ इन सबों को भी किसी के प्रति कारणता नहीं है। (७) [२]परन्तु यह "पारिमाण्डल्य भिन्नानां" इत्यादि ग्रन्थ तभी लागू हो सकता है यदि योगियों के प्रत्यक्ष के प्रति विषयों में कारणता न मानी जाय (जैसा कि नवीन आचार्यों का मत है)।

(८) ज्ञायमानसामान्यं न प्रत्यासत्तिः। (९) ज्ञायमानं लिङ्गं नानुमितिकारणमित्यभिप्रायेणोक्तम्। (१०) मानसप्रत्यक्षे आत्ममहत्वस्य कारणत्वान्महत्परिमाणं आकाशादेर्बोध्यम्। (११) तस्यापि न

---

१. (टि०) जैसे कपालद्वय के महत् परिमाण से उत्कृष्ट परिमाण घट में उत्पन्न होता है। इसी सिलसिले से अगर परमाणु और द्व्यणुक में रहनेवाले परिमाण को कारण मानें तब द्व्यणुक तथा त्रसरेणु के परिमाण-परमाणु और द्व्यणुक के परिमाणसे भी अणुतर हो जायेंगे। अणु से उत्कृष्ट अणुतर और महत् से उत्कृष्ट महत्तर होते हैं। और ऐसे होने से त्र्यणुकादिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्व कारण हैं इसलिये अणु परिमाण में कारणता का स्वीकार नहीं किया गया।

२. (टि०) योगियों के प्रत्यक्ष में अगर विषय को कारण मान लें जिसलिये योगियों को अणु परिमाण, परम महत् परिमाण, अतीन्द्रिय सामान्य, विशेष, इन पदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है, इसलिये अणुपरिमाण इत्यादि भी विषय विध या उस प्रत्यक्ष के प्रति कारण हो जायेंगे।

कारणत्वमित्याचार्याणामाशय इत्यन्ये। (१२) तन्न। (१३) ज्ञानातिरिक्तं प्रत्येवाकारणताया आचार्य्यैरुक्तत्वात्॥

[१](८) ज्ञायमान सामान्य (ज्ञान विषय जो धर्म) प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) नहीं है किन्तु सामान्य का ज्ञान प्रत्यासत्ति है। [२](९) ज्ञायमान लिंग (व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान विषय जो हेतु) अनुमिति में कारण नहीं है (किन्तु लिंग विषयक व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान कारण है)। इसी अभिप्राय से पहले कहा है। (१०) "अहं सुखी, अहं दु:खी" इत्याकारक आत्मा के मानस प्रत्यक्ष के प्रति आत्मा का परम महत् परिमाणरूप महत्त्व भी कारण होता है। इसलिये आकाश काल दिशा इन्हीं तीन के परम महत् परिमाणों में किसी के प्रति कारणता नहीं है। यह समझना चाहिये। (११) कई एक तार्किक ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा का भी परम महत् परिमाण किसी के प्रति कारण नहीं है। यह उदयनाचार्य्य का आशय है। (१२) किन्तु ऐसी बात नहीं है। (१३) उक्त आचार्य्य का यही आशय है कि ज्ञान से भिन्न के प्रति आत्मा का परम् महत् परिमाण कारण नहीं है (न कि ज्ञान के प्रति भी कारण नहीं है।)

इति साधर्म्य वैधर्म्य निरूपणम्।

ननु कारणत्वं किम्, अत आह—

(अर्थ) कारणत्व=कारणता कौन पदार्थ है? इस जिज्ञासा से कहते हैं।

---

१. अगर ज्ञायमान सामान्य प्रत्यासत्ति मानें तो मनस्त्व भी अलौकिक प्रत्यक्ष विशेष में कारण हो जाने से ग्रन्थासङ्गति हो जायगी।

२. सारांश यह हुआ कि अगर:—(१) योगी के प्रत्यक्ष में विषय कारण नहीं हों (२) ज्ञायमान सामान्य प्रत्यासत्ति नहीं हो। (३) और ज्ञायमान लिंग अनुमिति में कारण नहीं हो तभी अणु परिमाणादि को कारणता का निषेध संगत होगा।

का० नं० १६, १७।

[1]अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्॥१६॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्।
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम्॥१७॥

का० अर्थ–

अन्यथा सिद्धि से शून्यत्व कार्य से नियत पूर्ववर्तित्व को "कारणता" कहते हैं उसके तीन प्रभेद हैं। प्रथम का नाम समवायिकारणता है, द्वितीय का नाम असमवायिकारणता है और तृतीय का नाम निमित्त कारणता है।

तस्य कारणत्वस्य ॥१६, १७॥ (अर्थ) कारिका में तत् पद का अर्थ कारणत्व है।

का० नं० १८

यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयंतु समवायिजनकं तत्।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात्॥१८॥

जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है उसे समवायि कारण जानना चाहिये और उक्त समवायिकारण में समवाय या स्वसमवायि समवेतत्व अन्यतर सम्बन्ध से वृत्ती होकर जो कार्य का जनक हो वह "असमवायि" कारण है। और इन दोनों से भिन्न जो कारण वह निमित्त कारण है।

(१) तत्रेति। (२) समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीयमसमवायिकारणमित्यर्थः। (३) अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसंयोगानां पटासमवायि कारणत्वंस्यात्। (४) एवं वेगादीनामभिघाताद्य-समवायिकारणत्वंस्यात्। (५) एवं ज्ञानादिकमपीच्छाद्यसमवायि-कारणंस्यात्। (६) तथापि पटासमवायि कारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोग-

---

१. कार्यव्यवहित प्राक्क्षणावच्छेदेन कार्य्य व्यापकत्व नियत पूर्व वृत्तित्व का परिष्कृत अर्थ है।

भिन्नत्वं देयम्। (७) तुरीतन्तुसंयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव। (८) एवं वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति, तत्तत्कार्यासमवायिकारणलक्षणे तत्तद्भिन्नत्वं देयम्।

(१+२) समवायिकारण में आसन्न=प्रत्यासन्न (वृत्ती) जो कारण द्वितीय अर्थात् "असमवायि" कारण है। (३) ऐसा लक्षण करने से तुरी और तन्तुओं का जो संयोग वह पट का असमवायि कारण होना चाहिये? क्योंकि पटसमवायिकारण तन्तु में वृत्ती है और कारण भी है। असमवायिकारणनाश को द्रव्यनाशकत्व नियम है अतएव इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं। (४) इस प्रकार अभिघात और स्पर्श के प्रति वेग और नोदन (संयोग) भी यथाक्रम असमवायि कारण होना चाहिये। (५) तथा ज्ञानादि (ज्ञान और इच्छा) भी इच्छादि (इच्छा और प्रवृत्ति) के प्रति असमवायि कारण होना चाहिये। (६) [१](उक्त दोषों का निवारण करने के हेतु) पट के असमवायि कारण के लक्षण में तुरीतन्तु संयोग भिन्नत्व (तन्तु भिन्न समवेतान्यत्व) का निवेश करना उचित है। तन्तुओं में समवेत हो और तुरीतन्तु संयोग से भिन्न हो, ऐसा जो पट का कारण वही उसका असमवायि कारण है। (७) [२]तुरी और तन्तु का संयोग भी तुरीपट संयोग के प्रति असमवायि कारण होता ही है। (८) (क) इस प्रकार वेगादि भी वेग और स्पन्दनादि के असमवायि कारण होता ही है। इस हेतु तत्तत् विशेष कार्य्य के असमवायि कारण के लक्षण में तत्तत् भिन्नत्व का निवेश करना चाहिये न कि सामान्य लक्षण में।

१. अगर तुरी-तन्तु संयोग भी पट का असमवायि कारण मानें तो क्या दोष? (उत्तर)—नैयायिक लोग असमवायि कारण के नाश से कार्य का नाश मानते हैं। अब अगर तुरी तन्तु संयोग को पट के प्रति असमवायि कारण मानें तो उस संयोग के नाश हो जाने से पट का भी नाश हो जायगा। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है। इस हेतु तुरी-तन्तु संयोग में पटा-समवायि कारणत्व इष्ट नहीं है।

२. तुरी-तन्तु संयोग पटका असमवायि कारण नहीं है किन्तु तुरी-पट संयोग का अवश्य है। अतः असमवायि कारण के सामान्य लक्षण में तुरी-तन्तु संयोग भिन्नत्व का निवेश नहीं करना चाहिये। अन्यथा उक्त संयोग में अव्याप्ति हो जायगी।

(९) आत्मविशेषगुणानां तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति तेन तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे हेयमेव। (१०) अत्र समवायिकारणे प्रत्यासन्नं द्विविधं कार्यैकार्थ प्रत्यासत्या कारणैकार्थप्रत्यासत्या च। (११) आद्यं यथा। (१२) घटादिकं प्रति कपालसंयोगादिकम-समवायिकारणम्। (१३) तत्र कार्येण घटेन सह कारणस्य कपालसंयोगस्यैकस्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। (१४) द्वितीयं यथा। (१५) घटरूपं प्रति कपालरूपसमवायिकारणम्। (१६) तत्र स्वगतरूपादिकं प्रति समवायिकारणं घटः, तेन सह कपालरूपस्यैक-स्मिन्कपाले प्रत्यासत्तिरस्ति। (१७) तथा च क्वचित्समवायसंबन्धेन क्वचित्स्वसमवायिसमवेतत्वसंबन्धेनेति फलितोऽर्थः॥

(९) आत्मा के विशेष गुण किसी भी कार्य्य के प्रति असमवायि कारण नहीं होते हैं इसलिये आत्म विशेषगुण भिन्न का असमवायि कारण के सामान्य लक्षण में निवेश आवश्यक है। (१०) समवायि कारण में दो प्रकार से वृत्तित्व हो सकता है। यथा–(क) कार्य्यैकार्थप्रत्यासत्त्या (याने असमवायिकरण अपने कार्य्य के साथ एक अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से) (ख) कारणैकार्थप्रत्यासत्या (असमवायि कारण और उसके कार्य्य का समवायि कारण ये दो, एक अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से) (११) पहले का उदाहरण। (१२) घटादि के प्रति (अवयवी के प्रति) कपालद्वय संयोग (अवयवों का संयोग) असमवायि कारण है। (१३) [१]कार्य्यैकार्थप्रत्यासत्या यथा–घटरूप कार्य्य के साथ कपालद्वय संयोग को कपालस्वरूप अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण सामानाधिकरणरूप कार्य्यैकार्थ प्रत्यासत्ति घट गई। (१४+१५) घटरूप के प्रति कपाल का रूप असमवायि कारण है। (१६) यथा घट गत रूपादिके प्रति घट समवायि कारण है। जिस घट के साथ कपाल रूप का भी कपालात्मक एकाधिकरण में (एकार्थ समवेतत्व) रूप सम्बन्ध है। अब कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति घट गई। (१७) कार्य्यैकार्थ प्रत्यासत्ति और कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति इन दोनों का फलितार्थ यह है कि

१. (टि०) घट–कपाल–कपालद्वय संयोग।

किसी स्थल में समवाय सम्बन्ध से और किसी स्थल में स्वसमवायि समवेतत्व सम्बन्ध से वृत्तित्व असमवायि कारण के लक्षण में प्रविष्ट है।

(१८) इत्थं च कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नसमवायिकारणमिति सामान्यलक्षणं पर्यवसन्नम्। (१९) आभ्यां समवायिकारणासमवायिकारणाभ्यां परं भिन्नं कारणं तृतीयं निमित्तकारणमित्यर्थः॥

(१८) [१]ऐसा होने पर आत्मा के विशेष गुण ज्ञानादियों को छोड़कर कार्य्यैकार्थप्रत्यासत्ति से या कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति से समवायि कारण में प्रत्यासन्न (वृत्ति) जो कारण वह असमवायि कारण है। यही पर्य्यवसित हुआ। (१९) इन दोनों समवायि कारण और असमवायि कारणों से भिन्न जो कारण वह तृतीय=निमित्त कारण है।

इदानीमन्यथासिद्धत्वमेव कियतांपदार्थानमत आह।

(अर्थ) अब (कार्य्य के प्रति) अन्यथा सिद्ध कितने पदार्थ होते हैं। अतः अन्यथा सिद्ध का निर्वचन करने के लिये कहते हैं।

का० नं० १९, २०।

येनसह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥१९॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः॥२०॥

का० अर्थ–

[२]जिस कार्य्य के प्रति कारण को नियत पूर्व वृत्तित्व जिस रूप से गृहीत होता है; जिसका कारण के द्वारा ही अन्वय व्यतिरेक हो (अन्य

१. (टि०) जिसका जो सम्बन्ध जहाँ रहता है उस सम्बन्ध से वह वस्तु भी वहीं रहता है। यथा कपाल रूप का जो स्वसमवायि समवेतत्व सम्बन्ध है वह सम्बन्ध घट में है। इसलिये कपाल रूप स्वसमवायि समवेतत्व सम्बन्ध से घटमें रहा।

२. (टि०) लघुनियत पूर्ववृति=जिसमें कारणता मानने से लाघव हो।

द्वारा नहीं हो); जिसमें दूसरे के प्रति पूववृत्तिता का ज्ञान होकर ही यत्कार्य्य के प्रति जिसमें पूर्ववृत्तिता का ज्ञान हो; यत्कार्य्यजनक के प्रति पूर्ववृत्तिता के प्रति जिसमें पूर्ववृत्तिता का ज्ञान हो; लघु नियत पूर्व वृत्तिको छोड़कर जो भी कोई हो वे सब अन्यथा सिद्ध है।

(१) यत्कार्य्यंप्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण गृह्यते तत्कार्यं प्रति तद्रूपमन्यथासिद्धमित्यर्थः। (२) यथाघटंप्रति दण्डत्वमिति।

[१](१) जिस कार्य्य के प्रति कारण में पूर्व वृत्तिता जिस रूप से गृहीत हो उस कार्य्य के प्रति वह रूप प्रथम अन्यथा सिद्ध है। (२) जैसा कि घट के प्रति दण्डत्व प्रथम अन्यथा सिद्ध है।

(३) द्वितीयमन्यथासिद्धमाह। (४) कारणमिति। (५) यस्य स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकौ न स्तः, किं तु कारणमादायैवान्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तदन्यथा सिद्धम्। (६) यथा दण्डरूपम्।।

(३) द्वितीय अन्यथा सिद्ध दिखलाते हैं। [२](४+५) जिस कार्य्य के प्रति जिसको स्वातन्त्र्येण (कारणाघटित परम्परा सम्बन्ध से) अन्वयव्यतिरेक नहीं है किन्तु कारण द्वारा (कारण घटित परम्परा सम्बन्ध से) ही अन्वय व्यतिरेक है, वह उस कार्य्य के प्रति द्वितीय अन्यथासिद्ध है। (६) [३]जैसा कि दण्ड का रूप।

(७) तृतीयमाह। अन्यं प्रतीति। (८) अन्यम् प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्। (९) यथाघटादिकंप्रत्याकाशस्य।।

---

१. (टि०) घट कार्य के प्रति कारण दण्ड में पूर्ववृत्तिता दण्डत्वेन रूपेण गृहीत है इसलिये दण्डत्व प्रथम अन्यथा सिद्ध है।

२. (टि०) अन्वयः=तत्सत्त्वे (कारणसत्त्वे) तदितर सकल कारणसत्त्वे तत्सत्त्वं (कार्यसत्त्वम्) व्यतिरेकः–तदसत्त्वे (कारणसत्त्वे) तदसत्त्व (कार्यसत्वम्)।

३. (टि०) घट कार्य्य के प्रति दण्ड रूप को साक्षात् अन्वय व्यतिरेक नहीं है किन्तु घट कार्य्य का कारण दण्ड के द्वारा अर्थात् स्वाश्रय दण्डजन्य भ्रमिजन्य कपालद्वय संयोगवत्व सम्बन्ध से ही अन्वय व्यतिरेक है।

(७) तृतीय अन्यथा सिद्ध कहते हैं। (८) कारण और कार्य से भिन्न के प्रति पूर्व वृत्तिता का ज्ञान होकर ही जिसमें जिस कार्य्य के प्रति पूर्व वृत्तिता का ज्ञान होता है, वह उस कार्य्य के प्रति तृतीय अन्यथा सिद्ध है। (९) जैसे कि घटादि के प्रति आकाश।

(१०) तस्यहि घटादिकं प्रति कारणत्वमाकाशत्वेनैव स्यात्। (११) आकाशत्वं हि शब्दसमवायिकारणत्वम्। (१२) एवं च तस्य शब्दं प्रति जनकत्वं गृहीत्वैव घटादिकं प्रति जनकत्वं ग्राह्यमतस्तदन्यथासिद्धम्। (१३) ननु शब्दाश्रयत्वेन तस्य कारणत्वे काऽन्यथासिद्धि रिति चेत्, पञ्चमीति गृहाण। (१४) नन्वाकाशस्य शब्दं प्रति जनकत्वे किमवच्छेदकमिति चेत्कवत्वादिकं विशेषपदार्थो वेति॥

(१०) घट के प्रति आकाश को आकाशत्व रूप से ही कारणता होगी। (११) आकाशत्व शब्दसमवायि कारणत्व रूप है। (१२) इस कारण आकाश में शब्द के प्रति जनकता ग्रहण करके ही घटादि के प्रति जनकता ग्रहण किया जा सकता है। इसलिये आकाश तृतीय अन्यथा सिद्ध है। (१३) (शङ्का और समाधान) आकाश को शब्दाश्रयत्व रूप से कारणता मानने पर आकाश कौन अन्यथा सिद्ध होगा? ऐसा कहें तो पाँचवां अन्यथा सिद्ध मानना चाहिये। [१](१४) (शङ्का और समाधान) आकाश में जो शब्द का जनकता है, उसका अवच्छेदक कौन होगा? अगर ऐसा पूछें तो यह उत्तर है कि कवत्व या खवत्व अथवा विशेष पदार्थ होगा।

---

१. (टि०) "क" जब आकाशत्व शब्द समवायिकारणता रूप है तब फिर आकाशत्व शब्द समवायि कारणतावच्छेदक नहीं हो सकता है क्योंकि आत्माश्रय लग जायेगा; इसलिये पूछा है।
"ख" जिस हेतु ककारादि नाना प्रकार और अनित्य है इसलिये गौरव से बचनेके हेतु विशेष पदार्थ ही को शब्द के जनकता का अवच्छेदक माना गया है।

(१५) चतुर्थ मन्यथा सिद्धमाह। (१६) जनकप्रतीति। १७) यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृह्यते तस्य तत्कार्यं प्रत्यन्यथा सिद्धत्वम्। (१८) यथा कुलाल पितुर्घटं प्रति। (१९) तस्य हि कुलाल पितृत्वेन घटं प्रति जनकत्वे एवान्यथा सिद्धिः। (२०) कुलालत्वेन जनकत्वे त्विष्टापत्तिः, कुलालमात्रस्य घटं प्रति जनकत्वात्॥

(१५) चौथा अन्यथा सिद्ध कहते हैं। (१६+१७) जिस कार्य्य जनक के प्रति पूर्व वृत्तिता का ज्ञान होकर ही जिसमें (कुलाल पिता में) जिस कार्य्य (घट कार्य्य) के प्रति पूर्व वृत्तिता का ज्ञान हो वह (कुलाल पिता) उस कार्य्य के (घट कार्य्य) के प्रति चतुर्थ-अन्यथा सिद्ध है। (१८) यथा कुलाल पिता घट के प्रति चतुर्थ अन्यथा सिद्ध है। (१९) उसको (कुलाल पिता को) कुलाल पितृत्वेन घट के प्रति कारणता मानने ही से वह (कुलाल पिता) अन्यथा सिद्ध है, न कि कुलालत्वेन जनकता मानने से वह (कुलाल पिता) अन्यथा सिद्ध है। (२०) कुलालत्वेन जनकता तो उसमे (कुलाल पिता में) इष्टही है। जिस हेतु कुलाल मात्र घट के प्रति कारण है।

(२१) पञ्चममन्यथासिद्धमाह। (२२) अतिरिक्तमिति। (२३) अवश्य क्लृप्तनियत पूर्व वर्तिन एव कार्य संभवे तद्भिन्नमन्यथा सिद्धमित्यर्थः। (२४) अतएव प्रत्यक्षे महत्वं कारणम् (२५) अनेक द्रव्यवत्वमन्यथा सिद्धम्। (२६) तत्रहि महत्वमवश्यं क्लृप्तं तेनानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धम्। (२७) नच वैपरीत्ये किं विनिगमक-मिति वाच्यम्, महत्त्वत्व जातेः कारणतावच्छेदकत्वे लाघवात्।

(२१) पाँचवां अन्यथा सिद्ध कहते हैं। (२२×२३) जिसको कारणता मानने से लाघव हो ऐसा जो लघुनियतपूर्ववर्त्ती वह कारण है और उससे भिन्न सभी अन्यथा सिद्ध है। (२४) इसलिये प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व कारण है। (२५) अनेक द्रव्यत्व (अणुभिन्न द्रव्यत्व) अन्यथा सिद्ध है। (२६) क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व अवश्य कलृप्त है। अनेक द्रव्यत्व

अन्यथा सिद्ध है। (२७) (शङ्का) अगर अनेक द्रव्यत्व को ही प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानें और महत्व को अन्यथा सिद्ध मानें तो क्या प्रत्युत्तर हो सकता है? (प्रत्यक्ष के प्रति महत्व को कारण मानने से) कारणताक अवच्छेदक एक महत्त्वत्व जाति मात्र होगा अनेक द्रव्यत्व को कारण मानें तो कारणता का अवच्छेदक अधिक होंगे। यथा–(१) अणुभेद और (२) द्रव्यत्व। इस स्थिति में शरीर लाघव के हेतु महत्व ही को प्रत्यक्ष के प्रति कारण मानना आवश्यक है।

का० नं० २१, २२।

एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥२१॥
तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥२२॥

का० अर्थ।

ये (उक्त) पाँच अन्यथा सिद्ध हैं उनमें पहला घटादि कार्य्य के प्रति अन्यथा सिद्ध दण्डत्वादि है; दूसरा दण्ड रूपादि है। तीसरा आकाश है, चौथा कुलाल पिता है और पाँचवां गदहा इत्यादि है। इन पाँचों अन्यथा सिद्धों में यही पाँचवां अन्यथा सिद्ध आवश्यक है।

[१] रासभादिरिति। [२] यद्यपि यत्किंचिद्धटव्यक्तिं प्रति रासभस्य नियत पूर्व वृत्तित्वमस्ति, तथापि घटजातियं प्रति सिद्धकाराण-भावैर्दण्डादिभिरेवतद्रव्यक्तेरपि संभवे रासभोऽन्यथासिद्धयइति भावः।

(१+२) यद्यपि किसी न किसी घटकार्य (व्यक्ति) के प्रति गदहे को भी नियत पूर्ववृत्तिता हो सकती है। तथापि तत्सजातीय घटान्तर कार्य्य के प्रति दण्डादि ही में कारणता, सिद्ध है। उसी (सिद्ध कारणता के दण्डादि) से ही उक्त घट कार्य का भी निर्वाह हो सकता है। इस हेतु रासभ सर्वथा अन्यथा सिद्ध हुआ–यही तात्पर्य है।

(३) एतेष्विति। (४) एतेषु पञ्चस्वन्यथासिद्धेषु मध्ये

पञ्चमोऽन्यथासिद्ध आवश्यकः, तेनैव परेषां चरितार्थत्वात (५) तथाहि। दण्डादिभिरवश्य क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिभिरेव कार्यसंभवे दण्डत्वादिकमन्यथासिद्धम्।।

(३×४) इन पाँचों अन्यथा सिद्धों में पाँचवां अन्यथा सिद्ध मानना आवश्यक है। क्योंकि प्रथम अन्यथा सिद्ध से लेकर चौथा अन्यथा सिद्ध पर्य्यन्त पाँचवें अन्यथा सिद्ध में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। (५+६) यथा लघु नियत पूर्व वृत्ती (जो) दण्ड उससे ही घटकार्य की सम्भावना है तो तद्भिन्न दण्डत्वादि सभी अन्यथा सिद्ध हैं।

(७) न च वैपरीत्ये किं विनिगमकमिति वाच्यम्, दण्डत्वस्य कारणत्वे दण्डघटितपरम्परायाः संवन्धत्वकल्पने गौरवात्। (८) एवमन्येषामप्यनेनैव चारितार्थत्वं संभवातीति।

(७) अगर उलटा ही करके कारणता मानें (दण्डत्व को ही कारण और दण्ड को अन्यथा सिद्ध मानें) तो दण्ड में कारणता का नियामक सम्बन्ध कौन होगा? दण्डत्व को कारणता मानने में स्वाश्रयजन्य भ्रमिजन्य कपालद्वय संयोगवत्व सम्बन्ध से कारणता माननी होगी। इसलिये दण्डत्व कारणता पक्ष में दण्डघटित परम्परा सम्बन्ध को कारणतावच्छेदकत्व की कल्पना में गौरव होगा। (८) इस प्रकार दण्डरूप, आकाश और कुलालपिता का भी पंचम अन्यथा सिद्ध में ही संग्रह हो सकता है।

का० नं० २३।

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायि हेतुत्वम्।।२३।।

का० अर्थ।

समवायि कारणत्व द्रव्यमात्र वृत्ती होता है। एवम् असमवायि कारणत्व गुण और कर्म मात्र में रहता है।।

(१) समवायीतिस्पष्टम्। गुणकर्मेति। (२) असमवायि कारणत्वं गुणकर्मभिन्नानां वैधर्म्यं नतु गुणकर्मणोः साधर्म्यमित्यत्र तात्पर्यम्।

(३) अथवा असमवायिकारणवृत्तिसत्ता भिन्न जातिमत्वं तदर्थः। (४) तेन ज्ञानादीनामसमवायिकारणत्वविरहेऽपि न क्षतिः॥

(१+२) गुण कर्म से भिन्न जो पाँच पदार्थ हैं उनके वैधर्म्य असमवायि कारणत्व हैं। मूल का यह तात्पर्य्य नहीं कि वह गुण और कर्म का साधर्म्य है। (३) अथवा असमवायि कारणत्व पद का असमवायि कारण में वृत्ती जो सत्ताभिन्नजाति=(गुणत्व, कर्मत्व) तादृश जातिमत्व ही अर्थ है। तब गुण और कर्म का साधर्म्य मानने में भी क्षति नहीं है। (४) (असमवायि कारणत्व का इस प्रकार जाति घटित परिष्कार करनेसे) आत्मा के विशेष गुण ज्ञानादियों में असमवायि कारणता न रहने से भी कोई हानि नहीं हुई। (अव्याप्ति दोष नहीं लगा।)

इति कारणत्व निरूपणम्।

का० नं० २४।

अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते।

नित्यद्रव्यों में भिन्न का साधर्म्य आश्रितत्व है।

मुक्तावली।

(१) नित्यद्रव्याणि परमाण्वाकाशादीनि विहायाश्रितत्वं साधर्म्यमित्यर्थः। (२) आश्रितत्वं तु समवायादिसम्बन्धेन वृत्तिमत्वम्। (३) विशेषणतया नित्यानामपि कालादौ वृत्तेः॥

मु० अर्थ।

(१) पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों के परमाणु तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये सब नित्य द्रव्य हैं। इनसे भिन्न का साधर्म्य आश्रितत्व है। (२) इस स्थल में आश्रितत्व शब्द का अर्थ (कालादि सम्बन्धातिरिक्त) समवाय संयोग स्वरूप अन्यतम सम्बन्ध से वृत्तिमत्त्व है। (३) विशेषणता (कालिक) सम्बन्ध से तो नित्य द्रव्य भी कालादि में रहता है। इसलिये आश्रितत्व का उक्त परिष्कार किया गया है।

इदानीं द्रव्यस्यैव विशिष्य साधर्म्यं वक्तुमारभते–

(अर्थ) अब खास करके द्रव्य ही के साधर्म्य कहने के लिये आरम्भ करते हैं।

का० नं० २४, २५।

क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वंगुणयोगिता॥२४॥

क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी॥२५॥

का० अर्थ।

पृथिव्यादि नवों का साधर्म्य द्रव्यत्व और गुणवत्त्व है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन इन सबों के साधर्म्य परत्व, अपरत्व, मूर्त्तत्व, क्रियावत्त्व और वेगवत्त्व हैं।

मुक्तावली।

(१) पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां परत्वापरत्ववत्त्वं मूर्त्तत्वं क्रियावत्त्वं वेगवत्त्वं च साधर्म्यम्। (२) न च यत्र घटादौ परत्वमपरत्वं वा नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरिति वाच्यम्।

मु० अर्थ।

(१) इसका अर्थ अभी लिखा गया है। (२) शङ्काः-(अगर कहें) कि जिन घटादियों में परत्व और अपरत्व उत्पन्न नहीं हुए हैं वहाँ (उन घटादियों में) अव्याप्ति लग जायेगी।

परत्वादिसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्त्वात्।

समा०-उस स्थल में भी परत्वादियों के अधिकरण में रहनेवाली जो द्रव्यत्व-व्याप्यजाति (पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व, मनस्त्व) तादृश जातिमत्त्वरूप परत्व का निःकृष्टार्थ करने पर उसे रहने के कारण दोष नहीं होता।

(३) मूर्त्तत्वमपकृष्टपरिमाणवत्त्वम्, तच्च तेषामेव, गगनादि-परिमाणस्य कुतोऽप्यपकृष्टत्वाभावात्। (४) पूर्ववत् कर्मवत्त्वं कर्मसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं, वेगवत्त्वं वेगवद्वृत्तिद्रव्यत्व-व्याप्यजातिमत्त्वं च बोध्यम्॥२४॥ ॥२५॥

[1](३) मूर्त्तत्व, अपकृष्ट परिमाणवत्त्व को कहते हैं। (अपकृष्ट परिमाण याने परम महत् परिमाण से भिन्न परिमाण) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है। आकाश, काल, दिशा और आत्मा में जो परिमाण है उसको किसी भी परिमाण से छोटा नहीं होने के कारण अपकृष्ट परिमाण पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन ही में रहता है। (४) अगर पृथिव्यादि पाँचों का साधर्म्य वेगवत्त्व और क्रियावत्त्व करें तो जिसमें क्रिया वा वेग उत्पन्न नहीं हुए हैं वहाँ अव्याप्ति होगी। (उस स्थितिमें) पूर्ववत् (परत्वादि समानाधिकरण इत्यादि के समान) कर्मवत्त्व और वेगवत्त्व से कर्म वा वेगसमानाधिकरण जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व और मनस्त्व) तादृश जातिमहत्त्व समझना चाहिये। इससे कर्म वा वेग हीन पृथिव्यादि पाँच में अव्याप्ति नहीं होगी।

का॰ नं॰ २६।

कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्।
क्षित्यादिपञ्चभूतानि चत्वारि स्पर्शवन्ति हि।।२६।।

का॰ अर्थ–

काल, आकाश, आत्मा और दिशा इन सबों का साधर्म्य सर्वगतत्व (सर्वमूर्तसंयोगित्व) और परममहत् परिमाणवत्त्व है। पृथिव्यादि पाँचों का साधर्म्य भूतत्व है और पृथिव्यादि चारों का साधर्म्य स्पर्शवत्त्व है।

मुक्तावली।

(१) कालाकाशात्मदिशां सर्वगतत्वं सर्वमूर्तसंयोगित्वं परममहत्त्वं च। (२) परममहत्त्वत्वं जातिविशेषः, अपकर्षनाश्रयपरिमाणत्वं वा।

मु॰ अर्थ।

(१) इसका अर्थ अभी लिखा गया है। (२) परममहत्त्वत्व एक जाति विशेष या मूर्त्तद्रव्य में नहीं रहने वाला जो परिमाण तादृश परिमाणत्व है।

---

१. (टि॰) अपकृष्ट=परिछिन्न=छोटा।

(३) क्षित्यादिति। (४) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वम्। (५) तच्च बहिरिन्द्रयग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्। (६) अत्र ग्राह्यत्वं लौकिकप्रत्यक्षस्वरूपयोग्यत्वं बोध्यम्। (७) तेन ज्ञातो घट इत्यादिप्रत्यक्षे ज्ञानस्याप्युपनीतभानविषयत्वात्तद्वति आत्मनि नातिव्याप्तिः। (८) नवा प्रत्यक्षाविषयरूपादिमति परमाण्वादावव्याप्तिः, तस्यापि स्वरूप-योग्यत्वात्। (९) महत्त्वलक्षणकारणान्तरासन्निधानाच्च न प्रत्यक्षम्। (१०) अथवा आत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं तत्त्वम्। (११) चत्वारीति। (१२) पृथिव्प्तेजोवायूनां स्पर्शवत्त्वम्॥२६॥

[१](३+४) पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पदार्थों का साधर्म्य भूतत्व है। (५) भूतत्व बहिरिन्द्रियग्राह्य विशेष गुणवत्त्वरूप है। (६) इसमें ग्राह्यत्व शब्द से लौकिक प्रत्यक्ष स्वरूपयोग्यत्व समझना चाहिये। स्वरूपयोग्यत्व के परिष्कार करने से बहिरिन्द्रिय जन्यलौकिक-प्रत्यक्षीयविषयतावच्छेदकजातिमत् जो विशेषगुण तद्वत्त्व ही भूतत्व का पर्यवसित लक्षण हुआ। (७+८) यदि ऐसा पर्यवसित लक्षण नहीं करके बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञान-विषयविशेषगुणवत्त्व ही भूतत्व का लक्षण करें तो यथाक्रम आत्मा और परमाणु में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति हो जायगी। यथा बहिरिन्द्रियजन्य जो ज्ञान सो "ज्ञानविषयतावान् घटः" इत्याकारक

---

१. ज्ञानविषयता का या विषयता सम्बन्धेन ज्ञान का घट में उपनीत भान है। ज्ञानलक्षण नामक द्वितीय अलौकिक सन्निकर्ष से जो भान होता है वही उपनीतभान कहलाता है। सो इस प्रकार होता है—जब ज्ञान विषयता का कोई ज्ञान और घट के साथ चक्षुःसंयोग तथा घट में ज्ञान विषयता का वाध निश्चयाभाव ये तीनों रहते हैं तब ज्ञान विषयत्व प्रकारक घटविशेष्यक औपनयिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। "ज्ञातो घटः" (ज्ञान-विषयतावान् घटः) इत्याकारक ज्ञान होता है। इस ज्ञान में ज्ञान विषयता का भान ज्ञानलक्षण नामक द्वितीय अलौकिक सन्निकर्ष से और घटका भान चक्षुःसंयोग नामक लौकिक सन्निकर्ष से हुआ है। जिसका भान अलौकिक सन्निकर्ष से होता है उस पदार्थ के ऊपर अलौकिकप्रत्यक्षीयविषयता और जिसका भान लौकिक सन्निकर्ष से होता है उस पदार्थ के ऊपर लौकिकप्रत्यक्षीय विषयता रहा करती है। इसलिये ज्ञान विषयता के ऊपर अलौकिकप्रत्यक्षीयविषयता और घट के ऊपर लौकिकप्रत्यक्षीयविषयता सर्व सम्मत है।

ज्ञान है, उस ज्ञान का विषय जो विशेषगुण सो ज्ञान हुआ, तद्वत्त्व आत्मा में रहने के कारण आत्मा में अतिव्याप्ति होगी। एवं परमाणु के रूप को अतीन्द्रिय होने के कारण बहिरिन्द्रियजन्यज्ञान विषय विशेषगुण परमाणु का रूप नहीं होगा। तब तादृश विशेषगुणवत्त्व परमाणु में नहीं रहने के कारण उसमें अव्याप्ति होगी।

उक्त पर्यवसित लक्षण करने पर आत्मा और परमाणु में यथाक्रम अतिव्याप्ति और अव्याप्ति न होगी। क्योंकि ज्ञानविषयता और ज्ञान के ऊपर अलौकिकप्रत्यक्षीयविषयता रहने के कारण बहिरिन्द्रियजन्यलौकिक-प्रत्यक्षीयविषयतावच्छेदकजातिज्ञानत्व जाति न होगी। तब तादृश जातिमत् विशेषगुण में ज्ञान का ग्रहण न होगा; किन्तु रूपादि लिये जायेंगे। तद्वत्त्व आत्मा में नहीं रहा और परमाणु में रह गया क्योंकि उसमें भी स्वरूपयोग्यत्व है। इसलिये उक्त दोनों पदार्थों में यथाक्रम अतिव्याप्ति और अव्याप्ति न हुई। (९) परमाणु एवं द्व्यणुक के रूपादियों में प्रत्यक्ष की योग्यता तो है किन्तु महत्व (जोकि प्रत्यक्ष के प्रति दूसरा कारण है) को सामानाधिकरण्य सम्बन्धेन नहीं रहने के कारण परमाणु और द्व्यणुक के रूपादियों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। (१०) अथवा आत्मा में न रहने वाले जो विशेषगुण तादृश विशेषगुणवत्त्व ही भूतत्व का निर्दुष्ट लक्षण है। (११) पाठ धारण। (१२) पृथिव्यादि चारों का साधर्म्य स्पर्शवत्त्व है।

का० नं० २७।

द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यादथाकाशशरीरिणाम्।
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेषगुण इष्यते॥२७॥

का० अर्थ।

पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु इन चारों का साधर्म्य द्रव्यारम्भकत्व अर्थात् द्रव्यसमवायिकारणत्व है। तथा आकाश और जीवात्मा इन दोनोंका साधर्म्य अव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्व और क्षणिकविशेषगुणवत्त्व है।

मुक्तावली।

(१) पृथिव्यप्तेजोवायुषु चतुर्षु द्रव्यारम्भकत्वम्। (२) न च

द्रव्यानारम्भके घटादावव्याप्तिः, द्रव्यसमवायिकारणवृत्तिद्रव्यत्व-व्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्॥

मु॰ अर्थ।

(१) इसका अर्थ अभी लिखा गया है। (२) शङ्का—अगर ऐसा हो अर्थ करें तो घटादि (अन्त्यावयवि) में अव्याप्ति होगी। क्योंकि वे द्रव्यारम्भक नहीं हैं।

समा॰—द्रव्यारम्भक पद का अभिप्रेत अर्थ यह है कि द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाली जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पृथ्वीत्वादिजाति) तादृश जातिमत्त्व है अब अव्याप्ति दोष नहीं है।

(३) आकाशशरीरिणामिति। (४) आकाशात्मनामव्याप्य-वृत्तिक्षणिकविशेषगुणवत्त्वं साधर्म्यमित्यर्थः। (५) आकाशस्य विशेषगुणः शब्दः, स चाव्याप्यवृत्तिर्यदा किंचिदवच्छेदेन शब्द उत्पद्यते तदान्यावच्छेदेन तदभावस्यापि सत्त्वात्। (६) क्षणिकत्वं च तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्। (७) योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्त्तिगुणनाश्यत्वात्प्रथमशब्दस्य द्वितीयशब्देन नाशः। (८) एवं ज्ञानादीनामपि ज्ञानादिकं यदात्मनि विभौ शरीराद्यवच्छेदेनोत्पद्यते तदा घटाद्यवच्छेदेन तदभावोऽस्त्येव।

(३+४) इसका अर्थ पहले लिखा गया है। (५) आकाश का विशेष गुण शब्द है। शब्द जिस काल में कहीं (यथा शङ्खाद्यवच्छेदेन) उत्पन्न होता है उसी काल में वह शब्द (आकाश ही में) (घटाद्यवच्छेदेन) नहीं रहने के कारण अव्याप्यवृत्ती है। (६) तीसरे क्षण में नष्ट होने वाले का नाम क्षणिक है। [१](७) योग्यविभुक तो विशेषगुण का नाश उनके अपने से पीछे उत्पन्न होनेवाले गुणों के द्वारा होने के कारण प्रथम शब्द का नाश द्वितीय शब्द से होता है। (८) इस प्रकार जिस समय व्यापक आत्मा में जब ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष और प्रयत्न शरीराद्यवच्छेदेन उत्पन्न होते हैं उसी समय आत्मा में घटाद्यवच्छेदेन ज्ञानादि का अभाव

---

१. (टि॰) योग्यविभुविशेषगुण=शब्दादि। अयोग्यविभुविशेषगुण=धर्म, अधर्म, संस्कार।

भी है। (इसलिये ज्ञानादि भी अव्याप्यवृत्ती सिद्ध हुए) शब्द ही के समान ज्ञानादि भी अव्याप्यवृत्ती है।

(९) एवं ज्ञानादिकमपि क्षणद्वयावस्थायि। (१०) इत्थं चाव्याप्यवृत्तिविशेषगुणवत्त्वं क्षणिकविशेषगुणवत्त्वं चार्थः। (११) पृथिव्यादौ रूपादिर्विशेषगुणोऽस्तीत्यतोऽव्याप्यवृत्तीत्युक्तम्। (१२) पृथिव्यादावव्याप्यवृत्तिः संयोगादिरस्तीत्यतो विशेषगुणेत्युक्तम्। (१३) न च रूपादीनामपि कदाचित्तृतीयक्षणे नाशसंभवात्क्षणिक-विशेषगुणवत्त्वं क्षित्यादावतिव्याप्तमिति वाच्यम्॥

(९) इस प्रकार ज्ञानादि भी दो ही क्षण रहते हैं। (१०) इससे यही पर्य्यवसित हुआ कि आकाश और जीवात्मा का साधर्म्य अव्याप्यवृत्ति विशेषगुणवत्त्व और क्षणिकविशेषगुणवत्त्व है। (११) रूपादिविशेषगुण तो पृथिव्यादि में भी है। अतः पृथ्वी में अतिव्याप्ति के लिये अव्याप्यवृत्तित्व विशेषगुण का विशेषण किया गया; अब दोष नहीं होगा। क्योंकि रूप व्याप्यवृत्ति है। (१२) अव्याप्यवृत्ति संयोगादि तो पृथ्वी में भी है। इस हेतु उसी में पुनः अतिव्याप्ति बचाने के लिये विशेषगुणक निवेश किया है। अब दोष नहीं होगा। क्योंकि संयोगादि विशेषगुण नहीं है। (१३) (आपने आकाश और आत्मा का साधर्म्य क्षणिकविशेषगुणवत्त्व और क्षणिक का लक्षण तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व किया है, ऐसा लक्षण करने पर भी पृथिव्यादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। यथा—किसी काल में रूपादिका नाश तृतीय क्षण में भी हो सकता है, तब उक्त रूप तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस-प्रतियोगी होने के कारण क्षणिकविशेषगुण हो गया और वह पृथिव्यादितीन में है। इसलिये पृथिव्यादितीन में अतिव्याप्ति लग जाती है।

(१४) चतुःक्षणवृत्तिजन्यावृत्तिजातिमद्विशेषगुणवत्त्वस्य तदर्थत्वात्। (१५) अपेक्षाबुद्धिः क्षणत्रयं तिष्ठति, क्षणचतुष्टयं तु न क्रिमपि जन्यज्ञानादिकं तिष्ठति। (१६) रूपत्वादिकं तु क्षणचतुष्टयस्थायिन्यपि रूपादौ वर्तत इति तद्व्युदासः।

[१](१४) इसलिये क्षणिक विशेषगुण का अभिप्रेत चतु:क्षण वृत्ति जन्यावृत्ति जातिमद् विशेषगुण है। चार क्षण रहनेवाले जो जन्य (घट घटादि तथा रूपरसादि) उनमें अवृत्ती हो जाति (शब्दत्व और बुद्धित्वादि) तादृश जातिमत् जो विशेषगुण, वही क्षणिक विशेषगुण से गृहीत किये जायेंगे। [२](१५) अपेक्षाबुद्धि तीन क्षण रहती है। चौथे क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाता है। कोई भी जन्यज्ञानादि चार क्षण तक नहीं रहता है। (१६) रूपत्वादिजाति चार क्षण तक (बहुत काल तक) रहनेवाले रूपादि में रहती है। इस हेतु रूपत्वादिजाति नहीं ली जा सकती है। अतएव पृथिव्यादि में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

(१७) ईश्वरज्ञानस्य चतु:क्षणवृत्तित्वाज्ज्ञानत्वस्य तद्वृत्तित्वाज्जन्येत्युक्तम्। (१८) यद्याकाशजीवात्मनोः साधर्म्यं तदा जन्येति न देयं, द्वेषत्वादिकमादाय लक्षणसमन्वयात्। (१९) परममहत्त्वस्य तादृशगुणत्वाच्च चतुर्थक्षणे द्वित्वादीनामपि नाशाभ्युपगमाद्द्वित्वादीनामपि तथात्वात्तद्वारणाय विशेषेति। (२०) त्रिक्षणवृत्तित्वं वा वाच्यम्, इच्छात्वादिकमादायात्मनि लक्षणसमन्वयः॥२७॥

(१७) अगर उक्त लक्षण में जन्यपद का निवेश नहीं करें तो ईश्वर में अव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य होने के कारण चतु:क्षण वृत्ति है। उसमें अवृत्तिज्ञानत्वजाति न हुई। इसलिये जन्य पद का निवेश किया गया। (१८) यदि आकाश और जीवात्मा का ही साधर्म्य वह माना जाय तब जन्य पद निवेश का कुछ प्रयोजन नहीं है। क्योंकि ज्ञानत्व जाति को छोड़कर क्षणद्वयमात्रावस्थायिद्वेषादि गुणों में रहनेवाली द्वेषत्वादिजाति को लेकर जीवात्मा में लक्षणसमन्वय हो जायगा। (१९) अगर उक्त लक्षण में विशेष पद का निवेश नहीं करें तो परममहत्परिमाण को लेकर कालादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। यथा–चतु:क्षणवृत्तिजन्य में अवृत्ती जो परममहत्त्वत्व जाति तादृश जातिमत् परममहत् परिमाण है। जो

---

१. सामान्य रीति से तो रूप बहुत दिनों तक रहता है। किन्तु क्वचित् स्थल में रूप का नाश तृतीय क्षण में भी हो सकता है।

२. (टि०) 'अयमेकः, अयमेकः' इत्याकारक जो बुद्धि वही अपेक्षा बुद्धि है।

परममहत्परिमाण कालादि में है इसलिये कालादि में अतिव्याप्ति हुई। परन्तु विशेष पद के निवेश करने से अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि परममहत्परिमाण विशेषगुण नहीं है। अगर परममहत्त्वत्व धर्म को जाति नहीं मानें उस स्थिति में यद्यपि परममहत्परिमाण को लेकर कालादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी परन्तु द्वित्वत्वादि लेकर न वो द्रव्योंमें अतिव्याप्ति हो जायेगी। यथा—चतुःक्षणवृत्ति जो रूपादि उसमें अवृत्ती जो द्वित्वत्वादिजाति तादृश जातिमत्द्वित्व न वो द्रव्यों में है। इसलिये अतिव्याप्ति हुई, (किन्तु विशेषपद के निवेश करने से उक्त अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि द्वित्वादि संख्या विशेषगुण नहीं है। (२०) आत्मा और आकाश का साधर्म्य जो चतुःक्षण इत्यादि कहा है उस स्थल में चतुःक्षण के स्थान में त्रिक्षण का ही निवेश करें तो समन्वय हो सकता है। यथा—त्रिक्षणवृत्ति जो रूपादि उसमें अवृत्ती जो इच्छात्वजाति और शब्दत्व तादृश जातिमत् विशेषगुण आत्मा और आकाश में क्रमशः रह जायगा।

का० नं० २८।

रूपद्रव्यत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः।
गुरुणी द्वे रसवती द्वयोर्नैमित्तिको द्रवः॥२८॥

का० अर्थ।

प्रथम तीन के (पृथ्वी, जल और तेज के) साधर्म्य-रूप, द्रवत्व और प्रत्यक्षविषयत्व ये तीन हैं। पृथ्वी और जल के साधर्म्य गुरुत्व और रस ये दो हैं। पृथ्वी और तेज का साधर्म्य नैमित्तिकद्रवत्व है।

मुक्तावली।

(१) पृथिव्यप्तेजसां रूपवत्त्वं, द्रवत्ववत्त्वं, प्रत्यक्षविषयत्वं चेत्यर्थः। (२) न च चक्षुरादीनां भर्जनकपालस्थवह्नेरूष्मणश्च रूपवत्त्वे किं मानमिति वाच्यं, तत्रापि तेजस्त्वेन रूपानुमानात्। (३) एवं वाय्वानीतपृथिवीजल तेजोभागानामपि पृथिवीत्वादिना रूपानुमानं बोध्यम्, (४) न च घटादौ द्रुतसुवर्णादिभिन्ने तेजसि च द्रवत्ववत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यं, द्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। (५) घृतजतुप्रभृतिषु पृथिवीषु जलेषु द्रुतसुवर्णादौ

तेजसि च द्रवत्वसत्त्वात्तत्र च पृथिवीत्वादिसत्त्वात्तदादाय सर्वत्र लक्षणसमन्वयः। (६) न च प्रत्यक्षविषयत्वं परमाणावदावव्याप्त-मतिव्याप्तं च रूपादाविति वाच्यं, चाक्षुषप्रत्यक्षविषयवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्य-जातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। (७) आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय चाक्षुषेति।

मु॰ अर्थ।

(१) इसका अर्थ अभी लिखा गया ही है। [१](२) शङ्का–चक्षुरादि में (कृष्ण ताराग्रवर्त्ति तेज में) तथा भर्जन कपालस्थित वह्नि में (भूजा भूजनेवाले पात्र के अन्तर्गत अग्नि में) और ऊष्मा (गर्मी) में रूप है इसमें क्या प्रमाण है? उत्तर–उन सबों में भी तेजस्त्वहेतु से रूप का अनुमान करते हैं। चक्षुरिन्द्रियप्रभृति तैजसपदार्थ होने के कारण रूपवाला है। [२](३) इसीप्रकार वायु से लाये हुए पृथ्वी, जल और तेज के भागों में भी पृथिवीत्व जलत्व आदि हेतुओं से रूप का अनुमान करना चाहिये। (४) शङ्का–घटादिरूप पृथ्वी में पिघले हुए सोने और चान्दी से भिन्न तैजसपदार्थ और वह्नि में द्रवत्व नहीं रहने के कारण अव्याप्ति दोष लग जायगा। उत्तर–द्रवत्व पद से द्रवत्ववत् में वृत्ती जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पृथ्वीत्व, जलत्व और तेजस्त्वजाति) तादृश जातिमत्त्व विवक्षित है। (५) घृत, लाक्षादिरूप पृथ्वी में, जल और पिघले हुए सुवर्णादिरूप तेज में द्रवत्व एवं पृथ्वीत्व, जलत्व और तेजस्त्व के भी रहने के कारण सब स्थलों में उक्त जाति घटित लक्षण का समन्वय कर सकते हैं। (६) (पृथिव्यादि तीनों का साधर्म्य प्रत्यक्षविषयत्व भी किया है) इसमें शङ्का–परमाण्वादि में अव्याप्ति और रूपादि में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि परमाणु में प्रत्यक्षविषयत्व नहीं है रूपादि में है। उत्तर– प्रत्यक्षविषयत्वपद से चाक्षुषप्रत्यक्षविषय (घटपटादि) में वृत्ती जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पृथ्वीत्व, जलत्व और तेजस्त्व जाति) तादृश जातिमत्त्व की विवक्षा करने से दोष

---

१. (टि॰) (क) अनुमान का आकार–"चक्षुःरूपवत् तेजस्त्वात्। (ख) भर्जनकपालस्थो वह्निः रूपवान् तेजस्त्वात्। (न) ऊष्मारूपवान् तेजस्त्वात्।"

२. (टि॰) (अनुमानस्वरूप) (क) "वाय्वानीत पृथ्वीभागः रूपवान् पृथ्वीत्वात्" (ख) "वाय्वानीतजलभागः रूपवान् जलत्वात्" (ग) वाय्वानीततेजो भागः रूपवान् तेजस्त्वात्।

नहीं होगा। [१](७) आत्मा में अतिव्याप्ति वारण के हेतु चाक्षुषपद का निवेश किया गया है। (अब दोष नहीं होगा क्योंकि आत्माका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है)।

(८) गुरुणी इति। (९) गुरुत्ववत्त्वं पृथिवीजलयोरित्यर्थः। (१०) न च घ्राणेन्द्रियादीनां वाय्वानीतपार्थिवादिभागानां रसादिमत्त्वे किं मानमिति वाच्यं, तत्रापि पृथिवीत्वादिना तदनुमानात्।

(८+९) इसका अर्थ पहले लिखा गया है। (१०) शङ्का–घ्राणादि इन्द्रिय तथा वायु से लाये हुए पार्थिवभाग भी रसवाले हैं–इसमें क्या प्रमाण है? स्नमा०–पृथ्वीत्वादि हेतुओं से घ्राणेन्द्रिय में तथा वायूपनीत पार्थिवभाग में भी इसका अनुमान हो सकता है।

(११) द्वयोरिति। (१२) पृथिवीतेजसोरित्यर्थः।

(११+१२) पृथ्वी और तेज इन दोनोंकर साधर्म्य नैमित्तिकद्रवत्व है।

(१३) न च नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं घटादौ वह्न्यादौ चाव्याप्तमिति वाच्यं, नैमित्तिकद्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

(१३) शङ्का–पृथ्वी और तेज का नैमित्तिक द्रवत्व साधर्म्य करने से घटादि (पृथ्वी में) और वह्न्यादि में अव्याप्ति लग जायगी। उत्तर–पूर्ववत् यहाँ भी नैमित्तिक द्रवत्व के अधिकरण में वृत्ति जो द्रव्यत्वव्याप्यजाति (पृथ्वीत्व और तेजस्त्वजाति) तादृश जातिमत्त्व की विवक्षा करने से अव्याप्ति दोष नहीं होगा।

---

१. (टि०) अगर चाक्षुषपद का निवेश नहीं करें तो आत्मा में अतिव्याप्ति होगी। यथा–प्रत्यक्षविषय जो आत्मा उसमें वृत्ती जो द्रव्यत्वव्याप्य आत्मत्वजाति तादृश जातिमत्त्व आत्मा में है, इसलिये अतिव्याप्ति दोष हुआ।

का० नं० २९।

आत्मनो भूतवर्गाश्च विशेषगुणयोगिनः।

का० अर्थ।

आत्मा और भूतवर्ग (पञ्चभूत) का साधर्म्य विशेषगुण है।

मुक्तावली।

(१) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मनां विशेषगुणवत्त्वमित्यर्थः।

मु० अर्थ।

(१) इसका अर्थ अभी लिख चुके हैं।

का० नं० २९।

यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत्।।२९।।

का० अर्थ।

जिसका जो साधर्म्य कहा गया है वह धर्म इतर का (अपने से भिन्न का) विरुद्ध (अवृत्ति) धर्म है ऐसा समझना चाहिये।

मुक्तावली।

(२) ज्ञेयत्वादिकं विहायेति बोध्यम्।

मु० अर्थ।

(२) ज्ञेयत्व, वाच्यत्व और प्रमेयत्व इन तीनों धर्मों को छोड़कर जो जिसका समान धर्म कहा गया है वह इतर का विरुद्ध धर्म है, ऐसा समझना चाहिये।

(३) तत्तु न कस्यापि वैधर्म्यं केवलान्वयित्वात्।

[१](३) क्योंकि उक्त ज्ञेयत्वादि तीनों धर्मों को केवलान्वयी होने के

---

१. (टि०) 'वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः, जलक्षिति प्राण भृतां चतुर्दश। दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च'।। इस श्लोक के अनुसार ही उद्देश क्रम को छोड़कर वायु प्रभृति के गुणों का निरूपण करते हैं।

कारण किसी के भी विरुद्ध धर्म नहीं है।

का० नं० ३०।

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः।।

का० अर्थ।

स्पर्शादिआठ–स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेगनाम का संस्कार ये नवगुण वायु के हैं। एवं स्पर्शादि आठ, रूप, वेग, और, नैमित्तिकद्रवत्व ये ग्यारहगुण तेज के हैं।

का० नं० ३१।

स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूप रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश।।

का० अर्थ।

स्पर्शादिआठ, वेग, गुरुत्व, सांसिद्धिकद्रवत्व, रूप, रस और स्नेह ये चौदहगुण जल के हैं।

का० नं० ३२, ३३।

स्नेहहीना गन्धयुताः [१]क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा।।
धर्माधर्मौ गुणा ऐते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे।

का० अर्थ।

स्नेहको छोड़कर और गन्ध को लेकर उक्त अव्यहितपूर्वकारिका में प्रतिपादित चौदह गुण ही पृथ्वी के गुण हैं। बुद्ध्यादि छः, संख्यादि पाँच,

१. (टि०) पृथ्वी के गुण चौदह हैं। यथा–स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, रूप, रस और गन्ध, बुद्ध्यादि छह (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न)। संख्यादि पाँच (संख्या, परिमाण, पृथत्त्क्व, संयोग और विभाग)।

भावना, धर्म और अधर्म ये चौदह गुण जीवात्मा के हैं।

संख्यादि पाँच, काल और दिशा के गुण हैं। संख्यादिपाँच और शब्द ये छ गुण आकाश के हैं।

का० नं० ३४।

संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे।।

का० अर्थ।

संख्यादिपांच एवं बुद्धि, इच्छा, और यत्न ये आठ गुण परमेश्वर के हैं। संख्यादिपाँच परत्व, अपरत्व और वेग ये आठगुण मन के हैं।

मुक्तावली।

(१) ते च खे आकाशे। ३०, ३१, ३२, ३३, ३४।

(२) साधर्म्यवैधर्म्ये निरूप्य संप्रति प्रत्येकं पृथिव्यादिकं निरूपयति–

मु० अर्थ।

(१+२) समानधर्म और विरुद्धधर्म का निरूपण करके अब क्रमशः पृथिव्यादि का निरूपण करते हैं।

का० नं० ३५।

तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः।।

का० अर्थ।

नवों द्रव्यों में केवल पृथ्वी गन्ध का समवायि कारण है और नाना रूपवती है। पृथ्वी ही में सातों तरह के रूप और दोनों तरह के गन्ध (दुर्गन्ध और सुगन्ध) हैं।

मुक्तावली।

(१) गन्धहेतुरिति गन्धसमवायिकारणमित्यर्थः। (२) यद्यपि गन्धवत्त्वमात्रं लक्षणमुचितं, तथापि पृथिवीत्वजातौ प्रमाणोपन्यासाय कारणत्वमुपन्यस्तम्, तथाहि (३) पृथिवीत्वंहि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिध्यति, अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्तेः।

मु० अर्थ।

(१) पृथिव्यादि नवों द्रव्यों के बीच में केवल पृथ्वी गन्ध का समवायि कारण है। (२) यद्यपि पृथ्वी का लक्षण गन्धवत्त्व मात्र ही समुचित है तथापि पृथ्वीत्व एकजाति है। इसमें प्रमाण दिखाने के लिए कारणत्व का उपादान किया है। [१](२) गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकत्वेन (गन्ध की जो समवायिकारणता, तादृश कारणता का जो अवच्छेदक, तादृश अवच्छेदकत्वेन) पृथ्वीत्व जाति की सिद्धि होती है। यदि गन्धत्वावच्छिन्न के प्रति पृथ्वी को हेतु नहीं मानें तो पृथ्वीमात्र में गन्ध होता है इतर में नहीं ऐसा नियम नहीं होगा।

(४) न च पाषाणादौ गन्धाभावाद्गन्धवत्त्वमव्याप्तमिति वाच्यं, तत्रापि गन्धसत्त्वात्। (५) अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते, कथमन्यथा तद्भस्मनिगन्ध उपलभ्यते। (6) भस्मनो हि पाषाणध्वंसजन्यत्वात् पाषाणोपादानोपादेयत्वं सिध्यति। (७) यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादोनोपादेयमिति व्याप्तेः। (८) दृष्टं चैतत्खण्डपटे महापटध्वंसजन्ये। (9) इत्थं च पाषाणपरमाणोः पृथिवीत्वात्तज्जन्यस्य पाषाणस्यापि पृथिवीत्वं, तथा च तस्यापि गन्धवत्त्वे बाधकाभावः।

(४) शङ्काः—पाषाणादिरूप पृथ्वी में गन्ध नहीं रहने के कारण गन्धवत्त्व अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो गया। समा०—पापाणादियों में भी गन्ध

१. (टि०) पृथ्वीत्व जाति के साधक अनुमान का स्वरूप='समवायसम्बन्धावच्छिन्न, गन्धत्वावच्छिन्न गन्धनिष्ठकार्यता निरूपित तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाया कारणता साकिञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्। घटनिष्ठकार्यतानिरूपितकपालनिष्ठं-कारणतावत्'।

रहने के कारण अव्याप्ति नहीं है। (५) पाषाणादिरूप पृथ्वी में अनुत्कट (जो मालूम न पड़ सके) गन्ध है, इसलिये उसमें गन्ध का पता नहीं चलता। अगर पाषाण में गन्ध नहीं रहता तो उसके भस्म में गन्धका प्रत्यक्ष कैसे होता है? (६) पाषाण का भस्म पाषाण के ध्वंस से उत्पन्न होने के कारण पाषाण के उपादान (समवायि कारण) का उपादेय (कार्य) सिद्ध होता है। (७) जो द्रव्य (भस्मादि) जिस द्रव्य के (पाषाणादि के) ध्वंस से उत्पन्न होता है वह द्रव्य (भस्मादि) उसके उपादान का (पाषाण परमाणु का) उपादेय होता है—ऐसा नियम है। (८) उस व्याप्तिमहापट के (बड़े कपड़े के) ध्वंस से उत्पन्न खण्डपट (कपड़े के टुकड़े) में देखी गयी है। (९) तब यही पर्य्यवसित हुआ जो पाषाण परमाणु के पृथ्वी होने के कारण उससे उत्पन्न होनेवाला पाषाण भी पृथ्वी स्वरूप है। तब पाषाण को भी गन्धवाला होने में कोई बाधक नहीं है।

(१०) नानारूपेति। (११) शुक्लनीलादिभेदेन नानाजातीयं रूपं पृथिव्यामेव वर्तते न तु जलादौ, तत्र शुक्लस्यैव सत्त्वात्। (१२) पृथिव्यां तु एकस्मिन्नपि धर्मिणि पाकवशेन नानारूपसंभवात्। (१३) नच यत्र नाना रूपं नोत्पन्नं तत्राव्याप्तिरितिवाच्यं रूपद्वयवद्-वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्, रूपनाशवद्वृत्ति-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य वा वाच्यवात्।

(१०+११) शुक्ल और नीलादि भेद से सातप्रकार के रूप पृथ्वी मात्र में रहते हैं। जल में तो केवल शुक्ल ही रूप रहता है। (१२) पृथ्वीमें तो एक व्यक्ति में भी पाक (अग्निसंयोग) होने के कारण नानारूपों की सम्भावना रहती है। (१३) [१]शङ्का—जिस पृथ्वी में नाना रूपों की उत्पत्ति नहीं हुई है उस पृथ्वी में अव्याप्ति लग जायगी। समा०—उस स्थल में भी दो प्रकार के परिष्कार करने से अव्याप्ति नहीं लगेगी, वे

१. (टि०) प्रथम लक्षण 'अयमेकः, अयमेक, इमौ द्वौ' यह अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्व-रूपद्वित्वघटित होने के कारण गौरवान्वित है। इसलिये 'रूप नाशवत्' इत्यादि से दूसरा लक्षण किया है।

यों हैं– (क) दो रूपवाली (पृथ्वी) में रहने वाली जो द्रव्यत्वव्याप्य (पृथ्वीत्व) जाति तादृश जातिमत्त्व की (ख) अथवा रूपनाशवाली (पृथ्वी) में रहने वाली जो द्रव्यत्वव्याप्य (पृथ्वित्व) जाति तादृश जातिमत्त्व की विवक्षा करने से दोष नहीं होगा।

(१४) वैशेषिकनये पृथिवीपरमाणौ रूपनाशस्य रूपान्तरस्य च सत्त्वात्। (१५) न्यायनये घटादावपि तत्सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः॥

(१४) वैशेषिकमत के अनुसार पृथ्वी परमाणु में ही अग्निसंयोग से रूप का नाश तथा रूपान्तर की उत्पत्ति होती है। (१५) न्याय के मत से घटादिमें भी (अवयव और अवयवी दोनों में भी) अग्निसंयोग से रूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति होती है। इससे पर्यवसित हुआ कि वैशेषिक और न्याय इन दोनों के मत से पूर्वोक्त लक्षण दोष रहित है।

(१६) षड्विध इति। (१७) मधुरादिभेदेन यः षड्विधो रसः स पृथिव्यामेव। (१८) जले च मधुर एव रसः। (१९) अत्रापि पूर्ववद्रसद्वयवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणार्थोऽवसेयः।

[१](१६+१७) मीठा, खट्टा, कड़ुआ इत्यादि भेद से जो छः प्रकार के रस हैं वे पृथ्वी मात्र में रहते हैं। (१८) जल में केवल मधुर रस है। (१९) इस स्थल में भी जिस पृथ्वी में नाना रसों की उत्पत्ति नहीं हुई है वह पृथ्वी में अव्याप्तिदोष वारण के हेतु पूर्वोक्तरीति से लक्षण का परिष्कार करना चाहिये। यथा–रसद्वयवाली या रसनाशवाली (पृथ्वी) में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्य (पृथ्वीत्व) जाति तादृश जातिमत्त्व पृथ्वी का लक्षण है। (२०) गन्धस्त्विति। द्विविध इति। (२१) वस्तुस्थिति मात्रं न द्विविधगन्धवत्त्वं लक्षणं द्विविधत्वस्य व्यर्थत्वात्। द्वैविध्यं च सौरभासौरभभेदेन बोध्यम्। (२०) पृथ्वी में दो प्रकार के गन्ध रहते हैं। (२१) वस्तुस्थितिमात्र दिखलाने के हेतु पृथ्वी में दो प्रकार के गन्ध कहे गये हैं। पृथिवी का लक्षण द्विविधपन्धवत्त्व नहीं है किन्तु गन्धवत्त्व मात्र ही पृथ्वी का लक्षण है। अन्यथा द्विविधपद का उपादान व्यर्थ हो जायगा। (२२) गन्ध सौरभ और असौरभ भेद से दो प्रकार के जानना चाहिये।

१. (टि०) पृथ्वी को छोड़कर किसी में भी छवों रस नहीं है।

का० नं० ३६।

स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः।

का० अर्थ।

पाकजअनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व भी पृथ्वी का लक्षण जानना चाहिये।

मुक्तावली।

(१) तस्याः पृथिव्याः। (२) अनुष्णाशीतस्पर्शवत्वं वायोरपि वर्तत इत्युक्तं पाकज इति। (३) इत्थं च पृथिव्याः स्पर्शोऽनुष्णाशीत इति ज्ञापनार्थं तदुक्तम्। (४) वस्तुतस्तु पाकजस्पर्शवत्त्वमात्रं लक्षणम्, अधिकस्य वैयर्थ्यात्। (५) यद्यपि पाकजस्पर्शः पटादौ नास्ति तथापि पाकजस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमर्थो बोध्यः।

मु० अर्थ।

(१) इस कारिका में तत्पद से पृथ्वी को समझना चाहिये। (२) उक्त लक्षण में अगर पाकज शब्द नहीं देंगे तो वायु में अतिव्याप्ति हो जायेगी। क्योंकि अनुष्णाशीतस्पर्श वायु में भी है। [१](३) तात्पर्य्य यह है कि पृथ्वी का स्पर्श अनुष्णाशीत है। इस बात को समझाने के लिये यह कहा गया है। (४) वास्तविक में पृथ्वी का लक्षण पाकजस्पर्शवत्त्व मात्र ही साधु है। क्योंकि अधिक कहना व्यर्थ है। (५) पाकजस्पर्शवत्त्व लक्षण करने से पटादि में अव्याप्ति हो जायगी (क्योंकि उसका स्पर्शपाकज नहीं है) तथापि उससे पाकजस्पर्शवाली (पृथ्वी) में रहनेवाली जो द्रव्यत्वव्याप्य (पृथ्वीत्व) जाति तादृश जातिमत्त्व अर्थ समझना चाहिये। तादृश जातिमत्त्व पटादि रूप पृथ्वी में भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने से कहीं भी दोष नहीं होगा।

का० नं० ३६, ३७।

नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा॥३६॥

---

१. (टि०) अनुष्णाशीत, स्पर्श, वायु में पाकज नहीं है। एवं पाकजअनुष्णाशीत-स्पर्शवत्त्वरूप पृथ्वी के लक्षण के अभिप्रायसे नहीं कहा है किन्तु वस्तुस्थिति ज्ञापन के अभिप्राय से कहा है।

अनित्या तु तदन्या स्यात्सैवावयवयोगिनी।
सा च त्रिधा भवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा।।३७।।

का० अर्थ।

नित्य तथा अनित्य प्रभेद से पृथ्वी दो प्रकार की है। परमाणुरूप पृथ्वी नित्य है और उससे भिन्न पृथ्वी अनित्य (कार्यरूप) है। वही अनित्यपृथ्वी अवयववती है। वह अनित्य पृथ्वी शरीर, इन्द्रिय, और विषय भेद से तीन प्रकार की होती है।

मुक्तावली।

(१) सा पृथिवी द्विविधा, नित्या अनित्या चेत्यर्थः। (२) अणुक्षणा परमाणुरूपा पृथिवी नित्या। (३) तदन्या परमाणुभिन्ना पृथिवी द्व्यणुकादिरूपा सर्वाऽप्यनित्येत्यर्थः। (४) सैव अनित्या पृथिव्येवा- वयववतीत्यर्थः।

मु० अर्थ।

(१) इसका अर्थ अभी लिखा गया है। (२) अणुलक्षण परमाणुरूप पृथ्वी नित्य है। (३) परमाणु से भिन्न द्व्यणुक से लेकर अन्त्यावयविपर्य्यन्त सभी पृथ्वी अनित्य है। (४) इसका अर्थ पहले लिखा गया है।

(५) ननु अवयविनि किं मानं, परमाणुपुञ्जैरेवोपपत्तेः। (६) न च परमाणूनामतीन्द्रियत्वाद्घटादेः प्रत्यक्षं न स्यादिति वाच्यम्, एकस्य परमाणोरप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वात्। (७) यथैकस्य केशस्य दूरेऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तत्समूहस्य प्रत्यक्षत्वम्। (८) न चैको घटः स्थूल इति बुद्धेरनुपपत्तिरिति वाच्यम्, एको महान्धान्य- राशिरितिवदुपपत्तेः।

(५) बौद्धशङ्का—अवयवों से अतिरिक्त अवयवी मानने में क्या प्रमाण है?

'अयं घटः' इत्यादि प्रतीति का निर्वाह तो एक विलक्षणसंस्थान (संयोग) विशिष्ट—परमाणुपुञ्ज से ही हो सकता है तब अवयवी का

स्वीकार क्यों करें? (६) प्रश्नकार बौद्ध की शङ्का का समर्थन—अगर यह कहें कि परमाणु के अतीन्द्रिय होने के कारण अतीन्द्रियपरमाणुपुञ्जरूप घटादियों का प्रत्यक्ष नहीं होगा; सोभी नहीं कह सकते। क्योंकि एक परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी परमाणु के समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है। (७) जैसे कि एक केश के दूर से अप्रत्यक्ष होने पर भी उसके समूह का प्रत्यक्ष होता है। (८) अगर यह कहें कि "एको स्थूलः घटः" ऐसी प्रतीति परमाणुपुञ्ज बाद में नहीं हो सकती। ये भी नहीं कह सकते। जैसे कि एक एक धान्यमें तादृशव्यवहारप्रयोजक महत्त्व के न रहने परभी उनके समुदाय के अभिप्राय से यह एक महान् धान्यराशि है, ऐसा प्रयोग होता है। इसी प्रकार घट में भी उक्त बुद्धि हो जायगी।

(९) मैवं, परमाणोरतीन्द्रियत्वेन तत्समूहस्यापिप्रत्यक्षायोग्यत्वात्। (१०) दूरस्थकेशस्तु नातीन्द्रियः, सन्निधाने तस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। (११) न च तदानीमदृश्यपरमाणुपुञ्जाद्दृश्यपरमाणुपुञ्जस्योत्पन्नत्वान्नप्रत्यक्षत्वे विरोध इति वाच्यम्, अदृश्यस्य दृश्यानुपादानत्वात्। (१२) अन्यथा चक्षुरूष्मादिसन्ततेरपि कदाचिद्दृश्यत्वप्रसङ्गात्॥

(९) समा०—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय है। इसलिये उनके समूह भी प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। (१०) दूरस्थ केश अतीन्द्रिय नहीं है। क्योंकि आँखों के समीप लाने से उस केश का प्रत्यक्ष होता है। (११) शङ्का—प्रत्यक्ष काल में नहीं देखने योग्य परमाणुपुञ्ज से देखने योग्य परमाणुपुञ्जरूप घटादि की उत्पत्ति होती है। तब घटादि के प्रत्यक्ष होने में कोई विरोध नहीं है। समा०—अदृश्यपदार्थ तो दृश्यपदार्थ का उपादान अर्थात् उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता। (१२) यदि अदृश्य पदार्थ से दृश्य पदार्थ की उत्पत्ति हो तो अनुद्भूतरूप वाले तेजरूप चक्षु का तथा अनुद्भूत रूपवाली गर्मी का साक्षात्कार हो जाये।

(१३) नचातितप्ततैलादौ कथमदृश्यदहनसंततेर्दृश्यदहनोत्पत्तिरिति वाच्यम्, तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यदहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरुपगमात्। (१४) न चादृश्येन द्व्यणुकेन कथं दृश्यत्रसरेणोरुत्पत्ति-

रितिवाच्यं, यतो न दृश्यत्वमदृश्यत्वं वा कस्यचित्स्वभावादाचक्ष्महे किंतु महत्त्वोद्भूतरूपादिकारणसमुदायवशाद् दृश्यत्वं तदभावे चादृश्यत्वम्। (१५) तथा च त्रसरेणोर्महत्त्वात्प्रत्यक्षत्वं न तु द्व्यणुकादेस्तदभावात् (१६) न हि त्वन्मतेऽपि संभवतीदं परमाणौ महत्त्वाभावात्॥

[१](१३) शङ्का—यहाँ यह शङ्का होती है कि अत्यन्त तप्ततैलादि में किस रीति से अदृश्य अग्नि की परम्परा से दृश्य अग्नि की उत्पत्ति होती है? समा०—इस स्थल में तैलादि के भीतर रहनेवाले दृश्य ही अग्नि के भागों से स्थूल अग्नि की उत्पत्ति मानते हैं। इससे यही पर्य्यवसित हुआ कि अदृश्यपदार्थ से दृश्यपदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है। (१४) शङ्का—यदि अदृश्य से दृश्य की उत्पत्ति नहीं हो तब अदृश्य द्व्यणुक से दृश्यत्रसरेणु की उत्पत्ति कैसे हुई? समा०—इसी हेतु हमलोग दृश्यत्व (दर्शनयोग्यत्व) और अदृश्यत्व (दर्शनयोग्यत्व) किसी पदार्थ को स्वाभाविक नहीं मानते। किन्तु महत्त्वपरिमाण तथा उद्भूतरूपादि कारण के समुदाय से पदार्थों में दर्शनविषय की योग्यता होती है। एवम् उनके (महत्त्वपरिमाण और उद्भूतरूपादि कारण के) अभाव से पदार्थों में दर्शन की अयोग्यता होती है। (१५) त्रसरेणु में महत्त्व परिमाण रहने के कारण उसका प्रत्यक्ष होता है और द्व्यणुक तथा परमाणु में महत्त्व परिमाण नहीं रहने के कारण उन दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। (१६) तुम्हारे मत में तो यह नहीं हो सकता क्योंकि तुमने तो परमाणुपुञ्ज ही का प्रत्यक्ष माना है परमाणु महत्त्वरूप प्रत्यक्ष कारण का अभाव है।

(१७) इत्थ चावयविसिद्धौ तेषामुत्पादविनाशयोः प्रत्यक्षसिद्ध-त्वादनित्यत्वम्। (१८) तेषां चावयवावयवधाराया अनन्ततत्वे मेरुसर्षपयोरपि साम्यप्रसङ्गः।

---

१. (टि०) तात्पर्य यह है कि अगर कोई तैलादि से भरी हुई कड़ाही अग्निपर रख दी जाये तो वह तैलादि स्वयं गरम होते होते जल उठेगा। तैलादि वाले पात्र के नीचे वाला अग्निसंयोग द्वारा जो तैलादि के भीतर अनुद्भूत रूप गर्मी होती है वह किस प्रकार उद्भूत अग्नि के धधरेको उत्पन्न करता है।

(१७) ऐसा होने पर यही पर्य्यवसित हुआ कि अवयव से अवयवी भिन्न है और पूर्वोक्तविचार से अवयवीरूपकार्य्यद्रव्य सिद्ध होने पर उनके उत्पन्न और विनष्ट होने के कारण उनमें अनित्यत्व भी सिद्ध है। (१८) उन कार्य्यरूप अवयवियों की अव्यवस्थित अवयवावयवधारा बिना किसी सीमा के अनन्त मानें तो मेरु (पर्वत) और सरसों इन दोनों में समानता हो जायगी। क्योंकि दोनों के अवयव अनन्त हैं।

(१९) अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः। (२०) यत्र तु विश्राम स्तस्यानित्यत्वेऽसमवेतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति तस्य नित्यत्वम्। (२१) महत्परिमाणतारतम्यस्य गगनादौ विश्रान्तत्वमिवाणुपरिमाण-तारतम्यस्यापि क्वचिद्विश्रान्तत्वमस्तीति तस्य परमाणुत्वसिद्धिः॥

(१९) इसलिये अवयवियों की अवयवावयवधारा का कहीं विश्राम मानना उचित है। (२०) जहाँ पर अवयवावयवधारा का विश्राम है अगर उसको अनित्य मानें तो बिना समवायिकारण के भी भाव कार्य की उत्पत्ति हो जायगी (जो सिद्धान्त से विरुद्ध है) इसलिये अवयवावय-विधारा के विश्रामवाले अवधिको नित्य मानना उचित है। (२१) जिस प्रकार महत्परिमाण के तारतम्य का आकाशादि में विश्राम है उसीप्रकार अणुपरिमाण के तारतम्य का विश्राम जहाँ है वही परमाणु है (इस रीति से अन्त्यावयव परमाणु सिद्ध हुआ)।

(२२) न च त्रसरेणावेव विश्रामोऽस्त्विति वाच्यं, त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुषद्रव्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धौ, त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्भकत्वात् कपालवदित्यनुमानेन तदवयवसिद्धेः॥

(२२) शङ्का—अगर अणुपरिमाणतारतम्य का विश्राम त्रसरेणु ही में मानलें तो क्या हानि है? समा०—जैसे घट नेत्रग्राह्यद्रव्य होने के कारण सावयव है उसी प्रकार त्रसरेणु भी नेत्रग्राह्यद्रव्य होने के कारण सावयव है। इस अनुमान के द्वारा त्रसरेणु के अवयव द्व्यणुक सिद्ध हुए। एवं द्व्यणुक—त्रसरेणुरूप महान् कार्य्य के आरम्भक होने के कारण सावयव

है। जैसाकि कपाल घटरूपमहान्कार्य्य के आरम्भक होने के कारण सावयव हैं। इस अनुमान से द्व्यणुक का अवयव (अर्थात् त्रसरेणु के अवयवका भी अवयव) परमाणु सिद्ध हुआ।

(२३) न चेदमप्रयोजकम्, अपकृष्टमहत्त्वं प्रत्यनेकद्रव्यत्वस्य प्रयोजकत्वात्। (२४) न चैवं क्रमेण तदवयवधारापि सिद्ध्येदिति वाच्यम्, अनवस्थाभयेन तदसिद्धेरिति॥

[१](१) शङ्का—अगर कहें कि महदारम्भकत्वहेतु अप्रयोजक है (व्यभिचारशङ्कानिवारकतर्क रहित है) समा०—सो नहीं कह सकते क्योंकि अपकृष्टमहत्त्व के प्रति अनेकद्रव्यत्व प्रयोजक है। याने अपकृष्टमहत्त्व के प्रति अणु भिन्न समवेतद्रव्यत्व को प्रयोजकता है। यही प्रयोज्य-प्रयोजकभाव अनुकूलतर्क है। (२४) अगर कहें कि इस प्रकार परमाणु के अवयवों की धारा भी सिद्ध हो जाय, यह ठीक नहीं है क्योंकि अनवस्था रूप दोष के भयसे तथा मेरु (पर्वत) और सरसों के समान होने के भयसे उसके अवयवों की धारा नहीं मान सकते हैं। यही पर्य्यवसित हुआ कि अणुपरिमाण के तारतम्य की अवधि परमाणुनाम का पदार्थ सिद्ध हुआ।

(२५) सा चेति। सा कार्यरूपा पृथिवी त्रिधेत्यर्थः। (२६) शरीरेन्द्रियविषयभेदादित्यर्थः॥३६॥३७॥

(२५) उस कार्यरूप पृथ्वी के तीन प्रभेद हैं। (२६) शरीर, इन्द्रिय और विषय।

तत्रेदमुदाहरति=उनमें शरीर का उदाहरण देते हैं।

का० नं० ३८।

योनिजादि भवेद्देहमिन्द्रियं घ्राणलक्षणम्।
विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः॥

---

१. यहाँ पर व्यभिचारशङ्का का स्वरूप 'महदारम्भकत्वंसावयवत्वव्यभिचारिन वा' अर्थात् महदारम्भकत्व निरवयव में रहता है अथवा नहीं? (३) यहाँ पर तर्क का स्वरूप महदारम्भकत्व यदि सावयवत्व का व्यभिचारी हो तब विभुत्व का समानाधिकरण हो जाय।

का० अर्थ।

(क) योनिज और अयोनिज वस्तुऐं शरीररूप पृथ्वी हैं।

(ख) घ्राणादि इन्द्रियरूप पृथ्वी है।

(ग) द्व्यणुक से ब्रह्माण्डपर्यन्त विषयरूप पृथ्वी है।

मुक्तावली।

(१) योनिजमयोनिजं चेत्यर्थः। (२) योनिजमपि द्विविधं, जरायुजमण्डजं च। (३) जरायुजं मानुषादीनाम्। (४) अण्डजं सर्पादीनाम्। (५) अयोनिजं स्वेदजोद्भिज्जादिकम्। (६) स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः। (७) उद्भिज्जास्तरुगुल्माद्याः। (८) नारकिणां शरीरमप्ययोनिजम्॥

मु० अर्थ।

(१) कारिका के आदिपद से अयोनिज का ग्रहण होता है। (२) योनिजशरीर भी जरायुज तथा अण्डज भेद से दो प्रकार के हैं। (३) उनमें जरायुज मनुष्यादि के शरीर हैं। (४) सर्प्पादि के शरीर अण्डज हैं। (५) अयोनिजशरीर भी स्वेदज तथा उद्भिज्जादि भेद से अनेक प्रकार के हैं। (६) पसीना से उत्पन्न होनेवाले कीड़े फतिङ्गे और मच्छड़ इनसबों के शरीर स्वेदज हैं। (७) भूमि को भेद करके (भूमिफोड़कर) उत्पन्न होनेवाले वृक्ष, लतादि रूपशरीर उद्भिज हैं। (८) नरक में रहनेवाले जीवों के शरीर भी अयोनिज हैं।

(९) न च मानुषादिशरीराणां पार्थिवत्वे किं मानमिति वाच्यं, गन्धादिमत्त्वस्यैव प्रमाणत्वात्।

(९) शङ्का—मनुष्यादियों का शरीर पृथ्वी है इसमें क्या प्रमाण है? समा०—मनुष्यादि का शरीर गन्ध से अथवा शुक्लेतररूप से युक्त होने के कारण पृथिवी है, जैसे "घटादि" यह अनुमान ही प्रमाण है।

(१०) न च क्लेदोष्मादेरुपलम्भादाप्यत्वादिकमपि स्यादिति वाच्यं, तथा सति जलत्वपृथिवीत्वादिना संकरप्रसङ्गात्। (११) न

च तर्हि जलीयत्वादिकमेवास्तु न तु पार्थिवत्वमिति वाच्यं, क्लेदादीनां विनाशेऽपि शरीरत्वेन प्रत्यभिज्ञानाद्गन्धाद्युपलब्धेश्च पृथिवीत्वसिद्धेः। (१२) तेन पार्थिवादि शरीरे जलादीनां निमित्तत्वमात्रं बोध्यम्।

मु॰ अर्थ।

(१०) शङ्का–मनुष्यादि के शरीर में कभी २ पसीना तथा ज्वरादि होने के कारण जल और उष्णता की प्रतीति होती है। इसलिये मनुष्यादि के शरीर जलीय एवं तैजस क्यों नहीं कहते? समा॰–इस प्रकार मानलेने से जलत्व एवं तेजस्त्व शरीर को पार्थिवशरीर नहीं मानकर जलीय अथवा तैजस ही शरीर मानलेना उचित है। समा॰–(सो नहीं; क्योंकि) शरीर में क्लेद के (गीलेपन के) नाश हो जाने के बाद तथा उष्णता के नाश होजाने के बाद भी पुरुषादि के शरीर में "यह वही देवदत्त का शरीर है" इत्याकारक शरीरत्वरूप से प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान होने के कारण, एवं उसी शरीर में गन्ध के तथा श्वेत से इतररूप के प्रत्यक्ष होने के कारण मनुष्यादि के शरीर पार्थिव ही सिद्ध होते हैं [१](१२) इस प्रकार मनुष्यादि शरीर को पार्थिवशरीर सिद्ध होने से उक्त शरीर में जलादि चारभूतों को निमित्तकारण मात्र मानना ही उचित है।

(१३) शरीरत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना साङ्कर्यात्।

[२](१३) पृथ्वीत्वादिजाति के साथ साङ्कर्य होने के कारण शरीरत्वजाति नहीं है किन्तु उपाधि मात्र है।

(१४) किंतु चेष्टाश्रयत्वम्।

(१४) चेष्टाके आश्रय को शरीर कहते हैं। (इष्टानिष्टप्राप्ति परिहारानुकूल व्यापारत्व वा क्रियात्व का व्याप्यजातिविशेष चेष्टात्व है)।

---

१. (टि॰) मनुष्यादि का शरीर पाँचों भूतों से बना हुआ है। उसका अभिप्राय यह नहीं है कि पाँचों भूत उस शरीर का समवायिकरण है किन्तु यही अभिप्राय है कि वह पञ्चभूत से जन्यमात्र है।

२. (टि॰) साङ्कर्य यथा–शरीरत्व पृथ्वीत्व को छोड़कर जलादि शरीर में रहता है। एवं पृथ्वीत्वशरीरत्व को छोड़कर घटादि में रहता है और शरीरत्व एवं पृथ्वीत्व ये दोनों मनुष्यादि शरीर में रहते हैं। इसलिये साङ्कर्य दोष लगा।

(१५) वृक्षादिनामपि चेष्टासत्त्वान्नाव्याप्तिः। (१६) नच वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्, आध्यात्मिकवायुसंबन्धस्यप्रमाणत्वात्।

(१५) वृक्षादि में भी चेष्टा है अतः शरीरलक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं लगा। (१६) शङ्का—वृक्षादि भी शरीर रूप है इसमें क्या प्रमाण है? समा०—वृक्षादि में प्राणवायु के सम्बन्ध रहने के कारण शरीररूपता है।

(१७) तत्रैव किं मानमितिचेद्भग्नक्षतसंरोहणादिना तदनुमानात्।

(१७) शङ्का—वृक्षादि में प्राणवायु का सम्बन्ध है इसी में क्या प्रमाण है? समा०—वृक्षलतादि स्वयं ही कभी टूट जाने पर और कट जाने पर बढ़ता है। कभी ब्रण, गाँठ और गलगण्डादि रोगों से युक्त हो जाते हैं। कभी अपने में हिलता या सम्बन्ध करता है इत्यादि हेतुओं से वृक्षादि में प्राण वायु का अनुमान होता है।

(१८) यदि हस्तादौ शरीरव्यवहारो न भवति तदान्त्यावयवित्वेन विशेषणीयम्। (१९) नच यत्र शरीरे चेष्टा न जाता तत्राव्याप्तिरिति वाच्यं, तादृशे प्रमाणाभावात्॥

(१८) शङ्का—यदि शरीर का लक्षण चेष्टाश्रयत्व करते हैं तो हस्तपादादि में भी लक्षण चला जायेगा। हस्तपादादि में शरीर व्यवहार नहीं होने से लक्ष्यत्व नहीं है। समा०—इसलिये "अन्त्यावयवित्वेसति चेष्टाश्रयत्वम्" शरीर का लक्षण करना उचित है। अब हस्तपादादि में लक्षण नहीं जायगा क्योंकि हस्तपादादि अन्त्यावयवी नहीं है। (१९) शङ्का—जिस शरीर में चेष्टा उत्पन्न नहीं हुई उसमें अव्याप्ति होगी। समा०—तादृश शरीर में कोई प्रमाणही नहीं है॥

(२०) अथवा चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व-मन्त्यावयविमात्रवृत्तिचेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वं वा तत्। (२१) मानुषत्व-चैत्रत्वादिजातिमादाय लक्षणसमन्वयः। (२२) नच नृसिंहशरीरे कथं लक्षणसमन्वयः, तत्र नृसिंहत्वस्यैकव्यक्तिवृत्तितया जातित्वा-भावाज्जलीयतैजसशरीरवृत्तितया देवत्वस्यापिजातित्वाभावादिति वाच्यं,

कल्पभेदेन नृसिंहशरीरस्य नानात्वेन नृसिंहत्वजात्या लक्षणसमन्वयात्॥

(२०) अथवा चेष्टावाला जो अन्त्यावयवी उसमें रहनेवाली जो द्रव्यत्व की व्याप्यजाति, (मनुष्यत्व चैत्रत्वादि) तादृश जातिमत्त्व, अथवा अन्त्यावयवीमात्र में वृत्ति और चेष्टा वद् वृत्ति जो जाति (मनुष्यत्वादि) तादृश जातिमत्त्व शरीर का निर्दुष्ट लक्षण है। इस प्रकार जातिघटित लक्षण करने से चेष्टोत्पत्ति रहित शरीर मान लेने पर भी उसमें दोष नहीं होगा। (२१) मनुष्यत्व एवं चैत्रत्वादि जाति को लेकर, लक्षण का समन्वय हो सकता है। [१](२२) शङ्का—नृसिंह के शरीर में लक्षणसमन्वय किस प्रकार होगा? क्योंकि नृसिंहत्वधर्म एक व्यक्तिमात्र में रहने के कारण जातिरूप नहीं है। नृसिंहशरीर में देवत्वजाति को लेकर के भी लक्षण समन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि जलीय और तैजसशरीर में रहने के कारण देवत्वधर्म जातिरूप ही नहीं है। समा०—अनेक कल्पों के भेद से नृसिंहके भी शरीर को अनेक होने के कारण नृसिंहत्वजाति होने से लक्षणसमन्वय हो सकता है।

(२३) इन्द्रियमिति। (२४) घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमित्यर्थः। (२५) पार्थिवत्वं कथमिति चेदित्थम्। (२६) घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात्। (२७) कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकगोघृतवत्। (२८) नच दृष्टान्ते स्वकीयरूपादिव्यञ्जकत्वादिसिद्धिरिति वाच्यं, परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वस्य तदर्थत्वात्।

(२३) पाठधारण। (२४) घ्राणेन्द्रिय पार्थिवइन्द्रिय है। (२५) शङ्का—घ्राणेन्द्रियं पार्थिव है इसमें क्या प्रमाण है? (२६, २७) समा०—जिस प्रकार गोघृत के कुंकुम के गन्धमात्र के (न कि रूपादियों का) साक्षात्कार में जनक है और पृथ्वी भी है, इसप्रकार घ्राणेन्द्रिय भी रूपादियों के मध्य में केवल गन्धमात्र के साक्षात्कार में जनक होने के कारण पार्थिव सिद्ध

---

१. संकर दोष लगने के कारण देवत्व धर्म जातिरूप नहीं है किन्तु उपाधिमात्र रूप है। यथा—देवत्व धर्म को छोड़कर तेजस्त्व धर्म—सुवर्णादि तैजसपदार्थों में है, एवं तेजस्त्व को छोड़कर देवत्व जलीय देवताओं में है, और तेजस्त्व एवं देवत्व ये दोनों तैजस देवताओं के शरीर में हैं। इसलिये देवत्व धर्म जाति रूप नहीं है।

होता है। (२८) शङ्का–(आप घृत को दृष्टान्त नहीं दे सकते; क्योंकि घृत कुङ्कुम के केवल गन्ध का बोधक नहीं है) किन्तु अपने रूपादि का भी बोधक है। इसलिये उसमें हेतु को न रहने से दृष्टान्तसिद्धि दोष लगा। समा०–परकीय-रूपादि की अव्यञ्जक होकर गन्ध का व्यञ्जक हो यही पूर्वोक्त हेतु का (गन्धमात्र व्यञ्जक का) अर्थ करना समुचित है (इस प्रकार अर्थ करने से घृत-रूप दृष्टान्त में हेतु असिद्ध नहीं हुआ)। यथा–घृत अपने से भिन्न (कुङ्कुम) के रूपादि का व्यञ्जक नहीं होकर केवल उसके गन्ध का ही व्यञ्जक है।

(२९) नच नवशरावगन्धव्यञ्जकजलेऽनैकान्तिकत्वमिति वाच्यं, तस्य सक्तुरसाभिव्यञ्जकत्वात्। (३०) यद्वा परकियेति न देयं, वायूपनीत-सुरभिभागस्य दृष्टान्तत्वसंभवात्। (३१) नच घ्राणेन्द्रिय-सन्निकर्षस्य गन्धमात्रव्यञ्जकत्वात् तत्र व्यभिचार इति वाच्यं, द्रव्यत्वे सतीति विशेषणात्।

(१४) शङ्का–उक्तहेतु जल में व्यभिचारी है क्योंकि जल भी नवीन शराव के गन्ध ही का अभिव्यञ्जक है और पृथ्वी नहीं है। समा०–जल नवीन शराव के गन्ध ही का अभिव्यञ्जक नहीं है किन्तु सत्तू के रस का भी व्यञ्जक है। इसलिये उक्त हेतु जल में नहीं रहने के कारण व्यभिचारी नहीं हुआ। (३०) यदि लाघव के लिये उक्त हेतु में परकीय शब्दका निवेश नहीं करें तब घृत को छोड़कर वायु से लाये हुये देशान्तर में प्राप्त सुगन्धित द्रव्य के भाग को दृष्टान्त बनाना चाहिये। क्योंकि वह सुगन्धित भाग रूपादियों के मध्य में केवल गन्ध ही का व्यञ्जक है और पार्थिव भी है। (३१) शङ्का–यदि उक्त गन्धमात्र व्यञ्जकत्व हेतुकरें तो घ्राणेन्द्रिय को जो गन्ध के साथ स्वसंयुक्त समवाय सम्बन्ध है उस सम्बन्ध में व्यभिचार हो जायगा क्योंकि वह सम्बन्धकेवल गन्ध ही का व्यञ्जक है। समा०–उक्त हेतु में 'द्रव्यत्वेसति' यह विशेषण देते हैं अर्थात् 'द्रव्यत्वेसति गन्धमात्र-व्यञ्जकत्वम्' निर्दुष्ट हेतु हैं। द्रव्य होकर रूपादियों के मध्य में गन्धही का व्यञ्जक हो वही पृथ्वी है। इस प्रकार अनुमान करने पर घ्राणेन्द्रिय को जो अपने विषय के साथ सन्निकर्ष है

उसमें व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि वह द्रव्य नहीं है।

(३२) विषय इति। (३३) उपभोगसाधनं विषयः। (३४) सर्वमेव हि कार्यजातमदृष्टाधीनम्, यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगं साक्षात्परंपरया वा जनयत्येव। (३५) नहि बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति। (३६) तेन द्व्यणुकादिब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयो भवति। (३७) शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः॥३८॥

(३२) पाठधारण। [१](३३) सुखादि साक्षात्काररूप उपभोग के प्रयोजक का नाम विषय है। (३४) सकल कार्य्य स्थावरजङ्गमादि जीवों के अदृष्टाधीन है। जो कार्य जिस जीव के अदृष्ट के अधीन है वह कार्य उस जीव के उपभोग को साक्षात् या परम्परा से उत्पन्न करता ही है। (३५) संसार में कारण और प्रयोजन के बिना किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं है। इसलिये द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्डपर्य्यन्त सभी वस्तु विषय हैं। [२](३७) यद्यपि उक्त लक्षण के अनुसार शरीर और इन्द्रिय का भी विषय में ही परिगणन हो सकता है। किन्तु केवल शिष्य की बुद्धि को विशुद्ध करने के लिये भिन्न रूप से शरीर और इन्द्रिय का परिगणन किया गया है।

इति पृथ्वी निरूपणम्।

जलं निरूपयति=जल का निरूपण करते हैं।

का० नं० ३९।

वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम्॥

का० अर्थ।

जलमें शुक्लरूप, मधुररस, शीतस्पर्श, स्नेह (चिकनापन) और सांसिद्धिक द्रवत्व रहते हैं ऐसा कहा गया है।

---

१. साक्षात् अथवा परमपरासे कार्य सम्पादन करनेवाले का नाम प्रयोजक है।

२. शरीरेन्द्रियभिन्नत्वेसति, जन्यत्वेसति उपभोग साधनम् विषयः।

मुक्तावली।

(१) स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकतया जलत्वजातिः सिध्यति। (२) यद्यपि स्नेहत्वं नित्यानित्यवृत्तितया न कार्यतावच्छेदकं तथापि जन्यस्नेहत्वं तथा बोध्यम्।

[१](१) स्नेहरूप कार्य्य की जो जल में रहनेवाली समवायिकारणता उस कारणता का अवच्छेदक होने के कारण जलत्वरूपजाति सिद्ध होती है। (२) यद्यपि स्नेहत्वरूप धर्म नित्य तथा अनित्य दोनों तरह के स्नेहों में रहने के कारण कार्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। तथापि स्नेहत्व से जन्यस्नेहत्वरूपधर्म को कार्यतावच्छेदक समझना चाहिये।

(३) अथ परमाणौ जलत्वं न स्यात्तत्र जन्यस्नेहाभावात्, नित्यस्य च स्वरूपयोग्यत्वे फलावश्यं भावनियमादिति चेत्, न जन्यस्नेह-जनकतावच्छेदकतया जन्यत्वजातेःसिद्धौ, तदवच्छिन्नजनकता वच्छेदकतया जलत्वजातिसिद्धेः। (४) शुक्लरूपमेव जलस्येति दर्शयितुमुक्तं वर्णः शुक्ल इति। (५) न तु शुक्लरूपवत्त्वं लक्षणम्।

मु० अर्थ

[२](३) शङ्का—ऐसाकरने से परमाणु में जलत्व जाति की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि उसमें जन्यस्नेह नहीं है। अतएव जन्यस्नेह की समवायिकारणता भी उसमें नहीं रह सकती है। यदि जन्यस्नेहरूपकार्य के प्रति जलीयपरमाणु में स्वरूपयोग्यतारूपकारणता मानें तो उसमें कभी न कभी जन्यस्नेह की

---

१. जलत्वजातिसिद्धि में अनुमान का स्वरूप-'समवायसम्बन्धावच्छिन्न, स्नेहत्वा-वच्छिन्नकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाकारणताकिंचिद्धर्मा-वच्छिन्नाकारणतात्वात्' इत्यादि।

२. (क) जन्यस्नेह से जन्यजलत्वजाति की सिद्धि के अनुमान का स्वरूप:— 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नजन्यस्नेहत्वावच्छिन्नकार्य्यतानिरूपिता तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नाजन्यजलनिष्ठायाकारणता (जन्यस्नेहसमवायिकारणता) सा किञ्चित् धर्म्मावच्छिन्नाकारणतात्वात्' इत्यादि।

(ख) जलत्वजाति की सिद्धि के अनुमान का स्वरूप—'समवायसम्बन्धावच्छि-न्नजन्यजलत्वा-वच्छिन्नकार्यतानिरूपिता तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नायाकारणता (जन्यजलसमवायिकारणता) सा किञ्चित् धर्म्मावच्छिन्नाकारणतात्वात्' इत्यादि।

उत्पत्ति अवश्य होनी चाहिये। क्योंकि नियम है कि "स्वरूपयोग्यतारूप कारणता के आश्रय नित्य पदार्थ में फल की उत्पत्ति अवश्य होती है" किन्तु उक्त स्थल में फल की उत्पत्ति नहीं होने के कारण स्नेहरूप कार्यकी समवायिकारणता परमाणु में न रही। तब उसका अवच्छेदक एक अनुगत जलत्व जाति नहीं हुई।

समा०—जन्यस्नेह में वृत्ति जो जन्यता, उस जन्यता से निरूपिता जो जन्यजल निष्ठाजनकता, तादृश जनकता के अवच्छेदक होने के कारण जन्यजल मात्र में जन्यजलत्व जाति की सिद्धि होती है। पुनः जन्यजलत्व से अवच्छिन्नाजन्यजल में वृत्ति जो जन्यता उस जन्यता से निरूपिता जो सकल जलनिष्ठाजनकता, तादृश जनकता का अवच्छेदक होने के कारण नित्य और अनित्य जल साधारण जलत्वजाति की सिद्धि होती है, जल का अन्त्यावयवी नहीं होता है। (४) जलका शुक्ल ही रूप है यह दिखलाने के हेतु 'वर्णः शुक्लः' यह ग्रन्थ है। (५) किन्तु शुक्लरूपवत्त्व जलका लक्षण नहीं है। स्फटिकादि में अतिव्याप्ति हो जाती है।

(६) अथवा नैमित्तिकद्रवत्ववदवृत्तिरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम्, अभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधिकरणरूपवद्-वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा तदर्थः।

[१](६) (क) नैमित्तिक द्रवत्वाश्रय (पृथ्वी) और तेज) में नहीं रहनेवाली तथा रूपाधिकरण में वृत्ति जो द्रवत्व की साक्षात् व्याप्य जाति (जलत्व) तादृश जातिमत्त्व जल का लक्षण है। अथवाअभाश्वर (प्रकाश नही करने वाले) शुक्लरूप से इतर जो नील, पीतादि तथा प्रकाशक श्वेत रूप उनका असमानाधिकरण होकर रूपवत् में वृत्ति जो द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजाति, (जलत्व) तादृश जातिमत्त्व ही 'वर्णः शुक्लः' इत्यादि ग्रन्थका अर्थ है।

(७) तेन स्फटिकादौ नातिव्याप्तिः॥

---

१. तादृश जातिमत्त्वरूप जल लक्षण की, वह्न्यादि में अतिव्याप्ति वारणार्थ साक्षात् पद का उपादान किया गया। इसप्रकार आगे भी समझना चाहिये।

(७) इसप्रकार लक्षण करने से स्फटिकादि में अतिव्याप्ति नहीं हुई। अन्यथा शुक्लरूपवत्वमात्र लक्षण करने से स्फटिकादि में शुक्लवर्णमात्र रहने के कारण अतिव्याप्ति होती थी।।

(८) रसस्पर्शाविति। (९) जलस्य मधुर एव रसः शीत एव स्पर्शः। (१०) तिक्तरसवदवृत्तिमधुरवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य-जातिमत्त्वं तदर्थः। (११) तेन शर्करादौ नातिव्याप्तिः। (१२) शीतेतरस्पर्श वदवृत्तिस्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं तदर्थः। (१३) ननु शुक्लरूपवत्त्वमेवेतिकुतः, कालिन्दीजलादौ नीलिमोप-लब्धेरिति चेत् न, (14) नीलजनकतावच्छेदिकायाः पृथिवी!त्वजातेरभावाज्जललेनीलरूपासंभवात्। नीलजनकालिन्दीजले नीलत्वप्रीतिस्त्वाश्रयौपाधिकी। (१५) अत एव वियति विक्षेपे धवलिमोपलब्धिः।।

(८) जलके रस और स्पर्श पर विचार। (९) जल का रस मधुरमात्र एवं स्पर्श शीत मात्र है। ऐसा लक्षण करने से शक्कर इत्यादि में अतिव्याप्ति होती है। (१०) इसलिये तिक्तादि रसवत में आवृत्ति तथा मधुर रसवत में वृत्ति जो द्रव्यत्व की साक्षाद्व्याप्यजाति (जलत्व) तादृश जातिमत्त्व जल का लक्षण है। (११) इस प्रकार लक्षण करने से शक्कर इत्यादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि शक्कर इत्यादि पार्थिव है। इनमें रहनेवाली पृथिवीत्व जाति तिक्तादि रसवाले में रहनेवाली भी है। इसलिये जातिघटित लक्षण की यहाँ प्रसक्ति नहीं है। (१२) शीत से भिन्न जो स्पर्श उस स्पर्श के अधिकरण में नहीं रहनेवाली पुनः स्पर्शाधिकरण में रहनेवाली जो द्रव्यत्व की साक्षाद्व्याप्यजाति (जलत्व) तादृश जातिमत्त्व उसका अर्थ है। अर्थात् तादृश जातिमत्त्व जल का लक्षण है। (१३) शङ्का—जल का शुक्ल ही रूप है इसका निश्चय कैसे होगा। क्योंकि यमुना के जलादि में नीलरूप देखने में आता है। समा०—नीलरूप निष्ठकार्यतानिरूपिता जो कारणता तादृशकारणतावच्छेदकं जो पृथ्वीत्व जाति इस जाति के जलमें अभाव होने के कारण जल में नील रूप नहीं हो सकता है। (१४) यमुना के जल में जो नील रूप की प्रतीति होती

है वह केवल औपाधिक है। यमुना के जल में नील रूप की प्रतीति का कारण यही है कि उस जल को अपने आश्रय से यमुनाधारा के नीचेवाली नील पृथ्वी से सम्बन्ध है। सारांश यह हुआ कि यमुना जल में नीलता स्वाश्रय (पृथ्वी) संयुक्तत्व सम्बन्ध से रहती है न कि समवाय सम्बन्ध से। (१५) इसी कारण अगर यमुना के जल को ऊपर फेकें तो उसमें श्वेत ही रूप की उपलब्धि होती है।।

(१६) अथ जले माधुर्ये किं मानम्, नहि प्रत्यक्षेण कोऽपि रसस्तत्रानुभूयते। (१७) नच नारिकेलजलादौ माधुर्यमुपलभ्यत एवेति वाच्यं, तस्याश्रयोपाधिकत्वात्। (१८) अन्यथा जम्बीररसादावम्लाद्युपलब्धेरम्लादिमत्त्वमपि स्यादिति चेत् न, हरीतक्यादिभक्षणस्य जलरसव्यञ्जकत्वात्। (१९) नच हरीतक्यामेव जलोष्मसंयोगाद्रसान्तरोत्पत्तिरिति वाच्यं, कल्पनागौरवात्।

(१६) शङ्का-जल में मधुर ही रस है, इसमें क्या प्रमाण है? क्योंकि जल में तो किसी रस का प्रत्यक्ष नहीं होता है। (१७) शङ्का की पुष्टि-यदि कोई कहे कि नारिकेल के जलादि में मधुर रस का प्रत्यक्ष होता है (यह समाधानयुक्त नहीं) क्योंकि वह आश्रय के सम्बन्ध से उपाधिजन्य है। यथा नारिकेलजन का आश्रय जो नारिकेलरूप पृथ्वी है वह पृथ्वीमधुर है और उस मधुर पृथ्वी से नारिकेल के जल का होने के कारण उस नारिकेलजल में मधुररस का प्रत्यक्ष होता है। (१८) अन्यथा नीबू के जलमें भी अम्लादि के रासन प्रत्यक्ष होने के कारण जलमें खट्टा रसभी मानना चाहिये। समा०-ऐसा नहीं, जल में छिपा हुआ रस है। इसलिये सामान्यतौर से पता नहीं चलता है। हर्रे या धात्री खाने के बाद जल पीने से उसमें मधुर ही रसके प्रत्यक्ष होने से जल में मधुर रस का होना सिद्ध हुआ। (१९) शङ्का-अगर हर्रे में ही जल तथा ऊष्मा (मुख की गरमी=भाफ) के सम्बन्ध से रसान्तर (मधुर) की उत्पत्ति होती है याने हर्रे में कषायरस का नाश और मधुर रस की उत्पत्ति मानी जाय, न कि जल में मधुर रस की उत्पत्ति मानी जाय तो क्या क्षति है? समा०-कल्पना गौरव होने के कारण ऐसा मानना उचित नहीं है। कल्पना

गौरव का स्वरूप–यह मानी हुई बात है कि फलादिरूप पृथ्वी में रस तथा रूप की उत्पत्ति (पाकवश) तेजसंयोग से होती है। किन्तु अगर हर्रे की उदाहरणता के अनुरोध से तेज संयोग के स्थान में जल संयोग से हर्रे में रसान्तर की उत्पत्ति मानें तो यह एक भिन्न ही कार्य्य-कारण-भाव मानना जो गौरवकारक है।

(२०) पृथिवीत्वस्याम्लादिजनकतावच्छेदकत्वाच्च जले नाम्लादिकम्। (२१) जम्बीररसादौ त्वाश्रयौपाधिकी तथा प्रतीतिः (२२) एवं

(२०) पृथ्वीत्व को "अम्लादिनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदक" होने के कारण अम्लादि धर्म जलमें नहीं है। (२१) जम्बीर फलान्तर्गत रसाश्रय जो पृथ्वी उमसें अम्लरस रहने के हेतु जम्बीर रस में खट्टापनका भान होता है। (२२) एवं उक्त प्रकार से–

जन्यशीतस्पर्शजनकतावच्छेदकं जन्यजलत्वं तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकं तु जलत्वं बोध्यम्। (२३) घृष्टचन्दनादौ तु शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्वर्तिशीततरसलिलस्यैव। (२४) तेजःसंयोगाज्जले उष्णप्रतीतिरौपाधिकी स्फुटैव, तत्र पाकासंभवात्।

"जन्यशीतस्पर्शनिष्ठ जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकजन्यजलत्वजाति" जन्य जल में है और "जन्यजलनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकजलत्व" जाति है। इसप्रकार से भी नित्यानित्यसाधारण जलत्व जाति की सिद्धि समझनी चाहिये। (२३) शङ्का–घिसेहुए चन्दन में भी शीत-स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है (इसलिये चन्दन में अतिव्याप्ति हुई)। समा०–चन्दन में शीत-स्पर्श की प्रतीति चन्दनान्तर्गत शीततरजल प्रयुक्त ही है। (न के चन्दनप्रयुक्त)। (२४) जल में पाक नहीं होने के कारण जल में जो ऊष्णता की प्रतीति होती है वह तो केवल अग्नि आदि के संयोग से औपाधिक ही है यह स्पष्ट है।

(२५) स्नेहस्तत्रेति। (२६) घृतादावपितदन्तर्वर्तिजलस्यैवस्नेहः, जलस्य स्नेहसमवायिकारणत्वात्। (२७) तेन जल एव स्नेह इति मन्तव्यम्।

(२५) जल ही में स्नेह है। (२६) घृतादि में भी जो स्नेह प्रतीत होता है वह घृत के अन्दर रहनेवाले जल ही का है। क्योंकि स्नेह का समवायिकरण जलमात्र है। (२७) इस हेतु जल ही में स्नेह मानना उचित है।

(२८) द्रवत्वमिति (२९) सांसिद्धिकद्रवत्वत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। (३०) तदवच्छिन्नजनकतावच्छेदकमपि तदेवेति भावः। (३१) तैलादावपि जलस्य द्रवत्वं स्नेहप्रकर्षेण च दहनानुकूल्यमिति वक्ष्यति॥

(२८) जलीयद्रवत्व पर विचार। (२९) सांसिद्धिकद्रवत्वधर्म एक जाति विशेष है यह प्रत्यक्षसिद्ध है। [१](३०) "सांसिद्धिकद्रवत्वत्वावच्छिन्न-कार्य्यतानिरूपित कारणतावच्छेदक" भी जलत्व है। (३१) तैलादि में भी जो सांसिद्धिकद्रवत्व मालूम पड़ता है वह द्रवत्व भी तैलान्तर्वर्त्ती जल ही का है। शङ्का—अगर जल ही का द्रवत्व है तो तेलमें आग क्यों लगती है? समा०—तेल में स्नेह बहुत अधिक है जिससे दहनानुकूलता है। इस बातपर ग्रन्थकार आगे विचार करते हैं।

का० नं० ४०।

नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुहिमादिर्विषयो मतः॥

का० अर्थ।

प्रथमवत् (अर्थात् पृथ्वीके समान) जल भी नित्य अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। किन्तु पृथ्वी से जल में इतने ही विशेष है कि जलीयशरीर अयोनिजमात्र है। जलीय इन्द्रिय रसनेन्द्रिय है और समुद्र बर्फ प्रभृति (नदी, सरोवर, वनौरी इत्यादि) सब विषय रूप जल है।

मुक्तावली।

(१) प्रथमवदिति। (२) पृथिव्या इवेत्यर्थः। (३) तथाहि। (४) जलं द्विविधं नित्यमनित्यं च। (५) परमाणुरूपं नित्यं

१. (टि०) विशेष पूर्ववत् समझना चाहिये।

द्व्यणुकादिकं सर्वमनित्यमवयवसमवेतं च। अनित्यमपि त्रिविधं, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्॥

मु० अर्थ।

(१+५) परमाणुरूप जल नित्य है और द्व्यणुक से लेकर समुद्रादि पर्यन्त सब जल अनित्य है और अपने अपने अवयव में समवायसम्बन्ध से रहता है। (६) अनित्य जल भी शरीर इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का होता है।

(७) पृथिवीतो यो विशेषास्तमाह। (८) किंत्विति। (९) देहमयोनिजम् अयोनिजमेवेत्यर्थः। (१०) जलीयशरीरं वरुणलोके प्रसिद्धम्॥

(७) पृथ्वी की अपेक्षा से जल में जो विशेष है वह कहते हैं। (८+९) जलीय शरीर अयोनिज मात्र होता है। (१०) जलीय शरीर वरुणलोक में प्रसिद्ध है।

(११) इन्द्रियमिति। (१२) जलीयमित्यर्थः। तथाहि (१३) रसनं जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वेसति रसव्यञ्जकत्वात्, सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्।

(११+१२) जलीय इन्द्रिय पर विचार। (१३) यथा—सतुआसे घोला हुआ जल सतुए के गन्धादिकाबोधक नहीं है, किन्तु उसके रसमात्र का बोधक है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी (जिह्वा भी) गन्धादि का अव्यञ्जक और रस का व्यञ्जक होने के कारण जल है।

(१४) रसनेन्द्रियसंनिकर्षे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वं देयम्॥

(१४) "गन्धाद्यव्यञ्जकत्वेसति रसव्यञ्जकत्व" जो जलत्व का साधक किया है वैसा करने से रस और रसनेन्द्रिय का जो सन्निकर्ष उसमें व्यभिचार लगता है क्योंकि उक्त सन्निकर्ष गन्धादि गुणों का अबोधक है और रस का बोधक भी है। इसलिये "गन्धाद्यव्यञ्जकत्वेसति द्रव्यत्वे सति रसव्यञ्जकत्व" निर्दुष्ट हेतु है। ऐसा करने से उक्त

सन्निकर्ष में व्यभिचार नहीं होगा। क्योंकि सन्निकर्ष द्रव्य नहीं है।

(१५) विषयं दर्शयति। (१६) सिन्धुहिमादिरिति (१७) सिन्धुः समुद्रः। हिमं तुषारः। (१८) आदिपदात्सरित्कासारकरकादिः सर्वोऽपि ग्राह्यः।

(१५) विषयरूप जल को दिखलाते हैं। (१६+१७) सिन्धु से समुद्र और हिमसे तुषार (पाला) समझना चाहिए। (१८) आदि पद से नदी, सरोवर, पोखरा (तालाब) इत्यादि सब समझना चाहिये।।

(१९) नच हिमकरकयोः कठिनत्वात्पार्थिवत्वमिति वाच्यम्, ऊष्मणा विलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। (२०) यद्‌द्रव्यं यद्‌द्रव्यध्वंसजन्यमिति व्याप्तेर्जलोपादानोपादेयत्वसिद्धेः।

(१९) अगर कहें कि पाला और वनौरी इत्यादि कठिन होने के कारण पृथ्वी है। ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि तेज के संयोग से गला हुआ पाला, बनौरी इत्यादि जलरूप ही साक्षात् प्रतीत होता है। (२०) जो (जलरूप) द्रव्य जिस (पाला, वनौरी इत्यादिरूप) द्रव्य के ध्वंस से उत्पन्न होता है। वह (जलरूप) द्रव्य उसके (पाला, वनौरी इत्यादि के) उपदानरूप द्रव्य का उपादेय है ऐसी व्याप्ति है। इसलिये जल के उपादान का उपादेय होने के कारण पाला, वनौरी इत्यादि जलरूप ही सिद्ध हुआ नके पार्थिव रूप।

(२१) अदृष्टविशेषण वा द्रवत्वप्रतिरोधात्। (२२) काकादीनां काठिन्यप्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात्।।

(२१) शङ्का—अगर पाला, वनौरी इत्यादि में काठिन्य पार्थिव आधार होने से नहीं है तो क्यों हुआ? समा०—पाला, वनौरी इत्यादि में काठिन्य दो प्रकार से हो सकता है। (क) स्थावर, जङ्गमरूप प्राणी के सुखदुःखजनक अदृष्ट विशेष से अथवा (ख) जल के द्रवत्व के प्रतिरोध से हो सकता

है। [1](२२) पाला, वनौरी इत्यादि में काठिन्य का प्रत्यक्ष भ्रम रूप है।

तेजो निरूपयति=तेज का निरूपण करते हैं।

का० नं० ४१।

उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नित्यतादि च पूर्ववत्।।

तेज का स्पर्श ऊष्ण है। रूप भास्वर शुक्ल (परकीय रूपादि का व्यञ्जक) है द्रवत्व नैमित्तिक है। (अग्नि संयोगादि से द्रवत्व होता है)। एवं नित्यता और अनित्यता जल के समान है।।

मुक्तावली।

(१) उष्णत्वं स्पर्शनिष्ठो जातिंविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। (२) इत्थं च जन्योष्णस्पर्शसमवायिकारणतावच्छेदकं तेजस्त्वं जातिविशेषः। (३) तस्य परमाणुवृत्तित्वं तु जलत्वस्येवानुसंधेयम्। (४) नचोष्ण-स्पर्शवत्त्वं चन्द्रकिरणादावव्याप्तमिति वाच्यं, तत्राप्युष्णत्वस्य सत्त्वात्। (५) किंतु तदन्तःपातिजलस्पर्शेनाभिभवादग्रहः। (६) एवं रत्न-किरणादौ पार्थिवस्पर्शेनाभिभवाच्चक्षुरादौ चानुद्भूतत्वादग्रहः।।

मु० अर्थ।

(१) उष्ण स्पर्श में रहनेवाला ऊष्णत्व धर्म जाति विशेष रूप प्रत्यक्ष सिद्ध है। (२) तदवच्छिन्नकार्यतानिरूपित जो तेजोनिष्ठसमवायिकारणता तादृश कारणतावच्छेदक तेजस्त्वजातिविशेष है। (३) उस तेजस्त्व जातिको तेजः परमाणु में तेजः परमाणु में वृत्तिता नहीं है। क्योंकि परमाणुकी उष्णता जन्य नहीं है। इसलिये जिस प्रकार नित्य और अनित्य दोनों में जलत्व जाति की सिद्धि की गई है। उसी प्रकार तेजस्त्व जातिकी भी सिद्धि जाननी चाहिये। यथा (तेज:परमाणु में जन्यउष्णस्पर्श नहीं है इसलिये जन्यस्पर्शनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदक परमाणु साधारण तेजस्त्व जातिकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये जन्य उष्णस्पर्शनिष्ठ-जन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकत्व रूप से जन्यतेजस्त्व जाति की सिद्धि

१. (टि०) भ्रान्तिर्नाम तदभाववति तत् प्रकारकं ज्ञानम्।

करें और जन्यतेजस्त्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदत्व रूप से तेजस्त्व जाति की सिद्धि करें। इसी प्रकार तेजस्त्व जाति की सिद्धि होती है। (४) शङ्का–"उष्णस्पर्शवत्त्व" तेज का लक्षण करने से चन्द्रमा के किरणादि में अव्याप्ति हो जायगी? समा०–ऐसा नहीं; क्योंकि चन्द्रमा के किरणादि में भी उष्णस्पर्शवत्त्व है तो अवश्य। (५) किन्तु चन्द्रकिरणादि के मध्य जल का अंश अधिक रहने के कारण उष्णस्पर्श दब जाता है और इसलिये उस स्पर्श का पता नहीं चलता है। (६) इसी प्रकार रत्न के किरणादि में भी पार्थिव स्पर्श से तेजःस्पर्श दब जाता है और इसलिये उक्त रत्न के किरणादि में तेजःस्पर्श का पता नहीं चलता है एवं चक्षुरादि इन्द्रियमं अनुद्भूत स्पर्श है। इसलिये उक्त चक्षुरादि में भी तेजःस्पर्श का पता नहीं चलता है।

(७) रूपमित्यादि। (८) वैश्वानरे मरकतकिरणादौ च पार्थिवरूपेणाभिभावच्छुक्लरूपाग्रहः (९) ननु तद्रूपाग्रहे धर्मिणोऽपि चाक्षुषत्वं न स्यादिति चेत् न, अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्रहसंभवात्, शङ्खस्येव पित्तपीतिम्ना। (१०) वह्नेस्तु शुक्लरूपं नाभिभूतं किंतु तदीयं शुक्लत्वमभिभूतमित्यन्ये॥

(७) तेजके रूपादि पर विचार। (८) प्रज्वलित अग्नि में और पन्ना इत्यादि के (श्वेत रंग से भिन्न रंगवाले मणि के) किरणादि में पार्थिवरूप से तेज का वास्तविक शुक्लरूप दब जान के कारण उक्त तेज के श्वेतरूपकाप्रत्यक्ष नहीं होता है। (९) शङ्का–तेज के वास्तव रूप का ग्रहण नहीं होता ऐसे तेज रूप के धर्मी अग्नि आदि का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा अगर ऐसा कहें सो नहीं; क्योंकि समा०–धर्मी का चाक्षुषप्रत्यक्ष किसी दूसरे धर्मी के रूप से भी हो सकता है। जैसाकि पित्त दोष से उत्पन्न कामलादिरोग वाले को नेत्रों के द्वारा सफेद शंख पीला दीखता है। उसी प्रकार अग्नि का पार्थिव रूप से प्रत्यक्ष हो सकता है। (१०) कोई ऐसा भी कहते हैं कि उक्त तेजरूप मण्यादि में तेज के शुक्लरूप का अभिभव नहीं हुआ है किन्तु उस शुक्ल के शुक्लत्व जाति का अभिभव हुआ है।

(११) नैमित्तिकमिति। (१२) सुवर्णादिरूपे तेजसि तत्सत्वात्। (१३) न च नैमित्तिकद्रवत्वं न लक्षणं दहनादावव्याप्तं घृतादावतिव्याप्तं चेति वाच्यं, पृथिव्यवृत्तिनैमित्तिकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्व-साक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वस्यविवक्षितत्वात्।।

(११) नैमित्तिक द्रवत्त्वपर विचार। (१२) सोना, चान्दी इत्यादि तेज पदार्थों में नैमित्तिकद्रवत्त्व रहता है। [१](१३) शङ्का–तेज पदार्थ का 'नैमित्तिकद्रवत्व' लक्षण होना उचित नहीं है। क्योंकि अग्नि आदि में अव्याप्ति और घृतादि में अतिव्याप्ति होती है। समा०–पृथ्वी में नहीं रहने वाली और नैमित्तिक द्रवत्ववत् में रहनेवाली जो द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य जाति (तेजस्त्व) तादृश जातिमत्त्व 'नैमित्तिकद्रवत्व' का अर्थ है ऐसा वक्ता का अभिप्राय है। इस प्रकार अर्थ करने से उक्त अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष नहीं लगेगा।

(१४) पूर्ववदिति। जलस्येवेत्यर्थः। तथाहि। (१५) तत् द्विविधं नित्यमनित्यं च।

(१४) तेज पदार्थ के नित्यत्वादि विचार जल के समान है (१५) यथा–तेज पदार्थ दो प्रकार का होता है। नित्य और अनित्य।

(१६) नित्यं परमाणुरूपं तदन्यदनित्यम्, अवयवि च। (१७) तच्च त्रिधा, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। (१८) शरीरमयोनिजमेव। (१९) तच्च सूर्यलोकादौ प्रसिद्धम्।।

(१६) नित्य तेज परमाणुरूप है। उससे भिन्न सब तेज अनित्य है तथा अवयविरूप है। (१७) वह अनित्यतेज शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार का होता है। (१८) तेज:शरीर अयोनिज ही होता है। (१९) वह अयोनिजशरीर सूर्य लोकादि में प्रसिद्ध है।

अत्र यो विशेषस्तमाह=जल की अपेक्षा तेजः पदार्थ में जो विशेष है सो कहते हैं।

---

१. (टि०) साक्षात् क्यों दिया गया?
तेजस्त्व लक्षण के अभिप्राय से साक्षात्पद दिया गया है। तेज के लक्षण में एक त्व प्रत्यय लगादेने से तेजस्त्व का लक्षण होता है। उसमें यदि साक्षात्पद नहीं दियाजाय तो सुवर्णत्व में अतिव्याप्ति हो जायगी।

का॰ नं॰ ४२।

इन्द्रियं नयनं वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः।

का॰ अर्थ।

तैजस इन्द्रिय नेत्र है और अग्नि तथा सोना, चान्दी, लोहा, इत्यादि धातु, तैजस विषय है। यह शास्त्रों का अभिमत है।

मुक्तावली।

(१) ननु चक्षुषस्तैजसत्वे किं मानमिति चेत्, चक्षुस्तैजसं परकीयस्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्। (२) प्रदीपस्य स्वीयस्पर्शव्यञ्जकत्वादत्र दृष्टान्तेऽव्याप्तिवारणाय प्रथमं परकीयेति। (३) घटादेः स्वीयरूपव्यञ्जकत्वाद्व्यभिचारवारणाय द्वितीयं परकीयेति। (४) अथवा प्रभाया दृष्टान्तत्वसंभवादाद्यं परकीयेति न देयम्।

मु॰ अर्थ।

(१) शङ्का–नेत्र तैजस पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है? समा॰–परकीय (घट-पटादि के) स्पर्शादि का ग्राहक न होकर केवल परकीय (घटादि के) रूप का ग्राहक होने के कारण प्रदीप के समान नेत्र भी तैजस पदार्थ है। (२) प्रदीप के अपने स्पर्श का ग्राहक होने के कारण दृष्टान्त (प्रदीप) में हेतु के न रहने से दृष्टान्तसिद्धि हो जायगी। इसलिये प्रथम "परकीय" विशेषण उक्त हेतु में दिया गया है। (३) परकीय स्पर्शादि का ग्राहक न होकर अपने रूप का (विषयतासम्बन्ध से) ग्राहक होने के कारण घटादि में व्यभिचार दोष लगता है। उस व्यभिचार के वारण करने के हेतु में द्वितीय "परकीय" शब्द का निवेश है। (४) अथवा "प्रदीप" दृष्टान्त नहीं देकर "प्रभा" ही को दृष्टान्त बना दें तो उक्त अनुमान में पहला "परकीय" श्ब्द नहीं देने पर भी दोष नहीं है। (क्योंकि प्रभा में अपने स्पर्शादि का भी ग्राहकत्व नहीं है)।

(५) चक्षुः सन्निकर्षे व्यभिचारवारणय द्रव्यत्वं देयम्।

(५) (तेजस्त्वका साधक "स्पर्शाद्य व्यञ्जकत्वेसति परकीयरूप-

व्यञ्जकत्व" करने से भी) नेत्र घटादि में जो संयोग होता है उस संयोग में व्यभिचार हो जायगा। क्योंकि वह संयोग प्रभा के समान स्पर्शादि का अव्यञ्जक होते हुए परकीय रूप का व्यञ्जक है। इसहेतु हेतु में द्रव्यत्व का निवेश करना चाहिये। अब संयोग में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि संयोग द्रव्य नहीं है किन्तु गुण है। निर्दुष्ट हेतु स्वरूप–'स्पर्शाद्यव्यञ्जकत्वेसति द्रव्यत्वेसति परकीयरूप व्यञ्जकत्व' है।।

(६) विषयं दर्शयति। वह्निरिति। ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति चेत् न। (८) सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्, यथा पृथिवीति (९) न चाप्रयोजकं, पृथिवीद्रवत्वस्य जन्यजलद्रवत्वस्य चात्यन्ताग्निसंयोगनाश्यत्वात्। (१०) ननु पीतिमगुरुत्वाश्रयस्य पार्थिवभागस्यापि तदानीं द्रुतत्वात्तेन व्यभिचार इति चेत् न, जलमध्यस्थमषीक्षोदवत्तस्याद्रुतत्वात्।

(६) तैजस पदार्थ का विषय दिखलाते हैं। यथा वह्नि इत्यादि। (७) सुवर्णादि तैजस पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है। [१](८) सुवर्ण तैजस पदार्थ है यथा–घृत तैलादि को अगर जल के साथ मिला दे और अत्यन्त अग्नि संयोग कर दें तो घृत तैलादि जलने का प्रति बन्धक जो जल है वह जल पहले जल जायेगा पीछे घृततैलादि। उसके बाद द्रवत्व का नाश होता है। ऐसी सिलसिला पार्थिव द्रव्य के द्रवत्व में पायी जाती है; किन्तु सोना, चान्दी इत्यादि धातुओं में जलने के प्रतिबन्धक के अभाव में भी अत्यन्त अग्निका संयोग करने पर भी अनुच्छिद्यमान (अनश्वर) जन्यद्रवत्व रहने के कारण तैजसत्व है। जो तेज नहीं है। वह जलन के ग्रतिबन्धक के

---

१. (टि॰) व्यभिचार शङ्का का स्वरूप–
असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमान जन्यद्रवत्वं तैजसत्व व्यभिचारी न वा?
तर्क का स्वरूप–
तादृश द्रवत्वं यदि तेजसत्वव्यभिचारिस्यात्। तर्हि क्वचित् पृथिव्यां जले वा उपलभ्यते।।

अभाव में भी अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर अनुच्छिद्यमान द्रवत्ववाला नहीं है। अर्थात् वह तेज नहीं है जिसका द्रवीभाव नाश हो जाता है। यथा पृथ्वी। (९) शङ्का—अगर कहें कि पूर्वोक्त हेतु अप्रयोजक है (अर्थात् अनुकूलतर्क रहित है) इसलिए सुवर्ण के पार्थिव पदार्थ होने से भी पूर्वोक्त हेतु सुवर्ण में रहे भी तो दोष ही क्या? समा०—अग्निसंयोग से घृत लाक्षादि रूप पृथ्वी के तथा जन्य जल के द्रवीभाव के नाश हो जाने के कारण पूर्वोक्त अनुमान में अनुकूल तर्क है। (१०) शङ्का—(अत्यन्ताग्नि संयोग से) जब सोने का द्रवीभाव होता रहता है तब उसी के साथ पीतरूप और गुरुत्व इन दोनों के आश्रय पृथ्वीभाग का भी द्रवण होता है। अतः पार्थिव भाग में हेतु रह गया। साध्य नहीं है। व्यभिचार हुआ। समा०—ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार जल में स्याही रूप पार्थिव भागों को घोल देने से प्रतीत होता है कि जल के समान स्याही रूप पार्थिवभागों का भी द्रवीभाव हुआ है किन्तु वास्तविक में द्रवीभाव नहीं होता है। इसी प्रकार अत्यन्ताग्नि संयोग से सुवर्ण के द्रवीभाव होने के समय पीत रूपादि का आश्रय पार्थिवभाग का भी द्रवीभाव होता है यह भ्रम मात्र है। किन्तु वास्तविक में उस पार्थिव भाग का द्रवीभाव नहीं होता। अतएव व्यभिचार नहीं लगा।

(११) अपरे तु पीतिमाश्रयस्य अत्यन्ताग्निसंयोगेपि पूर्वरूपापरावृत्तिदर्शनात्तत्प्रतिबन्धकं विजातीयद्रवद्रव्यं कल्प्यते। (१२+१३) तथाहि। अत्यन्तागिनसंयोगे पीतिमगुरुत्वाश्रयः विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः, अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्थपीतपटवत्। (१४) तस्य च पृथिवीजलभिन्नस्यतेजस्त्वनियमात्॥

(११) कईएक आचार्यों का ऐसा भी मत है। यथा अत्यन्ततीव्र अग्नि के संयोग करने पर भी सुवर्णसंयुक्त और पीत रूप के आश्रय जो पार्थिवभाग है उसमें पूर्व रूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति नहीं देखी जाती अतः कल्पना करते हैं कि कोई विलक्षण द्रव द्रव्य (तेज) हैं। जो उक्त पार्थिव भाग के रूप नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति के

प्रति प्रतिबन्धक है। (१२+१३) [१]जैसे जल से भरे हुए पात्र में पीला कपड़ा डालकर उस पात्र को तीव्र अग्नि से संयोग कर दिया जाय तो भी उक्त पीले कपड़े में जलरूप द्रव द्रव्य के संयोग रहने के कारण पूर्वरूप का नाश और विजातीय रूपान्तर की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। उसी प्रकार; अत्यन्ताग्नि संयोग करने पर भी पीतरूप तथा गुरुत्व के आश्रय सुवर्णस्थ पार्थिव भाग के भी पूर्वरूप का नाश और विजातीय रूपान्तर की उत्पत्ति नहीं होने के कारण वह (सुवर्णस्थ पृथ्वीभाग) विजातीय रूप का प्रतिबन्धक द्रव द्रव्य से संयुक्त है। (१४) वह विलक्षण द्रव द्रव्य न तो पृथ्वी है न जल है, इसलिये तैजसपदार्थ सिद्ध होता है।

वायुं निरूपयति=वायु का निरूपण करते हैं।

का० नं० ४२, ४३।

अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः।
तिर्यग्गमनवानेष ज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः।
पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापि त्वगिन्द्रियम्।।

का० अर्थ।

वायु अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्शवान् है। तिर्यग्गमनवान् (टेढ़ी चाल चलने वाला) है। और स्पर्शादि हेतुओं से अनुमान करने योग्य (एतावता उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है)। उसकी नित्यता और अनित्यता पूर्ववत् जाननी चाहिये। शरीर में व्यापी जो त्वचा वही वायवीय इन्द्रिय है।

---

१. (टि०) अगर पीछे (एतावता किसी रंगवाले) कपड़े को तीव्र अग्नि के साथ संयोग कर दिया जाय तो पूर्व पीतादि रूप का नाश हो जायगा और रूपान्तर भस्मादि रूपकी उत्पत्ति हो जायगी। किन्तु अगर उक्त रंग वाले कपड़े को किसी पात्र में जल मध्यस्थ कर दिया जाय और उस पात्र को तीव्राग्नि से संयोग कर दिया जाय तो पात्रान्तर्गत जल उक्त पात्रान्तर्गत कपड़े के पूर्व रूपनाश के प्रति प्रतिबन्धक होता है। इसको स्मरण करके ही अनुमान का स्वरूप देखना चाहिये।

मुक्तावली।

(१) अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यामपि सत्त्वादुक्तमपाकज इति। (२) अपाकजस्पर्शस्य जलादावपि सत्त्वादुक्तमनुष्णाशील इति। (३) तेन वायवीयो विजातीयः स्पर्शोदर्शितः (४) तज्जनकतावच्छेदकं वायुत्वमिति भावः।

मु॰ अर्थ।

(१) अगर केवल 'अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व' वायु का लक्षण करें तो पृथ्वी में अतिव्याप्ति हो जायगी। इसलिये अपाकज कहा गया। अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व लक्षण करने से पृथ्वी में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि पृथ्वी का अनुष्णाशीत स्पर्शपाकज है। (२) यदि वायु का लक्षण अपाकजस्पर्शवत्त्व मात्र करें तो जलादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। इसलिये अनुष्णाशीत शब्द का निवेश करना पड़ा। अपाकज अनुष्णाशीत-स्पर्शवत्त्व है। लक्षण करने से जलादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि जलादि में अनुष्णाशीतस्पर्श नहीं है (३) इसप्रकार लक्षण करने से पृथ्वी, जल और अग्नि की अपेक्षा से वायु में एक विलक्षण ही स्पर्श दिखाया है। (४) अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्शनिष्ठजन्यततानिरूपितजनकता वायु में हैं। इस जनकता का अवच्छेदक वायुत्व जाति है।

(५) एष वायुः स्पर्शादिलिङ्गकः। (६) वायुर्हिस्पर्शशब्द-धृतिकम्पैरनुमीयते विजातीयस्पर्शेन विलक्षणशब्देन तृणादीनां धृत्या शाखादीनां कम्पेन च वायोरनुमानात् (७) यथाच वायोर्न प्रत्यक्षं तथाग्रे वक्ष्यते।

(५) वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु स्पर्शादि हेतुओं से अनुमान होता है। (६) स्पर्श, शब्द, धारण और कम्पन ये चार हेतु वायु के अनुमापक है। (एतावता उक्त चार हेतुओं से वायु का अनुमान किया जाता है) – (क) विलक्षण स्पर्श से, (ख) विलक्षण शब्द से, (ग) (आकाश में) तृण, तूर, इत्यादि पदार्थों के धारण से, (घ) वृक्षादियों के

कम्पन से, वायु का आनुमानिक ज्ञान होता है। (७) [1]वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यह आत्मनिरूपण से आगे कहा जायगा—(क) जो यह रूपवाले द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहने वाला स्पर्श है; वह पृथ्वी समवेतस्पर्श की तरह स्पर्श होने के कारण किसी का आश्रित है। (ख) रूपवाले द्रव्य का अभिघात नहीं होने से भी जो यह पुष्पपत्रादि में शब्द सन्तति होती है। वह शब्द सन्तति द्रव्य सम्बन्धी शब्द सन्तति होने के कारण दण्डाभिघात से भेरी शब्द की तरह अवयवों के न विभाग होने से भी किसी स्पर्शवाले तथा वेग वाले द्रव्य के संयोग से जन्य है। (ग) आकाश में तृण तूलादि की धृति अनधिष्ठितद्रव्य धृति होने कारण नौका धृति के समान किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्य के संयोग—रूप हेतु से जन्य है। (घ) रूपवाले द्रव्य के अभिघात के बिना भी जो तृणशाखादि में क्रिया है वह क्रिया विलक्षण क्रिया होने के कारण नदी प्रवाह में बहते हुए तृणादिगत क्रिया के समान, किसी स्पर्शवाले तथा वेगवाले द्रव्य के अभिघात से जन्य है। इस प्रकार चारों अनुमानों का स्वरूप जानना चाहिये।

(८) पूर्ववदिति। (९) वायुर्द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। (१०) परमाणुरूपो नित्यस्तदन्योऽनित्योऽवयवसमवेतश्च। (११) सोऽपि त्रिविधः, शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। (१२) तत्र शरीरमयोनिजं पिशाचादीनाम्। (१३) परंतु जलीय तैजसावयवीयशरीराणां पार्थिवभागोपष्टम्भादुपभोगक्षमत्वं जलादीनां प्राधान्याज्जलीयत्वादिकमिति। (१४) अत्र यो विशेषस्तमाह।

---

१. (क) योऽयम् रूपवत् द्रव्यासमवेतः स्पर्शः स क्वचिदाश्रितः, स्पर्शत्वात् पृथ्वी समवेत स्पर्शवत्।

(ख) असति रूपवत् द्रव्याभिघाते योऽयम् पर्णादिषु शब्दसन्तानः स स्पर्शवत् वेगवद् द्रव्यसंयोगजन्यः। अविभज्यमानावयव द्रव्यसम्बन्धि शब्दसन्तानत्वात् दण्डाभिहतभेरी शब्द सन्तानवत्।

(ग) नभसि तृणतूल स्तनयित्नुविमानादीनां धृतिः स्पर्शवत् द्रव्यसंयोगहेतुका अस्मदाद्यनधिष्टितद्रव्य धृतित्वात् नौका धृतिवत्।

(घ) रूपवद्द्रव्याभिघातमन्तरेण तृणे कर्म—स्पर्शवद् वेगवद् द्रव्याभिघातजन्यम् विजातीयकर्मत्वात् नदी पूराहत काशादि कर्म वदित्यनुमानानिबोध्यानि।

(८) वायुकी नित्यता अनित्यता पूर्ववत् जाननी चाहिये। (९) वायु नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं (१०) परमाणुरूपवायु नित्य है। और उससे भिन्न (कार्यरूपवायु) अनित्य है। और समवायसम्बन्ध से अपने अवयवों में रहते हैं। (१२) उन तीनों में वायवीयशरीर अयोनिज होता है जो पिशाचादिओं का है। (उक्त वायवीयशरीर वायुलोक में प्रसिद्ध है)। (१३) परन्तु पार्थिवशरीर के प्रति जलीय, तेजस और वायवीय शरीर में कुछ विशेष है। यथा जब तक जलीय, तैजस और वायवीय शरीर में कुछ पार्थिव अंशका योग नहीं होगा तब तक इन तीनों शरीरों को विषयों के भोग की योग्यता नहीं होती। शङ्का—"यह जलीयशरीर है" ऐसा प्रयोग क्यों होता है? समा॰—इस प्रयोग का यह अभिप्राय नहीं है कि इस शरीर में पार्थिव अंश नहीं है। किन्तु इसका अभिप्राय यही है कि इस शरीर में जल का अंश अधिक है। (१४) पूर्वापेक्षया इसमें विशेष बताते हैं।

(१५) देहव्यापीति। (१६) शरीरव्यापकं स्पर्शग्राहमिन्द्रियं त्वक् (१७) तच्च वायवीय रूपादिषु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्। (१८) अङ्गसङ्गिसलिलजशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत्॥

(१५+१६) शरीरमात्र में व्यापक तथा स्पर्श का ग्राहक त्वगिन्द्रिय है। (१७) वह त्वगिन्द्रिय रूपादि के मध्य में केवल स्पर्श के ग्राहक होने के कारण वायवीय है। (१८) जैसाकि पंखे की हवा शरीर के साथ रहनेवाले स्वेदरूप जल के केवल शैत्यस्पर्श ही का ग्राहक है। उसी प्रकार वायवीयइन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) स्पर्शमात्र का ग्राहक है।

विषयं दर्शयति=विषय को दिखलाते हैं।

का॰ नं॰ ४४।

प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयो मतः।

का॰ अर्थ।

प्राणादि से लेकर महावायुपर्यन्त वायवीयविषय है।

मुक्तावली।

(१) यद्यप्यनित्यो वायुश्चतुर्विधः तस्य चतुर्थी विधा प्राणादिरित्युक्त माकरे। (२) तथापि संक्षेपादत्र त्रैविध्यमुक्तम्। (३) प्राणस्त्वेक एव हृदादिनानास्थानवशान्मुखनिर्गमादिनाना-क्रियावशाच्च नानासंज्ञां लभत इति।।

मु॰ अर्थ।

(१) यद्यपि अनित्यवायु चार प्रकार के हैं उसका चौथा प्रभेद प्राणादि पञ्चवायु है जिसका विस्तार प्रशस्तपाद भाष्य में कहा है (२) चाऱ्प्रभेद रहने पर भी केवल संक्षेप के हेतु इस ग्रन्थ में अनित्य वायु के तीन ही प्रभेद कहे हैं। (३) प्राणवायु तो एक ही है किन्तु हृदयादि नानास्थान के भेद से तथा मुख, नासिका द्वारा पूरक, कुम्भक और रेचक इत्यादि नाना क्रिया के भेद से (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) इत्यादि नाना संज्ञा को लाभ करते हैं।

इति वायुनिरूपणम्।

आकाशं निरूपयति=आकाश का निरूपण करते हैं।

का॰ नं॰ ४४।

आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।।

आकाश का विशेषगुण शब्द है।

मुक्तावली।

(१) आकाशकालदिशामेकैकव्यक्तित्वादाकाशत्वादिकं न जातिः। (२) किंतु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वम्। (३) वैशेषिक इति कथनं तु विशेषगुणान्तरव्यवच्छेदाय।

मु॰ अर्थ।

(१) आकाश, काल, दिशा, ये सब एक २ मात्र है। इस हेतु आकाशत्व, कालत्व और दिशात्व जाति नहीं है। (२) किन्तु आकाशत्व समवायसम्बन्ध से शब्दाश्रयत्व रूप है। (३) कारिका में "वैशेषिक" शब्द का उल्लेख तो केवल विशेष गुणान्तर का व्यवच्छेदक है (याने

आकाश में शब्द को छोड़कर कोई भी दूसरा विशेष गुण नहीं है)

(४) एतेन प्रामाणमपि दर्शितम्।

(४) इसकथन से आकाश का साधक अनुमानप्रमाण दिखलाया है।

(५) तथाहि। (६) शब्दो विशेषगुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्य-बहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत्। (७) शब्दो द्रव्यसमवेतो गुणत्वात् संयोगवत्। (८) इत्यनुमानेन शब्दस्य द्रव्यसमवेतत्वे सिद्धे, शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे सत्यकारणगुणपूर्वकप्रत्यक्षत्वात् सुखवत्। (९) पाकजरूपादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। (१०) पटरूपादौ व्यभिचारवारणाया-कारणगुणपूर्वकेति। (११) जलपरमाणुरूपादौ व्यभिचारवारणाय प्रत्यक्षेति॥

(६) शब्द आँखों से नहीं देखने योग्य होकर तथा बाह्यइन्द्रिय से ग्रहणयोग्य शब्दत्व जाति का आश्रय होने के कारण स्पर्श के समान विशेषगुण है। (७) शब्दगुण होने के कारण संयोग के समान द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहता है। (८) [1]उक्त अनुमान से शब्द का द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहना सिद्ध हो जाने पर शब्द, अग्नि संयोग रूप, असमवायिकारण से जन्य नहीं है और अकारण गुण पूर्वक है, एवं प्रत्यक्ष विषय है। इसलिये सुख की तरह स्पर्शवाले द्रव्यों का विशेषगुण नहीं है। (९) अगर केवल "शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणा अकारणगुणपूर्वक, प्रत्यक्षत्वात् सुखवत्" इतनाही अनुमान करें। "अग्निसंयोगासमवायि-कारणकत्वाभवे सति" इस विशेषण को हटा दें तो पृथ्वी के पाकजरूपादि में व्यभिचार होगा। क्योंकि अकारणगुणपूर्वक प्रत्यक्षत्व तो पृथ्वीनिष्ठपाकज रूपादि में भी है। इसलिये सत्यन्तविशेषण दिया गया। देने पर व्यभिचार नहीं होगा क्योंकि उक्त रूपादि में "अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे" नहीं है। (१०) यदि उक्त अनुमान में "अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे

---

१. (टि०) इस अनुमान से यही साधन हुआ कि शब्द पृथ्वी आदि चार के विशेषण नहीं है।

सति प्रत्यक्ष" मात्र हेतुरखें तो पट रूपादि में व्यभिचार होगा। क्योंकि पटके रूपादि में अग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वाभावे और प्रत्यक्षत्व है। इसलिये "अकारणगुणपूर्वकत्व" भी हेतु में रखा है। (११) एवं यदि उक्त अनुमान के हेतु में "प्रत्यक्ष" पद नहीं दें तो जलीयपरमाणु के रूपादि में व्यभिचार होगा। क्योंकि जलीयपरमाणु के रूपादि "अग्निसंयोगा-समवायिकारणकत्वाभावविशिष्ट अकारणगुणपूर्वकत्व" का आश्रय है। 'प्रत्यक्ष' पद देने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये व्यभिचार नहीं हुआ।

(१२) शब्दोन दिक्काल मनसां गुणः विशेष गुणत्वात्। (१३) नात्म विशेषगुणो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत्। (१४) इत्थं च शब्दाधिकरणं नवमंद्रव्यं गगनात्मकं सिध्यति। (१५) नच वाय्ववयवेषु सूक्ष्म शब्दक्रमेण वायौ कारणगुणपूर्वकः शब्द उत्पद्यतामिति वाच्यम् अयावद्द्रव्यभावित्वेन वायुविशेषगुणत्वाभावात्।।

(१२) शब्द विशेषगुण होने के कारण दिशा काल तथा मन का भी गुण नहीं है। (१३) एवं शब्द बाह्येन्द्रियसे ग्रहण की योग्यतावाला होने के कारण रूप के समान आत्माका विशेषगुण भी नहीं है। (१४) इसप्रकार शब्द का अधिकरण नवाँ द्रव्य 'गगन' नामका सिद्ध होता है। (१५) [१]शङ्का—यदि ऐसा माना जाय कि वायुका गुण शब्द है, पहले वायु के अवयवों में सूक्ष्म शब्द की उत्पत्ति होती है। पश्चात् क्रमशः

---

१. (टि०) (क) जो गुण आश्रय के ध्वंसपर्य्यन्त रहता है वह यावद्रव्यभावी गुण कहालात है। यथा पृथिव्यादि चार के गुण अपने अपने आश्रय के नाश होते हैं स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इन चारों के गुण 'यावद्द्रव्यभावी' कहते हैं। (ख) जो गुण अपने आश्रय के नाश बिना ही स्वयं नष्ट हो जाता है वह गुण 'अयावद्द्रव्यभावी' गुण कहाता है। यथा शब्द अपने आश्रय का (आकाश का) नाश हुये बिना ही स्वयं नष्ट हो जाता है। इसलिये वह 'अयावद्द्रव्यभावी' गुण कहाता है। (ग) वायु का विशेषगुण यावद्द्रव्य भावी है (एतावता अपने आश्रय के नाश से स्वयं भी नष्ट हो जाता है) किन्तु शब्द 'अयावद्द्रव्य भावी' विशेषगुण है। अर्थात् शब्दके आश्रय द्रव्य के नाश से जन्य जो नाश उस नाश का प्रतियोगी शब्द नहीं है। इसलिये शब्द वायु का विशेषगुण भी नहीं हैं।

अवयवीरूपवायु में कारण गुण पूर्वक शब्द उत्पन्न होता है तो क्या हानि? समा०–शब्द के अयावद्‌द्रव्य भावी होने के कारण वायु का विशेषगुण नहीं है। (टिप्पणी से स्पष्ट होगा)।

तत्र शरीरस्य विषयस्य चाभावादिन्द्रियं दर्शयति–

आकाशरूप शरीर तथा आकाशरूप विषय अप्रसिद्ध होने के कारण कारिका में आकाश रूप इन्द्रिय को ही ग्रन्थकार दिखा रहे हैं।

का० नं० ४५।

इद्रियं तु भवेच्छ्रोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः।

का० अर्थ

आकाश का इन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय है। आकाश एक रहने पर भी उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है।।

मुक्तावली।

(१) नन्वाकाशं लाघवादेकं सिद्धं श्रोत्रं तु पुरुषभेदेन भिन्नं कथमाकाशं स्यादिति चेत्तत्राह। एकः सन्नपीत्यादि। (२) आकाश एक एव सन्नपि उपाधेः कर्णशष्कुल्यादेर्भेदाद्भिन्नं श्रोत्रात्मकं भवतीत्यर्थः।

मु० अर्थ

(१) शङ्का–लाघव के हेतु सिद्ध हुआ है कि आकाश एक है। किन्तु व्यक्ति भेद से श्रोत्रेन्द्रिय अनेक होने के कारण आकाश कैसे एक सिद्ध हो सकता है? 'ग्रन्थकार एकः सन्नपीत्यादि' ग्रन्थ से समाधान कररहे हैं। (२) समा०–आकाश एक रहने पर भी उपाधि भेद से (नानाव्यक्तिगत नानाकर्ण भेद से) श्रोत्रात्मक भिन्न २ प्रतीत होता है।

इति आकाशनिरूपणम्।

कालं निरूपयति=कालका निरूपण करते हैं।

का० नं० ४५।

जन्यानां जनकः कालो जगता माश्रयो मतः।

का० अर्थ।

जन्यपदार्थ मात्र का काल जनक है (साधारण निमित्तकारण है) और सम्पूर्ण संसार का कालिकसम्बन्ध से आश्रय है।

मुक्तावली।

(१) तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह। जगतामिति। तथाहि। (२) इदानीं घट इत्यादिप्रतीतिः सूर्यपरिस्पन्दादिकं यदा विषयीकरोति तदा सूर्यपरिस्पन्दादिना घटादेः संबन्धो वाच्यः। (३) स च सम्बन्धः संयोगादिर्न संभवतीति काल एव तत्सम्बन्धघटकः कल्प्यते। (४) इत्थंच तस्याश्रयत्वमेवा सम्यक्॥

मु० अर्थ।

(१) ग्रन्थकार ने काल में प्रमाण दिखलाने के लिये 'जगताम्' इत्यादि ग्रन्थ कहा है। (२) 'इदानीं घटः' (इस काल में घट है) इत्याकारक प्रतीति जब सूर्य की (भूमण्डलका गोलाकारवत् अतिक्रमणरूप) क्रिया को विषय करती है, तब सूर्य की क्रिया को घटादि के साथ कोई सम्बन्ध कहना उचित है। (३) [1]वह सम्बन्ध संयोग अथवा समवाय नहीं हो सकता है। किन्तु काल ही तत्सवम्बन्धघटककल्पित किया जाता है। (४) इस प्रकार उक्त पदार्थों से भिन्न काल भी एक पदार्थ है यह सम्यक् सिद्ध हुआ। और यह भी सम्यक् सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार भी काल है।

प्रमाणान्तरं दर्शयति=ग्रन्थकार काल में दूसरा प्रमाण दिखलाते हैं।

का० नं० ४६।

परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।

---

१. (टि०) वह सम्बन्ध "स्वाश्रय तपन संयोगिसंयोग" रूप मात्र है। स्वपद से सूर्य्य की क्रिया ग्रहण की जाती है, उस क्रिया का आश्रय सूर्य्य है। सूर्य का संयोगी काल है। उस काल का संयोग घटादि के साथ है। इत्याकारक सम्बन्ध घटक काल ही की कल्पना हो सकती है। क्योंकि आकाश को पकड़ने में आत्मा को लेकर विनिगमना विरह हो जायगा।

का० अर्थ।

कालकृत परत्व और अपरत्व के ज्ञान का असाधारण कारण काल है। एवं उपाधि के प्रभाव से क्षणादियों से व्यवहार का विषय होता है।

मुक्तावली।

(१) परत्वापरत्ववुद्धेरसाधारणं निमित्तं काल एव। परत्वा-परत्वयोरसमवायिकारणसंयोगाश्रयो लाघवादितिरिक्तः काल एव कल्प्यत इति भावः।

मुक्ता० अर्थ।

(१) [१]परत्व और अपरत्व की बुद्धि का निमित्तकारण काल है (२) [२]कालिक परत्व और अपरत्व का असमवायिकारण जो काल और पिण्ड का संयोग, उस संयोग का अनुयोगिता सम्बन्ध से आश्रयत्व के लिये लाघवात् एक पृथक् काल की कल्पना की जाती है।

(३) नन्वेकस्य कालस्य सिद्धौ क्षणदिनमासवर्षादिसमयभेदो नप स्यादत आह। (४) क्षणादिरिति। कालस्त्वेकोऽपि उपाधि-भेदात्क्षणादि व्यवहार विषयः।

(३) [३]काल एक है। यह सिद्ध होने पर क्षण, दिन, मास, वर्ष और युगादिं का व्यवहार भिन्न २ रूप से कैसे हो सकता है। (४) काल एक रहने पर भी उपाधि के भेद से क्षणादि के व्यवहार का विषय हो सकता है।

(५) उपाधिस्तु स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्नं कर्म, पूर्वसंयोगा-वच्छिन्नविभागो वा, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभावो वा, उत्तर संयोगावच्छिन्नं कर्म वा।

(५) [४]इस स्थल में उपाधि निम्नलिखित प्रकार की है। पहलाक्षण–

---

१. (टि०) ज्येष्ठमें कालिक परत्व और कनिष्ठ में कालिक अपरत्व रहता है।

२. (टि०) विनिगमनाविरहेण परत्वापरत्वासमवायिकारणसंयोगाश्रयोनाकाशादिः, कालरूप धर्मि ग्राहक प्रमाणविरोधभयेन काले न विनिगमनाविरहः।

३. (टि०) इसका उत्तर देने के लिये क्षणादि ग्रन्थ का उल्लेख है।

४. (टि०) स्ववृत्तिध्वंसिप्रतियोग्यनधिकरणत्वम् क्षणत्वम्।

स्वजन्य विभाग के प्रागभाव से अवच्छिन्न कर्म है। दूसराक्षण–पूर्वसंयोगावच्छिन्नस्वजन्य विभाग से अवच्छिन्न कर्म है। तीसराक्षण–पूर्वसयोगनाशावच्छिन्नस्वजन्य उत्तरसंयोग के प्रागभाव से अवच्छिन्न कर्म है। चौथाक्षण–स्वजन्य उत्तरसंयोगावच्छिन्न कर्म है।

(६) नचोत्तरसंयोगानन्तरं क्षणादिव्यवहारो न स्यादिति वाच्यं कर्मान्तरस्यापि सत्त्वादिति। (७) महाप्रलये क्षणादिव्यवहारो यद्यस्ति तदा नायत्या ध्वसेनोपपादनीय इति। (८) दिनादिव्यहारस्तु तत्तत्क्षणकूटै रेवेति।

(६) शङ्का–यहाँ यह शङ्का होती है कि उक्तरीति से चारक्षण की प्रक्रिया समाप्त हो जाने के बाद क्रिया के अभाव से पुनः क्षणादि का व्यवहार नहीं होगा। समा०–इसका उत्तर यह है कि एक क्रिया का नाश हो जाने पर भी द्रव्यान्तर में उत्पन्न क्रियान्तर से क्षणादि का व्यवहार होगा। (७) महाप्रलय में तो प्रायः क्षणादि का व्यवहार होता ही नहीं, यदि माना भी जाय तो अगत्या तत्तत् पदार्थ के ध्वंस को उपाधि मानकर उसकी उपपत्ति की जा सकती है। (८) दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, इत्यादि का व्यवहार तो उक्त क्षणों के समुदाय से होता है।

दिशं निरूपयति=दिशा का निरूपण करते हैं।

का० नं० ४६।

दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्या दिगुच्यते॥

का० अर्थ।

दूरत्व और समीपत्व के ज्ञान का असाधारण कारण दिशा है वह एक और नित्य है।

मुक्तावली।

(१) दूरत्वमन्तिकत्वं च दैशिकं परत्वमपरत्वं बोध्यम्। (२) तद्बुद्धेरसाधारणं बीजं दिगेव। (३) दैशिक परत्वापरत्वयोर-समवायिकरण संयोगाश्रयतया लाघवादेका दिक् सिध्यतीति भावः।

मु० अर्थ।

(१) दूरत्व तथा समीपत्व से दैशिकपरत्व तथा अपरत्व जानना चाहिये। (२) उस बुद्धि का (दैशिकपरत्व और अपरत्वबुद्धि का) असाधारणकारण दिशा ही है। (३) दैशिकपरत्व और अपरत्व का असमवायिकरण दिशा और वस्तु का संयोग है। उस संयोग के आश्रयत्व के अनुरोध से लाघवात् एक अतिरिक्त द्रव्यरूप दिशा की कल्पना की जाती है।

(४) नन्वेकैव दिक् तदा प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारः कथमुपपद्यतामित्यत आह–

(४) एक दिशा मानने पर यह शङ्का होती है कि दिशा पदार्थ यदि एक ही है तो प्राची तथा प्रतीची आदि विभिन्न व्यवहार कैसे होगा। इसका समाधान ग्रन्थकार "उपाधि भेदात् इत्यादि" ग्रन्थसे करते है।

का० नं० ४७।

उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक्।

का० अर्थ।

दिशा एक रहने पर भी उपाधि भेद से प्राचीप्रतीची आदि विभिन्नव्यवहार का विषय होता है।

मुक्तावली।

(१) यत्पुरुषस्य उदयगिरिसंनिहिता या दिक् सा तस्य प्राची। (२) एवमुदयगिरिव्यवहिता या दिक् सा प्रतीची। (३) एवं यत्पुरुषस्य सुमेरुसन्निहिता या दिक् सोदीची। (४) तद्व्यवहिता त्ववाची। (५) "सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः" इति नियमात्।

मु० अर्थ।

(१) जिस व्यक्ति के लिये जो दिशा उदयाचलपर्वत से समीप रहती है उस व्यक्ति के लिये वह पूर्व दिशा है। (२) एवं जिस पुरुष को जो दिशा उदयाचलपर्वत के व्यवधान में पड़ती है उस व्यक्ति के

लिये वह पश्चिम दिशा है। (३) जिस पुरुष के लिये जो दिशा सुमेरुपर्वत से समीप पड़ती है वह उस व्यक्ति के हेतु उत्तर दिशा है। (४) इसी प्रकार जिस पुरुष को जो दिशा सुमेरुपर्वत के व्यवधान में पड़ती है वह उसके लिये दक्षिण दिशा है। (५) सब देश की अपेक्षा मेरुपर्वत की स्थिति उत्तर दिशा में है, ऐसा नियम है। इसलिये पूर्वोक्तप्राच्यादि विचार पर ग्रन्थ सम्यक् है।

आत्मानं निरूपयति=आत्मा का निरूपण करते हैं।

का० नं० ४७।

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्।

का० अर्थ।

आत्मा सबइन्द्रियों का अधिष्ठाता है (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय से उत्पन्न हुए ज्ञान का अधिकरण है) इसका कारण यह है कि कारण सकर्तृक होता है (करण कार्य्य सम्पादन में कर्त्ता की अपेक्षा करता है)।

मुक्तावली।

(१) आत्मत्त्वजातिस्तुसुखदु:खादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिध्यति। (२) ईश्वरेऽपि सा जातिरस्त्येव। (३) अदृष्टादिरूपकारणाभावान्न सुखदु:खाद्युत्पत्तिः।

मु० अर्थ।

(१) सुखदु:खादि कार्यों की समवायिकारणता के अवच्छेदक के अवच्छेदकत्वरूप से आत्मत्त्वजाति की सिद्धि होती है। (२) ईश्वर में भी आत्मत्त्वजाति रहती है। (३) ईश्वर में सुखदु:खादि के समवायिकारणतावच्छेदकआत्मत्त्व के रहने पर भी सुखदु:खादि को अन्यकारण अदृष्ट और शरीर के न रहने से उसकी उत्पत्ति नहीं होती है।

(४) नित्यस्य स्वरूपयोग्यत्वेफलावश्यं भाव इति नियमस्याप्रयोजकत्वात्। (५) परे तु ईश्वरे सा जातिर्नास्त्येव प्रमाणाभावात्। (६) नच दशमद्रव्यत्वापत्तिः, ज्ञानवत्त्वेन विभजनादित्याहु:। (७) इन्द्रियादीति। (८) इन्द्रियाणां शरीरस्य च परम्पराया चैतन्यसंपादकः।

(४) [1]शङ्का–यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि ईश्वर में सुखादिका समवायिकारणतावच्छेदक रहे गाते उसमें सुखादि की उत्पत्ति अवश्य होगी। क्योंकि यह नियम है कि नित्य में जिस कार्य की स्वरूपयोग्यता रहती है उसमें उस कार्य की उत्पत्ति कभी न कभी अवश्य होती है। समा०–इसका यह उत्तर है कि उक्त नियम अप्रयोजक अर्थात् अप्रामाणिक है। अतएव उसके बल से परमेश्वर में सुखदु:ख की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती। (५) जो लोग उक्तनियम को प्रामाणिक मानते हैं उनके मत से ईश्वर में आत्मत्त्व जाति नहीं रहती है। क्योंकि ईश्वर में आत्मत्त्व जाति के रहने में कोई प्रमाण नहीं है। (६) शङ्का–अगर ईश्वर में आत्मत्त्व जाति नहीं रहेगी तो उसका उक्तनवद्रव्यों में समावेश न हो सकनेसे दशमद्रव्य ईश्वर के रहते हुए द्रव्यपदार्थ का नवधाविभाग करना असङ्गत हो जायगा। समा०–उक्तनियम मानने वाले अष्टमद्रव्य का आत्मत्त्वरूपसे विभाग न करके ज्ञानवत्वरूप से विभाग करते हैं। ऐसी कल्पना करने से ईश्वर में दशमद्रव्यत्व की आपत्ति नही होती। (७) इन्द्रियों पर विचार–(८) आत्मा ही परम्परासम्बन्ध से इन्द्रिय तथा शरीर में चैतन्य का सम्पादन करने वाला है।

(९) यद्यप्यात्मनि "अहं जाने अहं सुखी" इत्यादिप्रत्यक्षविषय स्वमस्त्येव तथापि विप्रतिपन्नंप्रति प्रथमत एव शरीरादिभिन्न-स्तत्प्रतीतिगोचर इति प्रतिपादयितुं न शक्यत इत्यत: प्रमाणान्तरं दर्शयति।

(९) यद्यपि आत्मा में, "मैं जानता हूँ मैं सुखी हूँ" इत्यादि प्रतीति होने के कारण आत्मा में प्रत्यक्ष विषयत्व अवश्य है (आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है) तथापि सुखादि-प्रतीति का विषय शरीर, इन्द्रिय या तदन्य आत्मा है। इसप्रकार विप्रतिपन्नवादी को प्रमाणान्तरप्रदर्शन के पूर्व उक्त प्रतीति के बल से शरीराद्यतिरिक्त आत्मा के पक्ष में नहीं ला सकते

---

१. (टि०) जलीय परमाणु नित्य है। उसमें स्नेह की स्वरूप योग्यतारूप कारणता रहने पर भी उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिये "नित्यस्य स्वरूप योग्यत्वे फलावश्यं भाव:" यह नियम अप्रयोजक (अप्रामाणिक) है।

अतएव प्रत्यक्षप्रमाण न दिखाकर शरीरादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि के लिये प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण दिखलाते हैं।

(१०) कारणमिति (११) कुठारादीनां छिदादिकरणानां कर्त्तारमन्तरेण फलानुपधानं दृष्टम्। (१२) एवं चक्षुरादीनां ज्ञानकरणानां फलोपधानमपि कर्तारमन्तरेण नोपपद्यत इत्यतिरिक्तः कर्ता कल्प्यते।।

(१०) करण पर विचार। (११) जिस प्रकार कुठारादि, कर्त्ता के विना छेदन क्रिया नहीं कर सकते। (१२) उसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय भी बिना कर्त्ता के ज्ञानरूप क्रिया को उत्पन्न नहीं कर सकते इसलिये शरीर और इन्द्रिय से भिन्न एक अतिरिक्त कर्त्ता (आत्मा) की कल्पना की जाती है।

ननु शरीरस्यैव कर्तृत्वमस्त्वत आह–

चार्वाक की शङ्का–शरीर ही को कर्त्ता मान लेने से ज्ञानादिक्रिया की उत्पत्ति हो सकती है, तब शरीर से भिन्न आत्मा की कल्पना निरर्थक है। इसका उत्तर–मूलकार अग्रिम कारिका से दे रहे हैं।

का० नं० ४८।

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः।।

का० अर्थ।

शरीर ज्ञानादि क्रिया का कर्त्ता नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञानादि का कर्तृत्व ज्ञानादि का आश्रयत्वरूप है। और शरीर ज्ञान का आश्रय नहीं माना जा सकता कारण है कि मृतशरीर में ज्ञान नहीं रहता है। यदि तत्तदिन्द्रियों को तत्तदिन्द्रियजन्यज्ञानरूप क्रिया का कर्त्ता मानें तो एक इन्द्रिय का नाश हो जाने पर उस इन्द्रिय से अनुभूत पदार्थ का स्मरणद्वितीय कर्त्ता मानें तो एक इन्द्रिय का नाश हो जाने पर उस इन्द्रिय से अनुभूत पदार्थ का व्यक्तयन्तर को स्मरण नहीं होता है। इसलिये यहीं स्थिर हुआ कि इन्द्रिय भी कर्त्ता नहीं हो सकता।

मुक्तावली।

(१) ननु चैतन्यं ज्ञानादिकमेव मुक्तात्मनां त्वन्मत इव मृतशरीरादणामपि तदभावे का क्षतिः, प्राणाभावेन ज्ञानाभावस्य सिद्धेरिति चेन्न, शरीरस्य चैतन्ये वाल्ये विलोकितस्य स्थाविरेस्मरणानुपपत्तेः, शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पादविनाशशालित्वात्।

मु० अर्थ।

(१) जिस प्रकार आपके मतानुसार मुक्त आत्मा में चैतन्य इच्छा, कृति आदि पदार्थ नहीं रहते हैं उसी प्रकार हमारे मतानुसार मृतशरीररूप, मुक्तआत्मा में ज्ञान, इच्छा कृति इत्यादि नहीं रहते हैं। (मृतावस्था को हम मुक्तावस्था कहते हैं) शङ्का—अगर आप आत्मा को कर्त्ता मानते हैं तो गौरव होता है। क्योंकि मृतशरीर में ज्ञानभाव का कारण आपको प्राण और आत्मा दोनों के अभाव को मानना पड़ता है। किन्तु मुझे शरीर को ही चैतन्याश्रय मानने में लाघव है क्योंकि मृतशरीर में ज्ञानाभाव के प्रति केवल प्राणाभाव ही को कारण मानना होता है। समा०—ऐसा नहीं न हो सकता क्योंकि अगर शरीर ही चैतन्य का कर्त्ता (आश्रय) हो तो बाल्यावस्था में देखे हुए पदार्थों का वार्धक्य में स्मरण नहीं होगा। क्योंकि अनुभव करने वाला बाल्यावस्था का शरीर वृद्धावस्था में नहीं है। इसका कारण यह है कि शरीर के अवयवों में ह्रासविकाश हुआ करता है इसलिये शरीर को उत्पत्ति विनाशवशाली मानना पड़ता है। बाल्यकाल से लेकर वार्धक्य तक एक शरीर नहीं माना जा सकता। इसलिये स्थिर हुआ शरीर चैतन्य का कर्त्ता (आश्रय) नहीं हो सकता है।

(२) न च पूर्वशरीरोत्पन्नसंस्कारेण द्वितीयशरीरे संस्कार उत्पद्यत इति वाच्यम्, अनन्तसंस्कारकल्पने गौरवात्। (३) एवं शरीरस्य चैतन्ये वालकस्य स्तन्यपाने प्रवृत्तिर्न स्यात्, इष्टसाधनताज्ञानस्य तद्धेतुत्वात्तदानीमिष्टसाधनतास्मारकाभावात्। (४) मन्मते तु जन्मान्तरानुभूतेष्टसाधनत्वस्य तदानीं स्मरणादेव प्रवृत्तिः।

(२) [१]शङ्का–अगर कहें कि पूर्वशरीर में उत्पन्न हुआ संस्कार द्वितीय शरीर में संस्कार को उत्पन्न करता है। समा०–ऐसी कल्पना करनेसे अनन्त संस्कार की कल्पना करनी होगी। जिससे गौरव होगा। (३) एवं यदि शरीर को कर्त्ता मानते हैं तो उत्पन्न मात्र हुए बालक को स्तन्यपान में प्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति इष्ट साधनता ज्ञान कारण है। इसलिये आपके मत से स्तन्यपान में प्रवृत्ति के पूर्वक्षण में इष्ट साधनता का अनुभव करानेवाले किसी पदार्थ को न रहने के कारण बालक को स्तन्यपान में प्रवृत्ति नहीं होगी। (४) किन्तु हमारे मत से स्तन्यपान प्रवृत्ति के पूर्वजन्म में अनुभूत इष्ट साधनता के स्मरण से तत्क्षण में उत्पन्न हुए बालक को स्तन्यपान में प्रवृत्ति होती है।

(५) न च जन्मान्तरानुभूतमन्यदपिस्मर्यतामिति वाच्यम्, उद्बोधकाभावात्। (६) अत्र त्वनायत्या जीवनादृष्टमेवोद्बोधकं कल्प्यते। (७) इत्थं च संसारस्यानादितया आत्मनोऽनादित्यसिद्धावनादिभावस्य नाशासंभवान्नित्यत्वं सिद्धयतीति बोध्यम्।

(५) शङ्का–यदि पूर्वजन्मानुभूत इष्टसाधनता का संस्कारद्वारा स्मरण आप इस जन्म में मानते हैं तब पूर्वजन्मानुभूत घटपटादि का भी स्मरण संस्कार द्वारा क्यों नहीं होता है? समा०–उक्त घटपटादि का उद्बोधक नहीं रहने के कारण स्मरण नहीं होता है। (६) शङ्का–अगर उक्त घटपटादि के संस्कार का उद्बोधक को नहीं है तो स्तन्यपान में अनुभूत इष्टसाधनता के संस्कार का उद्बोधक कौन है समा०–जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनता के स्मरण के प्रति किसी दूसरे उद्बोधक का नहीं मिलने के कारण अगत्या उस बालक के जीवनादृष्ट ही को उद्बोधक मानते हैं। (७) इसप्रकार संसार के अनादि होने के कारण जीवात्मा भी अनादिसिद्ध होता है। और जो अनादिभाव पदार्थ है उसका नाश नहीं होता इसलिये आत्मा नित्य है ऐसा जानना चाहिये।

---

१. अवयव के ह्रास वृद्धि से शरीर मात्र अनवरत बदलता रहता है, यदि उन पूर्व पूर्व शरीरों में उत्पन्न हुए संस्कारों से उत्तर शरीरों में संस्कारों की उत्पत्ति मानी जाय तो अनन्त संस्कारों की कल्पना करनी होगी इसलिये गौरव होगा।

(८) ननु चक्षुरादीनामेव ज्ञानादिकं प्रति करणत्वं कर्तृत्वं चास्तु विरोधे साधकाभावादत आह। तथात्वमिति।

(८) यहि चक्षुरादि इन्द्रियों को ही (तत्तत् ज्ञानरूप कार्यों के प्रति कर्त्ता और करण दोनों मानें तो क्या हानि? इस शङ्का का उत्तरमूलकार कारिका में "तथात्व" इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं।

(९) चैतन्यमित्यर्थः। (१०) उपघाते नाशेसति अर्थाच्चक्षुरादीनामेव, कथमिति। (११) पूर्वं चक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरणं न स्यात्। (१२) अनुभवितुरभावात्। (१३) अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणा संभवात्। (१४) अनुभवस्मरणयोः सामानाधिकरण्येन कार्यकारण भावादिति भावः।

(९) "तथात्व" शब्द से चैतन्य (ज्ञान कर्तृत्व) जानना चाहिये। (१०) नेत्रादि इन्द्रियों के नाश होने पर भी नाश के पहले अनुभव किये हुए पदार्थका स्मरण कैसे होगा। (११+१२+१३) यह नियम है कि एक व्यक्ति से देखे हुए पदार्थ का स्मरण दूसरे व्यक्ति को नहीं होता है। इसलिये जिस आँख से पहले अनुभव हुआ है उस आँख का नाश होने के कारण पूर्व देखे हुए पदार्थ का स्मरण दूसरी इन्द्रिय या दूसरे शरीर को नहीं होगा। क्योंकि उस समय अनुभव करनेवाली इन्द्रिय नहीं है और एक इन्द्रिय को अनुभूत पदार्थ का स्मरण दूसरी इन्द्रिय नहीं कर सकती। इसलिये इन्द्रियों से भिन्न एक चेतन कर्त्ता मानना चाहिये। (१४) तात्पर्य यह है कि स्मरण और अनुभव में समानाःधिकरण अर्थात् समवायसम्बन्ध से कार्यकारणभाव है।

(१५) ननु चक्षुरादीनां चैतन्यं मास्तु मनसस्तु नित्यस्य चैतन्यं स्यावदत आह–

(१५) शङ्का–चक्षुरादि इन्द्रिय को अनित्य होने के कारण उन्हें ज्ञानादि का कर्त्ता न मान सकने पर भी नित्यमन को चैतन्य का कर्त्ता मानने में कोई हानि नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर मूलकार कारिका में देते हैं।

का० नं० ४९।

मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत्।
धर्माधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः।।

का० अर्थ।

समा०—मन को भी चेतनरूप कर्त्ता नहीं मान सकते हैं। क्योंकि मन को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर ज्ञानादि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिये यही पर्यवसित होता है कि जीवात्मा धर्म अधर्म का आश्रय है। और सुखदु:खादि विशेषगुण के सम्बन्ध से प्रत्यक्ष का विषय होता है।

मुक्तावली।

(१) मनोपीति। न तथा, न चेतनम्। (२) ज्ञानादीति मनसोऽणुत्वात्प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वान्मनसिज्ञानसुखादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थ। (३) यथा मनसोऽणुत्वं तथा वक्ष्यते।

मु० अर्थ।

(१) मन भी वैसा (चेतनरूप कर्त्ता) नहीं है। (२) [१]अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्वपरिमाण कारण है मन अणु है इसलिये अगर ज्ञान सुखदु:खादि गुण मन में माने जायेंगे तो ज्ञान सुखदु:खादि का प्रत्यक्ष नहीं होगा। (३) मूलाकार मन अणुपरिमाण वाला है इस बात में युक्ति ८५वीं कारिका में बतायेंगे।

(४) नन्वस्तु विज्ञानमेवात्मा, तस्य स्वतःप्रकाशरूपत्वाच्चेतनत्वम्, ज्ञानसुखादिकं तु तस्यैवाकारविशेषः तस्यापि भावत्वादेव क्षणिकत्वं पूर्वपूर्वविज्ञानस्योत्तरविज्ञाने हेतुत्वात् सुषुप्तावप्यालयविज्ञानधारा निराबाधैव, मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वपूर्वविज्ञानजनित-संस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वान्नानुपपतिः स्मरणादेरिति चेन्न, तस्यजगद्विषयकत्वे सर्वज्ञत्वापत्तिः।

---

१. (टि०) ऋषि। मुनि और आचार्य्यों ने भी मन में अणुपरिमाण माना है।

(४) [१]बौद्ध की शङ्का–यदि आत्मा को भिन्नद्रव्य न मानकर विज्ञान को ही (क) आत्मा मानें तो क्या हानि? (ख) वह स्वतः प्रकाशस्वरूप होने के कारण चेतन है (ग) उसी का स्वरूप विशेषज्ञान सुखदुःखादि भी है। (घ) वह भाव पदार्थ है इसलिये क्षणिक है। (ङ) पूर्वपूर्वक्षण में उत्पन्न हुआ विज्ञान उत्तरउत्तरक्षण में अन्य विज्ञान का उत्पादक होता है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में भी आलय विज्ञान की धारा प्रवाहित होती रहती है। अनेक तहवाले कपड़े के भीतर कस्तुरी सौरभ के संक्रमण की भाँति पूर्वपूर्वविज्ञान में उत्पन्न हुए संस्कार का उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रमण होता है। इसप्रकार पूर्व विज्ञान से अनुभव उत्तरविज्ञान में स्मरण सिद्ध हो सकता है। तार्किक का उत्तर–ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि वह आलयविज्ञान (जिसे आप आत्मा मानते हैं) यदि समूचे ब्रह्माण्डकी प्रत्येकवस्तु को विषय करता है, ऐसा मानें तो मनुष्य को सर्वज्ञ होना चाहिये। किन्तु मनुष्य सर्वज्ञ नहीं होते हैं इसलिये ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु को विषय करनेवाले आलयविज्ञान को नहीं मान सकते।

(५) यत्किंचिद्विषयकत्वे विनिगमनाविरहः।

---

१. (टि०) (क) (स्वतः प्रकाशरूपवात् स्वभिन्नज्ञानविषयत्वात् तस्यचेत्तनत्वम्) (ख) अत्र क्षणिकत्वम् द्वितीय क्षणवृत्तिध्वंस प्रतियोगित्वम्। विज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान और आलय विज्ञान के भेद से दो प्रकार का होती है जैसे (१) "घटः" इत्याकारक ज्ञानप्रवृति विज्ञान कहलाता है। (२) "अहम् अहम्" इत्याकारक ज्ञान आलय विज्ञान कहा जाता है। इस आलय विज्ञानकी धारा गाढ़ निद्रावस्था में भी विद्यमान रहती है। पूर्व पूर्व विज्ञान में उत्पन्न हुए संस्कार के उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रमण होने का दृष्टान्त कस्तूरी सौरभ से भरपूर अनेक तहवाले कपड़े के साथ दिया गया है। जिसका स्पष्टार्थ यह है जैसे अनेक तहवाला कपड़ेके नीचे कस्तूरी रख दें और पोटरी बाँधकर सूँघें तो वहीं से अनेक तह के व्यवहार होने पर भी आपको कस्तूरी का सुगन्ध मालूम होगा इसका कारण यह है कि जिस पहले तह में कस्तूरी का सम्बन्ध है उस तह का अव्यवहित दूसरे तह में सम्बन्ध है। एवं दूसरे का तीसरे में तीसरे का चौथे में, उसी तरह चरम तह पर्य्यन्त सम्बन्ध है। उसी प्रकार पूर्व २ विज्ञान विज्ञान के अनुभव से जन्य संस्कार उत्तर विज्ञान में संस्कार का जनक होता है।

(५) [१]अगर उक्त आलयविज्ञान यत्किञ्चित्पदार्थ को विषय करता है ऐसा कहें तो विनिगमना विरह दोष लगेगा। जैसे—यदि आप कहेंगे कि आलयविज्ञान घट को विषय करता है तो मैं कहूँगा कि पट ही को क्यों नहीं विषय करता है। इस स्थिति में आपको कोई भी युक्ति अपने पक्ष की स्थिर करने के लिये नहीं मिलेगी इसलिये यत्किञ्चितवस्तु को विषय करनेवाले आलयविज्ञान को भी आत्मा नहीं कह सकते।

(६) सुषुप्तावपि विषयावभासप्रसङ्गाच्च। ज्ञानस्य सविषयत्वात्। (७) तदानीं निराकारा चित्सन्ततिरनुवर्तत इति चेन्न, तस्याः स्वप्रकाशत्वे प्रमाणुभावात्। (८) अन्यथा घटादीनामपि।

(६) आलयविज्ञानधारा सुषुप्तिसमय में भी रहती है और विज्ञान सविषयक ही होता इसलिये आपके मत से निद्राकाल में भी विषयों की प्रतीति होने लगेगी। (७) बौद्ध का प्रत्युत्तर—हमलोग सुषुप्तावस्था में निर्विषयक ही चित्संतति (विज्ञानधारा) मानते हैं। (८) तार्किक का उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अगर आप आलयविज्ञान की सुषुप्तावस्था में निर्विषयक मानें तो आलयविज्ञान की ज्ञानरूपता में आप कोई प्रमाण नहीं दे सकते। (८) अगर प्रमाण के बिना भी सुषुप्तिकाल में आलयविज्ञानधारा को निर्विषयक मानेंगे तो घटपटादि को भी विज्ञान रुपयता वलात् मानना ही होगी। किन्तु यह असम्भव है इसलिये सुषुप्तिकाल में निर्विषयक आलयविज्ञान की सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती।

(९) न चेष्टापत्तिर्विज्ञानव्यतिरिक्तवस्तुनोभावादिति वाच्यं घटादेरनुभूयमानस्यापलपितुमशक्यत्वात्। (१०) आकारविशेष एवायं विज्ञानस्येति चेत्, किमयमाकारोऽतिरिच्यते विज्ञानात्तर्हि समायातं विज्ञानव्यतिरिक्तेन। (११) नातिरिच्यते चेत्तर्हिसमूहालम्बने नीलाकारोऽपि पीताकारः स्यात्। (१२) स्वरूपतो विज्ञानस्याविशेषात्।

(९) बौद्धका प्रत्युत्तर—ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं वे सब विज्ञानस्वरूप ही हैं। उससे अतिरिक्त एक भी नहीं है। इसलिये आपका उत्तर तो इष्ट

---

१. (टि०) एकत्रपक्षपातिनी युक्तिर्विनिगमना तस्या विरहः विनिगमनाविरहः।

ही है। नैयायिक का उत्तर–यह आप नहीं कह सकते क्योंकि घटादि का अनुभव बाह्येन्द्रिय से सबको होता है ज्ञान का नहीं होता, इसलिये घटादि को ज्ञानस्वरूप कहकर सर्वजनीन। अनुभव का आलाय करना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। (१०) बौद्धकाप्रत्युत्तर–हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि घटपटादि विज्ञान का ही एक आकार विशेष है इसलिये उसका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। नैयायिक का कथन–यह विज्ञान का आकार विशेष विज्ञान से भिन्न है या विज्ञान ही है? यदि भिन्न है तो घटपटादि पदार्थ को विज्ञान से भिन्न सिद्ध होने के कारण आपके पक्ष का ही व्याघात हो जायगा (११,+१२) [१]यदि विज्ञानरूप ही मानते हैं तब "नीलपीते" इत्याकारक समूहालम्बन ज्ञान को एक होने के कारण नीलपीतादिरूप विषयों में भी ऐक्य हो जायगा। तदभिन्नाभिन्न को तदभिन्नत्व विषय है। नील और पीत एतदुभय को करनेवाला "नीलपीते" यह विज्ञानस्वरूप एक है।

(१३) अपोहरूपो नीलत्वादिर्विज्ञानधर्म इति चेन्न, नीलत्वादीनां विरुद्धानामेकस्मिन्नसमावेशात्। (१४) इतरथा विरोधावधारणस्यैव दुरुपपादत्वात्। (१५) न च वासनासंक्रमः संभवति, मातृपुत्रयोरपिंवासनासंक्रमप्रसङ्गात्। (१६) न चोपादानोपादयभावो नियामक इति वाच्यं, वासनायाः संक्रमासंभवात्। (१७) उत्तरस्मिन्नुत्पत्तिरेव संक्रम इति चेन्न, तदुत्पादकाभावात्।

(१३) [२]बौद्ध–नील और पीत में ऐक्य है किन्तु (नीलपीत में भेदव्यवहार के लिये कल्पित) नीलत्व और पीतत्व धर्म वास्तविक विज्ञानसे भिन्न है और अपोहरूप है। उसी के भेद से नील पीत में भेदव्यवहार होता है। (१४) नैयायिक–ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि नीलत्व और पीतत्व ये दो विरुद्ध धर्म हैं इसलिये दोनों एकधर्मी में नहीं

---

१. (टि०) अविशेषात्=भेदाभावात्।

२. (टि०) अपोह-अतद्व्यावृत्त (तद्भिन्नावृत्ति) जैसे–नीलत्व नील भिन्नावृत्ति है। इसलिये नीलत्व अपोहरूप हैं।

रह सकते (इतरथा) अगर रहें तो दोनों में जो विरोध प्रतीत होता है उसकी उपपत्ति नहीं होगी। (१५) [1]जैसाकि आपने पहले कहा है कि वासनासंक्रमण होता है वह भी नहीं हो सकता क्योंकि कारण में रहनेवाली वासना का अगर कार्य में संक्रम हो तो मातृगत वासना का भी पुत्र में संक्रम हो जायगा। तब माता से देखे हुए पदार्थ का स्मरण उसके बालक को भी होने लगेगा। (१६) [2]बौद्ध–हम यह नहीं कहते हैं कि कारणगतवासना का संक्रम कार्य में होता है, किन्तु उपादानगतवासना का उपादय में संक्रम नहीं हो सकता। नैयायिक–उपादानगत वासना का उपादय में संक्रम मानने पर भी संस्कार का संक्रम नहीं हो सकता क्योंकि संक्रम क्रियारूप है। क्रिया द्रव्य ही में होती है। संस्कार तो गुण है। (१७) बौद्ध–पूर्व विज्ञानगतवासना की जो उत्तरविज्ञान में उत्पत्ति, वही संक्रम (संचार) रूप है। नैयायिक–उत्तरउत्तरविज्ञान में वासनाका कोई उत्पादक नहीं है।

(१८) चितामेवोत्पादकत्वे तदानन्त्यप्रसङ्गः।

(१८) बौद्ध–उत्तरोत्तरविज्ञान में वासना का उत्पादक पूर्व २ विज्ञान ही को मानते हैं। नैयायिक–यह भी युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अनन्त वासना माननी होगी।

(१९) क्षणिक विज्ञानेऽतिशयविशेषः कल्प्यत इति चेन्न, मानाभावात् कल्पनागौरवाच्च।

(१९) [3]बौद्ध–पूर्व २ विज्ञान से उत्तरोत्तरविज्ञान में वासना की उत्पत्ति माननेपर अनन्त वासना मानने में गौरव दोष है। इसलिये अनुभवोत्तर प्रत्येक विज्ञान में वासना न मान कर केवल जिस विज्ञान में

---

१. (टि०) स्मरणजनक वासना भावनाख्य संस्कार।

२. (टि०) सहकारिनिरपेक्ष जो कारण वही उपादान कारण है। यथा–उत्तर विज्ञानोत्पत्ति में पूर्व विज्ञान किसी दूसरे को सहकारी नहीं बनाता है। अतएव पूर्व विज्ञान उत्तर विज्ञान का उपादान कारणहै।

३. (टि०) अतिशय विशेष=कार्यानुकूलशक्तिविशेष।

स्मरण होता है उस विज्ञान से अव्यवहितपूर्वविज्ञान में वासना और उससे अव्यहितपूर्व विज्ञान में वासना को उत्पत्ति के अनुकूल शक्ति मानते हैं। इस प्रकार वासना का आनन्त्य नहीं होगा। नैयायिक–कार्यानुकूलशक्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है। (कार्य्यानुकूलशक्ति मानने से अनन्तवासना की अकल्पना प्रयुक्त लाघव ही कार्य्यानुकूलशक्ति में प्रमाण है)। यह भी नहीं हो सकता क्योंकि आपके मत से सब पदार्थ क्षणिक हैं। कोई भी विज्ञान चिरस्थायी नहीं हो सकता तब तो जिस जिस विज्ञान में जिस २ पदार्थ का स्मरण होगा सर्वत्र पूर्वोक्त क्रम से उस २ विज्ञान के अव्यवहित पूर्वविज्ञान में उन पदार्थों का संस्कार और उसके अव्यवहित पूर्वविज्ञान में उन संस्कारों की उत्पत्ति के अनुकूलशक्ति की कल्पना करनी होगी। तब बौद्ध मत के अनुसार उस शक्ति को भी क्षणिक और अनन्त मानने के कारण लाघव के बदले कल्पना में गौरव होगा।

(२०) एतेन क्षणिक शरीरेष्वेव चैतन्यमपिप्रत्युक्तं, गौरवादतिशये मानाभावाच्च। (२१) बीजादावपि सहकारि समवधानासमवधाना-भ्यामेवोपपत्तेः कुर्वद्रूपत्वाकल्पनाच्च।

(२०) कितने बौद्ध क्षणिकशरीर को ही चेतन (आत्मा) मानते हैं। किन्तु उक्त प्रकार से उनका भी मत मर्दित हो जाता है। जैसे कालान्तर में स्मरण निर्वाहार्थ क्षणिक शरीर के भेद से अनन्तसंस्कार की कल्पना होगी इसलिये गौरव होगा। प्रतिक्षणिक शरीर में वासना की कल्पना न करके स्मरणवाले क्षणिक शरीर से अव्यहितपूर्वशरीर में वासना और उसके पूर्वशरीर में वासनानुकूलशक्ति भी नहीं मान सकते क्योंकि उसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। अनन्तवासना की अकल्पनाकृतलाघव को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि क्षणिक अनन्तकार्यानुकूलशक्ति मानने से भी तो गौरव ही है। (२१) बौद्ध मत में सब पदार्थों को क्षणिक होने के कारण बीज को भी क्षणिक ही मानते हैं। अङ्कुर के प्रति बीज को यदि बीजत्वेन कारणता मानें तो कुशूलस्थबीज से भी अंकुरोत्पत्ति होने लगेगी। इसलिये बीज में बीजत्वेन कारणता न मानकर अंकुरोत्पादक क्षणिक बीज विशेषमें जाति विशेषरूप कुर्वद्रूपत्व की कल्पना करके कुवद्रूपत्वेन

कारणता बौद्ध मत में मानी जाती है। वह कुर्वद्पत्व केवल उसी क्षणिक बीज में माना जाता है जिससे अङ्कुरोत्पत्ति होती है। इसलिये कुशूलस्थबीज से अंकुरोत्पत्ति की आपत्ति नहीं हो सकती। इसप्रकार कुर्वद्रूपत्व की सिद्धि होने पर जिस क्षणिकशरीर में स्मरण होता है उससे अव्यवहितपूर्वशरीर में संस्कार मानते हैं। उस संस्कार के प्रति क्षणिकशरीर को शरीरत्वेन कारणता न मानकर तादृश संस्कारानुकूल कुर्वद्रूपत्वेन कारणता मानते हैं, तब अनन्त संस्कार की कल्पना प्रयुक्त गौरव नहीं होगा। नैयायिक—अङ्कुर के प्रति बीजत्व रूप से कारणता है न कि कुर्वद्रूपत्व रूप से। यह नियम है कि कारण समुदाय से कार्य होता है इसलिये कुशूलस्थबीज में आर्द्रभूमि संयोग तथा काल विशेषरूप सहकारी के अभाव रहने के हेतु अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती है। इस तरह उपपत्ति हो जाने पर कुर्वद्रूपत्व तथा उस रूप से कारणता की कल्पना व्यर्थ है।

(२२) अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञाने गौरवान्नित्यविज्ञानमेवात्मा "अविनाशी वाऽरेऽयमात्मासत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतेरिति चेन्न, तस्य सविषयता संभवस्य दर्शितत्वान्निर्विषयस्य ज्ञानत्वे मानाभावात्सविषयस्याप्यननुभवात्, अतोज्ञानादिभिन्नोनित्यआत्मेति-सिद्धम्।

(२२) वेदान्ती की शङ्का—यदि आत्मा को क्षणिक विज्ञानरूप मानने में गौरव होता है तो नित्यविज्ञान रूप ही मानें। ऐसा मानने से "अविनशची वा अरे, अयमात्मा सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इन श्रुतियों की भी संगति हो जाती है। नैयायिक—ऐसा कहना सम्यक् नहीं है। उस आत्मारूप नित्यविज्ञान में सविषयकत्व नहीं मान सकते। क्योंकि यदि उसमें सविषयकत्व मानें तो यावत् विषयकत्व मानते हैं या यत्किञ्चित् विषयकत्व मानते हैं? प्रथमकल्प में जीवात्मा को सर्वज्ञत्वापत्ति और द्वितीयकल्प में विनिगमनाविरह होगा जो कि पहले भी बतलाया जा चुका है। आत्मरूप नित्यविज्ञान को निर्विषयक भी नहीं मान सकते। क्योंकि विज्ञान को निर्विषयक होने में कोई प्रमाण नहीं है। उस नित्यविज्ञान में जगद्विषयकत्व नहीं मानते और यत्किचिंत् नियत विषयकत्व भी नहीं मानते हैं। किन्तु जिस जीव में

यद्विषयकत्व अनुभव सिद्ध है उसजीव में तद्विायकत्व ही मानते हैं। किन्तु जिस जीव में यद्विषयकत्व अनुभव सिद्ध है उस जीव में तद्विषयकत्व ही मानते तब तो विनिगमनाविरह नहीं होता। यह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा में सविषयकत्व का अनुभव नहीं होता इसलिये आत्मा विज्ञान से भिन्न नित्य स्वतन्त्र द्रव्यरूप सिद्ध होती है।

(२३) सत्यं ज्ञानमिति हि ब्रह्मपरं जीवेषु नोपयुज्यते। (२४) ज्ञानाज्ञानसुखित्वादिभिर्जीवानां भेदसिद्धौ सुतरामीश्वरभेदः, अन्यथा बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः।

(२३) उक्त श्रुति जो आत्मा को ज्ञान स्वरूप बतलाती है वह ब्रह्म शब्द के समानाधिकरण होने के कारण परमात्मपरक है न कि जीवात्मपरक। (२४) किसी जीवात्मा को ज्ञानी किसी को अज्ञानी, किसी को सुखी और किसी को दुःखी होने के कारण जब प्रत्येक जीवात्मा में पारस्परिक भेद सिद्ध है, तब जीवात्मा का परमात्मा से भेद अनायासही सिद्ध समझना चाहिये। यदि जीवात्मा और परमात्मा को एक मानें तो एक जीवात्मा का बन्ध और दूसरे का मोक्ष ऐसी बन्धमोक्ष की व्यवस्था नहीं होगी।

(२५) योऽपीश्वराभेदबोधकोवेदः सोऽपि तदभेदेनतदीयत्वं प्रतिपादपंस्तौति। (२६) अभेदभावनयैव च यतितव्यमिति वदति। (२७) अतएव "सर्वएवात्मनि समर्पिताः" इति श्रूयते।

(२५) "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" इत्यादि जितने ईश्वर और जीवात्मा में अभेद-बोधक वैदिकवाक्य हैं वे सब जीवात्मा को ईश्वर से अभिन्न बतलाते हुए जीवात्मा में परमात्मा का सम्बन्ध बतलाकर उसकी स्तुति करते हैं। (२६) जीव अभेद बुद्धि से ईश्वर की उपासना करें यही उन वैदिक वाक्यों का तात्पर्य है। (२७) इसीलिये (ईश्वर से जीवात्मा को भिन्न मानने के कारण ही) "सब जीवात्मा परमात्मा में सेवक के रूप से नियुक्त हैं" यह श्रुतिसंगत होती है।

(२८) मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायत इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगात्। (२९) भेदनाशेऽपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येव।

(३०) न च द्वित्वमपि नश्यतीति वाच्यं, तब निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यत्वाभावेऽपि सत्यस्वरूपं तदितिवद्द्वित्वाभावेऽपि व्यक्तिद्वयात्मकौ ताविति सुवचत्वात्।

(२८) मोक्ष होने पर जीवात्म का अज्ञाननिवृत्ति होने के कारण परमात्मा से ऐक्य हो जाता है। ऐसा भी कहना ठीक नहीं? क्योंकि भेद नित्य है उसका नाश नहीं हो सकता। (२९) यदि भेद का नाश भी मान लिया जाय तथापि दो व्यक्ति की सत्ता अवश्य रहेगी। (३०) यदि ऐसा कहें कि अज्ञान नष्ट हो जाने पर (जीवब्रह्मगत) द्वित्वका भी नाश होजाता है तब फिर दो व्यक्ति की सत्ता कैसे हो सकती है? नैयायिक–जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्मको निर्धर्मक मानते हैं इसलिये उनमें सत्यता धर्म न मानकर उनको सत्यस्वरूप कहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म जीवगत द्वित्व का नाश होने पर भी जीव, ब्रह्म ये व्यक्ति द्वयात्मक रहेंगे यह भलीभाँति कह सकते हैं।

(३१) मिथ्यात्वाभावोऽधिकरणात्मकस्तत्र सत्यत्वमिति चेदेकत्वाभावो व्यक्तिद्वयात्मको द्वित्वमित्यप्युच्यताम्।

(३१) वेदान्ती के मत का उपपादन करते हुए नैयायिक उत्तर करते हैं कि मिथ्यात्वाभाव ही ब्रह्म में सत्यत्व है और मिथ्यात्वाभाव अधिकरणात्मक है इसलिये ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म विना माने भी ब्रह्म सत्यस्वरूप कहा जा सकता है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि तब हम भी (नैयायिक) मोक्ष दशा में जीव और ब्रह्म में विद्यमान द्वित्व को नष्ट होने पर भी एकत्वाभाव ही को द्वित्वरूप कह सकते हैं।

(३२) प्रत्येकमेकत्वेऽपि पृथिवीजलयोर्नगन्ध इतिवदुभयं नैकमितयस्य सर्वजनसिद्धत्वात्। (३३) योऽपि तदानीमभेदप्रतिपादको वेदःसोऽपिनिर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति। (३४) संपदाधिक्ये पुरोहितोऽयं राजा संवृत्त इतिवत्, अतएव "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति श्रूयते।

(३२) [१]वेदान्ती–जीव और ब्रह्म इन दोनों में एकत्वाभाव कैसे रहेगा? नैयायिक–पृथ्वीमें गन्ध हरने पर भी जैसे पृथ्वी और जल इन दोनों में "पृथिवीजलयोर्नगन्धः" इस प्रकार गन्धाभाव की प्रतीति सबको होती है उसी प्रकार केवल जीव और केवल ब्रह्म में एकत्व रहने पर भी जीव और ब्रह्म इन दोनों में "जीवब्रह्मणोर्नैकत्वम्" इस तरह एकत्वाभाव की प्रतीति हो सकती है। (३३) मोक्ष दशा में जीवब्रह्म का अभेद प्रतिपादक ''ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'' इत्यादि श्रुति भी मोक्षदशा में निर्दुःखत्वरूप से जीव में ब्रह्म का सादृश्य बतलाती है। जैसे–पुरोहित को धनी होने पर उसके लिये लोग ऐसा प्रयोग करते हैं कि यह पुरोहित राजा हो गया। अतएव (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति इस श्रुति को मोक्ष दशा में जीव और ब्रह्म में सादृश्य का प्रतिपादक मानने ही से) "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इस श्रुति का भी समन्वय होता है।

(३५) ईश्वरो न ज्ञानसुखात्मा किन्तु ज्ञानाद्याश्रयः "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादौ विज्ञानपदेन ज्ञानाश्रय एवोक्तः "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यनुरोधात्। (३६) आनन्दमित्यास्याप्यानन्दवदित्यर्थः। (३७) अर्शआदित्वान्मत्वर्थी योऽच्प्रत्ययः अन्यथा पुँल्लिङ्गत्वापत्तिः। (३८) आनन्दोऽपि दुःखाभावे उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी संवृत्तोऽहतिवत्, दुःखाभावेन सुखित्वप्रत्ययात्।

(३५+३६) नैयायिक – ईश्वर भी ज्ञान या सुखस्वरूप नहीं हैं किन्तु ज्ञानादि गुणों का आश्रय हैं "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस श्रुति में विज्ञान पद का विज्ञान का आश्रय अर्थ है क्योंकि "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इस श्रुति से ईश्वर में सर्वविषयक ज्ञानाधिकरणत्व सिद्ध है। (३७) "अर्श आदिभ्योऽच्" इस पाणिनीय सूत्रसे आश्रय अर्थ में आनन्दशब्द से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर आनन्दपद का भी

---

१. (टि०) पृथ्वीत्वावच्छिन्ने गन्धसत्त्वेऽपि पृथ्वी जलोभयत्वावच्छेदेन गन्धस्याभावात् पृथ्वीजलयोर्न गन्ध इति प्रतीतिवत् तत्तद्व्यक्तित्वावच्छेदेन जीवेब्रह्मणि चैकत्वसत्वेऽपिजीवब्रह्मगतद्वित्वावच्छेदेन तयोरेकत्वाभावसम्भवात् जीव ब्रह्मणोनैकत्वमिति प्रतीतेरपि शक्यापदावत्वात्।

आनन्दाश्रय अर्थ है। यदि मत्वर्थीय अच् प्रत्यय न करें तो आनन्द शब्द को नित्य पुल्लिङ्ग होने के कारण "आनन्दम्" यह प्रयोग अशुद्ध हो जायगा। (३८) (आनन्द सुखरूप है इसलिये वह ईश्वर में नहीं रह सकता है और ऐसा होने पर "आनन्दम् ब्रह्म" यह श्रुति न्याय मत से किसी प्रकार सङ्गत नहीं की जा सकती। यह भी कहना उपयुक्त नहीं है) क्योंकि दुःखाभाव रहने पर भी सुख की प्रतीति होती है। जैसे भारवाहक को बोझा उतर जाने के बाद "मैं सुखी हो गया" ऐसी प्रतीति होती है।

(३९) अस्तु वा तस्मिन्नानन्दो नत्वसावानन्दः "असुखम्" इतिश्रुतेः। (४०) न विद्यते सुखं यस्येति कुतो नार्थ इति चेन्न, क्लिष्टकल्पनापत्तेः, प्रकरणविरोधादानन्दमित्यत्र मत्वर्थीयाच्प्रत्यय निरोधाच्चेति संक्षेपः।

(३९) ईश्वर में नित्य आनन्द मान भी लें। परन्तु वह आनन्दरूप तो नहीं हो सकते क्योंकि आनन्दरूप मानने से "असुखम् ब्रह्म" यह श्रुति विरुद्ध हो जायेगी। (४०) "असुखम्" पद का "न सुखं यस्य" इस व्युत्पत्ति से सुखानधिकरण अर्थ मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि बहुव्रीहि समास करने पर अन्यपदार्थ के लाभार्थ लक्षणा की कल्पना प्रयुक्तगौरव होगा। और जिस उपनिषद् के प्रकरण में "असुखं ब्रह्म" इत्यादि कहा गया है उस प्रकरण में ब्रह्मसुखरूप नहीं है यही उत्पन्न होता है। "असुखं" इसका सुखनधिकरण अर्थ करने पर प्रकरणविरोध होजायगा। यदि ब्रह्म को आनन्दरूप मानें तो "आनन्दंब्रह्म" यहाँ मत्वर्थीय अच् प्रत्यय नहीं होने के कारण "आनन्दं ब्रह्म" ऐसा प्रयोग नहीं होगा। इसलिये ब्रह्म को सुखस्वरूप नहीं मानकर सुखाधिकरण मानना उचित है।

(४१) एतेन प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किंतु चेतनः कार्यकारणयोरभेदात्। (४२) कार्यनाशे सति कार्यरूपतया तन्नाशो न स्यादित्यकारणत्वं तस्य।

(४१) [१]"एतेन" इस पद का सम्बन्धसांख्य मत के उपपादन के अन्त में लिखे हुए "मतमपास्तम्" इस शब्द से है। अभिप्राय यह है कि अभी तक आत्मा में ज्ञानवत्त्वसाधक जो युक्तियाँ दी गई हैं उनसे और सांख्यमत खण्डनार्थ जो दोष दिये जायेंगे उनसे सांख्यकामत भी खण्डित हुआ। सांख्यमत के अनुसार प्रकृति ही वस्तुमात्र का आद्यकर्त्री है। (कर्त्तृत्व यहाँ कर्त्तृभूतान्तःकरण प्रकृतित्व रूप है, न कि कृतिमत्त्वरूप है कारण यह है कि कृतिमत्त्वरूप कर्त्तृत्व सांख्यमत से अन्तःकरण का धर्म है) जिस प्रकार जलमें कमल के पत्ते जल में लिप्त नहीं होते हैं उसी प्रकार जीवात्मा (पुरुष) भी कर्त्तृत्वादि धर्मों से संवद्ध नहीं होते हैं किन्तु चेतन (चैतन्याश्रय) है। (४२) [२](पुरुष में कर्त्तृत्वाभाव का अनुमान इस प्रकार होता है। "पुरुषः कर्त्तृत्वाभाववान् कारणत्वाभावात्") यदि शङ्का करें कि पुरुष में कारणत्व क्यों नहीं माना जाता तो इसका हेतु यह है कि सांख्यमत से कार्य और कारण इन दोनों में अभेद है तब यदि पुरुष में कारणत्व माना जाये तो कार्य के नाश होने पर कार्यरूपतया कारणात्मक पुरुषका भी नाश मानना होगा जो इष्ट नहीं है इसलिये पुरुष में अकारणत्व सांख्यमत सिद्ध है।

(४३) बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनम्। (४४) बुद्धिश्च प्रकृतेः परिणामः। (४५) सैव महत्तत्त्वम्, अन्तःकरण-मित्युच्यते। (४६) तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्यसंसारापवर्गौ।

(४३) (यदि ऐसी शङ्का करें कि ऐसा पुरुष मानने में क्या प्रमाण है। समा०–बुद्धि में जो चैतन्य का आरोप होता है वह नहीं होगा। क्योंकि जो वस्तु नहीं है उसका आरोप (अभिमान मिथ्याज्ञान) होना असम्भव है

---

१. (टि०) अविद्या दो प्रकार की होती है। (१) मूलाविद्या (२) तूलाविद्या ब्रह्मविषयक अविद्या मूलाविद्या कही जाती है। और घटपटादिरूप प्रत्यक्ष विषयक अविद्या तूलाविद्या कही जाती है। सांख्यमतसे गुणत्रय की जो सामवस्था है वही मूल प्रकृति है उसी को वेदान्ती मूलाविद्या कहते हैं।

२. (टि०) यथा कुण्डल के नाश होने पर कुण्डलरूपतया स्वर्ण का भी नाश सांख्यमत सिद्ध है। तब केवल स्वर्णत्त्वेन स्वर्ण रह जाता है।

इसलिये बुद्धिगत आरोप्यमाण चैतन्याश्रयत्वेन पुरुष की सिद्धि होती है। (४४+४५) [१]बुद्धितत्त्व प्रकृति का परिणाम है। जो महत्तत्त्व और अन्तःकरण इन दोनों शब्दों से व्यवहृत हैं। (४६) (ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, धर्म, अधर्म, भावनाख्यसंस्कार, ये सब सांख्यमत से अन्तःकरण के धर्म हैं) उक्त अन्तःकरण जब रहता है तब तद्गत सुखदुःखादि का पुरुष में आरोप होने के कारण पुरुष की संसारावस्था होती है और उक्त अन्तःकरण जब नहीं रहता है तब तद्गत सुखदुःखादि का आरोप होने के कारण पुरुष की संसारावस्था होती है और उक्त अन्तःकरण जब नहीं रहता है तद्गत सुखदुःखादि का आरोपपुरुष में नहीं होने के कारण उक्त पुरुष की मोक्षावस्था होती है।

(४७) तस्या एवेन्द्रियप्रणालिकया परिणतिर्ज्ञानरूपा घटादिना संयन्धः। (४८) पुरुषे कर्त्तृत्वाभिमानो बुद्धौचैतन्याभिमानश्च भेदाग्रहात्।

(४७) इन्द्रियरूप नलीद्वारा हुए अन्तःकरण का घटादिविषयात्मक जो परिणाम वही ज्ञान है (४८) "मैं करता हूं" इस तरह का जा पुरुष में कर्त्तृत्वाभिमान अर्थात् मिथ्या ज्ञान है एवं "मैं चेतन हूँ" इत्याकार जो

---

१. सांख्यमत में २५ तत्त्व (पदार्थ) माने जाते हैं, "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तषोढ़शकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" मूलप्रकृतिका परिणाम महत्तत्त्व जोकि बुद्धितत्त्व और अन्तःकरण इन दोनों शब्दों से भी प्रसिद्ध हैं। उस महत्तत्त्व का परिणाम अहंकार है। अहंकार का परिणाम पञ्चतन्मात्रा और एकादश इन्द्रिय है। (१) पञ्चतन्मात्रा=तेज की सूक्ष्मावस्था रूपतन्मात्रा है। जल की सूक्ष्मावस्था रसतन्मात्रा है। पृथ्वी की सूक्ष्मावस्था गन्धतन्मात्रा है। वायु की सूक्ष्मावस्था स्पर्शतन्मात्रा है। आकाश की सूक्ष्मावस्था शब्दतन्मात्रा है जिनके स्थान में नैयायिक परमाणु मानते हैं। (२) ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय ५ अन्तरेन्द्रिय १ उक्त पञ्चतन्मात्राओं का परिणाम पञ्चमहाभूत है, जोकि स्थूल पृथिव्यादि ५ में हैं। और पुरुष सब मिलाकर २५ हैं (क) इन २५ पदार्थों में मूलप्रकृति केवलप्रकृति है। (ख) एकादश इन्द्रिय और पञ्चमहाभूत ये १६ विकृति है। (ग) महत्तत्त्व, अहंकार पञ्चतन्मात्रा ये ७ प्रकृति, विकृति उभयारूपक है। (घ) पुरुष न प्रकृति न विकृतिरूप है अर्थात् अनुभयात्मक है।

अन्तःकरण में चैतन्याभिमान है वह पुरुष और अन्तःकरण इन दोनों में परस्परभेदज्ञान नहीं रहने कारण होता है।

(४९) ममेदं कर्त्तव्यमिति मदंशः पुरुषोपरागो बुद्धेः स्वच्छतया तत्प्रतिबिम्बादतात्त्विको दर्पणस्येव मुखोपरागः। (५०) इदमिति विषयोपरागः इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदस्तात्त्विको निःश्वासाभिहतदर्पणस्येव मलिनिमा। (५१) कर्त्तव्यमिति व्यापारांशः। (५२) तेनांशत्रयवती बुद्धिस्तस्परिणामेन ज्ञानेन पुरुषस्यातात्त्विकः संबन्धो दर्पणमलिनिम्नेव मुखस्योपलब्धिरुच्यते। (५३) ज्ञानादिवत्सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धरेव कृतिसामानाधिकरण्येन प्रतीतेः।

(४९) "ममेदंकर्तव्यम्" इसमें तीन अंश हैं। पहला अस्मच्छब्दार्थ जो पुरुष तत्सम्बन्ध, बुद्धितत्त्व में अतात्त्विकहै, स्वच्छ होने के कारण जैसे दर्पण में वास्तविक मुख सम्बन्ध नहीं रहने पर भी मुखप्रतिबिम्बमात्र हेतुक दर्पण में मुखसम्बन्धाभिमान होता है उसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण में वास्तविक पुरुष सम्बन्ध नहीं रहने पर भी पुरुष प्रतिबिम्बमात्र हेतुक अन्तःकरण में पुरुष सम्बन्धाभिमान होता है। (५०) (दूसरा) इन्द्रियरूपनली द्वारा निकलेहुए अन्तःकरणका परिणामात्मक "इदम्" पदप्रतिपाद्य जो घटादिविषयों का सम्बन्ध है वह निःश्वाससे अभिहतदर्पण में धुंधलापन के तात्त्विक सम्बन्ध के समान अन्तःकरण में तात्त्विक है। (५१+५२) क्रियात्मक व्यापार सम्बन्ध भी अन्तःकरण में तात्त्विक है। इस प्रकार अन्तःकरण में उक्त तीन अंश माने जाते हैं। अन्तःकरण का परिणामात्मक जो ज्ञान उसको अन्तःकरण का धर्म होने के कारण उसके साथ जो पुरुष का अतात्त्विक सम्बन्ध अर्थात् उस ज्ञान का जो पुरुष में स्वगतत्वेन "चेतनोऽहम् जानामि" इत्याकारक अभिमान है। वह सांख्यमत से उपलब्धि कहा जाता है। जैसे निःश्वासाभिहत दर्पण में मुख देखने से दर्पणगत धुंधलापन मुखगतत्वेन मालूम पड़ता है। (५३) अन्तःकरण कर्त्ता है इसलिये सांख्यमत से कृति अन्तःकरण का धर्म है। तब जिस प्रकार "जानन् अहम् करोमि" इत्याकारक प्रतीति होने के कारण कृति

समानाधिकरण अन्तःकरण के परिमाणरूप ज्ञान को आप अन्तःकरण का धर्म मानते हैं उसी प्रकार "सुखी अहंकरोमि" और "दुःखी अहंकरोमि" "इच्छन् अहंकरोमि" "द्विषन् अहंकरोमि" "धार्मिकाऽहंकरोमि" "पापी अहंकरोमि" इत्यादि प्रतीतियों से उक्त सुखादिधर्म भी अन्तःकरण के धर्म माने जाते हैं। यह सांख्यमत सिद्ध है।

(५४) न च बुद्धिश्चेतना परिणामित्वादिति मतमपास्तम्, कृत्यदृष्टभोगानामिव चैतन्यस्यापि सामानाधिकरण्य प्रतीतेस्तद्भिन्ने मानाभावाच्च।

(५४) शङ्का–तब चैतन्य को भी अन्तःकरण ही का धर्म क्यों नहीं मानते "यदि कहें कि अन्तःकरण परिणामी (जन्यघमश्रिय) होने के कारण उसमें घटादि के समान चैतन्य नहीं माना जासकता इसलिए जन्यधर्मानाश्रय जो पुरुष उसी में चैतन्य मानना उचित है" यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार ज्ञानादियों में कृतिसामानाधिकरण्य की प्रतीति होने के कारण आप ज्ञानादि को अन्तःकरण का धर्म मानते हैं उसी प्रकार "चेतनोऽहंकरोमि" इत्याकारक कृतिसामानाधिकरण्य की प्रतीति चैतन्य में भी होने के कारण चैतन्य को भी अन्तःकरण ही का धर्म मानना युक्त होगा और इसमें एक यह भी कारण है कि कर्त्तृभिन्नगत चैतन्य मानने में कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है।

(५५) चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतिश्चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्कृत्यंशे किं नेष्यते। (५६) अन्यथा बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वमसंसारापत्तिः।

(५५) शङ्का–"कर्त्तत्वाश्रयो न चेतनः जन्यधर्माश्रयत्वात् घटवत्" अनुमान से अन्तःकरण में चैतन्याभाव की सिद्धि होती है। इसलिये "चेतनोऽहं करोमि" इस प्रतीति को चैतन्यांश में भ्रम मानना होगा अर्थात् चैतन्य अन्तःकरण का धर्म नहीं है किन्तु आत्मा का धर्म है यह क्यों नहीं स्वीकार करते? समा०–"बुद्धिः कर्त्तृत्वाभववती जन्यधर्माश्रयत्वात्" इस अनुमान से जब अन्तःकरण में कर्त्तृत्वाभाव की सिद्धि होती है तब "चेतनोऽहं करोमि" इस प्रतीति को कृत्यंश ही में भ्रम क्यों नहीं मानते

(अर्थात् कृति को अन्तःकरण का धर्म न मानकर पुरुष का ही धर्म क्यों नहीं मानते)? (५६) यदि कर्त्ता और पुरुष में भेद मानते हैं तो कहिये कि बुद्धितत्व (अर्थात् अन्तःकरण) नित्य है वा अनित्य? यदि बुद्धि को आप नित्य मानें तो अन्तःकरणगतसुखदुःखादिका प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता ही रहेगा तब पुरुष को मोक्षावस्था कभी नहीं हो सकती। यदि उक्त अन्तःकरण को आप अनित्य मानें तो अनित्यभाव अनादि नहीं हो सकता। इसके अनुरोध से अन्तःकरण को सादि मानना होगा। तब अन्तःकरण की उत्पत्ति से पहले अन्तःकरण को नहीं रहने के कारण तद्गत सुख दुःखादि का प्रतिबिम्ब पुरुष में नहीं पड़ेगा। तब पुरुष को संसारावस्था नहीं होगी। (संसार कदापि नहीं होगा)।

(५७) नन्वचेतनायाः प्रकृतेः कार्यत्वाद्बुद्धेरचैतन्यं कार्यकारणयोस्ता दात्म्यादिति चेन्न, असिद्धेः। (५८) कर्तुर्जन्यत्वे मानाभावात्। (५९) वीतरागजन्मादर्शनादनादित्वम्। (६०) अनादेर्नाशासंभवान्नित्यत्वम्।

(५७) (सांख्य) शङ्का—हमारे मत से तो कार्यकारण में परस्पर भेद नहीं है तब अन्तःकरण को अचेतनात्मक प्रकृति के कार्य होने को कारण उक्त अन्तःकरण को भी अचेतन मानना होगा, (नैयायिक) समा०—ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि बुद्धि प्रकृति का कार्य नहीं है। (५८) ("बुद्धिर्जन्या कर्तृत्वात्" इस अनुमान से बुद्धि में जन्यत्व की सिद्धि होती है और किसी दूसरे का जन्य होने की सम्भावना नहीं है। तब परिशेषात् बुद्धि को प्रकृति से ही जन्य मानना होगा) ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कर्तृत्व जन्यत्व का व्याप्य है; इसमें कोई अनुकूलतर्क नहीं है। प्रत्युत उक्त जन्यत्व के विपरीत अनादित्वग्राहकतर्क है। यथा ("वीतरागजन्मादर्शनात्")। (५९+६०) "वीतरागजन्मादर्शनात्" इस न्यायसूत्र का अभिप्राय यह है कि रागादिसहित ही पुरुष का जन्म होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उत्तरोत्तरजन्म में पूर्वपूर्वजन्म के रागादि हेतु हैं। इससे कर्त्ता में अनादित्व सिद्ध होता है और अनादिभाव का नाश नहीं होता। इसलिये अन्तःकरणरूप कर्त्ता में नित्वत्व मानना होगा।

(६१) तत्किं प्रकृत्यादिकल्पनेन।

(६१) तब इसप्रकार अन्तःकरण को नित्यसिद्ध होने पर तदुत्पत्त्यर्थ प्रकृत्यादि की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

(६२) न च "प्रकृत्तेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार-विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते"। इत्यनेन विरोध इति वाच्यम्, प्रकृतेरदृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्यैरिच्छादिभिः कर्ताहमेवेत्यस्य तदर्थत्वात्। (६३) "तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः" इत्यादि वदता भगवता प्रकटीकृतोऽयमुपरिष्टादाशय इति संक्षेपः।

(६२) सांख्य—यदि पुरुष ही को कर्त्ता माने तो "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते" गीता अ० ३ श्लो० २७ (अर्थात् प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों से सभी कार्य उत्पन्न होते हैं। किन्तु अहङ्कार से विमूढ़ अर्थात् "अहम्" इत्याकारक प्रतीति का विषय है आत्मा (अन्तःकरण) जिसका ऐसा जो पुरुष वह "मैं करता हूँ" ऐसा मानते हैं अर्थात् पुरुष को अन्तःकरण के साथ भेदाग्रह रहने के कारण अन्तःकरणनिष्ठकर्तृत्वका भान अपने में होता है। परन्तु वास्तविक में ऐसा नहीं है यही उक्त श्लोक का अभिप्राय है। यह गीता श्लोक न्यायमत विरुद्ध होगा। कारण यह है कि न्यायमत में कर्तृत्व पुरुष ही में माना जाता है। (नैयायिक) समा०—यहाँ प्रकृति शब्द से अदृष्ट लिया जाता है। तब अदृष्टजन्य जो ज्ञानेच्छादिगुण उनसे सम्पादित सब कार्य होते हैं। किन्तु अहङ्कार से विमूढ अर्थात् "अहम्" इत्याकारक प्रतीतिविषय जो आत्मा है वह "मैं ही करता हूँ" ऐसा मानते हैं। परन्तु वास्तविक में पुरुषमात्र में कर्तृत्व नहीं है। यही हमारे मत से गीता का अभिप्राय है। (६३) जोकि गीता के वचनान्तर से स्पष्ट होता है जैसे गीता के अध्याय १८, श्लोक १४ "अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्, विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्" इससे अधिष्ठानादि पाँचों को कर्त्तृत्व का प्रतिपादन करते हुए चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्" इससे अधिष्ठानादि पाँचों को कर्त्तृत्व का प्रतिपादन करते हुए

चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्" इससे अधिष्ठानादि पाँचों को कर्तृत्व का प्रतिपादन करते हुए "तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः" इत्यादि श्लोक से स्वतन्त्रकर्त्तत्व का आत्मा में निषेध गीतोपदेष्टा भगवान ही ने किया है। यही संक्षेप में सांख्य मत खण्डन प्रदर्शन है।

(६४) धर्माधर्माश्रय इति। (६५) आत्मेयनुषज्यते। (६६) शरीरस्य तदाश्रयत्वे देहान्तरकृतकर्मणां देहान्तरेण भोगानुपपत्तेः।

(३१) (६४+६५+६६) आत्मा धर्म अधर्म का आश्रय है। यदि शरीर को धर्माधर्म का आश्रय माने तो पूर्वदेवकृतकर्म का भोग पर देह में नहीं होगा। "क्योंकि कर्त्ता और भोक्ता एक ही होता है।"

(६७) विशेषगुणयोगत इति। (६८) योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेःसंबन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं संभवति, न त्वन्यथा, अहं जाने अहं करोमीत्यादिप्रतीतेः।।

(६७+६८) योग्यविशेषगुणात्मक ज्ञान सुखादि के सम्बन्ध से ही आत्मा प्रत्यक्ष का विषय है अन्यथा नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानों में "मैं जानता हूँ" "मैं करता हूँ" इत्यादि प्रत्यक्ष ही का विषय आत्मा है।

का० नं० ५०।

प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः।
अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः।।

का० अर्थ।

जैसे चलते हुए रथ में कोचवान को नहीं देखे जाने पर भी उसका अनुमान किया जाता है कि इस रथ में कोचवान् अवश्य है। उसी प्रकार दूसरे जीवात्मा का (प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी उस व्यक्ति की) प्रवृत्ति से उस जीवात्मा का अनुमान होता है। आत्मा 'अहंकार' का आश्रय है ("अहम्" इत्याकारकप्रत्यक्ष का विषय है) और मन ही से वह ग्रहण किया जाता है (मनोमात्रजन्य प्रत्यक्ष का विषय है)।

मुक्तावली।

(१) अयमात्मा परदेहादौ प्रवृत्त्यादिनाऽनुमीयते। (२) प्रवृत्तिरत्र चेष्टा। (३) ज्ञानेच्छायत्नादीनां देहेऽभावस्योक्तप्रायत्वाच्चेष्टायाश्च प्रयत्नसाध्यात्वाच्चेष्टया प्रयत्नवानात्माप्यनुमीयत इति भावः। (४) अत्र दृष्टान्तमाह रथेति। (५) यद्यपि रथकर्म चेष्टा न भवति, तथापि तेन कर्मणा सारथिर्यथाऽनुमीयते तथा चेष्टात्मकेन कर्मणा परात्मपीति भावः।

मु॰ अर्थ।

यह आतम दूसरे शरीर में उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति से अनुमान करने के योग्य है। (२) "प्रवृत्ति" शब्द से यहाँ चेष्टा का ग्रहण है। (३) ("शरीरस्य न चैतन्यम्" इत्यादि ग्रन्थ से पहले ही कह चुके हैं कि) शरीर में ज्ञान, ईच्छा, यत्न इत्यादि गुण नहीं रहते ओर चेष्टा प्रयत्नसाध्य होने के कारण चेष्टावत्त्व को हेतु बनाकर प्रयत्नवाले आत्मा का अनुमान हो सकता है यही अभिप्राय है। (४) इस स्थल में रथ और सारथी का दृष्टान्त देते हैं। (५) यद्यपि दृष्टान्त, रथ में जो गमन क्रिया है वह चेष्टा नहीं है (इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूल व्यापारही चेष्टा है, जो रथ में नहीं हो सकता) क्योंकि वह जड़ पदार्थ है वैसा व्यापार तो देह या देहावयव में ही हो सकता है। तथापि अभिप्राय यह है कि जैसे रथ की क्रिया से सारथी का अनुमान होता है उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के शरीरादि की चेष्टा से जीवात्मा का अनुमान होता है।

(६) अहंकारस्येति। (७) अहंकारोऽहमिति प्रत्ययस्तस्याश्रयो विषयः आत्मा न शरीरादिरिति। (८) मन इति। (९) मनोभिन्नेन्द्रिय-जन्यप्रत्यक्षाविषयो मानसप्रत्यक्षविषयश्चेत्यर्थः। (१०) रूपाद्य-भावेनेन्द्रियान्तरायोग्यत्वात्।

(६) "अहंकारस्य" इत्यादि ग्रन्थ पर विचार। (७) अहंकार ("अहं" इत्याकारक ज्ञान) का आश्रय (विषय) जीवात्मा ही है शरीरादि नहीं है। (८) "मन" इत्यादि ग्रन्थ पर विचार। (९) मन से भिन्न

जितनी इन्द्रियाँ हैं (बाह्येन्द्रियमात्र) उनसे ग्राह्य आत्मा नहीं है। मानसप्रत्यक्षमात्र का विषय आत्मा है यही अभिप्राय है। (१०) मनसे भिन्न जितनी इन्द्रियाँ हैं उनमें कोई रूपस्पर्शवान् द्रव्य और कोई गन्धादिगुण को ग्रहण करती हैं। और आत्मा में रूपादिगुण या गन्धाद्यात्मकता नहीं है। इसलिये चक्षुरादिबाह्येन्द्रिय से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है।

का० नं० ५१।

विभुर्बुद्ध्यादिगुणवान्बुद्धिस्तु द्विविधा मता।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा।।

का० अर्थ।

आत्मा विभु (सर्वमूर्तसंयोगी) है। और बुद्ध्यादि १४ गुणवाला है। बुद्धि और अनुभव स्मरण के भेद से दो प्रकार के हैं जिनमें अनुभव के प्रभेद ४ हैं।

मुक्तावली।

(१) विभुत्वं परममहत्त्वम्। (२) तच्च पूर्वोक्तमपि स्पष्टार्थमुक्तम्। (३) बुद्ध्यादीति। (४) बुद्धिसुखदुःखेच्छादिचतुर्दश गुणाः पूर्वोक्ता वेदितव्याः।

मु० अर्थ।

(१) परममहत्परिमाण जिसमें रहे वह विभु कहलाता है। (२) यह यद्यपि "कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्" इस ग्रन्थ से पहले ही कहा जा चुका है। तथापि स्पष्ट करने के लिये यहाँ पुनः कहा गया है (२+४) "बुद्ध्यादि" ग्रन्थ से ३२वीं कारिका में कहे हुए बुद्ध्यादि आत्मा में १४ गुण हैं ऐसा समझना चाहिये।

(५) अत्रैव प्रसङ्गादबुद्धेः कतिपयं प्रपञ्चं दर्शयति।

(५) प्रसङ्गवश ग्रन्थकार यहीं बुद्धि का कितने प्रभेद दिखलाते हैं।

(६) बुद्धिस्त्विति। (७) द्वैविध्यं व्युत्पादयति।

(६+७) "बुद्धिस्तु" इस ग्रन्थ से बुद्धि का दो प्रभेद दिखलाते हैं।

(८) अनुभूतिरिति। (९) अनुभूतिश्चतुर्विधेति। (१०) एतासां चतसृणां करणानि चत्वारि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति सूत्रोक्तानि वेदितव्यानि।

(८+९) "अनुभूति" इत्यादि ग्रन्थ से अनुभव ४ प्रकार के हैं ऐसा समझना चाहिये (१०) उक्त अनुभव के प्रभेद ४ हैं। इसमें गौतम "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" "यह सूत्र प्रमाण जानना चाहिये। (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ये गौतम सूत्रोक्त ४ प्रमाण हैं यह जानना चाहिये)।

का० नं० ५२।

प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपमितिशब्दजे ।
घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्ष षड्विधं मतम्।।

का० अर्थ।

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति (३) उपमिति, (४) शब्द, ये चार अनुभवरूप ज्ञान के प्रभेदहैं घ्राणज, चाक्षुष, त्वाच, श्रावण, रासन, मानस इनके प्रभेद से प्रत्यक्ष ६ प्रकार का माना जाता है।

मुक्तावली।

(१) इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। (२) यद्यपि मनोरूपेन्द्रिजन्यं सर्वमेव ज्ञानं, तथापीन्द्रियत्वेन रूपेणेन्द्रियाणां यत्र ज्ञाने करणत्वं तत्प्रत्यक्षमिति विवक्षितम्। (३) ईश्वरप्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्।

मु० अर्थ।

(१) [1]इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है। (२) [2]यद्यपि

---

१. प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति इन्द्रियत्वेन कारणत्वम्।

२. ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति मनस्त्वेन कारणत्वम्। तथा च इन्द्रियत्वावच्छिन्नकारणता-निरूपितकार्यतावज्ज्ञानं प्रत्यक्षम् इन्द्रियत्वञ्च शब्देतरोद्भूतविशेषगुणनाशयत्वे सति ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वम्।

ज्ञानमात्र मनोरूप इन्द्रियजन्य है, इसलिये उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति होती है, तथापि इन्द्रियत्वरूप से इन्द्रियों को जिन ज्ञानों के प्रति करणता है वे प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। यही कहने का अभिप्राय है। (व्यवहारावस्था में जीव को जो प्रत्यक्ष होता है उसी प्रत्यक्ष पर विचार है) (३) ईश्वर के प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं किया गया है (वह प्रत्यक्ष तो नित्य है)।

(४) इन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रे तथैवोक्तत्वात्।

(४) [1]चक्षुरादि इन्द्रिय और घटादिविषयों में जो प्रत्यक्षानुकूल सम्बन्ध है उससे उत्पन्न जो प्रमात्मकप्रत्यक्ष वह निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से दो प्रकार का होता है। एतदर्थक गौतमसूत्र के अनुसार उक्तजन्यप्रत्यक्ष का लक्षण है।

(५) अथवा ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। (६) (अनुमितौ व्याप्तिज्ञानस्योपमितौ सादृश्यज्ञानस्य शाब्दबोधे पदज्ञानस्य स्मृतावनु-भवस्य करणत्वात्तत्र तत्र नातिव्याप्तिः)। (७) इदं लक्षणमीश्वर-प्रत्यक्षसाधारणम्।

(५) जिस ज्ञान में कोई भी ज्ञान करण नहीं हो वही प्रत्यक्ष है। (६) (क) अनुमितिरूपज्ञान के प्रति व्याप्तिज्ञान करण है। (ख) उपमिति के प्रति सादृश्यज्ञान करण है। (ग) शाब्दबोध के प्रति पद ज्ञान करणहै। (घ) एवं स्मृतिरूपज्ञान के प्रति अनुभवरूपज्ञान करण है (इससे यह सिद्ध हुआ कि उक्त ज्ञानों के कारण ज्ञानान्तर ही है और प्रत्यक्षज्ञान का करण कोई ज्ञानान्तर नहीं है। इसलिये यही पर्यवसित हुआ कि उक्त लक्षण जन्यप्रत्यक्ष में समन्वित(७) "ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् प्रत्यक्षम्" यह प्रत्यक्षज्ञान का लक्षण ईश्वर के ज्ञान में भी घट सकता है।

(८) परामर्शजन्यंज्ञानमनुमितिः। (९) यद्यपि परामर्शप्रत्यक्षादिकं परामर्शजन्यं तथापि परामर्शजन्यं हेत्वविषयकं यज्ज्ञानं तदेवानुमितिः।

---

१. (टि०) अव्यभिचारि=प्रभात्मकम् अव्यपदेश्यम् निर्विकल्पकम् व्यवसायात्मकम् सविकल्पकम्।

(८) परामर्शनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावत् जो ज्ञान वह "अनुमिति" है। (व्याप्तिज्ञानरूप करण और परामर्श से "अनुमिति" रूप ज्ञान उत्पन्न होता है) (९) यद्यपि परामर्श का प्रत्यक्ष एवं परामर्श का ध्वंस परामर्शजन्य ही है (क्योंकि परामर्श विषयता-सम्बन्ध से स्वप्रत्यक्ष का तदात्म्यसम्बन्ध से कारण है तथा परामर्श प्रतियोगितासम्बन्ध से अपने ध्वंस का तदात्म्यसम्बन्ध से कारण है) तथापि हेतु को नहीं विषय करनेवाला जो परामर्श से उत्पन्न ज्ञान वही अनुमिति है। (हेतु का भान परामर्शात्मकज्ञान में होता है। इसलिये सुतरां परामर्शज्ञान को विषय करनेवाला जो ज्ञान उस ज्ञान में भी हेतु का भान होगा। इसलिये उस ज्ञान को अनुमिति कहना योग्य नहीं है)।

(१०) नचकादाचित्कहेतुविषयकानुमिताव्याप्तिरिति वाच्यम्, तादृशज्ञानवृत्त्यनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। (११) अथवा व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिः।

(१०) शङ्का—किसी २ स्थल में अनुमिति में पक्षतावच्छेदकरूप से हेतु का भी भान होता है। जैसे "धूमवान् पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति में पक्षतावच्छेदकरूप से धूमरूप हेतु का भी भान होता है। इसलिये यही पर्यवसित हुआ कि जिस अनुमिति में भी हेतु विषय है उस अनुमिति में पक्षतावच्छेदकरूप से धूमरूप हेतु का भी भान होता है। इसलिये यही पर्यवसित हुआ कि जिस अनुमिति में भी हेतु विषय है उस अनुमिति में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। समा०—हेत्वविषयक जो परामर्शोत्पन्नज्ञान उसमें रहनेवाली जो अनुभवत्वव्याप्यजाति उसके आश्रय को अनुमिति कहते हैं। इस प्रकार लक्षण करने से दोष नहीं होगा। (११) जिस ज्ञान का व्याप्तिज्ञान करण होता है वह ज्ञान अनुमिति है।

(१२) एवं सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमितिः।

(१२) इस प्रकार जिस ज्ञान का सादृश्यज्ञान करण होता है वह ज्ञान उपमिति रूप ज्ञान है।

(१३) पदंज्ञानकरणकं ज्ञानं शाब्दबोधः।

(१३) जिस ज्ञान का पदज्ञान करण होता है वह ज्ञान शाब्दज्ञान है।

(१४) वस्तुतो यां कांचिदनुमितिव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्ति-प्रत्यक्षावृत्तिजातिमत्त्वमनुमितित्वम्। (१५) एवं यत्किंचित्प्रत्यक्षादि-कमादाय तद्व्यक्तिवृत्त्यनुमित्यवृत्तिजातिमत्त्वम् प्रत्यक्षत्वादिकं वाच्यमिति।

(१४) वास्तविक में अनुमति का लक्षण ऐसा होना चाहिये जैसे किसी एक अनुमिति व्यक्ति में रहनेवाली तथा प्रत्यक्ष में न रहनेवाली जो जाति (अनुमितित्व) तादृशजातिमत्त्व। (१५) एवं किसी एक प्रत्यक्ष व्यक्ति में रहनेवाली तथा अनुमिति में न रहनेवाली जो जाति (प्रत्यक्षत्व) तादृश जातिमत्त्व ही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है (इसीप्रकार उपमितिज्ञान का और शब्दज्ञान का भी लक्षण करना उचित है)।

(१६) जन्यप्रत्यक्षं विभजते-घ्राणजादीति। (१७) घ्राणजं रासनं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्। (१८) न चेश्वर-प्रत्यक्षस्याविभजनान्न्यूनत्वम्, जन्यप्रत्यक्षस्यैव निरूपणीय-त्वादुक्तसूत्रानुसारात्।

(१६) "घ्राण" इत्यादि ग्रन्थ से जन्यप्रत्यक्ष का विभाग करते हैं। (१७) घ्राण द्वारा, जिह्वाद्वारा, नेत्रद्वारा, त्वचाद्वारा, कर्णद्वारा, मनोद्वारा, उत्पन्न ये ६ प्रकार के प्रत्यक्ष हैं। (१८) शङ्का–प्रत्यक्ष के लक्षण करने के बाद ईश्वर के प्रत्यक्ष का विभाग नहीं रहने के कारण लक्षणकर्त्ता में कुछ न्यूनता पायी जाती है। समा०–पूर्वोक्त गौतमसूत्र के अनुसार यहाँ केवल जन्यप्रत्यक्ष ही का निरूपण है।

का० नं० ५३।

घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः॥

का० अर्थ।

गन्ध गन्धत्वादि (आदि शब्द से गन्धाभाव और गन्धत्वाभाव)

घ्राणेन्द्रिय का गोचर हैं। घ्राणेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषय हैं। एवं रस रसत्वादि रसनेन्द्रिय ग्राह्य हैं और शब्दत्वादि कर्णेन्द्रिय के गोचर हैं।

मुक्तावली।

(१) गोचर इति ग्राह्य इत्यर्थः। (२) गन्धत्वादिरिति। आदिपदात् सुरभित्वादिपरिग्रहः। (३) गन्धस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्वृत्तिजातिरपि प्रत्यक्षा। (४) गन्धाश्रयग्रहणे तु घ्राणस्य न सामर्थ्यमिति बोध्यम्।

मु० अर्थ।

(१) गोचर शब्द से ग्राह्य समझना चाहिये यही अभिप्राय है। (२) गन्धत्वादि ग्रन्थ में आदि पद से "सुरभित्व" "असुरभित्व" धर्मों का ग्रहण करना चाहिये। (३) गन्ध के प्रत्यक्ष होनेके कारण गन्ध में रहनेवाली "गन्धत्व" जातिकाभी प्रत्यक्ष होता है। (४) गन्ध का आश्रय जो पृथ्वीरूप द्रव्य है उसको ग्रहण करने की सामर्थ्य घ्राणेन्द्रिय में नहीं है ऐसा समझना चाहिये।

(५) तथारस इति। रसत्वादिसहित इत्यर्थः।

(५) इसीप्रकार रसनेन्द्रिय केवल रसहीका ग्रहण नहीं करता है किन्तु रसत्वादि का भी ग्रहण करता है, यही अभिप्राय है।

(६) तथा शब्दोऽपि शब्दत्वादिसहितः।

(६) तथा श्रोत्रेन्द्रिय केवल शब्द ही का ग्रहण नहीं करता है किन्तु शब्दत्वादि का भी ग्रहण करता है।

(७) गन्धोरसश्च उद्भूतो बोध्यः

(७) इस प्रकरण में गन्ध और रस से उद्भूतगन्ध और उद्भूतरस समझना चाहिये।

का० नं० ५४।

उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो, द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्व संख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्व स्नेहद्रवत्व परिमाणयुक्तम्॥

का० अर्थ।

उद्भूतरूप का, तथा उद्भूतरूपवाले द्रव्य का, पृथक्त्व तथा संख्या का, विभाग तथा संयोग का, परत्व तथा अपरत्व का, स्नेह तथा द्रवत्व का और परिमाण का, चक्षु से ग्रहण होता है (उक्त पृथक्त्वादि को योग्यवृत्ति समझना चाहिये)।

(१) ग्रीष्मोष्मादावनुद्भूतरूपमिति न तत्प्रत्यक्षम्। (२) तद्वन्ति उद्भूत रूपवन्ति॥

(१) गर्मी महीनों के उष्मादि में रूप अनुद्भूत रहने के कारण वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है। (२) "तद्वन्ति" इस ग्रन्थ से उद्भूतरूपवाले यह अर्थ समझना चाहिये।

का० नं० ५५।

क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्च तादृशः।
गृह्णाति चक्षुः संयोगादालोकोद्भूतरूपयोः॥

का० अर्थ।

[१]योग्य वृत्ति क्रिया जाति समवाय का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय से होता है। आलोक (प्रकाश) तथा उद्भूतरूप के सम्बन्ध से चक्षु उक्त रूपादि विषयों को ग्रहण करता है।

(१) योग्येति। (२) पृथक्त्वादिकमपि योग्य वृत्तितया बोध्यम्। (३) तादृशः योग्यव्यक्तिवृत्तिरित्यर्थः। (४) चक्षुर्योग्यत्वमेव कथं तदाह। (५) गृह्णातीति। आलोकसंयोग उद्भूतरूपं च चाक्षुषप्रत्यक्षे कारणम्।

(१, २) पृथक्त्वादि गुणों का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष उसी द्रव्य में होता है जो योग्य रहता है अतः पृथक्त्वादि भी योग्य वृत्ति समझना चाहिये। (३) समवाय का भी प्रत्यक्ष देखने योग्य पदार्थ में ही होता है अतःसमवायी योग्यवृत्ति समझना चाहिये। (४) चक्षुरिन्द्रिय योग्यत्व का प्रकार कहते हैं।

---

१. योग्य वृत्ति का प्रत्येक में अन्वय समझना चाहिये।

(६) तत्र द्रव्याचक्षुषं प्रति तयोः समवायसंबन्धेन कारणत्वम्

(६) घटादि चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति प्रकाश का संयोग और उद्भूतरूप ये दोनों समवाय सम्बन्ध से कारण हैं।

(७) द्रव्वसमवेतरूपादिप्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवायसंबन्धेन। (८) द्रव्यसमवेतसमवेतस्यरूपत्वादेः प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसंबन्धेनेति।

(७) द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले पदार्थ के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय समवाय सम्बन्ध से प्रकाश का संयोग और उद्भूतरूप ये दोनों कारण हैं। (८) द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले जो रूपादि पदार्थ उनमें समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले जो रूपत्वादि उनके चाक्षुषप्रत्यक्ष में स्वाश्रय समवेतसमवायसम्बन्ध से प्रकाश का संयोग और उद्भूतरूप ये दोनों कारण हैं।

0 इति चक्षुर्ग्राह्य निरूपणम् 0

का० नं० ५६।

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम्॥

द्रव्याध्यक्षे–

का० अर्थ।

जिस द्रव्य का स्पर्श उद्भूत है वह द्रव्य तथा उद्भूत स्पर्श और रूप को छोड़कर जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं ये सब त्वगिन्द्रिय से भी ग्रहण किये जाते हैं। द्रव्य के त्वाच प्रत्यक्ष के प्रति रूप को भी कारणता है (इसलिये वायु का अनुमान ही होता है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं होता है)।

(१) उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं त्वचो गोचरः। (२) सोऽपि उद्भूतस्पर्शो-ऽपिस्पर्शत्वादि सहितः।

(१) उद्भूतस्पर्शवत् जो द्रव्य वह त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य है। (२) "सोऽपि" इस ग्रन्थ से स्पर्शत्वादि सहित उद्भूतस्पर्श का ग्रहण है।

(३) रूपान्यदिति। (४) रूपभिन्नं रूपत्वादिभिन्नं यच्चक्षुषो योग्यं तत्त्वगिन्द्रियस्यापि ग्राह्यम्। (५) तथाच पृथक्त्वसंख्यादयो ये चक्षुर्ग्राह्या गुणा उक्ता एवं क्रियाजातयो योग्यवृत्तयश्च ते त्वचो ग्राह्या इत्यर्थः।

(३, ४) रूप रूपत्वादि से भिन्न जो चक्षुर्योग्य पदार्थ वे त्वगिन्द्रिय से भी ग्राह्य हैं। (५) इससे यह सिद्ध हुआ कि योग्यवृत्ति जो चक्षुर्ग्राह्य पृथक्त्व संख्यादि उक्त गुण एवं क्रिया और जाति ये वगिन्द्रिय से भी ग्राह्य हैं।

(६) अत्रापि त्वगिन्द्रियजन्येऽपि रूपं द्रव्यप्रत्यक्षे कारणम्। (७) तथाच बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपं कारणम्। (८) नवीनास्तु बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे न रूपं कारणं प्रमाणाभावात्। (९) किंतु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपं स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमन्वयव्यतिरेकात्।

(६) अत्रापिशब्द का त्वगिन्द्रियजन्य अर्थ है तब मिलाकर त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्य प्रत्यक्ष में भी रूप कारण हैं यह अर्थ होता है तब वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष मात्र के प्रति (उद्‌भूत) रूप कारण है यह सिद्ध हुआ। (८) नवीन आचार्य्यों का मत है कि प्रमाण नहीं रहने के हेतु "वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति रूप कारण है" यह कथन ठीक नहीं है। (९) [1]किन्तु अन्वयव्यतिरेक द्वारा सिद्ध होता है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति उद्धूतरूप और त्वाच प्रत्यक्ष के प्रति उद्‌भूतस्पर्श यथाक्रम भिन्न भिन्न कारण है (इस कार्य्यकारण भाव का ग्रहण अन्वयव्यतिरेक द्वारा होता है) अर्थात् रूप रहने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। और रूप नहीं रहने से चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। एवं स्पर्श रहने से त्वाच प्रत्यक्ष होता है और स्पर्श नहीं रहने से त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होता है)।

(१०) वहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे किं कारणमिति चेन्न किंचित्। (११) आत्मावृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्त्वं वा प्रयोजकमस्तु। (१२) रूपस्य कारणत्वे लाघवमिति चेन्न, वायोस्त्वगिन्द्रियेणा-

१. तत्सत्वे तत्सत्त्व मन्वगः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः।

ग्रहणप्रसङ्गात् (१३) इष्टापत्तिरिति चेदुद्भूतस्पर्श एव लाघवात्कारणमस्तु।

(१०) प्राचीन की शङ्का—वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष मात्र के प्रति अनुगत रूप से क्या कारण है? नवीन का उत्तर—कुछ नहीं। (११) अथवा आत्मा में नहीं रहनेवाले एवं शब्द से भिन्न जो विशेष गुण (पृथिव्यादि ४ में रहनेवाले जो विशेषगुण) तादृशगुणवत्व ही वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष के प्रति कारण है। (१२) प्राचीन की शङ्का—यदि बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्षमात्र के प्रति रूप ही को कारण मानें तो लाघव है? नवीन का उत्तर—वायु का त्वगिन्द्रिय से साक्षात्कार होता है सो रूप न रहने के कारण नहीं होगा। (१३) प्राचीनकी शङ्का—आप जो कहा है कि "वायु का त्वगिन्द्रिय से साक्षात्कार नहीं होगा सो" हमारे लिये इष्ट ही है क्योंकि हमारे मत से स्पर्शादि से वायु का अनुमान ही होता है प्रत्यक्ष नहीं होता? नवीन—इस स्थिति में वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूत स्पर्श ही को लाघवात् कारण मानें तो। क्या हानि?

(१४) प्रभाया अप्रत्यक्षत्वे त्विष्टापत्तिरेव किं नेष्यते।

(१४) प्राचीन—तव प्रकाश का प्रत्यक्ष नहीं होगा क्योंकि उसमें उद्भूतस्पर्शरूप कारण नहीं है। नवीन—प्रभा का प्रत्यक्ष नहीं होने से आपको हानि ही क्या है? (जिस प्रकार आपने वायु के प्रत्यक्षाभाव में इष्टापत्ति मानी है वैसे ही प्रभा के प्रत्यक्षाभाव में भी इष्टापत्ति मान लें।

(१५) तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवत् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद्वायोरपि प्रत्यक्षं संभवत्येव। (१६) बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षमात्रे न रूपस्य न वा स्पर्शस्य हेतुत्वम्। (१७) वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एव, क्वचिद्द्वित्वादिकमपि, क्वचित्संख्यापरिमाणाद्यग्रहो दोषादित्याहुः।

(१५) इसलिये जिसप्रकार "मैं प्रकाश को देखता हूँ" यह बुद्धि होती है उसी प्रकार "मैं वायु का स्पर्श करता हूँ" यह बुद्धि भी होती है। इसलिये वायु का भी प्रत्यक्ष होता ही है ऐसा मानना होगा। (१६)

वहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्ष मात्र के प्रति रूप कारण नहीं है और न केवल स्पर्श ही कारण है। (१७) शङ्का–त्र्यणुक में जब महत्त्व और उद्भूत स्पर्शाद्यात्मक स्पार्शन प्रत्यक्ष का कारण कूट है तब त्र्यणुक का स्पार्शन प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है।

समाधान–द्रव्यनिष्ठ लौकिक विषयता सम्बन्ध से स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से त्र्यणुक में प्रतिबन्धकत्व मानते हैं, इसलिये त्र्यणुक का स्पार्शनप्रत्यक्ष नहीं होता है। एवं त्र्यणुकपरिमाण का स्पार्शनप्रत्यक्ष नहीं होता है और उसके स्पर्श का स्पार्शनप्रत्यक्ष होता है इसलिये "स्पर्शान्यद्रव्यसमवेतविषयक" स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति त्वक् संयुक्त स्पार्शनप्रत्यक्षविषय द्रव्यसमवाय कारण है। तब त्र्यणुक को स्पार्शन प्रत्यक्ष मानाजाय तो तद्गत संख्या, परिमाण का भी प्रत्यक्ष हो जायगा। इसी आशय से मुक्तावली में कहा है कि "वायुप्रभयोरेकत्वं गृह्यत एवं" अर्थात् जैसे प्रभागत एकत्व का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार वायुगत एकत्व का भी प्रत्यक्ष होता ही है। जिस जगह वायु का सजातीय सम्बलन नहीं है अर्थात् अनेक गतिवाला वायु यहाँ चलता है उस जगह वायुगत द्वित्वादि संख्या का भी प्रत्यक्ष होता है और जिस जगह केवल समान ही गतिवाला वायु चलता है उस जगह समानगतिरूपदोष से वायुगतसंख्यापरिमाण का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

इति बहिरिन्द्रियजन्य द्रव्यप्रत्यक्षकारणत्व निरूपणम्

का० नं० ५७।

त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्।

का० अर्थ।

मन के साथ त्वगिन्द्रिय का संयोग ज्ञान का कारण है।

(१) त्वङ्मन:संयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः। (२) किं तत्र प्रमाणं, सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्तमानेन मनसा ज्ञानजननमिति।

(१) अभिप्राय यही है कि जन्यज्ञान सामान्य के प्रति मन और त्वगिन्द्रिय का संयोग कारण है। शङ्का–इसमें क्या प्रमाण है? समाधान–गाढ़ निद्रास्थिति में मन त्वगिन्द्रिय को छोड़कर जब पुरीतत् नाम नाड़ी में प्रवेश करता है तब ज्ञान नहीं होता है यही प्रमाण है।

(३) ननु सुषुप्तिकाले किं ज्ञानं भविष्यति अनुभवरूपं स्मरणरूपं वा। (४) नाद्यः। अनुभवसामग्र्यभावात्। (५) तथाहि। प्रत्यक्षे चक्षुरादिना मनःसंयोगस्य हेतुत्वात्तदभावादेव न चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्। (६) ज्ञानादेरभावादेव न मानसं प्रत्यक्षम्। (७) ज्ञानाद्यभावे चात्मनोऽपि न प्रत्यक्षमिति। (८) एवं व्याप्तिज्ञानाभावादेव नानुमितिः। (९) सादृश्यज्ञानाभावान्नोपमितिः। (१०) पदज्ञानाभावान्न शाब्दबोधः। (११) इत्यनुभवसाग्र्यभावान्नानुभवः। (१२) उद्बोधकाभावाच्च न स्मरणम्। (१३) मैवम्। सुषुप्तिप्राक्कालोत्पन्नेच्छादिव्यक्ते-स्तत्संवन्धेनात्मनश्च प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्।

(३) शङ्का–अगर मानलें कि सुषुप्तिकाल में ज्ञान भी होता है तो अनुभवरूप और स्मरणरूप इन दोनों में किस प्रकार का ज्ञान हो सकता है? (४) अनुभव पैदा करने वाली सामग्री के नहीं रहने के कारण अनुभव नहीं हो सकता। (५) जैसे चाक्षुष, त्वाच, घ्राणज, रासन, श्रावण प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुर्मनःसंयोग, त्वङ्मनःसंयोग, घ्राणमनःसंयोग, रसनामनः संयोग, श्रोत्रमनःसंयोग, यथाक्रम कारण है। सुषुप्तिकाल में मन पुरीतत् नाड़ी में जा बैठता है इसलिये मन को उक्त पाँचों बाह्येन्द्रियों से संयोग नहीं होनेके कारण चाक्षुष, त्वाच, घ्राणज, रासन, और श्रावण, ये पाँच प्रत्यक्ष सुषुप्तिकाल में नहीं हो सकते। (६) सुषुप्तिकाल में जीवात्मा को ज्ञानादि गुणों के अभााव रहने के कारण उनका मानसप्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। (७) और पुनः सुषुप्तिकाल में ज्ञानादि के अभाव होने के कारण ही आत्मा का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि "ज्ञानवान् अहम्" इस प्रकार ज्ञानादि विषयक ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। (८) इसी प्रकार सुषुप्तिकाल में व्याप्तिज्ञान नहीं रहने के कारण अनुमिति रूपज्ञान भी नहीं हो सकता है। (९) एवं निद्रा काल में सादृश्यज्ञान के नहीं रहने के

कारण उपमितिरूपज्ञान नहीं हो सकता है। (१०) इसी प्रकार सुषुप्तिकाल में पदज्ञान नहीं रहने के कारण शाब्दबोध नहीं हो सकता है। (११) इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से अनुभवोत्पादक सामग्री नहीं रहने के कारण अनुभवरूप ज्ञान नहीं हो सकता है। (१२) एवं सुषुप्तिकाल में संस्कार का उद्बोधक कोई पदार्थ नहीं रहने के कारण स्मृतिरूपज्ञान भी नहीं हो सकता है। (१३) सामाधान--सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न जो इच्छा ज्ञानादि उनके, और उनके सम्बन्ध होने के कारण आत्मा का भी प्रत्यक्ष की आपत्ति लग सकती है।

(१४) तदतीन्द्रियत्वे मानाभावात्।

(१४) शङ्का--सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वक्षण में जो इच्छा ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं वे अतीन्द्रिय हैं। (इसलिये उनका और उनके सम्बन्ध से आत्मा का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा)। समाधान--उक्त इच्छाज्ञानादि रूप व्यक्ति को अतीन्द्रिय मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

(१५) सुषुप्तिकाले निर्विकल्पकमेव नियमेन जायत इत्यत्रापि प्रमाणाभावात्। (१६) अथ ज्ञानमात्रे त्वङ्मनःसंयोगस्य यदि कारणत्वं तदा रासनचाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वाचप्रत्यक्षं स्यात्। (१७) विषयत्वक्संयोगस्य त्वङ्मनःसंयोगस्य च सत्वात्। (१८) परस्पर-प्रतिवन्धादेकमपि वा न स्यादिति।

(१५) सुषुप्तिसे अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्पक ही होता है इसलिये सुषुप्ति से पूर्वक्षण में उत्पन्न जो ज्ञानादि उनके और उनके सम्बन्ध से आत्मा का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस नियम में भी कोई प्रमाण नहीं है। (१६) शङ्का--ज्ञानमात्र के प्रति यदि त्वगिन्द्रिय और मन के संयोग को कारण मानेंगे तो रासनप्रत्यक्ष के समय में अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष के समय में भी त्वाच प्रत्यक्ष होने लगेगा। (१७) क्योंकि विषय को त्वचा के साथ संयोग है और त्वचा का मनके साथ संयोग है। (१८) समाधान--चाज्ञुषादि प्रत्यक्ष जनक सामग्री स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति प्रतिबन्धक है। इसलिये चाक्षुषादि ज्ञान काल में स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता

है। शङ्का—अगर इस प्रकार परस्पर एक ज्ञान की सामग्री दूसरे ज्ञान का प्रतिबन्धक हो तो विषय इन्द्रिय संयोग और इन्द्रियमन:संयोग के सर्वत्र उपस्थित रहने के कारण कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता।

(१९) अत्र केचित्पूर्वोक्तयुक्त्या त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे चाक्षुषादिसामग्य्रा: स्पार्शनादिप्रतिबन्धकत्वमनुभवानुरोधात्कल्प्यत इति। (२०) अन्ये तु सुषुप्त्यनुरोधाच्चर्ममनः संयोगस्य ज्ञानहेतुत्वंकल्प्यते।

(१९) कईएक आचार्य इस स्थल में पूर्वोक्त युक्ति से (सुषुप्तिकाल में मन त्वगिन्द्रिय को छोड़कर पुरीतत् नाड़ी में जा बैठता है और तब मन से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है इस युक्ति से) सिद्ध होता है कि त्वगिन्द्रियमन:संयोग ही ज्ञानमात्र के प्रति कारण है। और एक कालावच्छेदेन नाना ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिये अनुभव के अनुरोध से ऐसी कल्पना करते हैं कि चाक्षुषादि ज्ञान की सामग्री स्पार्शन ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक है (२०) पक्षधर मिश्र का कथन—सुषुप्तिकाल में किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी अनुरोध से ज्ञान के प्रति चर्म मन:संयोग कारण है ऐसी कल्पना की जाती है।

(२१) चाक्षुषादिप्रत्यक्षकाले त्वङ्मन:संयोगाभावान्न स्पार्शन-प्रत्यक्षमिति वदन्ति।

(२१) इस प्रकार चाक्षुषप्रत्यक्ष के समय मन का त्वगिन्द्रिय के साथ संयोग नहीं रहने के कारण त्वाच प्रत्यक्ष नहीं होता है।

0 इति त्वङ्मन:संयोगकारणता विचारः 0

का० नं० ५७।

मनोग्राह्यं सुखं दु:खमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः।

का० अर्थ।

सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, यत्न, (और अपनी आत्मा) ये मन से ग्रहण किये जाते हैं।

(१) मनोग्राह्यमिति। मनोजन्यप्रत्यक्षविषयमित्यर्थः। (२) मतिर्ज्ञानम्। कृतिः प्रयत्नः। (३) एवं सुखत्वादिकमपि मनोग्राह्यम्। (४) एवमात्मापि मनोग्राह्यः किंतु मनोमात्रस्य गोचर इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वादत्र नोक्तः।

(१) "मनोग्राह्यम्" इस ग्रन्थ का अभिप्राय यही है कि उक्त सुख दुःखादि मानसप्रत्यक्ष का विषय है। (२) मति ज्ञान को कहते हैं कृति प्रयत्न को कहते हैं। (३) इसी प्रकार सुखदुःखादि में रहने वाली सुखत्व दुःखत्वादि जाति (और सुखाभाव दुःखाभाव सुखत्वाभाव दुःखत्वाभाव ये सब) मानसप्रत्यक्ष के विषय होते हैं। (४) इसी प्रकार आत्मा का भी मानस ही प्रत्यक्ष होता है।" मनोमात्रस्य गोचरः इत्यादि ग्रन्थ से पहले ही उपपादन कर चुके हैं इसलिये यहाँ नहीं कहा गया।

का० नं० ५८।

ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।
महत्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम्॥

का० अर्थ।

निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय होते हैं अर्थात् किसी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होते हैं। षड्विधप्रत्यक्ष के प्रति महत्परिमाण कारण होता है और इन्द्रियाँ करण होती हैं।

(१) चक्षुः संयोगाद्यनन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टं ज्ञानं न संभवति पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात्। (२) विशिष्टबुद्धौविशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्। (३) तथाच प्रथमतो घटघटत्वयोर्वैशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते तदेव निर्विकल्पकम्। (४) तच्च न प्रत्यक्षम्।

(१) चक्षुरादि इन्द्रियों का घटादि के साथ संयोग होने के पश्चात् ही "अयं घटः" इत्याकारक घटत्वादि प्रकारक और घटादि विशेष्यक विशिष्टज्ञान नहीं होता है, क्योंकि उसके पहले घटत्वादिरूप विशेषण का ज्ञान नहीं हुआ रहता है। (२) नियम है कि विशिष्ट बुद्धि सामान्य के

प्रति विशेषण ज्ञान कारण होता है। (३) इसलिये ऐसा माना जाता है कि "अयं घटः" इत्याकारक ज्ञान के पहले घटघटत्वादि का पारस्परिक सम्बन्धानवगाही "घटघटत्वे" ऐसा ज्ञान होता है और वही ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है। (४) उस निर्विकल्पक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

(५) तथाहि। (६) वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति घटमहं जानामीति प्रत्ययात्। (७) तत्रात्मनि ज्ञानं प्रकारीभूय भासते। (८) ज्ञाने घटस्तत्र घटत्वम्। (९) यः प्रकारः स एव विशेषण-मित्युच्यते। (१०) विशेषणे यद्विशेषणं तद्विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते। (११) विशेषणतावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं विशिष्ट वैशिष्ट्यज्ञानेकारणम्।

(५) उसका प्रकार यों है। (६) [१]सम्बन्धानवगाहि जो निर्विकल्पक ज्ञान उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है क्योंकि "घटमहंजानामि" यह अनुव्यवसाय घटत्व प्रकारक घटविशेष्यक ज्ञान ही को विषय करता है न कि "घटघटत्वे" इस निर्विकल्पक ज्ञान को इसका कारण यह है। (७, ८) "घटमहं जानामि" इस प्रतीति में आत्मा में ज्ञान और ज्ञान में घट और घट में घटत्वप्रकारतया भासित होते हैं। (९) प्रकार ही विशेषण कहलाता है। (१०) विशेषण में जो विशेषण होता है वह विशेषणतावच्छेदक कहलाता है। (११) विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान में (अर्थात् विशेषण विशिष्ट जो विशेष्य तादृश विशेष्य का जो तृतीय पदार्थ में ज्ञान उसज्ञान में) विशेषणतावच्छेदक प्रकारक ज्ञान कारण है "घटमहं जानामि" इस अनुव्यवसाय में घटत्व विशिष्ट घटका ज्ञान में भानहोने के कारण उक्त अनुव्यवसाय भी विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही है। इसलिये उक्त अनुव्यवसाय में, घटत्वरूप जो विशेषणतावच्छेदक, तत्प्रकारक ज्ञान कारण होगा। अर्थात् घटत्व प्रकारक ज्ञान के बाद ही उक्त अनुव्यवसाय हो सकता है यह सिद्ध हुआ।

(१२) निर्विकल्पके च घटत्वादिकं न प्रकारस्तेन घटत्वादि-

---

१. अनुव्यवसाय=ज्ञान का प्रत्यक्ष।

विशिष्टघटादिवैशिष्ट्यभानं ज्ञाने न सम्भवति, (१३) घटत्वाद्य-प्रकारकं च घटादिविशिष्टज्ञानं न संभवति, जात्यखण्डोपाध्य-तिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किंचिद्धर्म प्रकारकत्वनियमात्।

(१२) निर्विकल्पक ज्ञान तो घटत्व प्रकारक नहीं है। इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान के अव्यवहितोत्तरक्षण में घटत्व विशिष्ट घट का ज्ञान में भान नहीं हो सकता है। अर्थात् "घटमहं जानामि" इत्याकारक अनुव्यवसाय नहीं हो सकता है। (१३) शङ्का–[1]यदि आप ऐसा कहें कि "घटमहं जानामि" इस अनुव्यवसाय में घटत्वविशिष्ट घटका ज्ञान में भान नहीं है, किन्तु केवल घटका ज्ञान में भान है इसलिये "घटमहं जानामि" इस अनुव्यवसाय को घटत्वविशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही न होने के कारण घटत्व प्रकारक ज्ञान के बिना भी उक्त अनुव्यवसाय हो सकता है। समाधान–जाति और अखण्डोपाधि से अतिरिक्त पदार्थ का ज्ञान में किञ्चिद्धर्मप्रकारेणैव भान होता है, ऐसा नियम है इसलिये घटको भी जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्त पदार्थ होने के कारण घट का भान किञ्चित् धर्म प्रकार से ही हो सकता है। न कि किसी धर्म को बिना प्रकार किये हुए, एतावता उक्त अनुव्यवसाय में घटत्त्वादि रूप से ही घटा का भान हो सकता है। उस स्थिति में घटत्व को विशेषणतावच्छेदक हो जाने के कारण घटत्व प्रकारक ज्ञान के बिना "घटमहं जानामि" यह अनुव्यवसाय नहीं हो सकता है, यह पर्यवसित हुआ।

(१४) महत्त्वमिति। (१५) द्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम्। (१६) द्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवाय सम्बन्धेन कारणम्। (१७) द्रव्यसमवेतसमवेतानां गुणत्वकर्मत्वादीनां प्रत्यक्षे स्वाश्रयसमवेतसमवायसम्बन्धेन कारणमिति।

(१४, १५) विषयता सम्बन्ध से द्रव्यप्रत्यक्षमें महत्त्व परिमाण समवाय सम्बन्ध से कारण है। [2](१६) द्रव्यसमवेत जो गुण, कर्म और

---

१. जाति से भिन्न जो अखण्ड पदार्थ वह अखण्डोपाधि कहलाता है जैसे जातित्वादि।

२. स्वाश्रय समवाय सम्बन्ध, स्व शब्द से महत्परिणाम लिया जायगा। और उसका आश्रय जो द्रव्य उसमें गुण, कर्म और जाति का समवाय है।

जाति विषयतासम्बन्ध से उनके प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व स्वाश्रय समवायसम्बन्धेन कारण है। [१](१७) एवं द्रव्य के समवेत जो गुण, कर्म, तत्समवेत जो गुणत्व, कर्मत्वादि विषयतासम्बन्ध से उनके प्रत्यक्ष के प्रति स्वाश्रय समवेत समवायसम्बन्ध से महत्त्व कारण है।

(१८) इन्द्रियमिति। अत्रापि षड्विध इत्यनुषज्यते। (१९) इन्द्रियत्वं तु न जातिः पृथिवीत्वादिना सांकर्यप्रसङ्गात्। (२०) किन्तु शब्देतरोद्भूतविशेष गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः-संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। (२१) आत्मादिवारणाय सत्यन्तम्। (२२) उद्भूतविशेषगुणस्य शब्दस्य श्रोत्रे सत्त्वाच्छब्देतरेति। (२३) विशेषगुणस्य रूपादेश्चक्षुरादावपि सत्त्वादुद्भूतेति। (२४) उद्भूतत्वं न जातिः शुक्लत्वादिना सांकर्यात्।

(१८) "इन्द्रियम्" इत्यादि ग्रन्थ का यही अभिप्राय है कि चाक्षुष आदि षड्विध प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियकरण है। [२](१९) पृथ्वीत्वादिके साथ सांकर्य के हेतु इन्द्रियत्व जाति नहीं है, किन्तु सखण्डोपाधि रूप है। (२०) अर्थात् शब्द से इतर जो विशेष गुण उसका अनाश्रयत्वेसति ज्ञान के कारण जो मनःसंयोग उसका आश्रयत्वरूप इन्द्रियत्व है। (२१) अगर केवल ज्ञान का कारण जो मनः संयोग उसका आश्रयत्व ही इन्द्रियत्व का लक्षण करें तो आत्मा में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि तादृश संयोग का आश्रयत्व ही इन्द्रियत्व का लक्षण करें तो आत्मा में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि तादृश संयोग का आश्रयत्व आत्मामेंभीहै इसलिये "शब्देतरोद्भूत विशेषगुणानाश्रयत्वेसति" इस सत्यन्त का भी निवेश किया है। अब आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि शब्द से भिन्न जो उद्भूत विशेषगुण सुखादि उसका आत्मा अनाश्रय नहीं है, किन्तु

---

१. स्व शब्द से महत्परिमाण उसका आश्रय जो द्रव्य समवेत जो गुण, कर्म, उनमें गुणत्व, कर्मत्व रूपत्वादि का समवाय सम्बन्ध है।

२. जैसे त्वगिन्द्रियों में पृथ्वीत्व नहीं है किन्तु इन्द्रियत्व है और घट में इन्द्रियत्व नहीं है किन्तु पृथ्वीत्व है। और घ्राणेन्द्रिय में इन्द्रियत्व और पृथ्वीत्व दोनों है इस प्रकार सांकर्य होता है।

आश्रय ही है इसलिये अतिव्याप्ति नहीं हुई। (२२) इन्द्रिय के उक्त लक्षण में यदि "शब्देतर" विशेषण नहीं दें तो श्रोत्रेन्द्रिय में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि शब्दरूप जो उद्भूत विशेषगुण उसका अनाश्रयत्व श्रोत्रेन्द्रियमें नहीं है और "शब्देतर" विशेषण देने से अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि शब्देतर जो उद्भूत विशेषगुण तादृश गुणका अनाश्रयत्व श्रोत्रेन्द्रिय में है। इसलिये अव्याप्ति दोष नहीं हुआ। (२३) इन्द्रियत्व के उक्त लक्षण में यदि उद्भूत पद नहीं दें तो अनुद्भूत रूप को लेकर चक्षुरादि में अव्याप्ति हो जायगी क्योंकि शब्द से भिन्न जो विशेषगुण वह चक्षुरादि का अनुद्भूतरूप होगा उसका अनाश्रयत्व चक्षुरादि में नहीं है किन्तु आश्रयत्व ही है। इसलिये उद्भूत पद का निवेश है अब अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि चक्षुरादि में जो रूप है वह अनुद्भूत है। [१](२४) शुक्लत्वादि के साथ सांकर्य होने के कारण उद्भूतत्व जाति नहीं है।

(२५) न च शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वामिति वाच्यम्, उद्भूतरूपत्वादिना चाक्षुषादौ जनकत्वानुपपत्तेः। (२६) किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवानुद्भूतत्वं तदभावकूटश्चोद्भूतत्वम्। (२७) तच्च संयोगादावप्यस्ति तथा च शब्देतरोद्भूतगुणः संयोगादिश्चक्षुरादेरप्यस्त्यतो विशेषेति। (२८) कालादिबारणाय विशेष्यदलम्।

(२५) शङ्का–यदि शुक्लत्वादि जातियों का व्याप्य ही नाना उद्भूतत्व मानें तब तो साङ्कर्य नहीं होगा?

समाधान ।–यदि अनेक उद्भूतत्व मानेंगे तो चुपचाप प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूपत्वेन उद्भूत रूप को जनकता नहीं हो सकेगी। क्योंकि जब अनेक उद्भूतत्वरूप व्यक्ति माना जायगा तब यदि तदन्तर्गत एक उद्भूतरूप व्यक्ति को कारणतावच्छेदक मानेंगे तो एक उद्भूतत्वात्मक व्यक्तिविशिष्टरूप किसी एक विधरूपाधिकरण में ही रहेगा, तादृश रूप शून्य अन्य उद्भूत रूपाधिकरण का भी प्रत्यक्ष होता है सो नहीं होगा

१. जैसे शुक्लत्वस्य छोड़कर उद्भूतत्व गन्ध में रहता है। एवं शुक्लत्व धर्म उद्भूतत्वधर्म को छोड़कर अनुद्भूत शुक्ल में रहता है और उद्भूत शुक्ल में दोनों रहता है इसलिये सांकर्यदोष लगा।

इसलिये कार्यकारणभाव में व्यभिचार हो जायगा। यदि शुक्लत्वादिव्याप्य उद्भूतत्व समुदाय को कारणतावच्छेदक मानेंगे तो सकल उद्भूत रूप को एक स्थान में न रहने के कारण असम्भव ही हो जायगा।

(२६) किन्तु ऐसा निवेश कर सकते हैं कि शुक्लत्वादियों के व्याप्य जो नाना अनुद्भूतत्व वे ही जाति हैं तादृश जातियों के अभावों का समुदाय ही उद्भूतत्व है। (२७) उक्त उद्भूतत्वरूप धर्म संयोगादि गुणों में भी है इसलिये शब्द से इतर जो उद्भूत गुण सो संयोग है उसका अनाश्रयत्व चक्षुरादि में नहीं है किन्तु आश्रयत्व ही है इस हेतु चक्षुरादि में असम्भव होगा अतः विशेष गुण का निवेश है तब चक्षुरादि में असम्भव नहीं होगा क्योंकि संयोगादि विशेष गुण नहीं है। (२८) यदि "शब्देतरोद्भूत विशेष गुणानाश्रयत्व" इतना ही इन्द्रिय का लक्षण करें तो कालमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि शब्द से भिन्न जो उद्भूत विशेष गुण उसका अनाश्रयत्व काल में भी है इसलिये ज्ञान कारण "मनःसंयोगाश्रयत्वम्" इस विशेष्यदल का भी निवेश किया गया है।

(२९) इन्द्रियावयवविषयसंयोगस्यापि प्राचां मे प्रत्यक्ष-जनकत्वादिन्द्रियावयववारणाय, नवीनमते कालादौ रूपाभावप्रत्यक्षे संनिकर्षघटकतया कारणीभूतचक्षुःसंयोगाश्रयस्य कालादेश्च वारणाय मनःपदम्, (३०) ज्ञानकारणमित्यपि तद्वारणाय।

(२९) यदि उक्त लक्षण में मन पद नहीं दें तो प्राचीनों के मत से इन्द्रियावयव में अतिव्याप्ति और नवीन के मत से कालादि में अतिव्याप्ति होगी। यथा–प्राचीन आचार्य घटादि विषयों के साथ इन्द्रिय के अवयवों का जो संयोग तादृश संयोग को भी ज्ञान के प्रति कारण मानते हैं। उस संयोग का आश्रय जो इन्द्रियावयव वह शब्द से इतर जो उद्भूत विशेष गुण उसका अनाश्रय है। और ज्ञानकारण जो इन्द्रियावयव और घटादि पदार्थोंका संयोग तादृश संयोग का आश्रय भी है। इसलिये अतिव्याप्ति हुई, किन्तु मन पद देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि मन के साथ जो इन्द्रियावयव का संयोग वह ज्ञान का कारण नहीं है। नवीन आचार्य

काल में रूपाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुः संयुक्त विशेषणता सन्निकर्ष से मानते हैं। तादृश सन्निकर्षघटक जो काल के साथ चक्षुःसंयोग वह भी काल में रूपाभाव प्रत्यक्ष का कारण होगा, तब काल में रूपाभावप्रत्यक्ष का कारणीभूत जो काल के साथ चक्षुः अनाश्रयता भी है। इसलिये काल में अति व्याप्ति हुई। परन्तु मन पद देने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। (३०) उक्त लक्षण में अगर ज्ञान कारण नहीं दें तो पुनः काल में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि शब्द से भिन्न जो उद्‌भूत विशेष गुण रूपादि उसका अनाश्रय और मनःसंयोगाश्रय भी काल है। ज्ञान कारण पद देने से काल में अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि ज्ञान का कारण जो मनःसंयोग वह काल में नहीं है।

(३१) कारणमिति। असाधारणं कारणं करणम्। (३२) असाधारणत्वं व्यापारवत्त्वम्।

(३१, ३२) "करणम्" इस ग्रन्थ से समझना चाहिये कि आसाधारण जो कारण वही करण है। असाधारण शब्द का व्यापारवान् अर्थ है अतः व्यापारवान् कारण करण है यह अर्थ हुआ।

विषयेन्द्रियसबन्धो व्यापारः सोऽपि षड्‌विधः।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः॥५९॥
द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः।
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः॥६०॥
तद्‌वृत्तीनां समवेतसमवायेन तु ग्रहः।
प्रत्यक्ष समवायस्य विशेषणतयाभवेत्॥६१॥
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत्।
यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते॥६२॥

का० अर्थ।

(५९) घटपटादि विषयों के साथ नेत्रादि इन्द्रियों का जो प्रत्यक्षानुकूल सम्बन्ध होता है वह पूर्वोक्त षड्‌विध प्रत्यक्ष के प्रति व्यापार कहा जाता है। यह सम्बन्धरूप व्यापार ६ प्रकार के होते हैं। द्रव्य का ग्रहण संयोग

सम्बन्ध से होता है। (६०) द्रव्यसमवेत रूपादि का ग्रहण संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से होता है। द्रव्यसमवेत समवेत रूपत्वादि का "संयुक्त समवेत समवाय" सम्बन्ध से होता है। शब्दका समवायसम्बन्ध से होता है। (६१) शब्द में समवायसम्बन्ध से रहने वाले "शब्दत्वादि का" समवेत सम्बन्ध से ग्रहण होता है और समवाय का विशेषणता सम्बन्ध से ग्रहण होता है। (६२) उसी प्रकार अभावों का भी ग्रहण विशेषणता सम्बन्ध से होता है "अत्र यदिघट:स्यात्तर्हिउपलभ्येत" इस प्रकार प्रतियोगिप्रत्यक्ष की आपत्ति जहाँ दी जा सकती है वहीं घटाभावादि का प्रत्यक्ष होता है। इसी हेतु अन्धकार में घटादि के अभावों का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

(१) व्यापारः सन्निकर्षः।

(१) यहाँ व्यापार सन्निकर्ष को कहते हैं।

(२) षड्विधं संनिकर्षमुदाहरणद्वारा दर्शयति।

(२) (उक्त) ६ प्रकारके सन्निकर्षों को उदाहरण द्वारा दिखलाते हैं।

(३) द्रव्यग्रहइति

(३) द्रव्यग्रह पर विचार।

(४) द्रव्यप्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगजन्यम्। (५) द्रव्यसमवेत प्रत्यक्षमिन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम्। (६) एवमग्रेऽपि। (७) वस्तुतस्तु द्रव्यचाक्षुषं प्रति चक्षुःसंयोगः कारणं। (८) द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुः-संयुक्तसमवायः कारणं। द्रव्यसमवेतचाक्षुषं प्रति चक्षुः-संयुक्तसमवेतसमवायः। (९) एवमन्यत्रापि विशिष्यैव कार्यकारणभावः।

(४) घटपटादि द्रव्यों का लौकिक प्रत्यक्ष नेत्रादि इन्द्रियों के संयोग से होता हैं (५, ६) द्रव्य में समवेत जो रूपादि गुण क्रिया और जाति उनके लौकिक प्रत्यक्ष "इन्द्रिय संयुक्त समवाय" सम्बन्ध से होता है। इसीप्रकार द्रव्यसमवेत समवेत जो गुणकर्मगत जाति उनके लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है। (७) वस्तु स्थिति तो

ऐसी है कि घट पटादि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुः संयोग कारण है। (८) घट पटादि द्रव्यों में समवेत पदार्थ के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुः संयुक्त समवेत समवाय कारण है। द्रव्यसमवेत में समवेत जो गुणकर्मगतजाति उनके चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुः संयुक्त समवेत समवाय कारण है। (९) इसीप्रकार इन्द्रियान्तर जन्य लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति भी विशेष रूप से कार्यकारण भाव है।

(१) परन्तु पृथिवीपरमाणुनीले नीलत्वं पृथिवीपरमाणौ पृथिवीत्वं च चक्षुषा कथं न गृह्यते तत्र परंपरयोद्भूतरूपसंबन्धस्य महत्त्वसंबन्धस्य च सत्त्वात्।

[१](१०) क्या कारण है कि उद्भूतरूप तथा महत्त्व का परम्परासम्बन्ध रहने पर भी पृथ्वीपरमाणुगत नीलरूप में नीलत्व का तथा पृथ्वी परमाणु में पृथ्वीत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है।

(११) तथाहि–नीलत्वं जातिरेकैब घटनीले परमाणुनीले च वर्तते। (१२) तथा च महत्त्वसंबन्धो घटनीलमादाय वर्तते। (१३) उद्भूतरूपसम्बन्धस्तूभयमादायैब वर्तते। (१४) एवं पृथिवी परमाणौ पृथिवीत्वेऽपि घटादिकमादाय महत्त्वसंबन्धो वोध्यः। (१५) एबंवायौ तदीयस्पर्शादौ च सत्तायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षं स्यात्।

(११) जैसे सकल नील में रहनेवाली नीलत्व जाति एक ही है वह नीलत्व जाति घटनील में तथा परमाणु नील में भी रहता है। (१२, १३) इसलिये महत्त्व घटगत नील रूपके द्वारा परमाणु नीलनिष्ठ नीलत्व में स्वाश्रय समवेत समवाय सम्बन्ध से रहता है। और उद्भूतरूप का सम्बन्ध तो घटनील तथा परमाणुनील को भी लेकर (दीनोद्वारा) नीलत्व में रहता है। (१४) इसप्रकार महत्त्व घटादिद्वारा स्वाश्रय समवायसम्बन्ध से पृथिवी परमाणु के पृथ्वीत्व में रहता है। (१५) एवम् वायु में और उसके स्पर्श

---

१. इस स्थल में उद्भूतरूप और महत्त्व "स्वाश्रयसमवेत समवाय सम्बन्ध से परमाणुगत नीलगतनीलत्व में एवं स्वाश्रय सम्बन्ध से पृथ्वी परमाणुगत पृथ्वीत्व में रहता है।

में सत्ता का चाक्षुषप्रत्यक्ष होना उचित है क्योंकि सत्ता एक ही है इसलिये वायुवृत्ति सत्ता पर स्वाश्रय समवायसम्बन्ध से घट के द्वारा उद्भूतरूप घट द्वारा परम्परा (स्वाश्रय समवेत समवाय) सम्बन्ध से, तथा घट एवं वायु के द्वारा महत्त्व भी उक्तसम्बन्ध से रहता है इसलिये वायु में और उसके स्पर्श में सत्ता का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना उचित है (जो नहीं होता है)।

(१६) तस्मादुद्भूत रूपाबच्छिन्नमहत्त्वावच्छिन्नचक्षुः-संयुक्त समवायस्य द्रव्यसमवेतचाक्षुषे तादृशचक्षुः संयुक्त समबेतसमवायस्य द्रव्यसमवेतसमबेतचाक्षुषे कारणत्वं वाच्यम्। (१७) इत्थं च परमाणुनीलादौ न नीलत्वादिग्रहः, परमाणौ चक्षुः संयोगस्य महत्त्वाबच्छिन्नत्वाभावात्। (१८) एवं बाय्वादौ न सत्तादि चाक्षुषं तत्र चक्षुः संयोगस्य रूपावच्छिन्नत्वाभावात्।

(१६) इस हेतु द्रव्य समवेत "गुण, क्रिया और जाति के चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूपविशिष्ट और महत्त्वविशिष्ट जो चक्षु:संयोग तदाश्रय समवाय सम्बन्ध को ही कारणता माननी चाहिये एवम् द्रव्यसमवेत समवेत "गुणत्व, क्रियात्व, प्रभृति के चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति उद्भूतरूपावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न जो चक्षु:संयोग तदाश्रय समवेत समवाय सम्बन्ध को कारणता माननी चाहिये। (१७) इस प्रकार परमाणु नीलादि में नीलत्वादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि परमाणु में महत्त्वाभाव है। इसलिये परमाणु में चक्षुः—संयोग को महत्त्वावच्छिन्नत्व नहीं हो सकता। (१८) इस प्रकार वायु में रूपावच्छिन्नचक्षु:संयोग नहीं रहने के कारण वायु में और स्पर्श में सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

(१९) एवं यत्र घटस्य मध्यावच्छेदेनालोकसंयोगः चक्षुःसंयोगस्तु वाह्यावच्छेदेन तत्र घटप्रत्यक्षाभावादालोकसंयोगावच्छिन्नत्वं चक्षुःसंयोगे विशेषणं देयम्। (२०) एवं द्रव्यस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयोगः कारणं द्रव्यसमवेतस्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवायः द्रव्यसमवेतसमवेत-स्पार्शनप्रत्यक्षे त्वक्संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्। (२१) एवं गन्धप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवायः। (२३) गन्धसमवेतस्य घ्राणजन्यप्रत्यक्षे घ्राणसंयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

(१९) इस तरह जहाँ अन्धेरे में घट के भीतर एक जलता हुआ चिराग़ है उसकी रोशनी भीतर ही रुक रहती है, बाहर नहीं आती है, उस स्थल में घट में वाह्य देश से उद्भूत रूपावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्नचक्षुः संयोग रहने पर भी उक्त घटका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये चक्षुः संयोगमें "प्रकाश संयोगावच्छिन्नत्व विशेषण" भी देना चाहिये। (तात्पर्य यह है कि द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष "उद्भूतरूपावच्छिन्न महत्त्वावच्छिन्न प्रकाश संयोगावच्छिन्न चक्षुः संयोगसे होगा, अन्यथा नहीं)। (२०) (क) इसी प्रकार द्रव्यकेस्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति त्वक्संयोग कारण है। (ख) द्रव्यसमवेत (गुणादि) स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति "त्वक्संयुक्तसमवाय" कारण है। (ग) द्रव्यसमवेतसमवेत (गुणत्वादि) स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति "त्वक्संयुक्त समवेतसमवाय" कारण है।

[१२६](२१) यहाँ भी पूर्ववत् (चाक्षुषप्रत्यक्ष की तरह) सन्निकर्ष घटक इन्द्रियसंयोग में उद्भूतस्पर्शावच्छिन्नत्व तथा महत्त्वावच्छिन्नत्व विशेषण समझना चाहिये। (२२) "गन्ध प्रत्यक्ष के प्रति घ्राणसंयुक्त समवाय सन्निकर्ष कारण है। (२३) गन्धसमवेत "गन्धत्वादि" प्रत्यक्ष के प्रति "घ्राणसंयुक्त समवेत समवाय" सन्निकर्ष कारण है।

(२४) एवं रसप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमवायः। (२५) रससमवेत-रासनप्रत्यक्षे रसनासंयुक्तसमबेतसमवायः कारणम्। (२६) शब्दप्रत्यक्षे श्रोत्रावच्छिन्नसमवायः कारणम्। (२७) शब्दसमवेतश्रावणप्रत्यक्षे श्रोत्राबच्छिन्नसमवेतसमवायः कारणम्। (२८) अत्र सर्वं प्रत्यक्षं लौकिकं बोध्यम्। (२९) वक्ष्यमाणमलौकिकं प्रत्यक्षमिन्द्रियसंयोगादिकं बिनापि भवति। (३०) एवमात्मनः प्रत्यक्षे मनःसंयोगः, आत्मसमवेत-मानसप्रत्यक्षे मनःसंयुक्तसमवायः, आत्मसमवेतसमवेतमानसप्रत्यक्षे मनः संयुक्तसमवेतसमवायः कारणम्।

---

१. परमाणु घटित त्वक् सन्निकर्ष से स्पर्शत्व के स्पार्शन प्रत्यक्ष के वारणार्थ महत्त्वावच्छिन्नत्व का निवेश तथा प्रभा घटित सन्निकर्ष से स्पर्शत्व का स्पार्शनप्रत्यक्ष के वारणार्थ उद्भूत स्पर्शावच्छिन्नत्व का निवेश पूर्ववत् करना उचित है।

(२४) एवं (द्रव्यसमवेत) रस प्रत्यक्ष के प्रति रसना संयुक्तसमवाय कारण है (२५) रससमवेत (रसत्वादि) के रासनप्रत्यक्ष के प्रति रसना संयुक्त समवेतसमवाय कारण है। (२६) शब्दप्रत्यक्ष के प्रगति श्रोत्रावच्छिन्न समवायसम्बन्ध को कारणता है। (२७) शब्दसमवेत (शब्दत्वादि के श्रावण प्रत्यक्ष के प्रति श्रोत्रावच्छिन्न समवेत समवाय सम्बन्ध कारण है। (२८) इस प्रकरण में प्रत्यक्ष शब्द से लौकिक प्रत्यक्ष ही समझना उचित है। (२९) (वक्ष्यमाण) आगे कहा जाने वाला अलौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना भी होता है। (३०) (क) आत्मा के प्रत्यक्ष के प्रति संयोग कारण है। (ख) आत्म-समवेत मानसप्रत्यक्ष के प्रति मनःसंयुक्त समवाय कारण है। (ग) आत्मसमवेतसमवेत "सुखत्वादि" के मानसप्रत्यक्ष के प्रति मनःसंयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष कारण है।

(३१) अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता हेतुः। (३२) वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः। (३३) अत्र यद्यपि विशेषणता नानाविधा।

[१](३१) अभाव तथा समवाय के प्रत्यक्ष के प्रति "इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणता" कारण है। (३२) वैशेषिकसिद्धान्त के अनुसार समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष ही नहीं होता है। (३३) इस प्रकरण में विशेषणता अनेक प्रकार की है।

(३४) तथाहि भूतलादौ घटाद्यभावः संयुक्तविशेषणतया गृह्यते। (३५) संख्यादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतविशेषणतया। (३६) संख्यात्वादौ रूपाद्यभावः संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणतया। (३७) शब्दाभावः केवलश्रोत्राबच्छिन्नविशेषणतया। (३८) कादौ खत्वाद्यभावः श्रोत्रावच्छिन्नसमवेतविशेषणतया। (३९) एवं कत्वाद्यवच्छिन्नाभावे गत्वा भावादिकं श्रोत्रावच्छिन्नविशेषणविशेषणतया।

---

१. अभाव तथा समवाय के प्रत्यक्ष का दृष्टान्त जैसे किसी भूतल पर घट नहीं है। उस समय घट का प्रत्यक्ष नहीं होता घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है। और घट में रूप के समवाय का "घटः रूपवान" ऐसा प्रत्यक्ष होता है।

(४०) एवं घटाभावादौ पटाभावः चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणतया। (४१) एवमन्यदप्यूह्यम्।

(३४) जैसे भूतलादि में घटादि पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष "संयुक्तविशेषणता" सन्निकर्ष से होता है। (३५) संख्यादि में रहनेवाले रूपादि गुणों के अभाव का प्रत्यक्ष "संयुक्त समवेत विशेषणता" सन्निकर्ष से होता है। (३६) संख्यात्वादि में रूपादि के अभाव का प्रत्यक्ष "संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता" सन्निकर्ष से होता है। (३८) ककारादि वर्णों में खत्वादि धर्मों के अभाव का प्रत्यक्ष "श्रोत्रावच्छिन्न समवेत विशेषणता" सन्निकर्ष से होता है। (३९) इसी प्रकार कत्वाद्यवच्छिन्नाभाव में गत्वाभाव में गत्वाभाव का प्रत्यक्ष श्रोत्रावच्छिन्न विशेषण विशेषणता" सन्निकर्ष से होगा। (४०) घटादि पदार्थों के अभाव में पटाभाव का प्रत्यक्ष "चक्षुः संयुक्त विशेषण विशेषणता" सन्निकर्ष से होता है। (४१ इसीप्रकार दूसरे सब स्थलों में अभाव प्रत्यक्षानुकूल सन्निकर्ष का अन्वेषण कर लेना चाहिये।

(४२) तथापि विशेषणतात्वरूपेणैकैव सा गण्यते। अन्यथा षोढ़ा सन्निकर्ष इति प्राचां प्रवादो ब्याहन्येतेति।

(४२) यद्यपि उक्त रीति से विशेषणता अनेक है तथापि विशेषणतात्व धर्म एक ही है और वह सब विशेषणताओं में रहता है, इसलिये विशेषणता भी एक ही कही जाती है यदि विशेषणतात्व के ऐक्य मूलक विशेषणतामें ऐक्य न मानाजाय तो सन्निकर्ष ६ प्रकार के होते हैं। यह प्राचीनों की उक्ति व्याहत हो जायगी।

(४३+४४) यदि स्यादुपलभ्येतेति। अत्राभावप्रत्यक्षे योग्यानुपलब्धिः कारणम्। (४५+४६) तथाहि। भूतलादौ घटादिज्ञाने जाते घटाभावादिकं न ज्ञायते। (४७) तेनाभावोपलम्भे प्रतियोग्युपलम्भाभावः कारणम्।

(४३,४४) "यदिस्यादुपलभ्येत" इत्यादि ग्रन्थ पर विचार। अभाव के प्रत्यक्ष में योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि कारण है। (४५+४६) तथा यथा-भूतलादि अधिकरण में घटादि का भ्रमात्मक भी ज्ञान होने पर

घटाभाव का ज्ञान नहीं होता है। (४७) इसलिये अभाव मात्र के प्रत्यक्ष के प्रति अभावप्रतियोगी के उपलब्धि का अभाव कारण है।

(४८) तत्रयोग्यताप्यपेक्षिता सा च प्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जन-प्रसञ्जितप्रतियोगिकत्वरूपा। (४९) तदर्थश्च प्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वप्रसक्त्या प्रसञ्जितः उपलम्भरूपः प्रतियोगी यस्य सोऽभावप्रत्यक्षे हेतुः।

[१](४८) उक्त प्रतियोग्युपलम्भाभाव में योग्यता भी अपेक्षित है। वह योग्यता तत्तत् अभाव के प्रतियोगी के सत्त्वप्रसक्ति से आपादित जो प्रतियोगिप्रत्यक्ष तत् प्रतियोगिकत्व रूप है। (४९) जिस अभाव के प्रतियोगियों की प्रसक्ति से जिस अभाव के प्रतियोगी की प्रसक्ति हो सकती है वह अभाव (प्रतियोग्युपलम्भाभाव) उस अभाव (घटाभाव) के प्रत्यक्ष का कारण होता है।

(५०) तथाहि। (५१) यत्रालोकसंयोगादिकं वर्तते तत्र यद्यत्र घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येतेत्यापादयितुं शक्यते। (५२) तत्र घटाभावादि प्रत्यक्षं भवति। (५३) अन्धकारेतु नापादयितुं शक्यते। (५४) तेन घटाभावादेरनन्धकारे न चाक्षुषप्रत्यक्षम्, स्पार्शनंप्रत्यक्षं तु भवत्येव, आलोकसंयोगं विनापि स्पार्शनप्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्।

(५०,५१) जैसे जहाँ पर प्रकाश संयोगादि चाक्षुष ज्ञान प्रयोजक सामग्री के रहने से "अत्र यदि घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकते हैं। (५२) उन स्थलों में घटादि के अभावों का प्रत्यक्ष भी होता है। (५३) अन्धेरे में "अत्र यदि घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येत" ऐसा आपादन नहीं कर सकते हैं। (५४) इसलिये अन्धेरे में घटादि के अभावों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता किन्तु "अत्र यदि घटः स्यात्तर्हि स्पर्शेन

---

१. उपलम्भकास्वरूप—"अत्र यदि घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येत" एवम् अतीन्द्रिय पदार्थ में भी अभावप्रत्यक्ष उपलम्भाभाव ही से समझना चाहिये। सारांश— जिन अधिकरणों में जिन अभावप्रतियोगियों के आरोप से तत्तत् उपलम्भ का आरोप हो उन उक्त अधिकरणों में तत्तत् अभावों का प्रत्यक्ष होता है।

उपलभ्येत" ऐसा आपादन कर सकने के कारण अन्धकार में भी घटादि पदार्थों के अभावों का त्वाचप्रत्यक्ष होता है।

(५५) गुरुत्वादिकं यदयोग्यं तदभावस्तु न प्रत्यक्षस्तत्र गुरुत्वादि प्रत्यक्षस्यापादयितुमशक्यत्वात्।

[१](५५) गुरुत्वादि जो अयोग्य हैं (जो सर्वथा प्रत्यक्ष के अयोग्य पदार्थ हैं) उनके अभावों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि "घटे यदि गुरुत्वं स्यात्तर्हि उपलभ्येत "ऐसा आपादन नहीं हो सकता।

(५६) (क) वायौ रूपाभावः। (५७) (ख) पाषाणे सौरभाभावः। (५८) (ग) गुड़ेतिक्ताभावः वह्नावनुष्णत्वाभावः। (५९) (घ) श्रोत्रे शब्दाभावः। (६०) (ङ) आत्मनि सुखाभावः। (६१) एवमादयस्तत्तदिन्द्रियैर्गृह्यन्ते तत्तत्प्रत्यक्षस्यापादयितुं शक्यत्वात्।

(५६) [२](क) वायु में रूप का अभाव। (५७) [३](ख) प्रस्तर में

---

१. गुरुत्वादि=गुरुत्व, धर्म अधर्म, इत्यादि गुरुत्वादि धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता किन्तु अनुमान मात्र हो सकता है। जैसे किसी गुरु वस्तु को तराजू पर रख दें तो उसके पलड़े के नीचे जाने के कारण अनुमान किया जायगा कि यह वस्तु गुरु है। इसी प्रकार गुरुत्व का अनुमान होता है एवं धर्म अधर्म इत्यादि प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है इसलिये "मयि धर्मो यदिस्यात् अधर्मोवा तर्हि उपलभ्येत" इस प्रकार धर्माधर्म का आपादन नहीं होने के कारण धर्म अधर्म इत्यादि के अभावों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता केवल सुख दुःखादि के भोग से अनुमान होता है। किन्तु जिन २ अधिकरणोंमें जिन २ अभावों के प्रतियोगियों का आपादन हो सकता है उन अधिकरणों में तत्तत् पदार्थों के तत्तत् अभावों का प्रत्यक्ष हो सकता है।

२. (क) नियम है कि महत्त्व परिमाण विशिष्ट उद्भूतरूप जिस पदार्थ में रहता है उसका प्रत्यक्ष हो सकता है जैसा कि घटादि पदार्थ के प्रति पूर्व दिखलाया गया है तब "वायौ यदि रूपं स्यात्तर्हि चक्षुषा उपलभ्येत" ऐसा आपादन हो सकता है। क्योंकि वायु में स्पार्शन प्रत्यक्ष होने के कारण महत्त्व परिमाण है किन्तु रूप नहीं है इसलिये रूपाभाव का चाक्षुष ही प्रत्यक्ष हो सकता है।

३. (ख) गन्ध का घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने के कारण पाषाणे यदि सौरभः स्यात्तर्हि उपलभ्येत ऐसा आपादन हो सकता है। पाषाण में यदि उद्भूत गन्ध होता है तो घ्राणेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता इसलिये पाषाण में उद्भूत गन्धाभाव का प्रत्यक्ष घ्राणज ही होगा।

गन्ध का अभाव। (५८) [1](ग) गुड़ में तिक्त रस अभाव। अग्नि में अनुष्णस्पर्श का अभाव। (५९) [2](घ) श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द का अभाव। (६०) [3](ङ) आत्मा में सुख का अभाव। (६१) इन ६ वस्तुओं के अभावों का प्रत्यक्ष तत्तत् ही इन्द्रिय से हो सकता है क्योंकि तत्तत् पदार्थ के उपलम्भका भी आपादन तत्तत् ही इन्द्रिय से होता है।

(६२) संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगिनो योग्यता। (६३) अन्योन्याभावप्रत्यक्षे त्वदधिकरणयोग्यताऽपेक्षिता। (६४) अतस्तम्भादौ पिशाचादि भेदोऽपि चक्षुषा गृह्यत एव।

(६२) संसर्गाभाव एतावता (प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव) के प्रत्यक्ष के प्रति उनके प्रतियोगी की योग्यता अपेक्षित है। अर्थात् उनके प्रतियोगी यदि प्रत्यक्ष योग्य रहेंगे तभी उन अभावों का प्रत्यक्ष होगा। (६३) किन्तु अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष के प्रति उनके अधिकरण की योग्यता अपेक्षित है। (६४) इसीलिये खम्भे इत्यादि में पिशाचादि का भेद भी आँखों द्वारा प्रत्यक्ष होता है। जैसे "स्तम्भः पिशाचो न"।

---

१. (ग) रस का रसनेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने के कारण "गुड़े यदि तिक्त रसः स्यात्तर्हि रसनया उपलभ्येत" ऐसा आपादन हो सकता है। गुड़ में यदि तिक्त रस होता तो रसनेन्द्रिय से उसका ग्रहण होता इसलिये गुड़ में तिक्तरसाभाव का प्रत्यक्ष रसनेन्द्रिय से ही होगा। (घ) उष्णस्पर्श का ग्रहण त्वगिन्द्रियजन्य होता है "अतःअग्नौ यदि अनुष्णस्पर्शस्यात्तर्हि त्वगिन्द्रियेणोपलभ्येत"। ऐसा आपादन हो सकता है। अग्नि में यदि अनुष्णस्पर्श रहता तो त्वगिन्द्रिय से गृहीत होता। इसलिये अग्नि में अनुष्णस्पर्शाभाव का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रियजन्य ही होगा।

२. एवं श्रोत्रेन्द्रिय में शब्दाभाव का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि "श्रोत्रे यदि शब्दः स्यात्तर्हि श्रोत्रेणोपलभ्येत" इसप्रकार श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द के आरोप से श्रोत्रेन्द्रिय ही जन्य उपलम्भ का आरोप हो सकता है इसलिये शब्दाभाव का प्रत्यक्ष केवल श्रोत्रेन्द्रियजन्य होगा।

३. "स्वात्मनि यदि सुखं स्यात्तर्हि मनसोपलभ्येत" इसप्रकार आत्मा में सुखादि के आरोप से सुखादि के मानस उपलम्भ का आरोप होने के कारण सुखाभावादि का केवल मानस ही प्रत्यक्ष हो सकता है। इसीप्रकार तत्तत् अभाव तत्तत् ही इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं।

(६५) एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्। (६६) तत्र लौकिकप्रत्यक्षे षोढ़ा संनिकर्षोवर्णितः अलौकिकसन्निकर्षस्त्विदानीमुच्यते।

(६५) पूर्वोक्त रीति से प्रत्यक्ष ज्ञान लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार के हैं। (६६) उनमें लौकिक प्रत्यक्ष में ६ प्रकार के सन्निकर्ष कारण होते हैं। जिनका निरूपण किया जा चुका है। अलौकिकसन्निकर्ष अब कहा जाता है।

का० नं० ६३।

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परीकीर्त्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा।।

का० अर्थ।

अलौकिकसन्निकर्ष तीन प्रकार के होते हैं—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगजा।

मुक्तावली।

(१) व्यापारः सन्निकर्षः (२) सामान्यलक्षण इति सामान्यं लक्षणं यस्येत्यर्थः। (३) तत्र लक्षणपदेन यदि स्वरूपमुच्यते तदा सामान्यश्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लभ्यते। (४) तच्चेन्द्रियसंबद्धविशेष्यकज्ञाने प्रकारीभूतं बोध्यम्।

(१) कारिका में व्यापार शब्द का सन्निकर्ष अर्थ है। (२) सामान्य लक्षण शब्द में "सामान्यं लक्षणं यस्य" इस प्रकार का बहुब्रीहिसमास है। (३) सामान्यलक्षण शब्दघटक लक्षण शब्द का यदि स्वरूप अर्थ किया जाय तो सामान्यस्वरूप प्रत्यासत्ति ऐसा अर्थ लब्ध होता है। (४) इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक जो ज्ञान तादृश ज्ञान प्रकारीभूत जो सामान्य वह प्रत्यासत्ति है।

(५) तथाहि। (६) यत्रेन्द्रियसंयुक्तो धूमादिस्तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र ज्ञाने धूमत्वं प्रकारः। (७) तत्रधूमत्वेन च सन्निकर्षेण धूमा इत्येवंरूपं सकलधूमविषयकं ज्ञानं जायते। (८)

अत्र यदीन्द्रियसंवद्धप्रकारीभूतमित्येवोच्यते तदा धूलीपटले धूमत्व-भ्रमान्तरं सकल धूमविषयकं ज्ञानं न स्यात्। तत्र धूमत्वेन सहेन्द्रिय-सम्बन्धाभावात्।

(५+६+७) जैसे जहाँ पर पहले धूम को इन्द्रियसंयुक्त होने पर धूमः इत्याकारक ज्ञान हुआ है उस ज्ञान में धूमत्व प्रकार है तब इन्द्रिय संयुक्त जो धूम तद्विशेष्यक जो ज्ञान वह "धूमत्व प्रकारक धूमविशेष्यक ज्ञान" तादृश ज्ञानप्रकारीभूत जो धूमत्वरूप सामान्य उसको समवाय सम्बन्ध से सकल धूम में रहने के कारण धूमत्वप्रकारक सकल धूमविशेष्यक "धूमाः" इत्याकारक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। (८) इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञानप्रकारीभूत सामान्य के जगह पर लाघव लोभ से यदि इन्द्रियसम्बद्ध जो प्रकारीभूत सामान्य उसको प्रत्यासत्ति मानें तो धूलीपटल में धूमत्व भ्रमानन्तर धूमत्वप्रकारक सकल धूमविशेष्यक जो सामान्य लक्षणजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष होता है वह नहीं होगा क्योंकि प्रकारीभूत जो धूमत्वरूप सामान्य वह इन्द्रियसम्बद्ध नहीं है। इन्द्रियसम्बद्ध तो धूलीपटलत्व है।

(९) मन्मते तु इन्द्रियसंबद्धं धूलीपटलं तद्विशेष्यकं धूम इति ज्ञानम् तत्र प्रकारीभूतं धूमत्वं प्रत्यासत्तिः। (१०) इन्द्रियसम्बन्धश्च लौकिको ग्राह्यः। (११) इदं च बहिरिन्द्रियस्थले। (१२) मानसस्थले तु ज्ञानप्रकारीभूतं सामान्यमात्रं प्रत्यासत्तिः। (१३) परन्तु समानानां भावः सामान्यम्। (१४) तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादि, क्वचिच्चानित्यं घटादि। (१५) यत्रैको घटः संयोगेन भूतले समवायेन कपाले वा ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषामेव तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां वा ज्ञानं भवति तत्रेदं बोध्यम्।

(९) यदि इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक ज्ञान प्रकारीभूत सामान्य को प्रत्यासत्ति मानते हैं तो धूली पटल को इन्द्रियसम्बद्ध होने के कारण इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यक जो ज्ञान वह धूली पटल विशेष्यक धूमत्व प्रकारक ज्ञान तादृश ज्ञान प्रकारीभूत जो धूमत्वरूप सामान्य उसको समवायसम्बन्ध से सकल धूम में रहने के कारण वहाँ धूमत्वप्रकारक सकल धूम

विशेष्यक अलौकिक प्रत्यक्ष के होने में कोई बाधा नहीं है। (१०) इन्द्रियसम्बन्ध से यहाँ लौकिक षड्विध सन्निकर्ष समझना चाहिये। (११) जिस जगह बहिरिन्द्रियजन्य प्रथम ज्ञान होने के बाद सामान्य लक्षणजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष होता है उस स्थल में इस प्रत्यासत्ति को समझना चाहिये। (१२) किन्तु जिस जगह प्रथम ज्ञान मानस हुआ है वहाँ ज्ञान प्रकारीभूत सामान्यमात्र प्रत्यासत्ति है। (१३,१४) समानों का अर्थात् सवोंका जो भाव (असाधारण धर्म) वह सामान्य है किन्तु सामान्यशब्द का अर्थ यहाँ जाति नहीं है वह सामान्य किसी जगह धूमत्वादिरूप होने के कारण नित्य है और किसी जगह घटादिरूप होने के कारण अनित्य है। (१५) जिस जगह एक घटका संयोगसम्बन्ध से भूतल में अथवा समवायसम्बन्ध से कपाल में ज्ञान हुआ है। उसके पश्चात् संयोगसम्बन्ध से तद् घटवत् जो भूतलादि अथवा समवाय सम्बन्ध से तद् घटवत् जो कपालादि उन सबों का जो अलौकिक प्रत्यक्ष होता है उस जगह अनित्य घटादि रूप सामान्य प्रत्यासत्ति होगी।

(१६) परंतु सामान्यं येन सम्बन्धेन ज्ञायते तेन सम्बन्धेनाधिकरणानां प्रत्यासत्तिः। (१७) किन्तु यत्र तद्धटनाशानन्तरं तद्घटवतः स्मरणं जातं तत्र सामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्धटवतां भानं न स्यात्। (१८) सामान्यस्य तदानीमभावात्। (१९) किंचेन्द्रियसम्बन्धविशेष्यकं घट इति ज्ञानं यत्र जातं तत्र परदिने इन्द्रियसंबन्धं बिनापि तादृशज्ञानप्रकारीभूतसामान्याय सत्त्वात्तादृशज्ञानं कुतो न जायते, तस्मात्सामान्यविषयकं ज्ञान प्रत्यासत्तिस्तु सामान्यमित्याह।

(१६) प्रथम ज्ञान में सामान्य जिस सम्बन्ध से प्रकार होता है उसी सम्बन्ध से उक्त सामान्य अपने सकल अधिकरणों का ज्ञान कराता है। (१७) परन्तु तद्घट के नाश होजाने पर जिस जगह तद्घटवत् का स्मरण हुआ है, वहाँ सामान्य लक्षण से तद्घटवत् सकल का ज्ञान न होगा। (१८) कारण यह है कि तद्धट रूप सामान्य के पूर्व ही नाश हो जाने के कारण सामान्य लक्षण जन्य अलौकिक प्रत्यक्ष के पूर्व क्षण में तद्घटरूप सामान्य नहीं है। (१९) और एक यह भी दोष लगेगा कि

जिस जगह घट को इन्द्रियसम्बद्ध होने के बाद घटत्व प्रकारक घट विशेष्यक ज्ञान हुआ है वहाँ घट के साथ इन्द्रियसम्बन्ध नहीं होने पर भी पर दिन में इन्द्रिय सम्बद्ध विशेष्यक ज्ञान प्रकारी भूत घटत्व रूप सामान्य को घट में रहने के कारण घटत्व प्रकारक सकल घटविशेष्यक अलौकिक प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा? इसलिये सामान्यत्वरूप प्रत्यासत्ति नहीं मानकर सामान्य विषयक ज्ञान को प्रत्यासत्ति मानते हैं। तब घटत्व ज्ञान रूप सामान्य ज्ञान के पर दिन में नहीं रहने के कारण सामान्य लक्षण जन्य घटत्व प्रकारक सकल घट विशेष्यक अलौकिक प्रत्यक्ष की पर दिन में आपत्ति नहीं होगी।

का॰ नं॰ ६४ पू॰

आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते।

का॰ अर्थ।

सामान्याश्रय विषयक जो अलौकिक प्रत्यक्ष उसमें सामान्य ज्ञान प्रत्यासत्ति अर्थात् सन्निकर्ष है।

(१) आसत्तिः प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। (२) तथा च सामान्यलक्षण इत्यत्र लक्षणशब्दस्य विषयोऽर्थः। (३) तेन सामान्यविषयकं ज्ञानं प्रतयासत्तिरित्यर्थो लभ्यते।

(१) आसत्ति शब्द का प्रत्यासत्ति अर्थ है। (२) "सामान्य लक्षण" शब्दान्तर्गत लक्षण शब्द का विषय अर्थ है। (३) इसलिये "सामान्यं लक्षणं यस्य असौ सामान्यलक्षणः" इत्याकारक बहुब्रीहि द्वारा सामान्य लक्षण शब्दका सामान्य विषयक ज्ञान रूप अर्थ का लाभ होता है।

(४) ननु चक्षुः संयोगादिकं विनापि सामान्यज्ञानं यत्र वर्त्तते तत्र सकलघटादीनां चाक्षुषादिप्रत्यक्षं स्यादत आह।

(४) शङ्का–जहाँ घट के साथ त्वक् संयोग होने के बाद घटत्व प्रकारक घटविशेष्यक (अन्धकार में) त्वाच प्रत्यक्ष हुआ है वहाँ घटत्व ज्ञान रहने के कारण घटत्वप्रकारक सकल घटविशेष्यक अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा। इस पर मूलकार "तदिन्द्रियेत्यादि"

कारिका से उत्तर देते हैं।

का॰ नं॰ ६४ उत्त॰

तदिन्द्रियजतद्धर्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते।

का॰ अर्थ।

तदिन्द्रियजन्य तद्धर्म प्रकारक अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति तदिन्द्रियजन्य तद्धर्मप्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री प्रयोजक है।

(१) अस्यार्थः। (२) यदा बहिरिन्द्रियेण सामान्यलक्षणया ज्ञानं जननीयं तदा यत्किंचिद्धर्मिणि तत्सामान्यस्य तदिन्द्रियजन्यज्ञानस्य सामग्री अपेक्षिता। (३) सा च सामग्री चक्षुः संयोगालोक संयोगादिकम्। तेनान्धकारादौ चक्षुरादिना तादृशं ज्ञानं न जायते। ननु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिर्यदि ज्ञानरूपा सामान्यलक्षणापि ज्ञानरूपा तदा तयोर्भेदो न स्यादत आह।

(१+२) जिस समय जिस बहिरिन्द्रिय से सामान्य लक्षण द्वारा ज्ञान उत्पादनीय हो उस समय किसी एक धर्मी में तदिन्द्रियजन्य तद्धर्म प्रकारक ज्ञानकी सामग्री रहनी चाहिये। (३) वह सामग्री चक्षुःसंयोग आलोक संयोगादि घटित है इसलिये अन्धकार में घटत्वप्रकारक यत्किञ्चित्घटविशेष्यक चाक्षुषप्रत्यक्ष की सामग्री को नहीं रहने के कारण त्वगिन्द्रिय जन्य घटत्वप्रकारक सामान्य ज्ञान रहने पर भी अन्धकारमें घटत्वप्रकारक सकल घटविशेष्यक सामान्य लक्षण जन्य अलौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं हो सकती। शङ्का– ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति यदि ज्ञानरूपा है और सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति भी ज्ञानरूपा ही है तब दोनों में कुछ अन्तर नहीं होगा। इस प्रश्न का "विषयी" इत्यादि कारिका से उत्तर कहते हैं।

का॰ नं॰ ६५ पूर्वा॰

विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः।

का० अर्थ।

ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति यद्विषयक है वह तद्विषयक ज्ञानोत्पादक होती है।

(१) सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिर्हि तदाश्रयस्य ज्ञानं जनयति। (२) ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिस्तु यद्विषयकं ज्ञानं तस्यैव प्रत्यासत्तिरिति। (३) अत्रायमर्थः। (४) प्रत्यक्षे सन्निकर्षं विनाभावं न संभवति। (५) तथा च सामान्यलक्षणं विना धूमत्वेन सकलधूमानां वह्नित्वेन सकल वह्नीनां च भानं कथं भवेत्तदर्थं सामान्य लक्षणा स्वीक्रियते।

(१) सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति सामान्यश्रयाविषयक ज्ञानोत्पादक है। (२) ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति यद्विषयक ज्ञानरूप होती है तद्विषयक ज्ञानोत्पादक है। (३+४) अभिप्राय यह है कि सन्निकर्षके बिना प्रत्यक्ष में विषय का भान नहीं होता। (५) तब यदि सामान्यलक्षण सन्निकर्ष नहीं माना जायतो धूमत्वेन रूपेण सकल धूमों का वह्नित्वेन रूपेण सकल वह्नियों का भान नहीं हो सकता। इसलिये सामान्य लक्षण सन्निकर्ष माना जाता है।

(६) न च सकलवह्निधूमभानाभावे का क्षतिरिति वाच्यं, प्रत्यक्षधूमे वह्निसंवन्धस्य गृहीतत्वादन्यधूमस्य चानुपस्थिततत्वाद्धूमो वह्निव्याप्यो न वेतिसंशयानुपपत्तेः। (९) मन्मते तु सामान्यलक्षणया सकलधूमोपस्थितौकालान्तरीय देशान्तरीयधूमे वह्निव्याप्यत्वसंदेहः संभवति।

(६) शङ्का–सकल वह्नि और सकल धूमों का भान नहीं होने से क्या हानि? समा०–संशय में धर्मिज्ञान कारण है और निश्चय प्रतिबन्धक है, इसलिये यत्किञ्चित् प्रत्यक्ष धूम में यत्किञ्चित् जो प्रत्यक्ष वह्नि तादृश वह्निव्याप्यत्व के निश्चय रहने पर भी "धूमो वह्निव्याप्यो न वा" इत्याकारक जो सन्देह होता है वह नहीं हो सकता। क्योंकि यत्किञ्चिद्धूम में वह्निव्याप्यत्व का निश्चय रूप प्रतिबन्धक रहने के कारण उक्त संशय प्रत्यक्ष यत्किञ्चित् धूमधर्मिक नहीं हो सकता। कालान्तरीय देशान्तरीय धूमों के ज्ञान नहीं रहने के कारण धर्मिज्ञान रूप कारण को नहीं रहने के हेतु उक्त संशय अज्ञात (उक्त कालान्तरीय देशान्तरीय) धूमधर्मिक भी

नहीं हो सकता। (७) मेरे मत से तो सामान्य लक्षणा मानने के कारण सामान्य लक्षणाजन्य देशान्तरीय कालान्तरीय सकल धूम का ज्ञान होगा। तब कालान्तरीय देशान्तरीय धूमधर्मिक "धूमोवह्नि व्याप्यो नवा" इत्याकारक संशय हो सकता है।

(८) न च सामान्यलक्षणस्वीकारे प्रमेयत्वेन सकल प्रमेयज्ञाने जाते सार्वज्ञापत्तिरिति वाच्यं, प्रमेयत्वेन सकल प्रमेयज्ञाने जातेऽपि विशिष्य सकलपदार्थानामज्ञातत्वेन सार्वज्ञाभावात्। (९) एवं ज्ञानलक्षणाया अस्वीकारे सुरभिचन्दनमिति ज्ञाने सौरभस्य भानं कथं स्यात्।

(८) शङ्का–यदि सामान्य लक्षण स्वीकार करते हैं तो प्रमेयत्वेन रूपेण एक प्रमेयका ज्ञान होने पर (अर्थात् एक वस्तु में प्रमेयत्व ज्ञान होनेपर) प्रमेयत्वेन रूपेण सकल प्रमेय का ज्ञान होने के कारण सभी मनुष्यों को सर्वज्ञत्वापत्ति हो जायगी। समा०–प्रमेयत्वेन रूपेण सकल पदार्थ का ज्ञान रहने पर भी विशेषतत्तद्रूप से सकलपदार्थ का अज्ञान रहने कारण (अर्थात् संसारीय पदार्थों में प्रत्येक प्रत्येक पदार्थ का तत्तद्रूपेणपूर्णतया विज्ञान नहीं रहने के कारण) सब मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकते। (९) एक दिन जिसने चन्दन को सूंघा है और पुनः दूसरे दिन चन्दन को दूर से देखने पर उसको जो "सुरभिचन्दनम्" इत्याकारक ज्ञान होता है उस ज्ञानमें चन्दन, चन्दनत्व, सौरभ और सौरभत्व इन चार विषयोंका भान होता है उनमें चन्दन और चन्दनत्वका क्रमशः चक्षुः संयोग और चक्षुःसंयुक्त समवाय सन्निकर्ष से लौकिक चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। सौरभ और सौरभत्व इन दोनों में चक्षुर्ग्राह्यत्व नहीं रहने के कारण चाक्षुष भान नहीं हो सकता। उक्त दोनों में घ्राण ग्राह्यत्व रहने पर भी उस समय में घ्राणेन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं रहने के कारण घ्राणेन्द्रियजन्य भी ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये उस समय में सौरभ भान निर्वाहार्थ ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष मानना आवश्यक है। शङ्का–ऐसा कह सकते हैं कि "सुरभि चन्दनम्" इस ज्ञानमें चन्दन का चाक्षुष और पूर्वानुभूत सौरभ का स्मरण ही मान लें तो ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष की कल्पना करना व्यर्थ है समाधान–इस

प्रकार मानने से उक्त ज्ञान में चंदन विषयकत्वावच्छेदेन प्रत्यक्षत्व और सौरभ विषयकत्वावच्छेदेन स्मृतित्व आपको मानना होगा जो नियमविरुद्ध है। क्योंकि जाति अव्याप्यवृत्ती नहीं हो सकती। जैसे किसी पशु पर एकदेशावच्छेदेन अश्वत्व और अपर देशावच्छेदेन गजत्त्व नहीं रहता इसलिये ज्ञान लक्षणा मानना आवश्यक है। जिस जगह चन्दन के साथ चक्षु: संयोगादिरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामग्री है और पूर्वानुभूत सौरभ का स्मरण है एवं चन्दन में सौरभ का बाध निश्चयाभाव अर्थात् चन्दन में सौरभ नहीं रहता है, इत्याकारक निश्चय का अभाव है। उस स्थल में सौरभ स्मरणात्मकज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से पुरोवर्त्ती चन्दन में सौरभ का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। इसी को उपनीतभान भी कहते हैं।

(१०) यद्यपि सामान्यलक्षणयापि सौरभभानं संभवति तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया (११) एवं यत्र धूमत्वेन धूलीपटलं ज्ञातं तत्र धूलपटलस्यानुव्यवसाये भानं ज्ञानलक्षणया।

(१०) यद्यपि सौरभत्व प्रकारक सौरभविशेष्यक स्मरण को रहने के कारण सौरभत्व ज्ञानरूप सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति से सौरभ का भान हो सकता है। फिर सौरभ भानार्थ ज्ञान लक्षण की कल्पना करना व्यर्थ है। तथापि सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति से सौरभ का भान होने पर भी "सौरभत्वप्रकारक सौरभत्वविशेष्यक" ज्ञान नहीं रहने के कारण सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति से सौरभत्व का भान होना असम्भव है। इसलिये सौरभत्व भानार्थ ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति मानना आवश्यक है। (११) एवं धूलीपटल में धूमत्वभ्रम होने पर " धूममहं जानामि इत्याकारक अनुव्यवसाय का विषय जो धूमत्वेन रूपेणधूली पटल का ज्ञान उस ज्ञान में विषयिता सम्बन्धेन धूलीपटल भानार्थ भी ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति मानना आवश्यक है क्योंकि सामान्य लक्षण से धूलीपटलका भान नहीं हो सकता जिसहेतु धूमत्व ज्ञानरूप सामान्यलक्षण स्वविषय धूमत्ववत्ता सम्बन्धेन धूम ही में रहेगा तब उससे धूलीपटल का भान कैसे होगा धूलीपटलत्व ज्ञानरूप सामान्यलक्षण स्वविषय धूलीपटलत्ववत्तासम्बन्धेन धूलीपटल में रहेगा तो वह नहीं है अत: उपायान्तर से धूलीपटल का भान उक्तज्ञान में नहीं हो सकता इसहेतु अगत्या ज्ञानलक्षणा माननी होगी।

का० ६५ उत्तरार्द्ध।

योगजोद्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।।

का० अर्थ।

युक्तयुञ्जानभेद से योगजधर्म दो प्रकार के होते हैं।

(१) योगजो द्विविध इति। (२) योगाभ्यासजनितो धर्मविशेषः श्रुतिपुराणादिप्रतिपाद्य इत्यर्थः। (३) युक्तयुञ्जानभेदत इति। (४) युक्तयुञ्जानरूप योगिद्वैविध्याद्धर्मस्यापि द्वैविध्यमिति भावः।

(१ से ४) योगियों को युक्त और युञ्जान भेद से दो प्रकार होने के कारण श्रुतिपुराणादिप्रतिपादित योगाभ्यासजनितयोगनिष्ठधर्म भी युक्त युञ्जान भेदसे दो प्रकार के हैं।

का० ६६ पूर्वार्द्ध।

युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्तासहकृतोऽपरः

का० अर्थ।

युक्तयोगी को सर्वदा विषय का भान होता रहताहै और युञ्जान को ध्यान करने से भान होता है।

(१) युक्तस्य सर्वदा भानमिति। युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसा आकाशपरमाण्वादिनिखिलपदार्थगोचरं ज्ञानं सर्वदैव भवितुमर्हति। (२) द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सहकारीति।

(१) (उनमें) युक्तयोगी को योगाभ्यासजन्य युक्तनामक अलौकिक-सामर्थ्य और मन इन दोनों से आकाशपरमाण्वादि निखिल अतीन्द्रिय और अतीतादिविषयों का ज्ञान अनवरत ही होता रहता है। (२) और युञ्जानयोगी को योगाभ्यासजन्य युञ्जाननामक अलौकिक-सामर्थ्य, चिन्ताविशेष और मन इन तीनों से उक्त आकाशादिविषयोंका ज्ञान होता है।

।इति श्री चन्द्रधारिसिंहशर्मविरचितायां चन्द्रिकाटीकायां प्रत्यक्षपरिच्छेदः समाप्तः।।

अथानुमानपरिच्छेदः।

अनुमितिं व्युत्पादयति, व्यापारस्त्विति।

"व्यापारस्तु" इत्यादि ग्रन्थ में मूलकार अनुमानप्रमाण का निरूपण करते हैं।

का० ६६, ६७।

व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्।
अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा।।

का० अर्थ।

अनुमिति में परामर्श व्यापार है। एवं व्याप्तिज्ञान कारण है और व्याप्यत्वेनज्ञायमानलिङ्ग (अनुमिति का) करण नहीं है, क्योंकि अनागत एवं अतीतलिङ्ग से अनुमिति होती है, सो नहीं होगी।

(१) अनुमायामनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं। (२) परामर्शो व्यापारः तथाहि। (३) येन पुरुषेण महानसादौ धूमे वह्नेर्व्याप्तिर्गृहीता पश्चात्सएव पुरुषः क्वचित् पर्वतादावविच्छिन्नमूलां धूमलेखां पश्यति। (४) तदनन्तरं धूमो वह्निव्याप्य इत्येवं रूपं व्याप्तिस्मरणं भवति। (५) पश्चाच्च वह्निव्याप्यधूमवानयमिति ज्ञानं भवति, स एव परामर्श इत्युच्यते। (६) तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानं जायते, तदेवानुमितिः।

(१, २) कारिकार्थ में स्पष्ट है। (३) जिस पुरुष से महानसादि स्थलों में धूम में वह्नि का "यत्रयत्रधूमस्तत्रतत्रवह्निः" इत्याकारक साहचर्य नियमरूप व्याप्ति ज्ञात हुई। तदनन्तर वही पुरुष किसी पर्वत में लम्बमान निरन्तर धूम की धारा देखा है। (४) उसके बाद (उसको) "धूमो वह्निव्याप्यः" इत्याकारक व्याप्ति का स्मरण होता है। (५) पीछे "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञान उक्त पुरुष को होता है।

उस ज्ञान का नाम "परामर्श" है (६) उसके पश्चात् "पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक ज्ञान होता है, वही अनुमितिरूप ज्ञान है।

(७) अत्र प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमिति करणमिति वदन्ति, तद्दूषयति, ज्ञायमानमिति।

(७) प्राचीनों का ऐसा मत है कि अनुमिति में व्याप्यत्वेन ज्ञायमानलिङ्ग (एतावता व्याप्यत्वप्रकारकज्ञानविशेष्य जो लिङ्ग) वह कारण है। उसका खण्डन नवीन (आचार्य) "ज्ञायमान्" इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं।

(८) लिङ्गस्यानुमित्यकरणत्वे युक्तिमाह, अनागतादीति। (९) यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्, तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेनानुमितिर्न स्यात्, अनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात्।

(८) ज्ञायमानलिङ्ग अनुमिति के प्रति करण नहीं है। इसकी युक्ति "अनागतादि ग्रन्थ से कहते हैं। (९) यदि अनुमिति के प्रति ज्ञायमानलिङ्ग ही करण माना जाय तो भविष्यत् और भूत लिंगों से "इयम् यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति भावधूमात्" एवम् 'इयं यज्ञशाला वह्निमती आसीत् भूतधूमात्' इत्यादि अनुमिति नहीं होगी। क्योंकि व्याप्यत्वेन ज्ञानमान भविष्यत् और भूतधूम अनुमिति से पूर्वक्षण में नहीं है।

का० ६८ पूर्वार्द्ध।

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते।

का० अर्थ।

साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु में पक्षवृत्तित्वावगाही जो ज्ञान वह परामर्श कहलाता है।

(१) व्याप्यस्येति। व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानमनुमितिजनकम्। (२) तच्च व्याप्यः पक्षे इति ज्ञानं पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानं वा। (३) अनुमितिस्तु पक्षे व्याप्य इति ज्ञानात् पक्षेसाध्य मित्याकारिका, पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानात् पक्षः

साध्यवानित्याकारिका। (४) द्विविधादपि परामर्शात् पक्षः साध्यवा-नित्येवानुमितिरित्यन्ते।

(१) साध्यनिरूपितव्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष के साथ वैशिष्ट्यावगाही (अर्थात् सम्बन्धावगाही) ज्ञान अनुमिति जनक है वह परामर्शरूप ज्ञान है। (२) परामर्श व्याप्तिविशिष्टपक्षवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान–"साध्यव्याप्यहेतुः पक्षे" और "साध्यव्याप्यहेतुमान्पक्षः" इत्याकारक आधेयतासम्बन्धेन पक्षप्रकारक व्याप्यविशेष्यक परामर्श से "पक्षे साध्यम्" इत्याकारक विशेषणविशेष्यभावके व्यत्यास से दो प्रकार के होते हैं। (३) "पक्षे व्याप्यः" इत्याकारक आधेयतासम्बन्धेन पक्षप्रकार व्याप्यविशेष्यक परामर्श से "पक्षे साध्यम्" इत्याकारक पक्षप्रकारक साध्यविशेष्यक अनुमिति होती है। और "व्याप्यवान पक्षः" इत्याकारक साध्यव्याप्य हेतु प्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श से– "साध्यवान् पक्षः" इत्याकारक साध्यप्रकारक पक्षविशेष्यक अनुमिति होती है। (इस प्रकार परामर्श के द्वैविध्य से अनुमिति का द्वैविध्य होता है)। (४) किसी का मत है कि दोनों प्रकार के परामर्शों से "पक्षस्साध्यवान्" इत्याकारक एक ही अनुमिति होती है।

(५) ननु वह्निव्याप्यधूमवान्पर्वत इति ज्ञानं विनापि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं, ततो धूमो वह्निव्याप्य इति स्मरणं, तत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितिदर्शनाद्व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं न सर्वत्र कारणं, किन्तु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मता ज्ञानत्वेनैव कारणत्व-स्यावश्यकत्वात्, तत्र विशिष्टवैशिष्टयज्ञानकल्पने गौरवाच्चेतिचेन्न।

(५) मीमांसक–"वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक व्याप्ति-विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही (परामर्श) ज्ञान के बिना भी जहाँ पर "पर्वतो धूमवान्" इत्याकारक प्रत्यक्ष के बाद "धूमोवह्निव्याप्य" इत्याकारक स्मरण हुआ है वहाँ उक्त ज्ञानद्वय से भी अनुमिति होती है इसलिये "साध्यव्याप्य हेतुमान् पक्षः" इत्याकारक व्यावप्तिविशष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान अनुमितिसामान्य में कारण नहीं है। किन्तु व्याप्यतावच्छेदक (धूमत्वादि) प्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान अर्थात् "हेतुमान् पक्षः" इत्याकारक ज्ञान ही (जो

कि आपको भी मानना अभ्यर्हित है उसी) को अनुमिति के प्रति कारण स्वीकार करना आवश्यक है एवं उक्त विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान में कारणता मानने से सब स्थलों में अनुमिति से पूर्व आपके (न्याय) मत में कल्पनाकृत और गौरव भी हो जायगा। (नैया॰) आप (मीमांसक) का ऐसा कहना युक्त नहीं है।

(६) व्याप्यतावच्छेदकाज्ञानेऽपि वह्निव्याप्यवानिति ज्ञानादनुमित्युत्पत्तेर्लाघवाच्च व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव हेतुत्वम् (७) किं च "धूमवान् पर्वत" इति ज्ञानादनुमित्यापत्तिः व्याप्यतावच्छेदकीभूत धूमत्वप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञानस्य सत्त्वात्।

(६) [1]नै॰ (क) अनुमिति के प्रति यदि "व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक-पक्षधर्मता ज्ञान" में कारणता मानें तो वह्निव्याप्यवान् पर्वत इत्याकारक व्याप्यतावच्छेद की भूत धूमत्वाद्यनवगाहि ज्ञान से जो अनुमिति होती है वह नहीं होगी, क्योंकि उक्त ज्ञान व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक नहीं है। (ख) और व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वापेक्षया लाघव से भी "व्याप्ति- प्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन "रूपेण कारणता मानें वही उचित है (७) नहीं मानने से तीसरा दोष है कि (ग) "धूमवान्पर्वतः" यह ज्ञान भी वस्तुगत्या "व्याप्यतावच्छेदकधूमत्वप्रकारकपक्षधर्मता" ज्ञानरूप है, अतएव उसके बाद अनुमित्यापत्ति हो जायगी।

(८) न च तदानीं गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्ष-धर्मताज्ञानस्य हेतुत्वमिति वाच्यम्। (९) चैत्रस्य व्याप्तिग्रहे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानादनुमितिः स्यादिति।

(८) अगर आप (मीमांसक) ऐसा कहें कि व्याप्यतावच्छेदकत्वेन ज्ञायमान जो धर्म तद्धर्म्मप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञान को कारणता मानते हैं,

---

१. "आलोको धूमो वा वह्न्यभाववदवृत्तिः" इत्याकारक सन्देहस्थल में व्याप्यतावच्छेदक धूमत्वादि प्रकारक निर्णयाभाव रहने के कारण "वह्न्यभाववद् वृत्तिमान्" इत्याकारक ज्ञान से भी अनुमिति होती है अतः "व्याप्यतावच्छेदक-प्रकारकपक्षधर्मताज्ञानको" कारणता नहीं मान सकते हैं।

तब धूमत्व को व्याप्यतावच्छेदकत्वेन गृहीत नहीं रहने के कारण "धूमवान् पर्वतः" यह ज्ञान अनुमिति का कारण नहीं होगा। अतः "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानान्तर अनुमित्यापत्ति नहीं होगी। (९) अगर ऐसा हो तो जहाँ "धूमो वह्निव्याप्यः" इत्याकारक व्याप्तिज्ञान चैत्र को है और "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक पक्षधर्मताज्ञान मैत्र को है तब वहाँ मैत्र को अनुमिति होनी चाहिये क्योंकि चैत्र से व्याप्यतावच्छेदकत्वेन गृहीत जो "धूमत्व" तत्प्रकारकपक्षधर्मता ज्ञान मैत्र में रह गया।

(१०) यदि तु तत्पुरुषीयगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते, तदाऽनन्त-कार्यकारणभावः।

(१०) यदि ऐसा कहें कि तत्पुरुषीय अनुमिति के प्रति तत्पुरुषीय-व्याप्यतावच्छेदकत्वेन गृहीत जो धर्म तद्धर्म्मप्रकारक तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञान कारण है। अतः एक ही कार्यकारणभाव होगा, अनन्त नहीं।

(१२) यदि तु व्याप्तिप्रकारकं ज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानं च स्वतन्त्रं कारणमित्युच्यते, तदा कार्यकारणभावद्वयम्, वह्निव्याप्योधूम आलोक वान् पर्वतः, इति ज्ञानादप्यनुमित्यापत्तिःस्यात्।

(१२) यदि अनुमिति के प्रति व्याप्तिप्रकारकज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान इन दोनों को पृथक २ रूप से कारणता मानें तो मीमांसक को दो कार्य कारण भाव होंगे और "वह्निव्याप्योधूमः" "आलोकवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानसेभी अनुमित्यापत्ति हो जायगी क्योंकि "वह्निव्याप्योधूमः" इत्याकारक व्याप्तिप्रकारकज्ञान और "आलोकवान् पर्वतः" इत्याकारक पक्षधर्मताज्ञान ये दोनों उपस्थित हैं।

(१३) इत्थं च यत्र ज्ञानद्वयं तत्रापि विशिष्टज्ञानं कल्पनीयं फलमुखगौरवस्यादोषत्वादिति।

(१३) यदि ऐसा कहें कि जहाँ पर "वह्निव्याप्यो धूमः" और "धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञानद्वय है वहाँ पर भी आपके (नैयायिक)

मतसे विशिष्टवैशिष्टयावगाहि अर्थात् "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञान की कल्पनाकृतगौरव होता है। नैयायिक का उत्तर है कि एतादृश गौरव फलमुखगौरवरूप होने के कारण मुझे इष्ट है क्योंकि फलमुखगौरव दोषाधायक नहीं है।

का० ६८ उत्तरार्द्ध।

व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः॥

का० अर्थ।

साध्यवद्भिन्ननिरूपितवृत्तित्वाभाव व्याप्ति है अर्थात् साध्याधिकरण से भिन्न में हेतु का सम्बन्ध नहीं रहना ही व्याप्ति है।

(१) व्याप्यो नाम व्याप्त्याश्रयः तत्र का व्याप्तिरित्यत्र आह व्याप्तिरिति।

(१) व्याप्ति के आश्रय का नाम व्याप्य है, व्याप्यघटक (अन्तर्गत) जो व्याप्ति है उसका स्वरूप मूलकार "व्याप्तिरित्यादि" शब्द से कहता है।

(२) साध्यवदन्येति। वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निः साध्यवान्महानसादिस्तदन्यो जलह्रदादिस्तदवृत्तित्वं धूमस्येति लक्षण-समन्वयः।

(२) "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में वह्नि साध्य है। साध्यवान् महानसादि (अर्थात् महानस, पर्वत, चत्वर, गोष्ठ और अयोगोलक) हैं उन पाँचों से भिन्न जो जलादि तन्निरूपित वृत्तित्व मीनादि में किन्तु धूम में नहीं है। अतः तादृश जलादिनिरूपित वृत्तित्वाभाव धूम में रहने के कारण लक्षण समन्वय हुआ।

(३) धूमवान् वह्नेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिंस्तप्तायः पिण्डादौ वह्नेः सत्त्वान्नातिव्याप्तिः।

(३) "धूमवान् वह्नेः" इस व्यभिचारी स्थलमें धूमरूप साध्य का अधिकरण जो महानसादि चार तदन्य जो अयोगोलक तन्निरूपित वृत्तित्व

ही वह्निरूप हेतु में रहने के कारण तादृश वृत्तित्वाभाव उक्त हेतु में नहीं रहा अत: अतिव्याप्ति नहीं हुई।

(४) अत्र येन सम्बन्धेन साध्यं तेनैव सम्बन्धेन साध्यवान् बोध्यः।

(४) इस लक्षण में जिस सम्बन्ध से साध्य की अनुमिति पक्ष में हो वही सम्बन्ध साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहाता है और उसी साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से लक्षणघटकसाध्यवान् समझना चाहिये।

(५) अन्यथा समवायसम्बन्धेन वह्निमान्वह्नेरवयवस्तदन्यो महानसादिस्तत्र धूमस्य विद्यमानत्वादव्याप्तिप्रसङ्गात्।

(५) अन्यथा यदि साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध से साध्यवान् की विवक्षा नहीं करके किसी दूसरे एक सम्बन्ध से विवक्षा करें तो "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में अव्याप्ति होगी क्योंकि समवायसम्बन्ध से वह्निमत् जो वह्नि का अवयव तदन्य जो महानसादि तन्निरूपित वृत्तित्व धूम में रह गया तादृश वृत्तित्वाभाव नहीं रहेगा।

(६) साध्यवदन्यश्च साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् बोध्यः। (७) तेन यत्किञ्चिद्वह्निमतो महानसादेर्भिन्ने पर्वतादौ धूमस्य सत्त्वेऽपि न क्षतिः।

(६+७) "साध्यवदन्य" शब्द का अर्थ सकल साध्याधिकरण में रहनेवाला जो "साध्यवत्त्व" रूपधर्मविशेष तद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाश्रय अर्थात् "साध्यवान्न" इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध भेदाश्रय समझना चाहिये। अगर ऐसा अर्थ नहीं करें तो "वह्निमान् धूमात्" इत्यादि स्थल में वह्निमत् जो महानसादिरूप एक व्यक्ति तदन्य जो वह्निमत् पर्वतादि तन्निरूपित वृत्तित्व धूमरूप हेतु में रहने के कारण अव्याप्ति हो जायगी किन्तु उक्त अर्थ करने पर वह्निमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत् उक्त पर्वतादि नहीं होगा किन्तु जलादि ही होगा, तन्निरूपित वृत्तित्वाभाव धूम में रहने से लक्षण समन्वय हुआ।

(८) येनसम्बन्धेन हेतुता तेनैवसम्बन्धेन साध्यवदन्यावृत्तित्वं बोध्यम्। (९) तेन साध्यवदन्यस्मिन्धूमावयवे धूमस्य समवायसम्बन्धेन सत्त्वेऽपि न क्षतिः।

(८+९) जिस सम्बन्ध से साध्यव्याप्य हेतु का पक्ष में ज्ञान अनुमिति का कारण हो (वही सम्बन्ध हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध कहाता है। उसी सम्बन्ध से (हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न) साध्यवदन्यनिरूपित वृत्तित्व समझना चाहिये। अन्यथा पुनः "वह्निमान् धूमात्" में अव्याप्ति होगी क्योंकि साध्यवत् जो महानसादि तदन्य जो धूमावयव उसमें धूम को समवायसम्बन्ध से वृत्तित्व ही रहा न कि वृत्तित्वाभाव रहेगा। अब "साध्यवदन्यनिरूपित वृत्तिता" में हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश करने पर साध्यवदन्य जो धूमावयवतन्निरूपित हेतुतावच्छेदक संयोगसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तिता धूम में नहीं है अतः लक्षणसमन्वय हुआ।

(१०) साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वाच्छिन्नप्रति योगिताकाभावः तेन धूमवान् वह्नेरित्यत्र साध्यवदन्यजलह्रदादि-वृत्तित्वाभावेऽपि नातिव्याप्तिः।

(१०) (क) साध्यवदन्यावृत्तित्व शब्द का यदि साध्यवदन्यनिरूपित-वृत्तित्वप्रतियोगिक अभाव अर्थ करें तो "धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में धूमवदन्यनिरूपित वृत्तित्व घटोभयाभाव भी साध्यवदन्यनिरूपित वृत्तित्व-प्रतियोगिक अभाव हुआ वह अभाव वह्निरूप हेतु में है तब अतिव्याप्ति होगई अतः साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाधिकरणनिष्ठ निरूपितत्व सम्बन्धावच्छिन्नअवच्छेदकताभिन्न वृत्तितात्वानिष्ठअवच्छेदकताभिन्न जो अवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकत्वानिरूपित जो वृत्तितानिष्ठ प्रतियोगिता तादृश प्रतियोगिता निरूपक अभाव (साध्यवदन्यावृत्तित्व शब्द का) अर्थ है। तब उक्त उभयाभावीय प्रतियोगिता को साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक-भेदाधिकरण वृत्तितात्व, घटत्व, उभयत्व इन चार निष्ठ अवच्छेदकता निरूपित होने के कारण तादृश अधिकरणनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न वृत्तितात्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न जो घटत्व एवं उभयत्वनिष्ठ अवच्छेदकता

तादृश अवच्छेदकत्वानिरूपित उक्तोभयाभावीयप्रतियोगिता नहीं होगी, इसलिये तादृश प्रतियोगितानिरूपकअभाव से उक्तोभयाभाव नहीं लिया जायगा। किन्तु साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभावही लिया जायगा जोकि वह्निरूप हेतु में नहीं है अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(ख) ऐसा लक्षण करने पर भी पुनः "धूमवान् वह्नेः" इसी स्थल में धूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाधिकरणजलनिरूपितवृत्तित्वाभाव भी उक्त तादृश अभाव हुआ। वह अभाव वह्निरूप हेतु में रह जायगा। अतः पुनः अतिव्याप्ति होगी इसलिये "साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदनिष्ठ-अवच्छेदकताभिन्न अधिकरणनिष्ठअवच्छेदकताभिन्न जो अवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकतानिरूपित जो अधिकरणनिष्ठअवच्छेदकता" ऐसा निवेश करना चाहिये। तव धूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाधिकरणजलनिष्ठ अवच्छेदकता को तादृश भेद, अधिकरणत्व, जलत्व, इन तीनोंनिष्ठ अवच्छेदकताओं से निरूपित होने के कारण तादृश भेदनिष्ठअवच्छेदकताभिन्न अधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न जो जलत्वनिष्ठ अवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकतासे अनिरूपित धूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाधिकरण ही निष्ठ अवच्छेदकता होगी इसलिये उक्त 'धूमवत्त्वावच्छिन्न" प्रतियोगिताक भेदाधिकरण जल निरूपित वृत्तित्वाभाव लेकर अतिव्याप्ति नहीं लगी।

(ग) ऐसा कहने पर भी "धूमवान् वह्नेः" इसी स्थल में पुनः जलवृत्तित्व विशिष्ट जो धूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद वह जलमात्र में रहता है तब जलवृत्तित्वविशिष्ट जो धूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद तादृशभेदाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव को भी (तादृश भेदनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न अधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न जोअवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकतानिरूपित जो अधिकरणत्वनिष्ठ अवच्छेदकता अवच्छेदकताभिन्न वृत्तितात्वनिष्ठअवच्छेदकताभिन्न जो अवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकतानिरूपित जो वृत्तितानिष्ठप्रतियोगिता तादृशप्रतियोगिता-निरूपकअभाव) रूप होने के कारण अतिव्याप्ति होगी इसलिये "साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिष्ठ अवच्छेदकताभिन्न भेदत्वनिष्ठ-अवच्छेदकताभिन्न जो अवच्छेदकता तादृशअवच्छेदकत्वानिरूपित जो

भेदनिष्ठअवच्छेदकता" ऐसा निवेश करना होगा। तव जलवृत्तित्वविशिष्ट-धूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभेदनिष्ठ अवच्छेदकता को साध्यवत्त्वावच्छिन्न-प्रतियोगितानिष्ठअवच्छेदकताभिन्न भेदत्वनिष्ठअवच्छेदकताभिन्न जो जलवृत्तित्व वैशिष्ट्यनिष्ठअवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकत्वानिरूपित जलवृत्तित्वविशिष्टधूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताका भेदनिष्ठअवच्छेदकता नहीं होगी। किन्तु केवल धूमवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदनिष्ठ ही अवच्छेदकता होगी इसलिये जलवृत्तित्वविशिष्ट जो धूमवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद तादृश भेदाधिकरणनिरूपित वृत्तित्वाभाव लेकर अतिव्याप्ति नहीं होगी। साध्यवदन्यावृत्तित्वशब्द का पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि निरूपकत्व-सम्बन्धावच्छिन्न) साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिष्ठअवच्छेदकताभिन्न (स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न) अधिकरणत्वनिष्ठअवच्छेदकताभिन्न जो अवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकत्वानिरूपित जो (निरूपितत्व सम्बन्धा-वच्छिन्न) अधिकरणनिष्ठअवच्छेदकता तादृश अवच्छेदकताभिन्न (स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न) वृत्तितात्वनिष्ठ प्रवच्छेदकताभिन्न जो अवच्छेदकतातादृश अवच्छेदकत्वानिरूपित जो वृत्तितात्वनिष्ठ (स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न) प्रतियोगितानिरूपक अभाव (व्याप्ति) है।

(११) अत्र यद्यपि द्रव्यम् गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ विशिष्टसत्तायाः शुद्धसत्तायाश्चैक्यात्साध्यवदन्यस्मिन्गुणादाववृत्तित्वं नास्ति। (१२) तथापि हेतुतावच्छेदकरूपेणा वृत्तित्वं वाच्यम्। (१३) हेतुतावच्छेदकं तादृशवृत्तितानवच्छेदकमिति फलितोर्थः।

(११, १२, १३) इस साध्यवदन्यावृत्तित्वरूपव्याप्तिलक्षण में गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्ता और शुद्धसत्ता को एक होने के कारण साध्यवदन्य जो गुणादितन्निरूपित वृत्तित्व शुद्ध सत्ता में है। तब विशिष्टसत्ता में तादृश वृत्तित्व का अभाव नहीं रह सकता है विशेष्यवृत्तिप्रतियोगिक अभाव में विशिष्टानुयोगिकत्व नहीं रहता है इसलिये "द्रव्यम् गुण कर्मान्यत्वविशिष्ट सत्त्वात्" इस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी। अतः साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तितानवच्छेदक जो हेतुतावच्छेदक तद्वत्त्व व्याप्ति कहना होगा, तब गुण में सत्तात्वरूपसे सत्ता हैं किन्तु

गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वरूप से नहीं है इसलिये गुणकर्म्मान्यत्व विशिष्टसत्तात्वरूप हेतुतावच्छेदक को साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तितानवच्छेदक होनेके कारण साध्यवदन्यनिरूपितवृत्तितानवच्छेदक जो विशिष्टसत्तात्वरूपहेतु-तावच्छेदक तद्वत्त्व हेतु में रहने से लक्षण समन्वय हुआ।

(१४) ननु केवलान्वयिनि ज्ञेयत्वादौ साध्ये साध्यवदन्य-स्याप्रसिद्धत्वादव्याप्तिः। (१५) किंच सत्तावान्जातेरित्यादौ साध्ववदन्यस्मिन्सामान्यादौ हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेनसमवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिश्चात आह।

(१४, १५) "ज्ञेयत्वावान् वाच्यत्वात्" इस केवलान्वयिसाध्यकसद्धेतु में साध्यवदन्य अप्रसिद्ध होने के कारण अव्याप्ति होगी। एवं "सत्तावान् जातेः" इस स्थल में साध्यवदन्य जो सामान्यादि उनमें समवायसम्बन्ध से कोई पदार्थ नहीं रहता है। अतः तादृशसाध्यवदन्यसामान्यादिनिरूपित-हेतुतावच्छेदक समवायसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तित्व अप्रसिद्ध है इसलिये अव्याप्ति होगी। एतदर्थ इस लक्षण को छोड़कर "अथवेत्यादि" मूल से व्याप्ति का सिद्धान्त लक्षण कहते हैं।

का० ६९।

अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना।
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते॥

का० अर्थ।

हेतु के अधिकरण में रहनेवाला जो विरह अभाव उस अभाव का अप्रतियोगी जो साध्य तादृशसाध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य साध्यनिरूपितव्याप्ति है।

(१) हेतुमति निष्ठा वृत्तिर्यस्य स तथा विरहोऽभावः, तथा च हेत्वधिकरणवृत्तिर्योऽभावः तदप्रतियोगिना साध्येन सह हेतोः सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते।

(१) कारिका का अर्थ ही इसका भी अर्थ है तब हेतु समानाधिकरण

जो घटाभाव उस अभाव का अप्रतियोगी जो ज्ञेयत्व और सत्तारूपसाध्य तादृशसाध्य सामानाधिकरण्य, वाच्यत्व और जातिरूप हेतुओं में रहने से लक्षण समन्वय हुआ। इसी प्रकार "वह्निमान्धूमात्" इत्यादि स्थलों में लक्षण समन्वय जानना चाहिये।

(२) अत्र यद्यपि वह्निमान्धूमादित्यादौ हेत्वधिकरणपर्वतादि वृत्त्यभावप्रतियोगित्वं तत्तद्वह्न्यादेरस्तीत्यव्याप्तिः।

(२) इस लक्षण में "वह्निमान्धूमात्" इत्यादि स्थल में अव्याप्ति होगी यथाधूमरूप हेतु का अधिकरण जो पर्वत, चत्वर, गोष्ठ महानस चालनीन्याय से अर्थात् पर्वतीयधूमाधिकरण पर्वत में महानसीय वह्नि का एवं मानसीय धूमाधिकरण महानस में पर्वतीयवह्नि का अभाव इत्यादि रीति से सकल तत्तत् वह्नि का अभाव हेत्वधिकरणवृत्ति होगा अतः हेतु समानाधिकरण अभाव का अप्रतियोगी कोई भी वह्नि नहीं हुआ अतः "वह्निमान् धूमात्" यहाँ अव्याप्तिरूपदोष लगा।

(३) न च समानाधिकरण वह्निधूमयोरेव व्याप्तिरिति वाच्यं, तत्तद्वह्न्यादेरप्युभयाभाव सत्त्वादेकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीति प्रतीतेः।

(३) यदि ऐसा कहें कि उक्त लक्षण सामान्यव्याप्ति का नहीं है किन्तु विशेषव्याप्ति का है। अर्थात् जो हेतु जिस साध्य के अधिकरण में वर्तमान है तद्धेतुनिष्ठ जो तत्साध्यनिरूपितव्याप्ति वही विशेषव्याप्ति कहाती है। यथा "तद्वह्निमान् तद्धूमात्" इसविशेषव्याप्ति स्थल में पर्वतीयधूम का अधिकरण जो पर्वत उसमें वृत्ती जो अभाव वह पर्वतीयवह्निका अभाव नहीं होगा किन्तु चत्वरीय वह्न्यादि के अभाव होंगे उन अभावों के अप्रतियोगी जो पर्वतीय वह्निरूपसाध्य उस साध्य का पर्वतीय धूमरूप हेतु में सामानाधिकरण्य होने के कारण अव्याप्ति नहीं हुई। तथापि "तद्वह्निमान्तद्धूमात्" इसी स्थल में अव्याप्ति होने के कारण उक्त लक्षण विशेषव्याप्ति का भी नहीं हो सकता यथा तद्धूमरूप हेतु का अधिकरण जो तत्पर्वत तन्निष्ठ तद्वह्नि का अभाव नहीं होने पर भी कहना होगा कि तद्वह्निघटोभयाभाव अवश्य है क्योंकि "एक सत्त्वेपि द्वयं

नास्ति" ऐसी प्रतीति होती है इसलिये उभयाभाव का अप्रतियोगी तद्वह्निरूप साध्य नहीं हुआ।

(४) गुणवान्द्रव्यत्वादित्यादावव्याप्तिश्च, तथापि प्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति वाच्यम्।

(४) "तद्वह्निमान् तद्धूमात्" केवल इसी स्थल में अव्याप्ति लगती है ऐसा नहीं किन्तु "गुणवान् द्रव्यत्वात् में" भी अव्याप्ति लगती है यथा कोई भी गुणव्यक्ति सकलद्रव्य में नहीं रहती है क्योंकि इस घट का गुण दूसरे घट में नहीं है। तब द्रव्यत्वाधिकरण में सकल तत्तत् गुणरूप व्यक्तियों के चालनीन्याय से अभाव रहने के कारण हेतुसमानाधिकरणअभाव का अप्रतियोगी एक भी गुणरूपसाध्य नहीं होगा अतः अव्याप्ति हुई। अतः हेतुसमानाधिकरण अभाव प्रतियोगितानवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक तदवच्छिन्न सामानाधिकरण्यव्याप्ति कहते हैं। ऐसा लक्षण करने से "वह्निमान् धूमात्" एवं गुणवान् द्रव्यत्वात् इन स्थलों में अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि धूमाधिकरण में तत्तत् वह्निभाव को रहने पर भी वह्नि सामान्यभाव अर्थात् वह्निर्नास्ति इत्याकारक प्रतीतिसिद्ध अभाव नहीं रहेगा एवं द्रव्यत्वाधिकरण में तत्तत्गुणों के अभाव रहने पर भी गुणसामान्याभाव नहीं रहेगा तव हेतुसमानाधिकरण अभाव के प्रतियोगितानवच्छेदक क्रमशः वह्नित्व, गुणत्वरूप साध्यतावच्छेदक हो जायेंगे। अतः वह्नित्व, गुणत्वरूप तादृशसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्य क्रमशः धूम और द्रव्यत्वरूप हेतु में रहने के कारण लक्षण समन्वय हो जायेगा।

(५) ननु रूपत्वव्याप्यजातमत्वान् पृथिवीत्वादित्यादौ साध्यतावच्छेदिका रूपत्वव्याप्यजातयस्तासां च शुक्लत्वादिजातीनां नीलघटादिवृत्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमस्तीत्यव्याप्तिरिति चेन्न। (६) तत्र परंपरया रूपत्वव्याप्यजातित्वस्यैव साध्यतावच्छेदकत्वात्। (७) नहि तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः क्वापि पृथिव्यामस्ति। (८) रूपत्वव्याप्यजातिमान्नासीति बुद्ध्यापत्तेः।

(५) चालनीन्याय से हेत्वधिकरण में वृत्ती जो नीलपीतादि सकल

तत्तत् रूपों के अभाव तत्प्रतियोगितानवच्छेदकनीलत्व पीतत्वादि सातों रूपत्वव्याप्यजात रूपसाध्यतावच्छेदक नहीं होंगे अतः अव्याप्ति होगी। (६, ७, ८) सो नहीं क्योंकि रूपत्वव्याप्य जाति में साध्यतावच्छेदक नहीं मानकर रूपत्वव्याप्य जातित्व में ही स्वाश्रयाश्रयत्व सम्बन्ध से साध्य में रहने के कारण साध्यतावच्छेदकत्व मानते हैं। तब शुक्लत्वादि रूपत्वव्याप्य-जाति का प्रतियोगितावच्छेदक होने पर भी रूपत्वव्याप्यजातित्वरूप साध्यतावच्छेदक तो हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदक नहीं होगा क्योंकि स्वाश्रयाश्रयत्वरूप परम्परासम्बन्ध से सामान्यतः "रूपत्वव्याप्य-जातित्ववान् नास्ति" यह अभाव तो हेत्वधिकरण किसी भी पृथिवी में नहीं रहेगा क्योंकि अगर रहता तो हेत्वधिकरण पृथ्वीमें रूपत्वव्याप्यजाति-मान्नास्ति "इत्याकारक प्रतीति हो जाती। इसलिये हेतुसमानाधिकरणाभाव-प्रतियोगितानवच्छेदक जो रूपत्व व्याप्यजातित्व परम्परासम्बन्धसे तदवच्छिन्न जो रूपत्वव्याप्यजातिमत् रूपसाध्य तत् सामानाधिकरण्यपृथिवीत्व में रहने के कारण लक्षणसमन्वय हुआ।

(९) एवं दण्ड्यादौसाध्ये परम्परासंबन्धेन दण्डत्वादिकमेव साध्यतावच्छेदकं तच्च प्रतियोगितानवच्छेदकमिति। (१०) साध्यादि-भेदेन व्याप्तेर्भेदात्तादृशस्थले साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं प्रतियोगिता-वच्छेदकतानवच्छेदकमित्येव लक्षणघटकमित्यपि वदन्ति।

(९) एवं "दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्" इत्यादि स्थलों में जहाँ दण्डी प्रभृति साध्य हैं वहाँ दण्डादि का साध्यतावच्छेदक नहीं मानकर दण्डत्वा-दिही को स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्ध से साध्यतावच्छेदक मानते हैं। अतः तत्तत् सकल दण्ड को "चालनीन्यायसे" तत्तत् दण्डवान् नास्ति इत्याकारक अभावप्रतियोगितावच्छेदक होने पर भी पूर्वोक्तरीति से अव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि स्वाश्रयत्वसम्बन्धेन दण्डत्ववत् जो दण्डी उसके अभाव को हेत्वधिकरण में नहीं रहने के कारण परम्परासम्बन्ध से दण्डत्वरूपसाध्यताव-च्छेदक भी हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदक हो जायगा अतः लक्षण समन्वय हुआ। (१०) साध्य और हेतु के भेद से अर्थात् स्थल भेद से व्याप्ति का लक्षण भिन्न भिन्न होता है। इसलिये 'रूपत्वव्याप्य'

जातिमत्वान् पृथ्वीत्वात् "एवं" दण्डिमान् दण्डिसंयोगात् इत्यादि स्थलों में हेतुसमानाधिकरणाभाव प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकधर्म तद्धर्मविशिष्ट जो साध्यतावच्छेदक तदवच्छिन्न सामानाधिकरणयही व्याप्ति है। उक्त दोनों स्थलों के हेत्वधिकरणों में यथाक्रम रूपत्वव्याप्यजातिमत् का और दण्डी का अभाव नहीं है। यदि ये अभाव यथाक्रम पृथ्वी में और दण्डिसंयोगाधिकरणमठ में रहता तो इन अभावों का प्रतियोगितावच्छेदक रूपत्वव्याप्यजाति तत्तत् सकलदण्ड और प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक रूपत्वव्याप्यजातित्व एवं दण्डत्व होता। जिस हेतु ये अभाव पृथ्वी और दण्डिसंयोगाधिकरणमठ में यथाक्रम नहीं है। इसहेतु पृथ्वी और दण्डिसंयोगाधिकरणमठवृत्तिअभाव का प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदकतावच्छेदक रूपत्वव्याप्यजातित्व और दण्डत्व तद्धर्मविशिष्ट जो रूपत्वव्याप्यजाति और दण्डरूपसाध्यतावच्छेदक तदवच्छिन्न साध्य सामानाधिकरण्यपृथ्वीत्वात्मक और दण्डिसंयोगात्मक हेतुओं में रहने के कारण लक्षण समन्वय हुआ।

(११) हेत्वधिकरणं च हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं वाच्यं, तेन द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ शुद्धसत्ताधिकरणगुणादि निष्ठाभाव प्रतियोगित्वेऽपि द्रव्यत्वस्य नाव्याप्तिः।

(११) हेत्वधिकरणशब्द का हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न जो निरूपिता तादृशनिरूपकतानिरूपित जो अधिकरणता तद्वत् अर्थ है। यदि ऐसा अर्थ नहीं करें तो द्रव्यगुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्त्वात् इस स्थल में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि न्यायमत से विशिष्टशुद्ध को एक मानने के कारण गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्ता और शुद्धसत्ता एक है। तब शुद्धसत्ता का अधिकरणगुण कर्म भी है इसलिये गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ता का भी अधिकरणगुणकर्म को मानना होगा। तब गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्तारूप हेतु का अधिकरण जो गुण कर्म तदवृत्ती जो द्रव्यत्वाभाव तादृशाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक ही द्रव्यत्वत्वरूप साध्यतावच्छेदक हो जायेगा प्रतियोगितानवच्छेदक नहीं होगा अतः अव्याप्ति हो जायगी। किन्तु हेत्वधिकरणशब्दका यदि हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न निरूपकतानिरूपित

अधिकरणतावत् अर्थ करें तो अव्याप्ति नहीं होगी यथा–शुद्धसत्ता और गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता इन दोनों को एक रहने पर भी सतात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितअधिकरणता द्रव्यगुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में मानी जाती है और गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छिन्न निरूपकता-निरूपित अधिकरणता केवलद्रव्य में मानी जाती है। तव गुणकर्मान्यत्व-विशिष्टसत्तात्वरूप जो हेतुतावच्छेदक तदवच्छिन्ननिरूपकतानिरूपित अधिकरणतावत् गुणकर्म नहीं होगा। किन्तु द्रव्य ही होगा। तद्वृत्ति अभाव में द्रव्यत्वाभाव नहीं लिया जायगा किन्तु घटाभावादि लिए जायेंगे। तत्प्रतियोगितानवच्छेदक जो द्रव्यत्वरूप साध्यतावच्छेदक तदवच्छिन्न सामानाधिकरण्य गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्तारूप हेतु में रहने के कारण लक्षण समन्वय हुआ।

(१२) एवं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेत्वधिकरणं बोध्यम्। (१३) तेन समवायेन धूमाधिकरणतदवयवनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि वह्नेर्नाव्याप्तिः।

(१२) इसीप्रकार हेतुतावच्छेदक संबन्ध ही से हेत्वधिकरण लेना चाहिये। (१३) अन्यथा वह्निमान् धूमात् यहाँ समवायसंबन्ध से धूमाधिकरण जो धूमावयव तद्वृत्ति वह्न्यभाव का प्रतियोगितावच्छेदक ही वह्नित्वरूप साध्यतावच्छेदक को होने के कारण अव्याप्ति होगी। किन्तु हेतुतावच्छेदक-संयोगसंबन्ध से धूमाधिकरणपर्वतादि में वृत्ती अभाव वह्न्यभाव नहीं होगा किन्तु घटाभावादि ही होगा। तत्प्रतियोगितानवच्छेदक जो वह्नित्व रूपसाध्यता-वच्छेदक तदवच्छिन्न सामानाधिकरण्य हेतु में रहने के कारण लक्षण समन्वय हुआ।

(१४) अभावश्च प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्यः। (१५) तेन कपि संयोगी एतद् वृक्षत्वादित्यत्र मूलावच्छेदेनैतद्वृक्षवृत्ति-कपिसंयोगाभावप्रतियोगित्वेऽपि कपिसंयोगस्य नाव्याप्तिः।

(१४) हेत्वधिकरणवृत्ति जो अभाव वह प्रतियोगिव्यधिकरण भी होना चाहिये। (१५) हेत्वधिकरणवृत्तीअभाव में प्रतियोगिव्यधिकरणत्व का निवेश नहीं करें तो "कपिसंयोगी तद् वृक्षत्वात्" इसस्थल में एतद्

वृक्षरूप हेत्वधिकरण में कपिसंयोगानधिकरणमूलादि देशावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव भी रहेगा अतः तादृश अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक ही कपिसंयोगत्वरूप साध्यतावच्छेदक होने के कारण अव्याप्ति होगी। उक्त अभावमें प्रतियोगिव्यधिकरणत्वविशेषण देने पर "कपिसंयोगाभाव" कपिसंयोगरूप प्रतियोगी के समानाधिकरण ही होकर एतद् वृक्षरूप हेत्वधिकरण में है। अतः प्रतियोगिव्यधिकरण हेतुसमानाधिकरण अभाव कपिसंयोगाभान नहीं होगा किन्तु घटाभावादि ही होगा तब तत्प्रति-योगितानवच्छेदककपिसंयोगत्वरूप साध्यतावच्छेदक होने के कारण लक्षण समन्वय हुआ।

(१६) न च प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं यदि प्रतियोग्यनधिकरण वृत्तित्वं तदा तथैव व्याप्तिः। (७) प्रतियोगिनः कपिसंयोगस्यानधिकरणे गुणादौ वर्तमानो योऽभावस्तस्यैव वृक्षेऽपि मूलावच्छेदेन सत्त्वात्। (१८) यदि तु प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं तदा संयोगी सत्त्वादित्यादा-वतिव्याप्तिः। (१९) सत्ताधिकरणे गुणादौ यः संयोगाभावस्तस्य प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वादिति वाच्यम्, हेत्वधिकरणे प्रतियोग्यन-धिकरणवृत्तित्वविशिष्टस्य विवक्षितत्वात्, स्वप्रतियोग्यनधिकरणी-भूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभाव इति निष्कर्षः।

(१६) यदि प्रतियोगिव्यधिकरणशब्द का प्रतियोग्यनधिकरण में वृत्ती अर्थ करें तो पुनः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात् में अव्याप्ति होगी (१७) यथा कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगी जो कपिसंयोग उसका अनधिकरण जो गुणादि तद्वृत्ती जो कपिसंयोगाभाव वही हेत्वधिकरण एतद्वृक्ष में मूलावच्छेदेन भी है तब कपिसंयोगाभाव को लक्षणघटक होने के कारण तत्प्रतियोगिता-वच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक होगा। (१८) यदि प्रतियोगिव्यधिकरणशब्दका प्रतियोग्यधिकरण में वृत्ती से भिन्न अर्थ करें तो "कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्" में दोष वारण होता है यथा कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगी जो कपिसंयोग उसके अधिकरण में अपर देशावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव को वृत्ती होने के कारण कपिसंयोगाभावप्रतियोग्यधिकरण में वृत्ती से भिन्न नहीं होगा किन्तु घटत्वाभावादि ही होगा तत्प्रतियोगितानवच्छेदक कपिसंयोगत्वरूप

साध्यतावच्छेदक होने के कारण लक्षण समन्वय हुआ परन्तु "संयोगीसत्त्वात्" इसव्यभिचारीहेतु में अतिव्याप्ति हो जायगी (१९) यथा–संयोगाभाव को अव्याप्यवृंत्ती (एतावता प्रतियोग्यधिकरण में वृत्ती) होने के कारण लक्षणघटकत्व नहीं होगा। अतः लक्षणघटक अभावान्तर ही लिया जायगा। अतः प्रति योगिव्यधिकरण शब्द का प्रतियोग्यनधिकरण वृत्तित्वविशिष्ट होकर हेत्वधिकरण में वर्तमान जो अभाव अर्थात् प्रतियोगी का अनधिकरण जो हेत्वधिकरण तद्वृत्ती जो अभाव वही निःकृष्टार्थ है ऐसा अर्थ करने पर कपिसंयोगी "एतद्वृक्षत्वात्" इस स्थल में कपि-संयोगाभावप्रतियोगी जो कपिसंयोग उसका अनधिकरण एतद्वृक्षरूप हेत्वधिकरण नहीं है। अतः साध्याभाव लक्षणघटक नहीं होने के कारण अव्याप्ति नहीं होगी एवं संयोगीसत्त्वात् इस स्थल में संयोगाभावप्रतियोगी जो संयोग उसका अनधिकरण जो गुणकर्मरूप हेत्वधिकरण तद्वृत्ती संयोगाभाव लक्षणघटक होनेके कारण अतिव्याप्ति भी नहीं होगी।

(२०) प्रतियोग्यनधिकरणत्वं प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं। तेन विशिष्टसत्तावान्जातेरित्यादौ जात्यधिकरणगुणादौ विशिष्टसत्ताभावप्रतियोगिसत्ताधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः।

(२०) प्रतियोग्यनधिकरणशब्द का प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण अर्थ करना होगा। अन्यथा "गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तावान् जातेः" इस स्थलमें अतिव्याप्ति हो जायगी यथा गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्ताभाव का प्रतियोगी जो गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्ता उसको शुद्धसत्तारूप होने के कारण शुद्धसत्ता का अनधिकरण हेत्वधिकरण नहीं है। अतः गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्तारूपप्रतियोगी का अनधिकरण भी हेत्वधिकरण नहीं होगा। तब साध्याभाव लक्षणघटक नहीं होगा अतः अतिव्याप्ति हो जायगी किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण जो हेत्वधिकरण ऐसा अर्थ करने से गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्ताभावप्रतियोगितावच्छेदक जो गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्तात्व तदवच्छिन्न निरूपकता निरूपिताधिकरणता द्रव्यमात्र में रहने के कारण गुणकर्मान्यत्व विशिष्टसत्तात्वरूप प्रतियोगितावच्छेदका-वच्छिन्नानधिकरण हेत्वधिकरण होने के कारण साध्यभाव लक्षणघटक हो जायगा अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(२१) एवंसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं बोध्यम्। (२२) तेन ज्ञानवान् द्रव्यत्वादित्यादौ द्रव्यत्वाधिकरण-घटादेर्विषयतासम्बन्धेन ज्ञानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः।

(२१, २२) एवं साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी का अनधिकरण हेत्वधिकरण समझना चाहिए अन्यथा ज्ञानवान् द्रव्यत्वात् इस व्यभिचारी हेतु में ज्ञानाभाव प्रतियोगी जो ज्ञान उसका विषयतासंबन्ध से अधिकरण ही संसार है तब प्रतियोगी का अनधिकरण हेत्वधिकरण नहीं होगा। अत: साध्याभाव लक्षणघटक नहीं हो सकता इस हेतु अतिव्याप्ति होगी परन्तु साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से ज्ञानरूप प्रतियोगी का अनधिकरण जो आत्मेतरद्रव्यत्व हेत्वधिकरण तद्वृत्तिज्ञानाभाव को लक्षणघटक होने के कारण अतिव्याप्ति का वारण हुआ।

(२३) इत्थंच वह्निमन् धूमादित्यादौ धूमाधिकरणे समवायेन वह्निविरहसत्त्वेपि न क्षतिः।

(२३) ऐसा लक्षण करने पर "वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में भी समवाय सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता का वह्न्यभाव का प्रतियोगी जो वह्नि उसका समवायसम्बन्ध से अनधिकरण जो पर्वतादिरूप हेत्वधिकरण उसमें समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक वह्न्यभाव को वृत्ती होने पर भी साध्यतावच्छेदकसंयोगसम्बन्ध से वह्निरूप प्रतियोगी का अनधिकरण पर्वतादिरूपहेत्वधिकरण नहीं होने के कारण समवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक वह्न्यभाव लक्षणघटक नहीं होगा इसलिये उक्त सद्धेतु में अव्याप्ति नहीं हुई। अतएव प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदक संबन्धावच्छिन्नत्व निवेश करने की आवश्यकता नहीं है।

(२४) ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्-प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वं तत्सामान्यस्य वा यत्किञ्चित्प्रतियोगिता-वच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं वा विवक्षितम्।

(२४) प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणशब्द का प्रतियोगिता-वच्छेदकावच्छिन्न जो यत्किंचित्व्यक्ति उसका अनधिकरण या प्रतियोगिता-

वच्छेदकावच्छिन्न सामान्य का अनधिकरण अर्थ है। अथवा प्रतियोगितावच्छेद की भूत जो यत्किंचित् धर्म तद्धर्मावच्छिन्नानधिकरण अर्थ है। इन तीनों में कैसा अर्थ करते हैं।

(२५) आद्ये कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादौ तथैवाव्याप्तिः। (२६) कपिसंयोगाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षावृत्ति कपिसंयोगोऽपि भवति तदनधिकरण वृक्ष इति।

(२५) यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण शब्द का प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यत्किंचित् व्यक्ति का अनधिकरण अर्थ करें तो "कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्" में अव्याप्ति हो जायगी। (२६) यथा–कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न जो एतद्वृक्षावृत्ति कपिसंयोग उसका अनधिकरण जो एतद्वृक्षरूप हेत्वधिकरण तद्वृत्ति कपि संयोगाभाव प्रतियोगितावच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक होने के कारण अव्याप्ति होगी।

(२७) द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः। (२८) सर्वस्यैवाभावस्यपूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगि-समानाधिकरणत्वात्।

(२७) यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण शब्द का प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्यानधिकरण अर्थ करते हैं तो "कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्" में अव्याप्ति हो जायगा यथा–कपिसंयोगाभाव-प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्य के अन्तर्गत एतद्वृक्ष वृत्ति कपिसंयोग भी हुआ उसका अनधिकरण एतद् वृक्ष रूप हेत्वधिकरण नहीं हुआ। अतः कपिसंयोगाभाव लक्षणघटक नहीं होने से अव्याप्ति वारण हो गया किन्तु उक्तअर्थ करने से प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव ही अप्रसिद्ध है। (२८) यथा–पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभाव के अभाव का अभाव=पूर्वक्षण वृत्तित्वविशिष्टघटाभाव (स्वरूप) है। पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभाव और शुद्धघटाभाव (एक ही) है। तब घटाभाव का प्रतियोगी जैसे घट है वैसे पूर्वक्षणवृत्तित्व विशिष्टघटाभाव का अभाव भी है। तब घटाभाव के प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्य में घट के समान पूर्वक्षणवृत्तित्व-

विशिष्टघटाभाव का अभाव भी लिया जायगा जो केवलान्वयी है अतः उसका अनधिकरण हेत्वधिकरण कोई नहीं होगा। इसलिये कोई अभावप्रतियोगिव्यधिकरण हो ही नहीं सकता।

(२९) न च वह्निमान् धूमादित्यादौ घटाभावादेः पूर्वक्षणवृत्तित्व-विशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं यद्यपि पर्वतादेस्तथापि साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वमस्त्येवेति कथं प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति वाच्यम्। (३०) घटाभावे यो वह्न्यभावस्तस्य घटाभावात्मकतया घटाभावस्य वह्निरपि प्रतियोगी तदधिकरणं च पर्वतादिरित्येवं क्रमेण प्रतियोगिव्यधिकरण-स्याप्रसिद्धत्वात्।

(२९, ३०) यदिऐसा कहें कि "वह्निमान् धूमात्" इत्यादि स्थलों में प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव अप्रसिद्ध नहीं होगा क्योंकि आपने प्रतियोगी का अनधिकरण साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कहा है तब घटाभाव का पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावरूप जो प्रतियोगी उसका साध्यतावच्छेदक संयोग सम्बन्ध से अधिकरण ही अप्रसिद्ध है (स्वरूप सम्बन्धेन अधिकरण प्रसिद्ध है) अतः प्रतियोगी को नहीं लेकर घटादिरूप प्रतियोगी को ही लेना पड़ेगा उन घटादियों का संयोगसम्बन्ध से अनधिकरण पर्वतादिरूप हेत्वधिकरण को होने के कारण घटाभावादि ही प्रतियोगिव्यधिकरण हो जायगा। ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि किसी का मत है कि अभावाधिकरणक जो अभाव वह अधिकरण स्वरूप है। अतः घटाभावनिष्ठ जो वह्न्यभाव वह घटाभावस्वरूप है तब घटाभाव का प्रतियोगी जैसे घट हुआ वैसे ही वह्नि भी हुआ। तब साध्यतावच्छेदक संयोगसम्बन्ध से घटाभाव प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्यान्तर्गत वह्न्यादिरूप प्रतियोगी का अनधिकरणहेत्वधिकरण नहीं होने के कारण प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव पुनः अप्रसिद्ध रह ही गया (अतः वह्निमान् धूमात् में भी अव्याप्ति का वारण नहीं हुआ)।

(३१) यदि च घटाभावादौ वह्न्यभावादिभिन्न इत्युच्यते तथापि धूमाभाववान् वह्न्यभावादित्यादावव्याप्तिः। (३२) तत्र साध्यता-

वच्छेदक सम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धः तेन सम्बन्धेन सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्येति।

(३१) किन्तु जिन आचार्यों का मत ऐसा नहीं है उनके मत से घटाभावनिष्ठ वह्न्यभाव घटाभावस्वरूप नहीं है। तब घटाभावकाप्रतियोगी (पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभाव का अभाव होने पर भी उसका संयोग सम्बन्ध से अधिकरण अप्रसिद्ध हो जाने के कारण) प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्य में वह नहीं लिया जायगा किन्तु घटमात्र लिया जायगा। तब घटरूप प्रतियोगी का संयोगसम्बन्ध से अनधिकरण पर्वतादिरूप हेत्वधिकरण होने के कारण घटाभाव ही प्रतियोगिव्यधिकरण हो जायगा। (३२) अतः वह्निमान् धूमात् में अव्याप्ति नहीं भी हो तथापि धूमाभाववान् वह्न्यभावात् यहाँ स्वरूप सम्बन्ध को साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध होने के कारण उक्त रीति से कोई अभावप्रतियोगिव्यधिकरण नहीं होगा। अतः यहाँ अव्याप्ति हुई।

(३३) तृतीये तु कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वादित्यादावव्याप्तिः। (३४) तत्रात्मवृत्तिकपिसंयोगाभावाभावः कपिसंयोगस्तस्य च गुणत्वात्प्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्याभावत्वमपि तदवच्छिन्नानधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्यात्मन इति।

(३३) यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण शब्द का प्रतियोगितावच्छेद की भूत जो यत्किञ्चिद्धर्म तद्धर्मावच्छिन्नानधिकरण अर्थ करें तो "धूमाभाववान् वह्न्यभावात्" यहाँ लक्षण समन्वय हो जायगा। घटाधिकरणत्वाभावप्रतियोगितावच्छेदक जो "घटाधिकरणतात्वरूप यत्किञ्चित् धर्म तद्धर्मावच्छिन्न" का अनधिकरण जलादिरूप हेत्वधिकरण होने के कारण घटाधिकरणत्वाभाव ही प्रतियोगिव्यधिकरण होगा तब (प्रतियोगितानवच्छेदक धूमाभावत्व रूप साध्यतावच्छेदक होने के कारण लक्षण समन्वय हुआ)। किन्तु ऐसा परिष्कार करने पर भी "कपि संयोगाभाववान् आत्मत्वात्" इस स्थल में अव्याप्ति होती है (३४) यथा

कपिसंयोगा भावाभाव कपिसंयोगरूप है और गुणसामान्याभावाभाव गुण सामान्य रूप है तब कपि संयोग भी गुण सामान्यान्तर्गत होनेके कारण गुणसामान्याभावाभाव से भिन्न कपि संयोगाभावाभाव नहीं है। अत: कपिसंयोगाभावाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक जो गुण सामान्याभावत्व तद्धर्मावच्छिन्नानधिकरण जो आत्मरूप हेत्वधिकरण तद्वृत्ति कपि संयोगाभावाभाव लिया जायगा तत्प्रतियोगितावच्छेदक ही कपिसंयोगाभावत्व रूप साध्यतावच्छेदक होने के कारण उक्त स्थल में अव्याप्ति हुई।

(३५) मैवम्। यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं हेतुमतस्तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य विवक्षितत्वात्।

(३५) पूर्वोक्त दोषों से अभावघटित लक्षण को छोड़कर प्रतियोगिताघटित लक्षण कहते हैं। यथा—यादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण हेत्वधिकरण हो तादृश प्रतियोगितानवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक तदवच्छिन्न सामानाधिकरण व्याप्ति है। तब "कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्" इसस्थल में कपिसंयोगाभावत्वावच्छिन्न यादृश प्रतियोगितावच्छेदक कपिसंयोगाभावत्वावच्छिन्नानधिकरण हेत्वधिकरण नहीं होने के कारण कपिसंयोगाभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता लक्षण घटक यादृश प्रतियोगितापद से नहीं होने के कारण कपिसंयोगाभावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता लक्षण घटक यादृश प्रतियोगितापद से नहीं ली जायगी किन्तु गुणसामान्याभावत्वावच्छिन्न-प्रतियोगितावच्छेदक गुण सामान्यत्वावच्छिन्नानधिकरण, आत्मरूप हेत्वधिकरण होने के कारण गुण सामान्याभावत्वावच्छिन्न ही प्रतियोगिता लक्षण घटक होगी तब तादृश प्रतियोगितानवच्छेदक कपिसंयोगाभावत्व रूप साध्यतावच्छेदक होनेके कारण उक्त स्थल में अव्याप्ति नहीं होगी। "कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्" इस स्थल में भी कपिसंयोगत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता लक्षण घटक नहीं होने के कारण यादृश प्रतियोगिता पद से घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता लेकर लक्षण समन्वय हो जायगा। इसी प्रकार "धूमाभाववान् वह्न्यभावात् में भी धूमाभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता लक्षणघटक नहीं होगी किन्तु घटाधिकरणतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिता ही लक्षणघटक होगी तब तादृश प्रतियोगितावच्छेदक धूमाभावत्वरूप साध्यतावच्छेदक होने के कारण वहाँ

भी अव्याप्ति वारण हो जायगा।

(३६) ननु कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यत्र प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः, हेत्वधिकरणस्य महाकालस्य जगदाधारतया सर्वेषामभावानां साध्यतावच्छेदकसंबन्धेन कालिकविशेषणतया प्रतियोग्यधिकरणत्वात्। (३७) अत्र केचित्। महाकालभेदविशिष्टघटाभावस्तत्र प्रतियोगिव्यधिकरणो महाकालस्य घटाधारत्वेऽपि महाकालभेदविशिष्टघटानाधारत्वात्। (३८) महाकाले महाकालभेदाभावात्।

(३६) [१]ऐसा लक्षण करने पर भी "कालोघटवान् कालपरिमाणात्" इस स्थल में साध्यतावच्छेदक संबन्ध कालिक है और साध्यतावच्छेदक कालिक संबन्ध से संसार के सभी पदार्थ को हेत्वधिकरण महाकाल में रहने के कारण यादृश प्रतियोगिता पद से किसी भी प्रतियोगिता का ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि जिस प्रतियोगिता को आप लेना चाहेंगे उस प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का साध्यतावच्छेदककालिक संबन्ध से अधिकरण ही हेत्वधिकरण महाकाल हो जायगा। अतः यादृश प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होने के कारण उक्त स्थल में अव्याप्ति होगी। (३७,३८) [२]उक्तदोष का वारणार्थ किसी आचार्य का ऐसा मत है कि महाकाल को सर्वाधार होने पर भी महाकालभेद को महाकाल में नहीं रहने के कारण

---

१. कालसे यहाँ महाकाल का ग्रहण है। अन्यथा खण्डकाल को भी हेतत्वधिकरण होनेके कारण तत् खण्डकाल के असमानकालीन पदार्थ कालिकसंबन्ध से हेत्वधिकरण तत्खण्डकाल में नहीं होगा। अतः लक्षणघटक यादृशप्रतियोगिता पद से तत् खण्डकाल के असमान कालीन पदार्थनिष्ठ ही प्रतियोगिता प्रसिद्ध हो जायगी तब अव्याप्ति नहीं होगी।

२. "महाकाल भेद विशिष्ट घटाभाव स्तत्र प्रतियोगिव्यधिकरण" इस जगह में घटपदका पट अर्थ है। अन्यथा महाकाल भेद विशिष्ट घटाभावको प्रतियोगिव्यधिकरण होने पर भी (अर्थात् महाकालभेद विशिष्ट घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता को लक्षणघटक होने पर भी तादृश प्रतियोगितावच्छेदक महाकालभेदवैशिष्ट्य और घटत्व है तब घटत्व तादृश प्रतियोगिता का अनवच्छेदक नहीं होगा तब अव्याप्ति वारण नहीं हो सकता।

महाकालभेदविशिष्टघट भी महाकाल में नहीं रहेगा तब यादृश प्रतियोगितापद से महाकाल भेदविशिष्ट घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता ही प्रसिद्ध हो जायगी क्योंकि तादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न जो महाकाल भेदविशिष्टघट उसका कालिकसंबन्धेन अनधिकरण महाकालरूप हेत्वधिकरण हो जायगा। तब तादृशप्रतियोगितानवच्छेदक घटत्वरूप साध्यतावच्छेदक होने के कारण अव्याप्ति वारण हो जायगा।

(३९) वस्तुतस्तु प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्संबन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन संबन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्यतद्धेतुव्यापकत्वं बोध्यम्। (४०) व्यापकसामानाधिकरण्यं च व्याप्तिः।

(३९, ४०) [१]वास्तव में लक्षण का परिष्कार इसप्रकार किया जाता है कि प्रतियोगितावच्छेदकसंबन्ध से यादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का अनधिकरण हेत्वधिकरण हो तादृश प्रतियोगिता सामान्य में यत्संबन्धावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभाव हो तद्धर्मावच्छिन्न तेनसंबन्धेन हेतु का व्यापक है, और तादृश व्यापक का तेन संबन्धेन सामानाधिकरण्य हेतुनिष्ठ व्याप्ति है।

(४१) इत्थं च कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यादौ संयोगसंबन्धेन यो घटाभावस्तत्प्रतियोगिनो घटस्यानधिकरणे हेत्वधिकरणे महाकाले वर्तमानः स एव संयोगेन घटाभावस्तस्य प्रतियोगितायां कालिकसंबन्धावच्छिन्नत्वघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वान्नाव्याप्तिः।

---

१. पूर्वोक्त युक्तियों से अभाव घटित लक्षण का खण्डन हो चुका है। अतः अब सिद्धान्त में प्रतियोगिताघटित लक्षण ही चल रहा है। तब प्रतियोगिता घटित लक्षण करने के बाद जहाँ २ ग्रन्थमें जिस पदार्थ का अभाव लक्षण घटक बतलाया है उसका तात्पर्य यह है कि तत्तत् पदार्थनिष्ठ प्रतियोगिता लक्षण घटक हैं। अत एव "वस्तुतस्तु" कल्प में भी मुक्तावली में अभाव घटित लक्षण बतलाने पर भी प्रतियोगिता घटित लक्षणानुसार ही टीका में व्याप्ति का स्वरूप बतलाया गया है। वस्तुतस्तु कल्पोक्त लक्षण में यत्सम्बन्ध से साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध और यद्धर्म से साध्यतावच्छेदक धर्म्म लेना चाहिये।

(४१) ऐसा लक्षण करने पर "कालोघटवान् कालपरिमाणात्" इस स्थल में संयोगसंबन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताभी लक्षण घटक यादृश प्रतियोगितापदसे ली जायगी। क्योंकि तादृश प्रतियोगितावच्छेदक संयोग संबन्ध से तादृशप्रतियोगितावच्छेदक घटत्वावच्छिन्न का अनधिकरण महाकालरूप हेत्वधिकरण होने के कारण तादृश संयोगसंबन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता सामान्य में (यत् संबन्ध) कालिक संबन्धा-वच्छिन्नत्व (यद्धर्म) घटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभाव रहने के कारण (तेन) कालिक संबन्धेन (तद्धर्म) घटत्वावच्छिन्न सामानाधिकरण कालपरिमाणरूप हेतु में रहने के कारण लक्षण समन्वय हुआ।

(४२) धूमवान् वह्नेः इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय सामान्य-पदमुपात्तम्।

(४२) उक्त लक्षण में प्रतियोगिता सामान्यान्तर्गत सामान्यपद नहीं देने से "धूमवान् वह्नेः" इस स्थल में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि संयोग संबन्धावच्छिन्न धूमत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता जिस प्रकार लक्षणघटक होती है उसी प्रकार संयोग संबन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता भी स्वावच्छेदक संयोग संबन्ध से स्वावच्छेदक घटत्वावच्छिन्न का अनधिकरण अयोगोलक रूप हेत्वधिकरण होने के कारण लक्षणघटक संयोग संबन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता में संयोगरूप यत्संबन्धावच्छिन्नत्व धूमत्वरूप यद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभाव रह जायगा तव तादृश संयोग सम्बन्ध से तादृश धूमत्वावच्छिन्न सामानाधिकरण्य वह्निरूप हेतु में रहने के कारण अतिव्याप्ति होगी अतः सामान्यपद देना आवश्यक है। तव लक्षणघटक यादृश प्रतियोगिता सामान्यान्तर्गत संयोग संबन्धावच्छिन्न धूमत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिता में संयोगरूप यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व धूमत्वरूप यद्धर्मावच्छिन्नत्व दोनों रहने के कारण उभयाभाव नहीं रहेगा। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(४३) ननु प्रमेयवह्निमान् धूमादित्यादौ प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्न-त्वमप्रसिद्धं गुरुधर्मस्यानवच्छेदकत्वादिति चेन्न, कम्बुग्रीवादि मान्नास्तीति प्रतीत्या कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविषयोकरणेन गुरुधर्मस्याप्यवच्छेदकत्वस्वीकारादिति संक्षेपः।

(४३) [१]नियम है कि "अतिप्रसंगाद्यपादक लघु धर्म" जहाँ मिले वहाँ गुरु धर्मप्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है तब प्रमेय वह्न्यभाव दोनों बराबर ही जगह में रहने वाले हैं इसलिये अतिप्रसङ्गाद्यनापादक और प्रमेय वह्नित्वापेक्षया लघुधर्मरूप जो वह्नित्व वही प्रमेयवह्न्यभावीयप्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा। किन्तु प्रमेयत्ववह्नित्व नहीं अतः प्रमेय वह्नित्वावच्छिन्ना प्रतियोगिता प्रसिद्ध नहीं होगी। इसलिये प्रतियोगितानिष्ठ प्रमेय वह्नित्वावच्छिन्नत्व भी अप्रसिद्ध ही मानना होगा। तब प्रतियोगितावच्छेदक संबन्ध से यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का अनधिकरण हेत्वधिकरण हो तादृश प्रतियोगिता सामान्य में यत्संबन्धावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभाव हो तेन संबन्धेन तद्धर्मावच्छिन्न सामानाधिकरण्यरूप उक्त व्याप्तिलक्षण करने से प्रतियोगितानिष्ठ प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्व अप्रसिद्ध होने के कारण प्रमेय वह्निमान् धूमात् इस स्थल में लक्षण घटक (साध्यतावच्छेदकात्मक) यद्धर्म पद से प्रमेय वह्नित्वरूपसाध्यतावच्छेदक नहीं लिया जायगा। अतः तद्धर्मावच्छिन्न सामनाधिकरण्य हेतु में नहीं रहने के कारण अव्याप्ति हो जायगी। समाधान—उत्तर यह है कि नवीन आचार्य्यों के मत

---

१. जिसको प्रतियोगितावच्छेदक मानने से आपत्ति वा अनुपपत्ति नहीं हो वह अतिप्रसङ्गाद्यनापादक कहलाता है। यथा—कम्बुग्रीवादिमान्नास्ति इत्याकारक अभाव प्रतियोगिता का अवच्छेदक यदि घटत्व मानाजाय तो कोई आपत्ति वा अनुपपत्ति नहीं होगी क्योंकि कम्बुग्रीवादिमान् घट ही कहाता है तब जहाँ२ कम्बुग्रीवादिमत् का अभाव होगा उन्हींस्थलों में घट का भी अभाव रहता है अतः कम्बुग्रीवादिमन्निष्ठ प्रतियोगिता का यदि घटत्व अवच्छेदक माना जाय तो कोई आपत्ति वा अनुपपत्ति नहीं होती है और कम्बुग्रीवादिमत्त्वापेक्षया "घटत्व" लघुधर्म्म भी है अतःतादृश प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व ही माना जाता है न कि द्रव्यत्व माना जाता है, क्योंकि यद्यपि घटत्व के समान द्रव्यत्व भी लघुधर्म है परन्तु कम्बुग्रीवादि मन्निष्ठ प्रतियोगिता का अवच्छेदक यदि द्रव्यत्व माना जाय तो द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक अभाव कम्बुग्रीवादिमत् का भी अभाव हुआ और तादृश अभाव को घटानधिकरण पटरूप द्रव्याधिकरण भूतल में रहने के कारण "द्रव्यनास्ति" इत्याकारक प्रतीत्यापत्ति हो जायगी। अतः द्रव्यत्व घटत्व के समान लघुधर्म होने पर भी अतिप्रसङ्गाद्यनापादक नहीं होने के कारण कम्बुग्रीवादि मन्निष्ठप्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है।

से गुरुधर्मभी प्रतियोगितावच्छेदक होता है क्योंकि कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न-प्रकारक बुद्धि के प्रति कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताका भावप्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक होता है। घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽभावप्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता है तब यदि कम्बुग्रीवादिमान्नास्ति इत्याकारक निश्चय के उत्तरक्षण में कम्बुग्रीवादिमान् अस्ति इत्याकारक बुद्धि होनी चाहिये जो नहीं होती है। अतः आपको मानना होगा कि कम्बुग्रीवादिमान्नास्ति इत्याकारक निश्चय के उत्तरक्षण में कम्बुग्रीवादिमान् अस्ति इत्याकारक बुद्धि होनी चाहिये जो नहीं होती है। अतः आपको मानना होगा कि कम्बुग्रीवादिमान्नास्ति इत्याकारक निश्चय कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाऽभावप्रकारक है तव घटत्वापेक्षया गुरुधर्मरूप कम्बुग्रीवादि-मत्त्वभी प्रतियोगितावच्छेदक हुआ अतः तुल्यन्यायात् प्रमेयवह्नित्व भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगा तब प्रतियोगितानिष्ठप्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्व अप्रसिद्ध नहीं होने के कारण उक्त अव्याप्ति नहीं होगी।

पक्षवृत्तित्वमित्यत्र पक्षत्वं किं तदाह–

"व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते" यह ६८वीं कारिका जो परामर्श का बोधक है तदन्तर्गत "पक्षवृत्तित्व" घटक पक्षत्व क्या पदार्थ हैं एतदर्थ ग्रन्थकार "सिषाधयिषय।" इत्यादि से सिद्धान्त दिखाते हैं।

का० ७०।

सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते।
सपक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत्॥

का० अर्थ।

साध्यके निश्चय करने की इच्छा को "सिषाधयिषा" कहते हैं, तादृश सिषाधयिषा के अभाव सहित जो सिद्धि (पक्ष में साध्य का निश्चय) उसका अभाव पक्षता है वह जहाँ रहे वह पक्ष है। और उक्त पक्षके साथ जो व्याप्तिविशिष्ट हेतुवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानात्मक परामर्श उसको रहने से अनुमिति होती है।

(१) सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता तद्वान्पक्ष इत्यर्थः। (२) सिषाधयिषामात्र न पक्षता विनापि सिषाधयिषां धनगर्जितेन मेघानुमानात्। (३) अतएव साध्यसन्देहोऽपि न पक्षता विनापि सन्देहं तदनुमानात्।

(१) कारिकार्थ में पक्षता का स्वरूप स्पष्ट है वह पक्षता परामर्श का सहकारी है अर्थात् पक्षता को नहीं रहने पर केवल परामर्श से अनुमिति नहीं होती है। (२) सिषाधयिषा को नहीं रहने पर भी मेघ के शब्दमात्र को सुनने से "गगनम् मेघवत्" ऐसा अनुमान होता है इसलिये सिषाधयिषा मात्र पक्षता नहीं है। (३) प्राचीनों का मत है कि "साध्य का सन्देह पक्षता है" किन्तु ऐसा भी नहीं क्योंकि मेघरूप साध्य के सन्देह के बिना भी गर्जन से आकाश में मेघानुमान होता है।

(४) सिद्धौ सत्यामपि सिषाधयिषासत्त्वेऽनुमितिर्भवत्येव। (५) अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धौ विशेषणम्।

(४, ५) जहाँ पर सिद्धि एवं सिषाधयिषा दोनों हैं वहाँ अनुमिति होती है अतः सिद्ध्याभावमात्र पक्षता नहीं कह सकते हैं क्योंकि सिद्ध्यभावात्मक पक्षता को नहीं रहने के कारण अनुमिति नहीं होगी अतः सिद्धि में सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्व विशेषण आवश्यक है तब वहाँ सिषाधयिषा विशिष्ट ही होकर सिद्धि है अतः सिषाधयिषा विरहविशिष्ट होकर सिद्धि नहीं रहने के कारण सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभावरूप पक्षता रह जायगी, इसलिये अनुमिति को अनुपपत्ति नहीं होगी।

(६) तथा च यत्र सिद्धिर्नास्ति तत्र सिषाधयिषायां सत्यामसत्यामपि पक्षता। (७) यत्र च सिषाधयिषाऽस्ति तत्र सिद्धौ सत्यामसत्यामपि पक्षता। (८) यत्र सिद्धिरस्ति सिषाधयिषा च नास्ति तत्र न पक्षता, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेः सत्वात्।

(६) जिस स्थल में सिद्धि नहीं है उस स्थल में सिषाधयिषा रहे वा नहीं रहे उभयथा पक्षता रह जायगी। क्योंकि प्रथमपक्ष में सिषाधयिषा विरहरूप विशेषण का अभाव रह गया एवं सिद्धिरूप विशेष्य का अभाव

भी रह गया और द्वितीयपक्ष में सिषाधयिषा विरहरूप विशेषण रहने पर भी सिद्धिरूप विशेष्य का अभाव रह गया अतः उभयथा पक्षता रह जाती है यतः विशेषणाभाव एवं विशेष्याभाव इन दोनों में अन्यतर के रहने पर विशिष्टाभाव रहता है। (७) जिस स्थल में सिषाधयिषा है उस स्थल में सिद्धि रहे वा न रहे उभयथा पक्षता रह जायगी। क्योंकि प्रथम पक्ष में सिषाधयिषा विरहात्मक विशेषण के अभावप्रयुक्त और द्वितीयपक्ष में उक्त विशेषण के अभाव और सिद्धरूप विशेष्य के अभाव उभय प्रयुक्त विशिष्टाभाव रहेगा। (८) जिस स्थल में सिद्धि है किन्तु सिषधयिषा नहीं है उस स्थल में सिषाधयिषा विरह विशिष्टसिद्धिरूपप्रतियोगी रहने के कारण तदभावरूप पक्षता न रहेगी अतः अनुमिति न होगी।

(९) ननु यत्र परामर्शानन्तरं सिद्धिस्ततः सिषाधयिषा, तत्र सिषाधयिषाकाले परामर्शनाशान्नानुमितिः। (१०) यत्र सिद्धिपरामर्श-सिषाधयिषाः क्रमेण भवन्ति तत्र सिषाधयिषाकाले सिद्धेर्नाशात्प्रतिबन्ध-काभावादेवानुमितिः। (११) यत्र सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शाः सन्ति तत्र परामर्शकाले सिषाधयिषैव नास्ति। (१२) एवमन्यत्रापि। (१३) सिद्धिकाले परामर्शकाले च न सिषाधयिषा, योग्यविभुविशेषगुणानां यौगपद्यनिषेधात्, तत्कथं सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणमिति चेन्न।

(९) शङ्का–जिस स्थल में परामर्श के अग्रिमक्षण में सिद्धि तब सिषाधायषा हुई है उस स्थल में सिषाधयिषाकाल में परामर्श नष्ट होने के कारण अनुमिति नहीं होती है सो सिद्ध्यभाव मात्र रूप पक्षता मानने पर भी सिषाधयिषाकाल में सिद्ध्यभावरूप पक्षता और परामर्श नहीं रहने के कारण अनुमिति नहीं होगी इसलिये दोष नहीं लगेगा। (१०) एवं जिस स्थल में सिद्धि के अग्रिमक्षण में परामर्श तब सिषाधयिषा हुई है उस स्थल में सिषाधयिषाक्षण में सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभावरूप पक्षता रहने के कारण अनुमिति होती है सो सिद्ध्यभावमात्र रूप पक्षता मानने पर भी सिषाधयिषाक्षण में सिद्ध्यभाव रूप पक्षता रहने के कारण अनुमिति होती रहेगी अतः दोष नहीं होगा। (११) एवं जिस स्थल में

सिषाधयिषा के अग्रिमक्षण में सिद्धि तब परामर्श उत्पन्न हुआ है उस स्थल में परामर्शक्षण में सिषाधयिषा का नाश हो जाता है अतः सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव रूप पक्षता परामर्शक्षण में नहीं रहती है वह केवल सिद्ध्यभावरूप पक्षता मानने पर भी परामर्शक्षण में उक्त सिद्ध्यभाव रूप पक्षता नहीं रहने के कारण अनुमिति नहीं होगी अतः दोष नहीं होगा। (१२) एवं जिस स्थल में परामर्श सिषाधयिषा सिद्धि की क्रमशः उत्पत्ति हुई है उस स्थल में सिद्धिक्षण में परामर्श नष्ट होने के कारण अनुमिति नहीं होती है। वह सिद्ध्यभावरूप पक्षता मानने पर भी सिद्धिक्षण में सिद्ध्यभावरूप पक्षता और परामर्श नहीं रहने के कारण अनुमिति नहीं होगी अतः दोष नहीं होगा। एवं जिस स्थल में सिद्धि सिषाधयिषा परामर्श क्रमिक उत्पन्न होते हैं उस स्थल में परामर्श क्षण में सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभावरूप पक्षता रहने के कारण अनुमिति होती है वह सिद्ध्यभावरूप पक्षता मानने पर भी सिद्धिक्षण में उक्त पक्षता नहीं रहेगी अतः अनुमित्यापत्ति न होगी तब दोष नहीं होगा। (१३) सिद्धि वा परामर्शक्षण में यदि सिषाधयिषा उत्पन्न होती तो आप सिद्ध्यभावरूप पक्षता नहीं कह सकते। क्योंकि प्रथमक्षण में सिद्धि और सिषाधयिषा द्वितीयक्षण में परामर्श जहाँ है वहाँ तृतीय क्षण में अनुमिति होती है वह द्वितीयक्षण में सिद्ध्यभावरूप पक्षता नहीं रहने के कारण नहीं होगी? इसलिये सिद्धि वा परामर्शक्षण में सिषाधयिषा उत्पन्न नहीं होती है यह मुक्तावली में कहा जाता है कि (योग्यविभुविशेषगुणानां यौगपद्यनिषेधात्) अर्थात् प्रत्यक्षयोग्य जो आकाशादिरूप विभु के विशेषगुण उन अनेक गुणोंकी एक क्षण में उत्पत्ति नहीं होती है अतः सिद्धि वा परामर्शक्षण में सिषाधयिषोत्पत्ति की सम्भावना नहीं है तब सिद्धि में सिषाधयिषा विरहविशिष्ट विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि केवल सिद्ध्यभावरूप पक्षता मानने से कोई दोष नहीं लगता है।

(१४) यत्र वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति वह्निमानिति प्रत्यक्षं स्मरणंवा, ततः सिषाधयिषा तत्र पक्षतासंपत्तये तद्विशेषण-स्यावश्यकत्वात्।

(१४) जिस स्थल में किसी व्यक्ति को प्रथमक्षण में "वह्निव्याप्य

धूमवान् पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक सिद्ध्यात्मक और परामर्शात्मक प्रत्यक्ष वा स्मरणरूप ज्ञान हुआ है, और द्वितीयक्षण में "पर्वते वह्न्यनुमिति-र्मेस्यात्" इत्याकारक सिषाधयिषा उत्पन्न हुई है उस स्थल में द्वितीयक्षण में सिद्धि, परामर्श सिषाधयिषा इन तीनों को विद्यमान रहने के कारण अनुमिति होती है जो नहीं होगी क्योंकि केवल सिद्ध्यभावरूप पक्षतात्मक कारण नहीं है, इसलिये सिषाधयिषा विरहविशिष्टत्वरूप सिद्धि का विशेषण देना अभ्यर्हित हो गया। जिससे सिषाधयिषा विरहविशिष्ट उक्त सिद्धि नहीं हुई किन्तु कालान्तरीय सिद्धि हुई अतः तदभावरूप पक्षता रह गई।

(१५) अत्रेदं बोध्यम्। (१६) यादृशयादृश सिषाधयिषा सत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यल्लिंगकानुमितिः तादृशतादृश सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभावस्तल्लिङ्गकानुमितौ पक्षता (१७) तेन सिद्धिपरामर्शसत्त्वेपि यत्किञ्चिज्ज्ञानं मे जाय तामितीच्छायामपि नानुमितिः।

(१५, १६) यहाँ यह समझना चाहिये कि यादृश यादृश सिषाधयिषा रहते हुए सिद्धि काल में यत्पक्षक यत्साध्यक यद्धेतुक अनुमिति होती हो तादृश तादृश सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभाव तत्पक्षक तत्साध्यक तद्धेतुक अनुमिति में पक्षता है अतः सिद्ध्यात्मक परामर्श रहते हुए यत् किंचित् ज्ञानं जायताम् अर्थात् द्रव्यत्वप्रकारक द्रव्यविशेष्यक ज्ञानं जायताम् इत्याकारक सिषाधयिषा रहने पर अनुमिति नहीं होती है वह नहीं होगी। क्योंकि द्रव्यत्वप्रकारक द्रव्यविशेष्यक "ज्ञानं जायताम्" इत्याकारक सिषाधयिषा रहते हुए सिद्धि काल में अनुमिति नहीं होती है, तब यादृश सिषाधयिषा रहते हुए सिद्धिकाल में अनुमिति होती है तादृश सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्धि ही है अर्थात् तादृश सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव रूप पक्षता नहीं है। (१७) यदि एतादृश विवक्षा नहीं करके केवल सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव रूप पक्षता कहते तो सिद्ध्यात्मक परामर्श कालमें द्रव्यत्व प्रकारक द्रव्य विशेष्यक "ज्ञानं जायताम्" इत्याकारक सिषाधयिषा स्थल में ज्ञानात्मक सिद्धि विषयक इच्छा रूप सिषाधयिषा रहने के कारण सिषाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभावरूप पक्षता रहने से अनुमित्यापत्ति हो जाती।

(१८) वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षसत्त्वे प्रत्यक्षातिरिक्तं वह्निज्ञानं जायतामितीच्छायां तु भवत्येव। (१९) एवं धूमपरामर्शसत्त्वे आलोकेन वह्निमनुमिनुयामितीच्छायामपि नानुमितिः।

(१८) यदि आप ऐसा कहें कि प्रकृतानुमितित्व प्रकारक इच्छा ही सिषाधयिषा पद का अर्थ है। तब तो सिषाधयिषा पद से द्रव्यत्व प्रकारक द्रव्य विशेष्यक ज्ञानेच्छा नहीं ली जायगी अतः उक्त स्थल में अनुमित्यापत्ति रूप दोष नहीं होगा अतः मुक्तावली में वह्नि व्याप्य धूमवान् इत्यादि ग्रन्थ से दोष देता है अर्थात् प्रकृतानुमितित्वप्रकारक इच्छा ही यदि सिषाधयिषा पद का अर्थ हो तो जहाँ पर वह्नि व्याप्य धूमवान् पर्वतो वह्निमान् इत्याकारक सिद्ध्यात्मक प्रत्यक्षात्मक परामर्श है और प्रत्यक्षाद्यतिरिक्तं वह्नि ज्ञानं जायताम् इत्याकारक इच्छा है वहाँ अनुमिति होती है वह नहीं होगी क्योंकि अनुमितित्वप्रकारक इच्छा रूप सिषाधयिषा नहीं है। अतः तादृश सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभावरूप पक्षता नहीं रहेगी। और उक्त इच्छा रहने से अनुमिति होती है अतः उक्त इच्छा यादृश सिषाधयिषा पद से ली जायगी तादृश सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धि नहीं रहने के कारण हमारे मत में वहाँ अनुमित्यनुपपत्तिरूप दोष नहीं होगा। (१९) एवं यादृश यादृश सिषाधयिषा रहते हुए सिद्धिकाल में तत्पक्षक तत्साध्यक तद्धेतुक अनुमिति होती हो यहाँ पर अनुमिति में तद्धेतुकत्व प्रवेश का फल ग्रन्थ में एवमित्यादि शब्द से बतलाते हैं अर्थात् तद्धेतुकत्व का प्रवेश नहीं करें तो धूम हेतुकसिद्ध्यात्मक परामर्श काल में आलोक लिंगवह्न्यनुमिति की इच्छा रहने से अनुमिति नहीं होती है वह हो जायगी क्योंकि आलोक लिंगक वह्न्यनुमिति की इच्छा रहने से अनुमिति नहीं होती है वह हो जायगी क्योंकि आलोक लिंगक वह्न्यनुमिति की इच्छा रहने पर आलोक लिंगक सिद्ध्यात्मक परामर्श कालमें पर्वत पक्षक वह्निसाध्यक अनुमिति होती है। अतः पर्वत पक्षक वह्निसाध्यक अनुमिति में आलोक लिंगक वह्न्यनुमितीच्छा को उत्तेजकत्व मानना आवश्यक है तब तादृश इच्छा में आलोक लिंगक वह्न्यनुमितीच्छा ली जायगी अतः उक्त स्थल में आपत्ति होगी।

(२०) सिषाधयिषा विरहकाले यादृशसिद्धिसत्त्वे नानुमिति-

स्तादृशी सिद्धिर्विशिष्यैव तत्तदनुमिति प्रतिबन्धिका वक्तव्या। (२१) तेन पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमानिति ज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमितेर्न विरोधः।

(२०) एवं सिषाधयिषा के अभावकाल में यादृश यादृश सिद्धि को रहते हुए यत्पक्षक यत्साध्यक यद्धेतुक अनुमिति का अनुत्पाद हो तत्पक्षक तत्साध्यक तद्धेतुक अनुमिति के प्रति तादृश तादृश सिद्धि ही प्रतिबन्धक है। (२१) अतः सिषाधयिषा के अभावकाल में पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमान् इत्यादि सिद्धि को रहते हुए भी पर्वतो वह्निमान् इत्याकारक अनुमिति का अनुत्पाद नहीं होता अतः पर्वत स्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमान् इत्यादि सिद्धि पर्वतो वह्निमान् इस अनुमितिकेप्रति प्रतिबन्धक नहीं होता है।

(२२) परंतु पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेन अनुमितिदर्शनात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिरेव प्रतिबन्धिका, पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन अनुमितिं प्रति तु सिद्धिमात्रं विरोधि।

(२२) उक्त प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव में भी यह भी समझना चाहिये कि पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन अर्थात् किञ्चित् पक्ष में साध्यनिश्चय रहते हुए भी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् सकल पक्ष में साध्यानुमिति होती है अतः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति के प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन सिद्धि ही प्रतिबन्धक है। और पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अथवा पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन किसी भी सिद्धि को रहने पर पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन अनुमिति नहीं होती है अतः पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन अनुमितिके प्रति सिद्धिमात्र अर्थात् पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन और पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन दोनों प्रतिबन्धक है।

(२३) इदंतु बोध्यं। (२४) यत्रायं पुरुषो न वेति संशयानन्तरे पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान् अयमितिज्ञानं तत्र असत्यावमनुमित्सायां पुरुषत्वस्य प्रत्यक्षं भवति नत्वनुमितिरतोऽनुमित्सा विरहविशिष्ट समानविषयक प्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासादिवत् स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धिका।

(२३, २४) इस जगह में यह भी समझना चाहिये कि दूरस्थ पुरुष में दूरत्व दोषप्रयुक्त अयं पुरुषोनवा इत्याकारक संशयानन्तर पुरुषत्व-व्याप्यकरादिमानयम् इत्याकारक विशेषदर्शन रहने पर पक्षतापरामर्शादिरूप पुरुषत्व की अनुमिति सामग्री है और संशयानन्तर निश्चयात्मक प्रत्यक्ष के प्रति विशेषदर्शन कारण होता है अतः पुरुषत्व के प्रत्यक्ष सामग्री भी है तब उक्त स्थल में पुरुषत्व के प्रत्यक्ष के समान पुरुषत्व की अनुमिति क्यों नहीं होती अतः समान विषयक अनुमिति के प्रति यदि समान विषयक प्रत्यक्ष सामग्री को प्रतिबन्धकत्व माना जाय तो जिस स्थल में पुरुषत्व के प्रत्यक्ष के समान पुरुषत्व की अनुमिति क्यों नहीं होती अतः समान विषयक अनुमिति के प्रति यदि समान विषयक प्रत्यक्ष सामग्री को प्रतिबन्धकत्व माना जाय तो जिस स्थल में पुरुषत्व संशयानन्तर पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम् इत्याकारक विशेष दर्शन और अनुमित्सा है वहाँ इच्छाघटित सामग्री को बलवत्तर होने के कारण अनुमिति होती है सो नहीं होगी इस हेतु समानविषयक अनुमिति के बलवत्तर होने के कारण अनुमिति होती है सो नहीं होगी इस हेतु समानविषयक अनुमिति के प्रति अनुमित्साविरहविशिष्ट समान विषयक प्रत्यक्ष सामग्री को प्रतिबन्धकत्व मान जाता है अतः पूर्वोक्त स्थल में अनुमिति नहीं होगी।

(२५) एवं परामर्शानन्तरं विना प्रत्यक्षेच्छां पक्षादेः प्रत्यक्षानुत्पत्तेः प्रत्यक्षेच्छा विरहविशिष्टानुमितिसामग्री विभिन्नविषयकप्रत्यक्षे प्रतिबन्धकेति संक्षेपः।

(२५) एव वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः इत्यादि परामर्श के बाद यदि पर्वतादिरूप पक्षर्पतयक्ष की इच्छा रहती है तो सन्निकर्षादिरूप पक्ष प्रत्यक्ष सामग्री रहने के कारण पर्वतादि पक्ष का प्रत्यक्ष ही होता है, उक्तइच्छा नहीं रहती तो पक्षता परामर्शादिरूप अनुमिति सामग्री रहने के हेतु वह्नि की अनुमिति ही होती है। इस हेतु विभिन्न विषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रत्यक्षेच्छा विरह-विशिष्ट विभिन्नविषयक अनुमिति सामग्री को प्रतिबन्धकत्व माना जाता है अतः उक्त स्थल में पर्वतादिरूप पक्ष प्रत्यक्ष नहीं होगा। इतिपक्षता निरूपणम्।

प्रसंगसंगत्या हेत्वाभासान्विभजते अनैकान्त इत्यादि।

अनुमानखण्डमें व्याप्ति और पक्ष धर्मताविशिष्टहेतु में सद्धेतु शब्द का प्रयोग हुआ है इससे जिज्ञासा होती है कि असद्धेतु क्या है! उसी जिज्ञासाके शान्त्यर्थ ग्रन्थकार हेत्वाभासका निरूपण करते हैं "अनन्तराभिधान-प्रयोजक जिज्ञासाजनक ज्ञानविषयत्वं संगतिः" अनन्तरं याने व्याप्तिपक्ष धर्मता निरूपणोत्तर जो अभिधान अर्थात् कथन (हेत्वाभास कथन) तत् प्रयोजक जो "दुष्टहेतवः" के इत्याकारिका जिज्ञासा तज्जनक जो दुष्ट हेतुज्ञान तद्विषयत्वरूप संगति हेत्वाभास में रह गई। अतः संगति रहने से पूर्वोत्तर ग्रन्थमें एक वाक्यताका लाभ हुआ। उक्त संगति (१) प्रसंग (२) उपोद्घात (३) अवसर (४) हेतुता (५) निर्वाहकैक्य (एक प्रयोजक प्रयोज्यत्व) (६) कार्यैक्य (एक कार्यकारिता) के भेदसे ६ प्रकार के हैं। यथा कहा है "सप्रसंग उपोद्घातोऽवसरो हेतुता तथा निर्वाहकैक्य कार्यैक्ये षोढा संगतिरुच्यते" जिनमें केवल प्रसंग और एक कार्यकारितारूप दो संगतियाँ यहाँ लागू हैं।

का० ७१, ७२।

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पंचधा॥

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः।
तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकान्तिको भवेत्॥

का० अर्थ।

(यद्विषयक निश्चय, अनुमिति या परामर्शअन्यतर का प्रतिबन्धक हो, वही हेत्वाभास कहाता है)। [1](हेत्वाभास ५ प्रकार के हैं यथा (१)

---

१. उदाहरण–"वायुर्गन्धवान् स्नेहात्" इस स्थल में पाँचों हेत्वाभासों का समन्वय है (१) (व्यभिचार) यथा–गन्धाभाववत्तद्वृत्ती स्नेहरूपहेतु को होने के कारण व्यभिचार दोष है। (२) (निरोध) गन्धासामानाधिकरण्य हेतु में रहने के कारण विरोधदोष है। (३) (स्वरूपासिद्धि) स्नेहरूप हेत्वभाववत् वाय्वात्मक पक्ष होने के कारण स्वरूपासिद्धि दोष है। (४) (सत्प्रतिपक्ष) साध्याभावव्याप्यवत्

अनैकान्तिक (सव्यभिचार) (२) विरुद्ध (३) असिद्ध (४) प्रतिपक्षित (सत्प्रतिपक्ष) (५) और कालात्ययापदिष्ट (बाधित)। अनैकान्तिक (सव्यभिचार) के तीन प्रभेद हैं यथा (१) साधारण (२) असाधारण (३) अनुपसंहारी।

(१) तल्लक्षणंतु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वम्।

(१) "यद्विषयकत्वेन, ज्ञानस्यानुमिति विरोधित्वं तत्त्वम्" हेत्वाभास सामान्यका लक्षण है। "यद्विषयकत्वेन" यहाँ यत् पदसे हेत्वाभासका ग्रहण करना चाहिये तृतीया का अर्थ "अवच्छिन्नत्व" है उसका अन्वय प्रतिबन्धकत्वरूप" विरोधित्व के साथ है अतः (यद्विषयकत्वावच्छिन्नम् अनुमिति प्रतिबन्धकत्वम्) ऐसा अर्थ लब्ध हुआ। "ज्ञानस्य" यहाँ ज्ञानपद अनाहार्य्य और अप्रामाण्य ज्ञानानास्कन्दित निश्चयार्थक है। क्योंकि आहार्य्य अप्रामाण्य ज्ञानास्कन्दित और संशय अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं होता है। षष्ठीका अर्थ वृत्तित्व है। उसका अन्वय स्वरूप सम्बन्ध से यद्विषयकत्व में है। तब पर्य्यवसित ऐसा अर्थ हुआ यथा–"अनाहार्य्य अप्रामाण्य ज्ञानास्कन्दित निश्चयवृत्ती यद्विषयकत्व धर्म्मावच्छिन्न अनुमिति प्रतिबन्धकत्व हो" वही हेत्वाभासरूप दोष है।

(२) तथाहि। (३) व्यभिचारादिविषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमिति-विरोधित्वात्तेदोषाः। (४) यद्विषयकत्वं च यादृश विशिष्टविषयकत्वं बोध्यम्। (५) तेन बाधभ्रमस्यानुमितिविरोधित्वेऽपि न क्षतिः। (६) तत्र पर्वतो वह्न्यभाववानिति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वान्न हेतुदोषः।

(२, ३) व्यभिचारादि विषयकत्वेन व्यभिचारादि ज्ञान को अनुमिति प्रतिबन्धकत्व होने के कारण व्यभिचार आदि हेत्वाभास दोष होता है। (४) उक्त लक्षण घटक "यद्विषयकत्व" से यादृशविशिष्ट विषयकत्व याने यद्रूपावच्छिन्न विषयकत्व समझना चाहिये। (५) ऐसा निवेश करने से–"पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यादि निर्दुष्ट हेतुक स्थल में अतिव्याप्ति

पक्ष होने के कारण सत्प्रतिपक्ष दोष है। (५) (बाध) गन्धत्व साध्याभाववत् पक्ष होने के कारण बाधदोष है।

नहीं होगी। (६) भ्रमात्मक और प्रमात्मक दोनों ही ज्ञान प्रतिबन्धक होते हैं (ऐसी वस्तुस्थिति है,) और भ्रमात्मकज्ञान में "विशिष्ट" (विशेषणविशिष्ट विशेष्य) विषय नहीं होता है। इसलिये भ्रमज्ञान को प्रतिबन्धकत्वानुरोध से विशिष्ट विषयक निश्चयत्वेन प्रतिबन्धकता नहीं होती है। किन्तु निरूप्यनिरूपक भावापन्न विषयता शाल निश्चयत्वेन प्रतिबन्धकता होती है। यथा–"पर्वतो वह्निमान्" इस ज्ञान के प्रति (क) वह्नित्वावच्छिन्न विषयता निरूपित अभावत्वावच्छिन्न विषयता निरूपित पर्वत्वावच्छिन्न विषयता शालि निश्चयत्वेन एवम् (ख) (विनिगमनाविरहात्) पर्वत्वावच्छिन्न विषयता निरूपित अभावत्वावच्छिन्न विषयता निरूपित वह्नित्वावच्छिन्न विषयता शालिनिश्चयत्वेन। (ग) एवम् वह्नित्वावच्छिन्नविषयतानिरूपित जो पर्वत्वावच्छिन्नविषयतानिरूपित अभावत्वावच्छिन्नविषयता तादृश विषयता शालिनिश्चयत्वेन प्रतिबन्धकता माननी होगी। अत: वह्नित्वावच्छिन्न विषयता पर्वत्वावच्छिन्न विषयता और अभावत्वावच्छिन्न विषयता ये तीनों विषयतायें प्रतिबन्धकतावच्छेदक होती है। यहाँ यदि प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्व स्वरूप सम्बन्ध रूप माना जाय तो पर्वत्वावच्छिन्न विषयता को भी वह्नित्वावच्छिन्न विषयतानिरूपित अभावत्वावच्छिन्न विषयतानिरूपित पर्वत्वावच्छिन्न विषयतात्वेन रूपेण प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्व होने के कारण पर्वतादिरूप एक देश में अतिव्याप्ति हो जायगी। अत: प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्व यहाँ अनतिरिक्त वृत्तित्वरूप मानना होगा। तब लक्षण ऐसा हुआ कि "यन्निष्ठ विषयता अनुमिति प्रतिबन्धकता का अनतिरिक्त वृत्ती हो" अर्थात् अनुमिति प्रतिबन्धकत्वाभाव वदवृत्ती हो। ऐसा कहने पर भी वह्न्यभाव विशिष्ट ह्रद को "शुद्ध ह्रद" से अभिन्न होने के कारण वह्न्यभाव विशिष्ट ह्रद विषयता अनुमिति प्रतिबन्धकत्वाभाववत् "ह्रद:" इत्याकारक ज्ञान में रह जायगी। जिससे असम्भव हो जायगा। इसलिये यद्विषयकत्व शब्द का यादृश विशिष्टाविषयकत्व अर्थात् यद्रूपावच्छिन्न विषयकत्व अर्थ है। "यद्रूप" पद से लक्ष्यतावच्छेदक लिया जाता है। तब वह्न्यभाव वद्ध्रदत्व रूप लक्ष्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न विषयता "ह्रद:" इत्याकारक अनुमित्यप्रतिबन्धक ज्ञान में नहीं रहने के कारण असम्भव नहीं होगा। "वह्न्यभाववान् पर्वत:" इत्याकारक ज्ञान विषय वह्न्यभावविशिष्ट पर्वत

तो प्रसिद्ध ही नहीं है। अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। केवल पर्वत्वावच्छिन्न विषयता अनुमित्यप्रतिबन्धक "पर्वतः" इत्याकारक ज्ञान में भी रहने के कारण प्रतिबन्धकताननतिरिक्त वृत्ती नहीं होगी अतः पर्वतादिरूप एक देश में भी रहने के कारण प्रतिबन्धकताननतिरिक्त वृत्ती नहीं होगी अतः पर्वतादिरूप एकदेश में भी अतिव्याप्ति नहीं होगी।

(७) न च वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वत इति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्याभासत्वं न स्यात् तत्र वह्न्यभाव-व्याप्यवान्पक्ष इति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वादिति वाच्यम्, इष्टापत्तेः।

(७) यदि विशिष्ट ही को दोष मानें तो "वह्न्यभाव व्याप्य पाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्श काल में "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः इत्याकारक परामर्श विषय धूम को दुष्टत्व नहीं होगा क्योंकि "वह्न्यभावव्याप्य पाषाणमयत्ववत् पर्वत" अप्रसिद्ध है और भ्रम विषय एक देश में तो आप दोषत्व मानते ही नहीं है। अतः कोई दोष नहीं रहने के कारण धूम भी दुष्ट नहीं होगा। इसका उत्तर यह है कि धूममें दुष्टत्व नहीं मानना ही मुझे इष्ट है। किन्तु "वह्न्यभाव व्याप्य पाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक भ्रमात्मक निश्चय से अनुमिति का प्रतिबन्धमात्र होता है।

(८) अन्यथा बाधस्याप्यनित्यदोषत्वापत्तेः (९) तस्मात्तत्र वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववानिति परामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्य नाभासत्वम्। (१०) भ्रमादनुमितिप्रतिबन्धमात्रं हेतुस्तु न दुष्टः।

(८) यदि भ्रमविषय "पर्वतादि" रूप एक देश भी दोष मानाजाय तो "वह्न्यभाववान् पर्वतः" इत्याकारक ज्ञान विषय पर्वतादि में भी आप बाधत्व मानेंगे तब बाध भी अनित्यदोष हो जायगा जो नित्य दोष है। (९, १०) तब पर्य्यवसित यह हुआ कि वह्न्यभाव व्याप्य पाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्शकाल में "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्श विषय धूम दुष्ट नहीं है किन्तु भ्रमात्मक उक्त विपरीत परामर्श से अनुमिति का प्रतिबन्धमात्र होता है (धूमरूप हेतु दुष्ट नहीं है)।

(११) इत्थं च साध्याभाववद्वृत्तिहेत्वादिकं दोषः। (१२) तद्वत्त्वं च हेतौ येन केनापि संबन्धेनेति नव्याः।

अनतिरिक्त वृत्तित्वरूप प्रतिबन्धकतावच्छेदकत्व की विवक्षा करने पर अनुमिति परामर्शान्यितर प्रतिबन्धकत्वा भाववत् साध्याभाववद् वृत्तित्वज्ञान में साध्याभाववद् वृत्तित्व विषयता को रहने के कारण केवल साध्याभाववद् वृत्तित्व दोष नहीं है किन्तु साध्याभाववद् वृत्तिहेत्वादि पदार्थ ही दोष है। (१२) "स्वज्ञान विषय प्रकृत हेतुतावच्छेदकत्वत्त्व सम्बन्धेन दोषवत्त्व ही दुष्ट का लक्षण है। ऐसा नवीनों का मत है।

(१३) परे तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तद्वत्त्वं हेत्वाभासत्वम्। (१४) सत्प्रतिपक्षे विरोधिव्याप्त्यादिकमेव तथा। तद्वत्त्वं च हेतोर्ज्ञानरूपसंबन्धेन।

(१३) किसी के मत से "हेतुवत् आभासन्ते हेत्वाभासा:" इस व्युत्पत्ति से हेत्वाभास शब्द का दुष्टहेतु अर्थ है। तदनुसार "यद्विषयकत्वा वच्छिन्न अनुमिति प्रतिबन्धकता हो तद्वत्त्व ही हेत्वाभास का लक्षण है। (१४) सत्प्रतिपक्ष स्थल में विरोधिव्याप्ति विषयकत्वा वच्छिन्ना अनुमिति प्रतिबन्धकता होने के कारण "यत्" पद से विरोधिव्याप्तिका ग्रहण होगा। तब "स्वज्ञान विषय प्रकृत हेतुतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्धेन तद्वत्त्व हेतु में रह जायगा। अतः हेतु में दुष्टत्व की उपपत्ति हो जायगी।

(१५) न चैवं वह्निमान् धूमादित्यादौ पक्षे बाधभ्रमस्य साध्याभाव विषयकत्वेनानुमितिविरोधित्वाज्ज्ञानरूप संबन्धेन तद्वत्त्वस्यापि सत्त्वात्सद्धेतोरपि बाधितत्वापत्तिरिति वाच्यं तत्र ज्ञानस्य संबन्धत्वा-कल्पनात्। (१६) अत्र सत्प्रतिपक्षित इति व्यवहारेण तत्कल्पनात्। तत्र बाधित इति व्यवहाराभावदित्याहुः।

(१५) यहाँ शङ्का करते हैं कि–"पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस स्थलमें "वह्न्यभाववान् पर्वतः" इत्याकारक बाध भ्रमनिष्ठ साध्याभाव विषयकत्वावच्छिन्ना अनुमिति प्रतिबन्धकता है अतः "स्वज्ञान विषय प्रकृत हेतुतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्धेन" तादृश साध्यभाव को धूम हेतु में

रहने के कारण धूमवाधित क्यों नहीं होगा? समा०—उस स्थल में "धूमोबाधितः" ऐसी प्रतीति नहीं होती है इसलिये वह्न्यभाव प्रतियोगिक धूमानुयोगिक स्वज्ञान विषय प्रकृत हेतुतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्ध की कल्पना नहीं करते हैं अतः सम्बन्धाभाव प्रयुक्त धूम में बाधितत्वापत्ति नहीं होगी। (१६) और सत्प्रतिपक्ष स्थल में "धूमः सत्प्रतिपक्षितः" इत्याकारक व्यवहार होता है इसलिये स्वज्ञान विषय प्रकृत हेतुतावच्छेदकतत्व सम्बन्ध की कल्पना करते हैं अतः धूम में दुष्टत्व उत्पन्न होगा।

(१७) अनुमिति विरोधित्वं च अनुमिति तत्कारणान्यतर-विरोधित्वम्।

(१७) लक्षण घटक "अनुमिति विरोधित्व" पद से "अनुमिति तत्कारणान्यतर विरोधित्व" समझना चाहिये। यदि ऐसा अर्थ नहीं करें तो व्यभिचार में अव्याप्ति हो जायगी।

(१८) तेनैकहेतौ व्यभिचारग्रहे हेत्वन्तरेणानुमित्युत्पत्तेस्तद भावा-द्यनवगाहित्वाच्च व्यभिचारज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वाभावेऽपि न क्षतिरिति संक्षेपः।

(१८) यथा—"वह्निर्धूम व्यभिचारी" इत्याकारक व्यभिचार ज्ञान रहने पर भी "धूमव्याप्य तद्वह्निमान् पर्वतः" इत्याकारक परामर्श से "पर्वतो वह्निमान्" ऐसी अनुमिति होती है। अतः व्यभिचारज्ञान अनुमिति प्रतिबन्धक नहीं है। एवं पर्वत में धूमवत्त्वावगाही अनुमिति के प्रति पर्वतांशे धूमाभावानवगाहि व्यभिचारज्ञान को अनुमिति प्रतिबन्धकता होना असम्भव है। अतः व्यभिचार विषयकत्वावच्छिन्ना अनुमिति प्रतिबन्धकता नहीं होने के कारण व्यभिचार में अव्याप्ति हो जायगी। उक्त अर्थ करने पर व्यभिचार विषयकत्वावच्छिन्ना अनुमिति प्रतिबन्धकता न होने पर भी व्यभिचार विषयकत्वावच्छिन्ना अनुमिति कारण परामर्श प्रतिबन्धकता है अतः व्यभिचार में अव्याप्ति नहीं होगी।

(१९) यादृशसाध्यपक्षहेतौ यावन्तो दोषास्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वाभासत्वम्। (२०) पञ्चत्वकथनन्तु तत्संभव स्थलाभिप्रायेण।

(२१) एवं च साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम्।

(१९) "निर्वह्निः पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यादि स्थलमें "साध्यवान्" इत्याकारक ज्ञान को "स्वविरोध धर्म धर्मितावच्छेदक स्वप्रकारक ज्ञानरूप होने के कारण नियताहार्य्य रूपत्व हो जायगा और प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान आहार्य नहीं होता है इसलिये उक्तस्थल में "अनुमिति अप्रसिद्ध है अतः अनुमिति घटित पूर्वलक्षण को छोड़कर ग्रन्थकार लक्षणान्तर करते हैं" यथा–यत्पक्षक, यत्साध्यक, यद्धेतुक स्थल में जितने दोषों की सम्भावना हो तावदन्यतमत्त्व ही तत्तत् स्थलों में हेत्वाभासत्व है। (२०) चिन्तामणिमें पाँच हेत्वाभास जो कहे गये हैं सो "वायुर्गन्धवान् स्नेहात्" इत्यादि स्थलों ही को लक्ष्यकर है। अतः सबस्थलोंमें पाँचो हेत्वाभासों को नहीं मिलने पर भी क्षति नहीं है। (२१) इसीतरह अनैकान्तिक अर्थात् सव्यभिचारका भी "साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी एतदन्यतमत्व" लक्षण है।

(२२) साधारणः साध्यवदन्यवृत्तिर्हेतुः। तेन च व्याप्तिग्रह प्रतिबन्धः क्रियते। (२३) असाधारणः साध्यासमानाधिकरणो हेतुः। (२४) तेन साध्यसामानाधिकरण्यग्रहः प्रतिबध्यते। (२५) तथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यादावसाधारण्यं शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ त्वसाधारण्यभ्रमः। (२६) अन्ये तु सपक्षावृत्तिरसाधारणः। (२७) सपक्षश्च निश्चितसाध्यवान्। इत्थं च शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा पक्षे साध्यनिश्चयस्तदा नासाधारण्यं तत्र हेतोर्निश्चयादिति वदन्ति।

(२२) "साध्यवदन्यवृत्ती जो हेतु" वह साधारण कहाता है साधारणत्व ज्ञान व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक है। (२३) "साध्य का असमानाधिकरण जो हेतु" सो असाधारण कहाता है। (२४) आसाधारणत्व ज्ञान "हेतुनिष्ठ साध्य सामानाधिकरण्य ग्रह का प्रतिबन्धक है। (२५) "शब्दः नित्यः शब्दत्वात्" यहाँ शब्दत्वरूप हेतु को साध्य के असमानाधिकरण होने के कारण "शब्दत्व" असाधारण है। "शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्" यहाँ शब्दत्व रूप हेतु साध्य के समानाधिकरण होने के कारण असाधारण नहीं है अतः "शब्दत्व" में जिसको असाधारणत्व का ज्ञान होता है उस ज्ञान

को भ्रमरूप समझना चाहिये। (२६) किसी का मत है कि सपक्ष में अवृत्ती जो हेतु वह असाधारण है। (२७) जिस धर्मी में साध्य का निश्चय हो वह सपक्ष कहता है। "शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्" इस स्थल में जब पक्ष में साध्य का निश्चय है तब शब्दत्वरूप हेतु को शब्दात्मक सपक्ष में अवृत्ती नहीं होने के कारण "शब्दत्व" असाधारण नहीं है। शब्द में जब अनित्यत्व का निश्चय नहीं है तब "शब्दत्व" को घटादि रूप सपक्षावृत्ति होने के कारण "शब्दत्व" भी आसाधारण हो सकता है।

(२८) अनुपसंहारी च अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः। (२९) अनेन च व्यतिरेक व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः क्रियते।

(२८) अत्यन्ताभावाप्रतियोगी है साध्यजिस हेतु का, वह हेतु अनुपसंहारी है। (२९) अनुपसंहारी का ज्ञान व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक है।

(३०) विरुद्धस्तु साध्यव्यापकीभूताभाव प्रतियोगी। (३१) अयं साध्याभावग्रह सामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकः। (३२) सत्प्रतिपक्षे तु प्रतिहेतुः साध्याभावसाधकः। अत्रतु हेतुरेवेति विशेषः।

(३०) साध्यव्याप की भूताभाव प्रतियोगी जो हेतु वह विरुद्ध है। (३१) विरोधज्ञान साध्याभाव ग्राहक होने के कारण "साध्यवत्ता ज्ञान का प्रतिबन्धक है। (३२) यद्यपि सत्प्रतिपक्षस्थल के समान "शब्दोनित्यः कृतकत्वात्" इत्यादि विरुद्ध स्थल में भी साध्याभाव साधक हेतु को रहने के कारण सत्प्रतिपक्ष और विरुद्ध इन दोनों में साम्य हो जाना चाहिये। तथापि "सत्प्रतिपक्षस्थल में" प्रतिहेतु साध्याभाव साधक होता है और विरुद्धस्थल में प्रकृत हेतु ही साध्याभाव साधक है यही दोनों में अन्तर है।

(३३) साध्याभावसाधक एव हेतुः साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्त इति अशक्तिविशेषोपस्थापकत्वाच्च विशेषः।

(३३) उक्त विरुद्ध और सत्प्रतिपक्ष में यह भी भेद है कि हेतु प्रयोग में जिसने विरुद्ध हेतु का प्रयोग किया है, वही प्रयुक्त हेतु उस

व्यक्ति की अशक्ति का सूचक होता है क्योंकि साध्याभाव साधक जो हेतु है, वह हेतु उक्त व्यक्तिसे साध्य साधकत्वेन प्रतिपादित है। और सत्प्रतिपक्षस्थलमें ऐसा नहीं होता है। यहभी दोनों में अन्तर होता है।

(३४) सत्प्रतिपक्षः साध्याभाव व्याप्यवान्पक्षः। (३५) अगृहीताप्रामाण्यक साध्यव्याप्यवत्त्वोपस्थितिकालीनागृहीता प्रामाण्यक साध्याभावव्याप्यवत्त्वोपस्थितिविषयस्तस्थेत्यन्ये। (२६) अत्र च परस्पराभावव्याप्यवत्ताज्ञानात्परस्परानुमितिप्रतिबन्धः फलम्।

(३४) "साध्याभाव व्याप्यवत्" जो पक्ष वह सत्प्रतिपक्ष दोष कहाता है। जहाँ वादीपक्ष में वह्न्यादिरूप साध्यसाधनार्थ पञ्चावयव वाक्य प्रयोग किया है। तदनन्तर वादि प्रतिपादित जो वह्निरूपसाध्य तदभाव साधनार्थ प्रतिवादी भी पञ्चावयव वाक्य प्रयोग किया है। उसी समय में सत्प्रतिपक्ष का व्यवहार होता है दोनों हेतु सत्प्रतिपक्षित कहाते हैं। (३५) अतः कई एक आचार्य्य व्यवहारौपयिक सत्प्रतिपक्ष का लक्षण ऐसा भी कहते हैं कि "अप्रामाण्यज्ञानशून्य साध्यव्याप्यवत्ता परामर्शकालीन जो अप्रामाण्यज्ञानशून्य साध्याभाव व्याप्यवत्ता परामर्श तद्विषयत्व"। (३६) "अप्रामाण्य ज्ञानशून्य साध्य साधक और परामर्श अप्रामाण्यज्ञानशून्यसाध्याभाव साधक परामर्श" इन दोनों परामर्शों से परस्पर अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है। अर्थात् यदि किसी भी परामर्श में अप्रामाण्यज्ञान नहीं रहे तो वह्निव्याप्यवत्ता परामर्श से वह्न्यभावानुमिति का और वह्न्यभाव व्याप्यवत्ता परामर्श से वह्निमत्तानुमिति का प्रतिबन्ध होता है।

(३७) अत्र केचित्। (३८) यथा घटाभावव्यप्यवत्ताज्ञाने विद्यमानेऽपि घटचक्षुः संयोगे सति घटवत्ताज्ञानं जायते। (३९) यथाच शंखेसत्यपि पीतत्वाभावव्याप्य शङ्खत्ववत्ताज्ञानेसति पित्तादि दोषे पीतः शङ्ख इति धीर्जायते। (४०) एवं कोटि द्वय व्याप्यदर्शनेऽपि कोटिद्वयस्य प्रत्यक्षरूपः संशयो भवति। (४१) तथा सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवत्येव।

(३७) रत्नकोशकार सत्प्रतिपक्षस्थल में अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं मानते हैं। किन्तु संशयोत्पादन द्वारा सत्प्रतिपक्ष को दूषकता मानते हैं।

परन्तु इस मत को सिद्धान्ती स्वीकार न कर अपने अस्वरस प्रकाश करने के हेतु "अत्र केचित्" इत्यादि ग्रन्थ से उक्त रत्नकोशकार का मत उपन्यस्त करते हैं। (३८, ३९, ४०, ४१) ज्ञान प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव अनुभावानुरोध से माना जाता है यथा–पूर्व में घटाभावव्याप्यवत्ता निश्चय रहने पर भी घट के साथ चक्षुःसंयोग होने पर घटवत्ता ज्ञान होता है। एवं शङ्ख में पीतत्वाभावव्याप्य शङ्खत्ववत्ता निश्चय रहने पर भी नेत्रगत पैत्तिक दोषवाले मनुष्य को "पीतःशङ्खः" ऐसा ज्ञान होता है। अतः लौकिक सन्निकर्षजन्य घटवत्ता ज्ञान के प्रति घटाभाव व्याप्यवत्ता ज्ञान को एवं दोष विशेषजन्य "पीतत्ववत्ता" ज्ञान के प्रति पीतत्वाभाव व्याप्यवत्ता ज्ञान को प्रतिबन्धकत्व नहीं माना जाता है, एवं दूर अथवा अन्धकारस्थित स्थान में "पुरुषत्वव्याप्य पुरुषत्वाभाव" उभयव्याप्यवत्ता ज्ञान रहने पर भी "अयम् पुरुषो न वा" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक संशय होता है, अतः "तद्व्याप्यवत्ता ज्ञान विशिष्ट" तद्वत्ता बुद्धि के प्रति "तदभाव व्याप्यवत्ता निश्चय को प्रतिबन्धकता नहीं है यह मानना होगा। तब जहाँ "वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः" वह्न्यभाव व्याप्य पाषाण मयत्ववान् पर्वतः" यह दोनों परामर्श है वहाँ "वह्निव्याप्यवत्ता ज्ञानविशिष्ट वह्निमत्ता बुद्धि के प्रति "वह्न्यभाव व्याप्यवत्ता परामर्श प्रतिबन्धक नहीं होगा। एवं "वह्न्यभाव व्याप्यवत्ता ज्ञानविशिष्ट" "वह्न्यभाववत्ता बुद्धि के प्रति वह्निव्याप्यवत्ता परामर्शप्रतिबन्धक नहीं होगा। तब पर्य्यवसित यह हुआ कि सत्प्रतिपक्षस्थल में साध्यज्ञान प्रतिबन्धक एवं साध्याभाज्ञान प्रतिबन्धक कोई नहीं है। और साध्यभासक साध्यभावभासक दोनों परामर्श है तब "पक्षः साध्यवान् न वा" इत्याकारक संशय रूपानुमिति अवश्य होगी।

(४२) यत्र चैक कोटिव्याप्य दर्शनं तत्राधिक बलतया द्वितीय कोटिभान प्रतिबन्धान्न संशयः। (४३) फलबलेन चाधिकसमबलभावः कल्प्यत इति वदन्ति। (४४) तन्न। (४५) तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तदुपनीत भान विशेषशाब्दबोधादेरनुदयाल्लौकिक संनिकर्षाजन्य-दोषविशेषाजन्यज्ञान मात्रे तस्य प्रतिबन्धकता लाघवात्। (४६) नतूपनीतभान विशेषे शाब्दबोधे च पृथक्प्रतिबन्धकता गौरवात्। (४७)

तथाच प्रतिबन्धकसत्त्वात्कथमनुमितिः। (४८) नहि लौकिक संनिकर्षस्थले प्रत्यक्षमिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयाकारानुमितिः प्रामाणिको, येनानुमितिभिन्नत्वेनापि विशेषणीयम्।

(४२) जिस जगह दोनों विरुद्ध कोटियों की उपस्थिति धर्मिज्ञान दोनों कोटियों का बाध निश्चयाभाव ये तीनों कारण रहते हुए भी पुरुषत्वाद रूप एककोटिमात्र का व्याप्यवत्ता ज्ञान है वहाँ "अयं पुरुषो न वा" यह संशय नहीं होता है। कारण यह है कि दोनों कोटि का भान प्रयोजक सामग्री रहने पर संशय होता है। वह यहाँ नहीं है। क्योंकि पुरुषत्वाभाव भान का प्रतिबन्धक जो पुरुषत्वाभाव व्याप्यवत्ता ज्ञान विरहविशिष्ट पुरुषत्वाभावाभाव व्याप्यवत्ताज्ञान अर्थात् पुरुषत्वव्याप्यवत्तज्ञान वह प्रतिबन्धक हो जायगा। (४३) दोनों विरुद्ध कोटियों के भान प्रयोजक कारण कूट रहते हुए भी जहाँ कार्योत्पत्ति नहीं होती है वहाँ दोनों कोटियों की सामग्री को परस्पर कार्य्योत्पत्ति में प्रतिबन्धक मानते हैं। और जहाँ एक सामग्री प्रयोज्य कार्य्य होताहै, और द्वितीयसामग्री प्रयोज्य कार्य्य नहीं होता है वहाँ जिस सामग्री का कार्य्य होता है उस सामग्री को अधिक बलवती, और जिस सामग्री का कार्य्य नहीं होता है उस सामग्री को न्यून बलवती समझना चाहिये। (यहाँ तक रत्न कोशकार का मत है)। (४४, ४५, ४६, ४७) उका खण्डन सिद्धान्ती इसप्रकार करते हैं कि तदभाव व्याप्यवत्ता निश्चय रहने पर तत्प्रकारक उपनीत भान विशेष और तत्प्रकारक शाब्दबोधादि नहीं होता है। इसलिये तत्प्रकारक उपनीत भान विशेषके प्रतितदभाव व्याप्यवत्ता निश्चय को प्रतिबन्धकत्व मानेंगे तो इसप्रकार अनेक प्रतिबाध्य प्रतिबन्धक भाव की कल्पना प्रयुक्त गौरव होगा। अतः अनुगतरूप से लाघवात् "लौकिक सन्निकर्षजन्य दोष" विशेषाजन्य तद्वत्ता बुद्धि के प्रति तदभाव व्याप्यवत्ता निश्चय को प्रतिबन्धकत्व मानना उचित है। तब सत्प्रतिपक्ष स्थल में "वह्निव्याप्यधूवान् पर्वतः" वह्न्यभाव व्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वतः" इत्याकारक दोनों विरुद्धपरामर्शों को रहने पर "पर्वतो "पर्वतो वह्निमान् न वा" यह संशयानुमिति नहीं हो सकती। क्योंकि लौकिक शन्निर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य वह्निमत्ताबुद्ध्यन्तर्गत

वह्निमत्तानुमिति के प्रति वह्न्यभावव्याप्यवत्ता निश्चय प्रतिबन्धक हो जायगा। एवं लौकिक सन्निकर्षजन्य, दोष विशेषाजन्य, तद्वत्ता बुद्ध्यन्तर्गत, वह्न्यभाववत्तानुमिति के प्रति, वह्न्यभावाभाव व्याप्यवत्ता निश्चय अर्थात् वह्निव्याप्यवत्ता निश्चय प्रतिबन्धक हो जायेगा, तब वह्निमान् प्रयोजक और वह्न्यभाव मान प्रयोजक सामग्री नहीं रहने के कारण संशयाकारक अनुमिति होना असम्भव है। (४८) जिस जगह घटाभाव व्याप्यवत्ता निश्चय रहने पर घट के साथ लौकिक सन्निकर्ष है उस जगह प्रत्यक्ष को प्रामाणिक होने के कारण प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में जिस प्रकार लौकिक सन्निकर्षाजन्यत्व का नियश किया जाता है। उस प्रकार सत्प्रतिपक्षस्थल में भी संशयाकारक अनुमिति प्रामाणिक होगी तो तदर्थ पूर्ववत् यहाँ भी तदभाव व्याप्यवत्ता निश्चय के प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में अनुमिति भिन्नत्व का निवेश करके तत्प्रकारकानुमिति के प्रति तदभाव व्याप्यवत्ता निश्चय को प्रतिबन्धकत्व नहीं होने के कारण संशयाकारक अनुमिति का उपपादन कर सकते। परन्तु सत्प्रतिपक्षस्थल में संशय रूपानुमिति को (विवादग्रस्त) अर्थात् प्रामाणिक नहीं होने के कारण संशयाकारक अनुमिति का उपपादन करना असंभव है।

(४९) यत्र च कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञानं तन्नोभयत्रा प्रामाण्यज्ञानात् संशयो नान्यथाऽगृहीताप्रामाण्यकस्यैव विरोधिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वा-दिति।

(४९) यदि ऐसा कहें कि जिस जगह "पुरुषत्व व्याप्यकरादिमानयम्" "पुरुषत्वाभावव्याप्य कोटिकरादिमानयम्" इत्याकारक उभय व्याप्यवत्ता ज्ञान है और पुरुषत्व पुरुषत्वाभाव प्रकारक संशय सामग्री है उस जगह "अयं पुरुषो न वा" इत्याकारक संशयात्मक प्रत्यक्ष भी कैसे होगा क्योंकि लौकिक सन्निकर्षजन्य, दोष विशेषाजन्य पुरुषत्ववत्ता बुद्धि के प्रति पुरुषत्वाभाव व्याप्यवत्ता निश्चय और तादृश पुरुषत्वाभाववत्ता बुद्धि के प्रति पुरुषत्व व्याप्यवत्ता निश्चय प्रतिबन्धक होगा। इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्ती कहते हैं कि उभयकोटि व्याप्यवत्ता निश्चय में यदि अप्रामाण्यज्ञान रहे तभी संशयात्मकप्रत्यक्ष होगा। क्योंकि गृहीता प्रामाण्यक तदभावव्याप्यवत्ता

निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता है। उभयकोटि व्याप्यवत्ता ज्ञान में अप्रामाण्यज्ञान नहीं रहने पर संशयात्मक प्रत्यक्ष भी इष्ट नहीं है।

(५०) असिद्धिस्त्वाश्रया सिद्ध्याद्यन्यतमः। (५१) आश्रयासिद्धिः पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभावः। (५२) यत्र च काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानिति साध्यते तत्र पर्वतो न काञ्चनमय इति ज्ञाने विद्यमाने काञ्चनमये पर्वते परामर्श प्रतिबन्धः फलम्।

(५०) आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि, व्याप्यत्वासिद्धि एतदन्यतमत्वरूप असिद्धि का लक्षण है। (५१) पक्षनिष्ठ पक्षतावच्छेद का भाव एवं पक्षतावच्छेद का भाववत् पक्ष आश्रयासिद्धि है। (५२) यथा–"काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्" इसस्थल में पर्वतनिष्ठ काञ्चनमयत्वाभाव, एवं काञ्चनमयत्वाभाववत् पर्वत आश्रयासिद्धि है "काञ्चनमयत्वाभाववान् पर्वतः" इत्याकारक आश्रयासिद्धि निश्चय "वह्निव्याप्य धूमवान् काञ्चनमयः पर्वतः" इत्याकारक परामर्श में "काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारक अनुमिति में भी प्रतिबन्धक है।

(५३) स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावः। (५४) अत्र च ह्रदो द्रव्यं धूमादित्यादौ पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावे ज्ञाते पक्षे साध्यव्याप्य हेतुमत्ताज्ञानरूपस्य परामर्शस्य प्रतिबन्धः फलम्।

(५३) पक्षनिष्ठ हेत्वभाव एवं हेत्वभावात् पक्षस्वरूपासिद्धि है। (५४) ह्रदो द्रव्यं धूमात्" इसस्थल में धूमाभाववद्ध्रदादि रूप, स्वरूपासिद्धि का निश्चय "द्रव्यत्व व्याप्य धूमवान् ह्रदः" इत्याकारक परामर्श में पक्ष धर्मता ज्ञानांशका प्रतिबन्धक है।

(५५) साध्याप्रसिद्ध्यादयस्तुव्याप्यत्वासिद्धिमध्येऽन्तर्भूताः। (५६) साध्ये साध्यतावच्छेदकस्याभावःसाध्याप्रसिद्धः। (५७) तथा च काञ्चनमय वह्निमानित्यादौ साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावे ज्ञाते साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्य व्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्श प्रतिबन्धः फलम्।

(५५) साध्याप्रसिद्धिं और साधनप्रसिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि में ही अन्तर्भूत है। (५६) साध्यनिष्ठ साध्यतावच्छेद का अभाव एवं साध्यतावच्छेद का भाववत् साध्यसाध्याप्रसिद्धि है। (५७) "काञ्चनमय वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में काञ्चनमयत्वा भाववत् वह्न्यादिरूपसाध्या प्रसिद्धि का निश्चय "काञ्चनमय वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत:" इत्याकारक परामर्श में एवं "पर्वत: काञ्चनमय वह्निमान्" इत्याकारक अनुमिति में भी प्रतिबन्धक है।

(५८) एवं हेतौ हेतुतावच्छेदकाभाव: साधनाप्रसिद्धि:। (५९) यथा च काञ्चनमयधूमादित्यादौ। अत्र हेतुतावच्छेदकविशिष्ट हेतोर्ज्ञानाभावात्तद्धेतुक व्याप्तिज्ञानादेरभाव: फलम्। (६०) एवं वह्निमान् नील धूमादित्यादौ गुरुतया नीलधूमत्वं हेतुतानवच्छेदकमपि व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि वदन्ति।

(५८) हेतुनिष्ठ हेतुतावच्छेदक का अभाव एवं हेतुतावच्छेद का भाववद्धेतु साधना प्रसिद्धि है। (५९) "वह्निमान् काञ्चनमय धूमात्" इस स्थल में काञ्चनमयत्वाभाववद्धूमादि रूपसाधना प्रसिद्धि का निश्चय रहने पर हेतुतावच्छेदक विशिष्ट हेतु का ज्ञान नहीं होता। अत: "वह्निव्याप्य काञ्चनमय धूमवान् पर्वत:" इत्याकारक परामर्श में विशिष्ट हेतु का भान नहीं होगा। (६०) साध्यसम्बन्धितावच्छेदक धर्मवत्त्व व्याप्ति है। वह्निमान् धूमात्में भूमत्व रूप हेतुतावच्छेदक सामानाधिकरण्यात्मक साध्य सम्बन्धितावच्छेदक होने के कारण साध्य सम्बन्धितावच्छेदकहेतुतावच्छेदक धर्मवत्व रूप व्याप्तिधूम हेतु में रहने के कारण लक्षण समन्वय हुआ। "धूमवान्वह्ने:" इस व्यभिचारी में वह्नित्वरूप हेतुतावच्छेदक साध्य सम्बन्धिता के अतिप्रसक्त होने के कारण साध्यसम्बन्धितावच्छेदक नहीं होगा। अत: अतिव्याप्ति का वारण हुआ। "वह्निमान् नील धूमात्" इस स्थलमें धूमत्वापेक्षया गुरुभूत नील धूमत्वरूप हेतुतावच्छेदक साध्य सम्बन्धितावच्छेदक नहीं है। इसलिये नील धूम में वह्निनिरूपित व्याप्ति नहीं रहने के कारण नील धूमत्व व्याप्यतानवच्छेदक होगा अत: साध्य व्याप्यतानवच्छेदक हेतुतावच्छेदक धर्मवत्त्वात्मक व्याप्यत्वासिद्धिदोष नील धूम में रहा। व्याप्यत्वासिद्धिज्ञान व्याप्तिज्ञान प्रतिबन्धक है (नील धूमत्वं हेतुतावच्छेदकम्) यहाँ पर हेतुता पद व्याप्यतार्थक है।

(६१) बाधस्तु पक्षे साध्याभावादिः। (६२) एतस्यानुमिति-प्रतिबन्धः फलम्। (६३) तद्धर्मिकतदभावनिश्चयो लौकिक संनिकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य तद्धर्मिकतज्ज्ञानमात्रे विरोधीति।

(६१) पक्षनिष्ठ साध्याभाव एवं साध्याभाववत् पक्ष बाध है स्वज्ञान विषय प्रकृत तुतावच्छेदकवत्त्व सम्बन्धेन बाधकों हेतु में रहने के कारण हेतु बाधित कहाता है। "वह्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात्" इस स्थल में अनुष्णत्वा भाववत् वह्नि बाध और एतत् स्थलीय द्रव्यत्व बाधित है। (६२) बाध निश्चय अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है। (६३) क्योंकि अनाहार्य्य अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित धार्मिक तदभाव प्रकारक निश्चय लौकिक सन्निकर्षजन्य दोष विशेषाजन्य तद्धर्मिक तत्प्रकारक ज्ञानमात्र का विरोधी होता है।

(६४) न तु संशयसाधारणं पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमिति कारणं तद्विरोधितयां च बाधसत्प्रतिपक्षयोर्हेत्वाभासत्वमिति युक्तम्। (६५) अप्रसिद्धसाध्यकानुमित्यनापत्तेः। (६६) साध्यसंशयादिकं विनाऽप्यनुमित्युत्पत्तेश्च।

(६४) किसी एक देशी आचार्य का मत है कि पक्ष में संशय साधारण साध्य संसृष्टत्व ज्ञान (अर्थात् साध्य सम्बन्धज्ञान) अनुमिति का कारण है। आशय यह है कि अनुमिति से पूर्व साध्य का संशय अथवा निश्चय अन्यतर रहना आवश्यक है। बाध निश्चय एव सत्प्रतिपक्ष निश्चय तादृशसाध्य सम्बन्धज्ञान का प्रतिबन्धक है। अतः उन दोनों में हेत्वाभासत्त्व माना जाता है यह मत युक्त नहीं है। (६५+६६) "पृथिवी इतरेभ्योभिद्यते गन्धवत्त्वात्" इत्यादि स्थलों में अनुमिति से पूर्व पक्ष में साध्यज्ञान नहीं रहने के कारण अनुमिति की अनुपपत्ति नहीं होगी। अतएव ग्रन्थ में दूषणान्तर बतलाया गया है कि "घनगर्जन स्थल में" अनुमिति से पूर्व मेघरूप साध्य का सन्देह तक भी नहीं रहने पर घन गर्जनत्व से मेघानुमिति होती है वह नहीं होगी।

(६७) एवं साध्याभावज्ञाने प्रमात्वज्ञानमपि न प्रतिबन्धकं प्रमाणाभावाद्गौरवाच्च।

(६७) एवं किसी एक देशी आचार्य का मत है कि पक्षधर्म्मिक साध्याभाव प्रकारक जो ज्ञान तादृश ज्ञान विशेष्यक प्रमात्वप्रकारक निश्चय पक्ष में साध्यवत्ताज्ञान का प्रतिबन्धक है यह ठीक नहीं है। क्योंकि साध्याभावज्ञान ग्राह्याभावावगाही होने के कारण साध्यवत्ता ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। किन्तु साध्याभावज्ञान धर्मिकप्रमात्व निश्चय को ग्राह्याभावानवगाही होने के कारण प्रतिबन्धकता मानने में कोई प्रमाण नहीं है। एवं पक्षविशेष्यक साध्याभाव प्रकारकज्ञान धर्म्मिक प्रमात्व प्रकारक संशयान्यज्ञानत्वरूप तादृश प्रमात्व निश्चयत्वापेक्षया अप्रामाण्य ज्ञानाभावविशिष्ट पक्षविशेष्यक साध्याभाव प्रकारक निश्चयत्व लघुधर्म है। अत: वही पक्ष में साध्यवत्ता ज्ञान प्रतिबन्धकतावच्छेदक होगा। अत: साध्याभाव ज्ञान धार्मिक प्रमात्व निश्चयत्वरूप गुरुधर्म्म प्रतिबन्धकतावच्छेदक नहीं होगा।

(६८) अन्यथा सत्प्रतिपक्षादावपि तदभावव्याप्यवत्ता ज्ञाने प्रमात्वविषयकत्वेन प्रतिबन्धकतापत्तेः। (६९) किंतु भ्रमत्वज्ञानानास्कन्दितबाधादिबुद्धेः प्रतिबन्धकता, तत्र भ्रमत्वशङ्काविघटनेन प्रामाण्यज्ञानं क्वचिदुपयुज्यते।

(६८) एवं बाधनिश्चय धर्मिक प्रमात्व निश्चय, यदि पक्ष में साध्यवत्ता ज्ञान का प्रतिबन्धक हो तो सत्प्रतिपक्षनिश्चय, धर्मिक प्रमात्व निश्चय को भी तुल्ययुक्ति से पक्ष में साध्यवत्ताज्ञान प्रतिबन्धकत्व होना चाहिये जो कि आपकामत नहीं है। क्योंकि आप सत्प्रतिपक्षत्व निश्चय ही को प्रतिबन्धकत्व मानते हैं। इससे भी आपकामत खण्डित होता है। (६९) अत: "अनाहार्य्य अप्रामाण्य ज्ञानानास्कन्दित बाध निश्चय" ही अनुमिति का प्रतिबन्धक है। बाधनिश्चय में अप्रामाण्य शङ्का निवारणार्थ किसी स्थल विशेष में बाध निश्चय धर्मिक प्रामाण्यज्ञान भी उपयोगी हो सकता है।

(७०) न च बाधस्थले पक्षे हेतुसत्त्वे व्यभिचार: पक्षे हेत्वभावेतु स्वरूपासिद्धिरेव दोष इति वाच्यं, बाधज्ञानस्य व्यभिचारज्ञानादेर्भेदात्।

(७१) किं च यत्र परामर्शानन्तरं बाधबुधिस्तत्र व्यभिचारज्ञानादेर-किंचित्करत्वाद्बाधस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्।

(७०) यहाँ शङ्का होती है कि बाधस्थल में यदिपक्ष में हेतु रहे तो साध्याभाववद्वृत्ती हेतु होने के कारण व्यभिचार दोष होगा और यदि नहीं रहे तो हेत्वाभाववत् पक्ष होने के कारण स्वरूपासिद्धि दोष हो जायगा। अभिप्राय यह है कि बाधित हेतु अनैकान्तिक अथवा असिद्ध हो ही जायेगा। तब बाधितहेतु को पञ्चम हेत्वाभास मानना व्यर्थ है। उत्तर व्यभिचार और स्वरूपासिद्धि को प्रतीति से बाध प्रतीति को वैलक्षण्य होने के कारण व्यभिचार और स्वरूपासिद्धि से बाध को अतिरिक्त मानना होगा। तब हेतु को एक होने पर भी दोष को भिन्न२ होने के कारण पञ्चमहेत्वाभास मानना युक्त है। (७१) एवं जहाँ "धूम व्याप्यवह्निमान् ह्रद:" इत्याकारक परामर्श के अग्रिमक्षण में "धूमाभववद्धद्वृत्तीवह्नि:" इत्याकारक व्यभिचारज्ञान अथवा "धूमाभाववान् ह्रदो वह्न्यभाववान्" इत्याकारक स्वरूपासिद्धि ज्ञान हुआ है। वहाँ तदग्रिमक्षण में अनुमिति क्यों नहीं होगी। क्योंकि व्यभिचार और स्वरूपासिद्धि ज्ञान तो परामर्श द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है। साक्षात् तो नहीं हो सकता है और परामर्श तो पूर्वक्षण ही में हो चुका है। अत: अनुमिति की आपत्ति में कोई बाधा नहीं है इसलिये बाध निश्चय को साक्षात् अनुमिति प्रतिबन्धकता माननी होगी, जिससे बाध निश्चय के अग्रिमक्षण में अनुमिति की आपत्ति नहीं हो। अतएव बाध को हेत्वाभावसत्व स्वीकार करना अनिवार्य है।

(७२) एवं यत्रोत्पत्तिक्षणावच्छिन्ने घटादौ गन्धव्याप्य-पृथिवीत्ववत्ताज्ञानं तत्र बाधस्यैव प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्। (७३) न च पक्षे घटे गन्धसत्त्वात्कथं बाधइति वाच्यं, पक्षतावच्छेदक-देशकालावच्छेदेना नुमितेरनुभवसिद्धित्वादिति।

(७२) एवं "उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्" इस स्थल में प्रतियोगिव्यधिकरण साध्याभाववद्वृत्ती हेतुरूप व्यभिचार एवं "हेत्वाभाववत् पक्षरूप" स्वरूपासिद्धि दोष नहीं रहने के कारण केवल

गन्धाभाववत् उत्पत्तिकालावच्छिन्न घटरूप बाध दोष है। तब यदि पञ्चम हेत्वाभास बाध नहीं माना जाय तो उक्त स्थल में अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं होगा। क्योंकि हेत्वाभास तो कोई है ही नहीं। (७३) यहाँ शङ्का है कि घटरूप पक्ष में गन्धरूप साध्य ही रहता है। तब यहाँ बाध कैसे होगा? उत्तर–यह है कि पक्षता का अवच्छेदक तो देश और काल भी होता है, तब पक्षतावच्छेदक जो उत्पत्तिकाल और घटत्व तद्धर्मावच्छिन्न में अनुमिति अनुभव सिद्ध है अतः उत्पत्ति कालावच्छेदन घट में गन्धाभाव रहने के कारण बाध होने में कोई बाधा नहीं है।

(७४) बाध सत्प्रतिपक्ष भिन्ना ये हेत्वाभासास्तद्व्याप्या अपि तन्मध्य एवान्तर्भवन्ति। (७५) अन्यथा हेत्वाभासाधिक्यप्रसङ्गात् (७६) बाध व्याप्य सत्प्रतिपक्षस्तु भिन्नएव, स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना पृथगुपदेशात्। (७७) सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्तु न प्रतिबन्धक इति प्रघट्टकार्थः॥

(७४) बाध और सत्प्रतिपक्ष से भिन्न जितने हेत्वाभास हैं तत्तद्धेत्वाभास स्थल में व्याप्य घटित को भी तत्तद्धेत्वाभास के अन्तर्गत समझना चाहिये। अर्थात् साध्याभाव वद्वृत्तित्ववत् हेतु व्यभिचार है। अतः साध्याभाव-वद्वृत्तित्वव्याप्यवद्धेतु भी व्यभिचार है। एवम् हेत्वभाववत् पक्ष स्वरूपासिद्धि है। अतः हेत्वभाव व्याप्यवत् पक्ष भी स्वरूपासिद्धि है। इसी प्रकार से हेत्वाभासान्तर में भी समझना चाहिये। (७५) यदि ऐसा न हो तो साध्याव भाववद्वृत्तित्व व्याप्यवद्धेतु एवम् हेत्वभाव व्याप्यवत् पक्षादि को पञ्चहेत्वा भासान्तर्गत नहीं होने के कारण उन सभों को हेत्वा भासान्तर्गत रखने के लिये पाँच से अधिक भी हेत्वाभास मानना परेगा। (७६) यद्यपि उक्त नियम का असंकुचित बनाकर तदनुसार सत्प्रतिपक्ष को भी बाध यहाँ होना चाहिये परन्तु सो नहीं है क्योंकि गौतम मुनि ने उसे सत्प्रतिपक्ष ही माना है इसमें उनकी इच्छा ही नियामक है न कि कोई दूसरी युक्ति है। (७७) एवम् "साध्याभाव व्याप्य व्याप्यवान् पक्षः" इत्याकारक निश्चय अनुमिति प्रतिबन्धक नहीं है। अतः साध्याभाव व्याप्य व्याप्यवत् पक्ष हेत्वाभास नहीं है। यह संक्षेपतः सम्पूर्ण प्रकारणार्थ हुआ।

का० नं० ७३ पूर्वा०।

यः सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु सः

का० अर्थ।

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहे वह "साधारण" नामका हेत्वाभास कहाता है।

(१) यः सपक्ष इति। सपक्षविपक्षवृतिः साधारण इत्यर्थः। (२) सपक्षो निश्चित साध्यवान्। (३) विपक्षः साध्याभाववान्। (४) विरुद्धवारणाय सपक्षवृत्तित्वमुक्तम्। (५) वस्तुतो विपक्षवृत्तित्वमेव वाच्यम्, विरुद्धस्य साधारणत्वेऽपि दूषकताबीजस्य भिन्नतया तस्य पार्थक्यात्।

(१) इसका अर्थ कारिकार्थ ही में स्पष्ट है। (२) जिसमें साध्य का निश्चय हो वह सपक्ष है। (३) जिसमें साध्याभव का निश्चय हो वह विपक्ष है (४) साधारणहेत्वाभास के लक्षण में यदि "सपक्ष वृत्तित्व" नहीं देकर केवल "विपक्ष वृत्तित्व" मात्र लक्षण करें तो विरुद्ध हेत्वाभास में उक्त साधारण लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। (क्योंकि "विरुद्ध" में भी "विपक्ष वृत्तित्व" है। इस हेतु साधारण के लक्षण में "सपक्ष वृत्तित्व" विशेषण सार्थक है)। (५) किन्तु व्यर्थ गौरव क्यों स्वीकार करें) वास्तव में "विपक्ष वृत्तित्व" ही साधारण का लक्षण करना चाहिये। आप कह सकते हैं कि विरुद्ध में विपक्ष वृत्तित्व रहने के कारण विरुद्ध में साधारण की प्रतीति हो जायेगी। किन्तु ऐसा नहीं क्योंकि दूषकता बीज के भेद से अर्थात् "हेतुनिष्ठ साध्याभावाधिकरण वृत्तित्व" और साध्य व्यापकी भूताभाव प्रतियोगित्व रूपदोष के भेद से भेद रह जायेगा यथा–(साधारण) अव्यभिचार अर्थात् व्याप्तिज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक है और (विरुद्ध) सामानाधिकरण्य ज्ञानके प्रति प्रतिबन्धक है अतः भेद प्रतीति हो जायेगी।

का० नं० ७३ उत्त०।

यस्तूभयस्माद्व्यावृत्तः स चासाधारणो मतः।

का० अर्थ।

जो हेतु "सपक्षवा विपक्ष" किसी में नहीं रहे (किन्तु पक्षमात्र में रहे) वह असाधारण हेत्वाभास है।

(१) यस्तूभयस्मादिति। सपक्षविपक्षव्यावृत्त इत्यर्थः। (२) सपक्षः साध्यवत्तयानिश्चितः। (३) विपक्षः साध्य शून्यतया निश्चितः। (४) शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा शब्देऽनित्यत्व सन्देहस्तदा सपक्षत्वं घटादीनामेव, तद्द्व्यावृत्तं च शब्दत्वमिति तदा तदसाधारणम्। (५) यदा तु शब्देऽनित्यत्वनिश्चयस्तदा नासाधारणम् इदं च प्राचां मतम्। (६) नवीनमतं तु पूर्वमुक्तम्।

(१) कारिकार्थ में स्पष्ट है। (२) साध्याधिकरणतया निश्चित देश ही सपक्ष शब्दार्थ है। (३) साध्याभावाधिकरणतया निश्चित देश ही विपक्ष शब्दार्थ है। (४) "शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्" इत्यादि स्थलों में जब शब्दरूप पक्ष में अनित्यत्व का सन्देह है तब सपक्ष घटपटादि होगा क्योंकि वे अनित्यत्व रूप साध्य के निश्चित अधिकरण हैं एवम् अनित्यत्वरूप साध्याभाव का निश्चित अधिकरण गगनादि विपक्ष होंगे। इन दोनों में अवृत्ती और शब्दात्मक पक्षमात्र में वृत्ती "शब्दत्व" रूप हेतु ही असाधारण हेत्वाभास है। (५) परन्तु जब शब्द में अनित्य का निश्चय है तब शब्दत्वरूप हेतु असाधारण नहीं कहा जायेगा ऐसी प्राचीनों की व्यवस्था है। (६) और नवीनों का मत है कि साध्यासमानाधिकरण हेतु असाधारण है जो पहले कह चुके हैं।

का० नं० ७४ पूर्वा०।

तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः।

का० अर्थ।

जिस स्थल में वस्तुमात्र पक्ष है अर्थात् पक्षताकेवलान्वयि है। वह हेतु अनुपसंहारी (हेत्वाभास) कहाता है।

(१) तथैवेति। सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यैव पक्षत्वात्सामानाधिकरण्यग्रहस्थलान्तराभावान्नानुमितिः। (२) इदं तु

न सम्यक् पक्षैकदेशे सहचारग्रहेऽपि क्षतेरभावात्। (३) अस्तु वा सहचाराग्रह स्तावताप्यज्ञानरूपाऽसिद्धिरेव न तु हेत्वाभासत्वं तस्य, तथापि केवलान्वयिसाध्यकत्वं तत्त्वमित्युक्तम्।

(१) प्राचीनों का मत है कि केवलान्वयि पक्षताकत्व अर्थात् साध्यसंशयाक्रान्त विश्वकत्व अनुपसंहारित्व है सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् इत्यादि स्थल में वस्तुमात्र को पक्ष होने के कारण सर्वत्र साध्य का सन्देह ही रहेगा, तब साध्य हेतु का सामानाधिकरण्य निश्चय के लिये उपयुक्त कोई दूसरा स्थान नहीं है अतः व्याप्तिज्ञान नहीं होने से परामर्श और अनुमिति नहीं होगी। (२) किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि पक्षतावच्छेदक सर्वत्वावच्छेदेनसाध्य संशय रहने पर भी पक्षैक देश घटादि में घटत्व रूप से सहचार निश्चय होने के हेतु व्याप्ति ज्ञान द्वारा परामर्श और अनुमिति की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। (३) यदि सर्वत्वावच्छेदेन साध्य संशय रहने पर किसी पदार्थ में सहचार निश्चय न भी माना जाय तो भी उक्त अनुपसंहारित्व को स्वरूपसत् अर्थात् अज्ञायमान ही होकर परामर्श और अनुमिति के अनुत्पाद प्रयोजक होने से अनुमिति परामर्शान्यतरप्रतिबन्धक ज्ञान विषयत्व नहीं रहने के कारण अनुपसंहारित्व में हेत्वाभासत्वानुपपत्ति हो जायेगी अतः केवलान्वयिपक्षताकत्व रूप अनुपसंहारित्व नहीं हो सकता, तथापि केवलान्वयिसाध्यकत्व अनुपसंहारित्व है तादृश अनुपसंहारित्व ज्ञान व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान प्रतिबन्धक होने के कारण उक्त अनुपसंहारित्व में हेत्वाभासत्व की अनुपपत्ति नहीं होगी।

का० नं० ७४ उत्त०।

यः साध्यवति नैवास्ति स विरुद्ध उदाहृतः।।

का० अर्थ।

जो हेतु साध्यवत् में नहीं रहे वह विरुद्ध हेत्वाभास कहाता है।

(१) यः साध्यवतीति। एवकारेण साध्यवत्त्वावच्छेदेन हेत्वभावो बोधितः। तथा च साध्यव्यापकी भूताभावप्रतियोगित्वं तदर्थः।

(१) मूलके "एवकार" से साध्यवत्त्व की व्यापकता हेत्वभाव में विवक्षित, जिससे "साध्यव्यापकीभूताभाव प्रतियोगित्व" ऐसा लक्षण विरुद्ध हेत्वाभास का पर्य्यवसित हुआ (यथा–शब्दो नित्यः कृतकत्वात्) इस स्थल में नित्यत्वरूप साध्यव्यापकीभूत कृतकत्वाभावप्रतियोगित्व कृतकत्वरूप हेतु में रहने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास में लक्षण समन्वय हुआ।

का० नं० ७५, ७६, ७७ पूर्वा०।

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ।
व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा॥
पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षो भवेन्मणिमयो गिरिः।
ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रासिद्धिरथापरा॥
व्याप्यत्वासिद्धिरपरा नीलधूमादिक भवेत्॥

का० अर्थ।

(१) आश्रयासिद्धि (२) स्वरूपासिद्धि। (३) व्याप्यत्वासिद्धि के भेद से असिद्धि तीन प्रकार के हैं। "मणिमयः पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस स्थल में पर्वतरूप पक्ष में मणिमयत्व का अभाव आश्रयासिद्धि है। अतः धूमरूप हेतु यहाँ "आश्रयासिद्ध्यात्मक" दोष से हेत्वाभास है। "ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वात्" इस स्थल में ह्रदरूप पक्ष में धूमवत्त्व का अभाव स्वरूपासिद्धि है अतः धूमवत्त्वरूप हेतु स्वरूपासिद्ध्यात्मक दोष से हेत्वाभास है। (व्यर्थ विशेषणघटित हेतु "व्याप्यत्वासिद्धि" दोष कहलाता है)। "पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्" यहाँ नीलधूम व्याप्यत्वासिद्धि दोष से हेत्वाभास है।

(१) असिद्धिं विभजते। आश्रयासिद्धिरित्यादि। पक्षासिद्धिरिति। आश्रयासिद्धिरित्यर्थः। (२) अपरेति। स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः।

(१) आश्रयासिद्धि और पक्षासिद्धि ये दोनों पर्य्याय शब्द है। पक्षतावच्छेदकाभाववत् पक्ष एवं पक्षनिष्ठपक्षतावच्छेदकाभावादि आश्रयासिद्धि है। (२) तथा हेत्वाभाववत् पक्ष एवं पक्षनिष्ठहेत्वभावादि स्वरूपासिद्धि है।

(३) नील धूमादिक इति। नीलधूमत्वं गुरुतया न हेतुतावच्छेदकं स्वसमानाधिकरणव्याप्यतावच्छेदकधर्मान्तराघटितस्यैव व्याप्यता-वच्छेदकत्वात्।

[१](३) "पर्वतो वह्निमान् नील धूमात्" इस स्थल में "नील धूमत्व गुरुभूत होने के कारण व्याप्यतावच्छेदक नहीं हो सकता है क्योंकि नियम है कि "स्वसमानाधिकरण एवं प्रकृतसाध्य व्याप्यतावच्छेदक जो धर्मान्तरतादृश धर्मान्तर से अघटित ही धर्म" व्याप्यतावच्छेदक होता है। प्रकृत में नील-धूमत्व के समानाधिकरण और प्रकृतसाध्य व्याप्यतावच्छेदक धूमत्व धर्म से अघटितधर्म नीलधूमत्व नहीं हुआ। अतः व्याप्यतावच्छेदक नहीं होगा।

(४) धूमप्रागभावत्वसंग्रहाय स्वसमानाधिकरणेति।

(४) उक्त व्याप्यतावच्छेदकत्व लक्षण में धर्मान्तर में "स्वसमाना-धिकरण्य" विशेषण देने से "इयम् यज्ञशाला भाविवह्निमती धूमप्रागभावात्" इत्यादि सद्धेतु स्थल में उक्त व्याप्यतावच्छेदकत्व लक्षण की अव्याप्ति नहीं हुई। अन्यथा "व्याप्यतावच्छेदकीभूत धूमप्रागभावत्वधर्म को धूमत्वरूप व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तर से घटित होने के कारण उक्त स्थल में धूमप्रागभावत्व को व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तर से घटित होने के कारण उक्त स्थल में धूमप्रागभावत्व को व्याप्यतावच्छेदकत्व (हेतुतावच्छेदकत्व) नहीं होगा। अतः "सामानाधिकरण्य का निवेश करना आवश्यक है। (प्रकृत में धूमत्व और धूमप्रागभावत्व दोनों को व्यधिकरणधर्म होने के कारण अव्याप्ति न होगी)।

का० नं० ७७ उत्त०।

विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिपक्षता।

का० अर्थ।

परस्पर विरुद्ध साध्यद्वय साधक जो हेतुद्वय उसके परामर्श होने पर उक्त दोनों हेतु सत्प्रतिपक्षित कहलाते हैं।

---

१. हेतुतापद का व्यापकता अर्थ है।

(१) विरुद्धयोरिति। कपिसंयोग तदभावव्याप्यवत्तापरामर्शेऽपि न सत्प्रतिपक्षत्वमत उक्तं विरुद्धयोरिति। (२) तथा च स्वसाध्य विरुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीनसाध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषय इत्यर्थः॥

(१, २) सत्प्रतिपक्ष का स्वसाध्य विरुद्ध साध्याभाव व्याप्यवत्ता परामर्श कालीन साध्य व्याप्यवत्ता परामर्श विषयत्व लक्षण है। यहाँ स्वसाध्य विरुद्धाँश को त्यागकर यदि केवल साध्याभाव व्याप्यवत्ता परामर्श कालीन साध्यव्याप्यवत्ता परामर्श विषयत्व ही लक्षण करें तो अव्याप्यवृत्ती साध्यक सद्धेतु में अतिव्याप्ति हो जायगी। यथा–"कपिसंयोगी एतत् वृक्षत्वात्" यहाँ कपि संयोगाभाव व्याप्यवत्ता परामर्श समानकालीन कपि संयोग व्याप्यवत्ता परामर्श रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं होती है।

का० नं० ७८।

साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः।
उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यते॥

का० अर्थ।

जिस स्थल में साध्याभाववत् पक्षतावच्छेदकविशिष्ट पक्ष है वहाँ हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) कहलाता है–"यथा उत्पत्ति कालीन घटः गन्धवान् पृथ्वीत्वात्" यहाँ पक्षतावच्छेदक उत्पत्ति काल विशिष्ट घटरूप पक्ष गन्धाभाववत् है। अतः इस स्थल का पृथ्वीत्वरूप हेतु बाधित कहलाता है।

(१) साध्यशून्य इति। पक्षः पक्षतावच्छेदक विशिष्ट इत्यर्थः (२) तेन घटे गन्धसत्त्वेऽपि न क्षतिः। (३) एवं मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपि संयोगीत्यत्रापि बोध्यम्।

(१) यहाँ पक्ष पद से पक्षतावच्छेदक विशिष्टपक्ष समझना चाहिये। (२) ऐसा निवेश करने से घटादि में उत्पत्तिकाल भिन्न कालावच्छेदेन गन्ध रहने पर भी बाधत्व की अनुपपत्ति न हुई। (३) इसी प्रकार

"मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपि संयोगी" इस स्थल में भी मूलावच्छेदेन वृक्षरूप पक्ष में कपि संयोगाभावरूप साध्याभाव रहने के कारण कालात्ययापदेश (बाध) जानना चाहिये।

॥ इति श्री चन्द्रधारिसिंहशर्मविरचितायां चन्द्रिकाटीकायामनुमानपरिच्छेदः समाप्तः॥

अथ उपमानखण्डम्

उपमितिं व्युत्पादयति–

"ग्रामीणस्य" इत्यादि ग्रन्थ से ग्रन्थकार उपमितिका निरूपण करते हैं।

का० नं० ७९, ८०।

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम्॥
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यत।
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम्॥

का० अर्थ।

प्रथमतः गवयादि को देखते हुए ग्रामीण की जो अपरिचित गवयादि में गोसादृश्य की बुद्धि हुई वही बुद्धि उपमितिरूप ज्ञान में करण माना जाता है। किसी आरण्यक से कथित जो "गो सदृशो गवयपद वाच्यः" इत्याकारक अतिदेश वाक्य तदर्थ की जो स्मृति हुई वह उपमिति में व्यापार कहा जाता है और पीछे उस ग्रामीण को "गवयो गवयपदवाच्यः" इत्याकारक जो गवयादिपद निरूपित शक्ति का ज्ञान हुआ वही उपमित्यात्मक ज्ञानरूप कार्य है।

(१) यात्रारण्यकेन केनचिद्ग्रामीणं प्रत्युक्तं गोसदृशो गवयपद वाच्य इति। पश्चाद्ग्रामीणेन क्वचिदरण्यादौ गवयो दृष्टस्तत्र गोसादृश्य ज्ञानं यज्जातं तदुपमितिकरणम्। (२) तदनन्तरं गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं यज्जायते तदेव व्यापारः।

(१) जहाँ किसी जंगली ने किसी ग्रामीण के प्रति "गो सदृशो गवयपद वाच्यः" ऐसा कह दिया था, पीछे वही ग्रामीण ने किसी जंगलादि में गवय को देखा। वहाँ उस अपरिचित व्यक्ति में जो गो सादृश्य ज्ञान हुआ वह ज्ञान उपमिति का करण अर्थात् उपमान प्रमाण है। (२) तदनन्तर "गोसदृशो गवयपदवाच्यः" इत्याकारक जो उक्त जंगली व्यक्ति से कहा हुआ अतिदेशवाक्य उसके अर्थ का जो स्मरण हुआ वही उपमिति ज्ञान में व्यापार है।

(३) तदनन्तरं तत्र गवयो गवयपदवाच्य इति ज्ञानं यज्जायते तदुपमितिः न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः, गवयान्तरे शक्ति-ग्रहाभाव प्रसङ्गात्।

(३) तदनन्तर उस अपरिचित व्यक्ति में "गवयो गवयपदवाच्यः" इत्याकारक जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वही उपमित्याकारक शक्ति ज्ञान है न कि "अयम् गवयपदवाच्यः" इत्याकारक ज्ञान उपमिति है। क्योंकि इदन्त्वविशिष्ट में गवयपद वाच्यत्व ज्ञान होने से गवयान्तर में उपमित्याकारक शक्ति ज्ञान का अभाव ही रह जायगा।

।इति श्री चन्द्रधारिसिंहशर्म विरचितायां चन्द्रिकाटीकायामनुमान परिच्छेदः समाप्तः।।

अथ शब्दपरिच्छेदः

शाब्दबोधप्रकारं दर्शयति–

"पदज्ञानं तु करणं" इत्यादि ग्रन्थ से ग्रन्थकार शाब्द बोध का प्रकार दिखलाते हैं।

का० नं० ८१।

पदज्ञानं तु करणं, द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥

का० अर्थ।

शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान करण और पदजन्य पदार्थोपस्थिति व्यापार है पद और अर्थ इन दोनों में शक्ति रूप जो विशेषसम्बन्ध उसका ज्ञान सहकारी कारण है। अर्थात् पदज्ञानोत्तरशक्ति ज्ञानजन्य पदार्थोपस्थिति द्वारा शाब्दबोध रूप फल होता है।

(१) पदज्ञानं त्विति। नतु ज्ञायमानं पदं करणं पदाभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात्।

(१) शाब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद करण नहीं होता है यदि माना जाय तो मौनिश्लोकादि से अर्थात् जहाँ पर शब्द नहीं है किन्तु तद्बोधक लेखादि से शाब्द ज्ञान होता है। वहाँ भी ज्ञायमान पद नहीं रहने के कारण शाब्दबोध नहीं होगा अतः शाब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद करण नहीं है।

(२) पदार्थधीरिति। (३) पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः।

(२, ३) पदजन्य जो पदार्थ का स्मरण (ज्ञान विशेष) वही शाब्दबोध में व्यापार है।

(४) अन्यथा पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधापत्तेः।

(४) यदि केवल पदार्थज्ञान को व्यापार माना जाय तो पदज्ञानवान् पुरुष को जहाँ पर पदज्ञानजन्य पदार्थ का ज्ञान नहीं हुआ है किन्तु चक्षुरादि ही से पदार्थ का ज्ञान हुआ है वहाँ पर भी पदज्ञानरूप करण और पदार्थज्ञानरूप व्यापार दोनों के रहने के कारण शाब्दबोध होना चाहिये। अतः पदज्ञानजन्य पदार्थोपस्थिति ही व्यापार है। जिसके नहीं रहने के कारण वहाँ शाब्दबोध नहीं होता है।

(५) तत्रापि वृत्त्या पदजन्यत्वं बोध्यम्।

(५) शाब्दबोध के प्रति पदजन्य पदार्थोपस्थिति को व्यापार कहा गया है उसमें भी शक्ति, लक्षणान्यतरात्मक जो वृत्तिरूप सम्बन्ध उसके द्वारा जो पदजन्य पदार्थोपस्थिति वही व्यापार है।

(६) अन्यथा घटादिपदात्समवायसंबन्धेनाकाशस्मरणे जाते आकाशस्यापि शाब्दबोधापत्तेः।

(६) यदि जिस किसी सम्बन्धसे पैदा हुये पदजन्यपदार्थोपस्थिति को शाब्दबोध के प्रति व्यापार मान जाय तो घटादिपद के साथ आकाश का समवायसम्बन्ध रहने के कारण जहाँ पर घटादिरूप एक सम्बन्धिज्ञान से आकाश का स्मरण हुआ है। वहाँ पर भी समवाय सम्बन्ध के द्वारा घटादिपद से उत्पन्न हुये आकाशरूप पदार्थोपस्थिति के रहने के कारण घटादिपद से आकाश का भी शाब्दबोध होना चाहिये। अतः शक्ति लक्षणान्यतरात्मक वृत्तिरूप सम्बन्धद्वारा पदज्ञान से उत्पन्न किये गये पदार्थ स्मरण को शाब्दबोध का व्यापार मानना युक्त है। अतः समवायरूप सम्बन्धद्वारा घटादिपद से आकाश का स्मरण होने पर भी उक्त वृत्ति रूप सम्बन्धद्वारा घटादिपदजन्य आकाश का स्मरण नहीं होने के कारण घट पद से आकाश का शाब्दबोध नहीं होगा।

(७) वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरः संबन्धः।

(७) शब्द और अर्थ इन दोनों में जो अर्थस्मृत्यनुकूल परस्पर सम्बन्ध विशेष उसका नाम वृत्ति है, वह शक्ति और लक्षण के भेद से दो प्रकार का है।

(८) अत्रैव शक्तिज्ञानस्योपयोगः। (९) पूर्वं शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेऽपि तत्संबन्धेन स्मरणानुपपत्तेः। (१०) पदज्ञानस्य च एक संबन्धिज्ञानविधयार्थस्मारकत्वम्।

(८) पदजन्य पदार्थोपस्थिति में शक्तिज्ञान की अपेक्षा है। (९) क्योंकि अर्थ में पदनिरूपितशक्ति के ज्ञान का अभाव रहने से पदज्ञान रहने पर भी शक्ति रूपसम्बन्ध द्वारा पदजन्य पदार्थ का स्मरण नहीं होता। (१०) हस्ती और हस्तिपक इन दोनों में परस्पर पाल्यपालक भावरूप सम्बन्ध जिस व्यक्ति को ज्ञात है। उस व्यक्ति को एक सम्बन्धी के ज्ञान से दूसरे का जैसे स्मरण होता है। उसी प्रकार पद और अर्थ इन दोनों में शक्तिरूप सम्बन्ध का जिस व्यक्ति को ज्ञान है। उस व्यक्ति को पदात्मक एक सम्बन्धी के ज्ञान से अर्थात्मक अपरसम्बन्धी का स्मरण होता है।

(११) शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य संबन्धः। (१२) स चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपः। (१३) आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव। (१४) एकादशेऽहनि पितानाम कुर्यादिति-श्वरेच्छायाः सत्त्वात्। (१५) आधुनिके तु संकेतिते न शक्ति रितिसंप्रदायः। (१६) नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिःकिंत्विच्छैव। (१७) तेनाधुनिकसंकेतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः। (१८) शक्ति ग्रहस्तुव्याकरणादितः।

(११) पद के साथ जो अर्थ का सम्बन्ध विशेष उसका नाम शक्ति है। (१२) वह सम्बन्ध "अमुक पदजन्य बोध का विषय अमुक अर्थ हो" इत्याकारक ईश्वरेच्छारूप है। (१३) शङ्का–किसी ने शंका करते हैं कि लोक में पितृकृत चैत्रमैत्रादि नाम में सङ्केतित व्यक्तियों की उक्त ईश्वरेच्छारूप शक्ति नहीं है। समा०–ऐसा नहीं उस आधुनिक चैत्र मैत्रादि नाम में उक्त ईश्वरेच्छा अवश्य है। (१४) क्योंकि "ग्यारहवें दिन में

पिता पुत्र का नामकरण करे" इस अभिप्रायकी श्रुति है। और उसमें नामपद सामान्य रूप से चैत्र मैत्रादि सब नामों का बोधक है। अतः आधुनिक नामों में ईश्वरेच्छा माननी होगी। (१५) केवल हमी लोगों से संकेत किये गये नदी वृद्धि आदि पद में शक्ति नहीं है किन्तु परिभाषा आधुनिकसङ्केत मात्र है, ऐसा साम्प्रदायिक लोग मानते हैं। (१६) नवीन आचार्य तो इश्वरेच्छारूपशक्ति नहीं मानकर केवल इच्छामात्र को शक्ति मानते हैं। (१७) अतएव वे आधुनिक सङ्केतविषय नदी वृद्धि चैत्र मैत्रादि पदनिष्ठ सङ्केत भी शक्ति ही है ऐसा कहते हैं। (अतएव अनीश्वरवादी मीमांसक और चार्वाक आदि के मत में भी समन्वय हो जाता है)। (१८) उक्त शक्ति का ज्ञान व्याकरणादि से होता है उसे दिखलाते हैं।

(१९) "तथाहि शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः"॥

(१९) पदनिष्ठ शक्ति का ज्ञान–(१) व्याकरण (२) उपमान (३) कोष (४) आप्त वाक्य (५) व्यवहार (६) वाक्य शेष (७) विवरण (८) और प्रसिद्ध पद के सांनिध्य से होता है ऐसा वृद्धविद्वान् कहते हैं।

(२०) धातु प्रकृति प्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद्भवति। (२१) क्वचित्सति बाधके त्यज्यतेऽपि। (२२) यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्ति रुच्यते। (२३) चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रासह चैत्रस्याभेदान्वयः। (२४) तच्च गौरवात्त्यज्यते किंतुकृतौ शक्तिर्लाघवात्। (२५) कृतिश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते।

(२०) धातु प्रकृति और प्रत्यय आदि का शक्तिज्ञान व्याकरण से होता है। (२१) किन्तु कहीं गौरवादि दोष के कारण त्याग भी किया जाता है। (२२) जैसे–वैयाकरण आख्यात (तिङ्) की शक्ति कृत्याश्रय (कर्त्ता) में मानते हैं। (२३) [1]"चैत्रः पचति" इत्यादि वाक्य में आख्यातार्थ

---

१. "चैत्रः पचति" इस वाक्य से चैत्राभिन्न एक कर्त्तृनिष्ठ वर्तमान कालिक पाक क्रिया, ऐसा शाब्दबोध होता है।

कृत्याश्रय (कर्ता) के साथ चैत्र का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। (२४) अनन्त कृति में शक्यतावच्छेदकत्व की कल्पना प्रयुक्त गौरव दोष के भय से कृत्याश्रय में शक्ति का त्याग किया जाता है। किन्तु जात्यात्मक कृतित्वरूप शक्यतावच्छेदक में लाघव के अनुरोध से कृति ही में शक्ति मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि कर्त्ता का अर्थ कृत्याश्रय हुआ। उसमें शक्ति मानने से वह आख्यात का शक्य कहा गया है शक्य में विशेषण जो कृति वह शक्यतावच्छेदक हुई। कृति अनन्त है, इसलिये अनन्त व्यक्तियों में शक्यतावच्छेदकत्व की कल्पना करने से गौरव हुआ। और कृति में शक्तिमानने से कृति शक्य हुई। शक्यतावच्छेदक कृतित्वजाति को एक होने के कारण शक्यतावच्छेदकत्व की कल्पना में लाघव हुआ। (२५) [१]न्याय सिद्धान्त की रीति से (आख्यातार्थ) कृति चैत्र आदि कर्त्ता में समवाय सम्बन्ध से विशेषण होकर शाब्दबोध का विषय होती है।

(२६) नच कर्तुरनभिधानाच्चैत्रादि पदानन्तरं तृतीया स्यादिति वाच्यं, कर्तृसंख्यानभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात्।

(२६) शङ्का—वैयाकरणानुयायी न्यायसिद्धान्त पर दोष देते हैं कि लाघव के अनुरोध से आख्यात का अर्थ यदि कृति को माना जाये तो "चैत्रः पचति" इस स्थल में चैत्र रूप कर्तृवाचक पद से तृतीया की आपत्ति हो जायगी। क्योंकि नियम है कि "आख्यात कृत तद्धित, समास इन चारों में एक से भी उक्तकारमात्र में प्रथमा होती है और अनुक्तकर्ता आदि कारकों में तृतीयादि विभक्तियाँ होती हैं" तब उक्त वाक्य में आख्यात से चैत्र उक्त नहीं हुआ किन्तु तन्निष्ठ कृतिरूपधर्म उक्त हुआ। अतएव तृतीया होनी चाहिये। जिसहेतु "अनभिहिते" इस अधिकार सूत्र का सम्बन्ध "कर्तृकरण्योस्तृतीया" इस सूत्र में है। समा॰—ऐसी आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि आख्यात का कृति काल और संख्या आदि अनेक अर्थ होते हैं। तब "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इस सूत्र का आख्यात से

---

१. यही सिद्धान्त है कि सर्वत्र वाक्यार्थ बोध में प्रथमान्त पदार्थ ही मुख्य विशेष्य होता है। जैसे—"चैत्रः पचति" इस वाक्य से विक्लित्यनुकूल व्यापारानुकूल वर्तमान कालिक कृत्तिमान् एकत्ववांश्चैत्रः इत्याकारक बोध होता है।

अनुक्तकर्त्ता में तृतीया हो। ऐसा अर्थ नहीं स्वीकार कर आख्यात से अनुक्त कर्तृगत संख्या में तृतीया हो ऐसा अर्थ करने से कर्तृगत संख्या की अनुक्तिही को तृतीयोत्पत्ति में कारण मानने के हेतु उक्त आपत्ति न होगी।

(२७) संख्याभिधानयोग्यश्च कर्मत्वाद्यनवरुद्धः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः। (२८) कर्मत्वादीत्यस्येतरविशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्वमर्थः।

(२७, २८) शङ्का—कर्ता आदि कारक में रहनेवाली संख्या आख्यात से किस प्रकार उक्त एवं अनुक्त समझी जायगी। समा०—कर्मत्वाद्यनवरुद्ध अर्थात् कर्मत्वादि विशेषणत्वेन तात्पर्याविषय एवं प्रथमान्तपदोपस्थाप्य जो कारक तद्गत संख्या आख्यात से उक्त होती है। जैसे—"चैत्रः पचति" इसवाक्य से पाकानुकूल कृतिमान् चैत्रः इत्याकारक शाब्दबोध हो, ऐसा वक्ता का तात्पर्य रहने के कारण कर्मत्वादि विशेषणत्वेन तात्पर्यविषय और प्रथमान्त पदोपस्थाप्य चैत्र गत संख्या का अभिधान आख्यात से होता है। "एवं तण्डुल पच्यते" इस वाक्य से पाक निरूपित कर्मतावत्तण्डुलम् इत्याकारक शाब्द बोध हो ऐसा वक्ता का तात्पर्य रहने के कारण कर्मवदि विशेषणत्वेन तात्पर्याविषय प्रथमान्तपदोपस्थाप्य तण्डुलगत संख्या का आख्यात से अभिधान होता है। अतएव "चैत्रःपचति" चैत्रौ पचतः, चैत्राः पचन्ति; एवं "तण्डुलं पच्यते" तण्डुले पच्येते, तण्डुलानि पच्यन्ते" इसप्रकार प्रयोग किया जाता है।

(२९) तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यादौ न चैत्रे संख्यान्वयः। (३०) यत्र कर्मादौ न विशेषणत्वे तात्पर्यं तद्वारणाय प्रथमान्तेति।

(२९) कर्मत्वादि विशेषणत्वेन तात्पर्याविषयत्व शब्द का इतर विशेषणत्वेन तात्पर्या विषयत्व अर्थ है यदि ऐसा अर्थ नहीं किया जाये तो "चैत्र इव मैत्रो गच्छति" इस वाक्यस्थल में भी कर्मत्वादि विशेषणत्वेन तात्पर्याविषय प्रथमान्तपदोपस्थाप्य चैत्रगत संख्या का आख्यात से अभिधान हो जायेगा और उक्तशब्द का इतर विशेषणत्वेन तात्पर्या विषयत्व अर्थ करने से इवार्थ सादृश्य में चैत्र को विशेषण होने के कारण इतर विशेषणत्वेन

तात्पर्य्याविषय चैत्र नहीं हुआ। अत: चैत्रगत संख्याका अभिधान आख्यात से नहीं होगा शङ्का–यदि आप कहें कि चैत्र: स्वं पश्यति इसस्थल में चैत्र निष्ठ कर्मतानिरूपक दर्शनाश्रय: चैत्र: "इत्याकारक शाब्दबोध को वक्ता के तात्पर्य का विषय होने के कारण चैत्रगत संख्या का अख्यात से अभिधान नहीं होगा क्योंकि स्वपद बोध्य चैत्र को कर्मत्व का विशेषण होने से इतर विशेषणत्वेन तात्पर्याविषय चैत्र नहीं है। समा०–इतर विशेषणत्व मात्रेण तात्पर्या विषय चैत्र हो गया। अत: आख्यात से तद्गत संख्याका अभिधान हो सकता है। (३०) प्राचीनों को मत है कि प्रथमान्त पदोपस्थाप्यत्व विशेषण यदि नहीं दिया जाय तो तण्डुलं पचति इस स्थल में तण्डुलनिष्ठ कर्मता निरूपक पाकानुकूल व्यापारवांस्तण्डुल: इत्याकारक बोध जहाँ वक्ता के तात्पर्य का विषय है अर्थात् पाकक्रिया के कर्मत्व रूप से और कर्तृत्व रूप से भी जहाँ तण्डुल ही विवक्षित है वहाँ तण्डुल को इतर विशेषणत्वमात्रेण तात्पर्याविषय होने के कारण तण्डुलगत संख्या का आख्यात से अभिधान हो जायगा। अत: प्रथमान्त पदोपस्थाप्यत्व विशेषण देना युक्त है। "यत्रकर्मादौ न विशेषणत्वे तात्पर्यम्" इस जगह कर्मपद का कर्मत्व एवं विशेषणत्व पद का विशेषणत्वमात्र अर्थ है। यदि आप कहें कि "तण्डुलं पचति" इस स्थल में जब पाक कर्मत्वेन और पाक कर्त्तृत्वेन तण्डुल ही विवक्षित है तब तण्डुलगत संख्या का आख्यात से अभिधान स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। इस हेतु संख्या का अभिधान इष्ट है अत: प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्व विशेषण का उक्तफलं नहीं हो सकता है। तो भी यदि प्रथमान्त पदोपस्थाप्यत्व विशेषण नहीं दिया जायेगा तो "चैत्रेण सुप्यते" यहाँ चैत्रकर्त्तृक वर्त्तमानकालिक स्वाप इत्याकारक बोध में वक्ता का तात्पर्य रहने के कारण इतर विशेषणत्व मात्रेण तात्पर्याविषय स्वाप में भी अख्यात से संख्या का अभिधान हो जायेगा। अत: प्रथमान्त पदोपस्थाप्यत्व विशेषण देना आवश्यक है।

(३१) यद्वा धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वं प्रथमदलार्थ:। (३२) तेन चैत्रइव मैत्रो गच्छतीत्यत्रचैत्रादेर्वारणम्। (३३) स्तोकं पचतीत्यादौ स्तोकादेर्वारणाय च द्वितीयदलम्। (३४) तस्य द्वितीयान्तोपस्थाप्यत्वाद्वारणमिति।

(३१, ३२) प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्व दल का प्रकारान्तर से फल दिखलाने के लिये "कर्मत्वाद्यनवरुद्धत्व दल का यद्वेत्यादि" ग्रन्थ से अर्थ कहते हैं धात्वर्थातिरिक्त विशेषणत्व कर्मत्वाद्यनवरुद्धत्व शब्द का अर्थ है। अतः "चैत्र इव मैत्रो गच्छति" इस स्थल में धात्वर्थातिरिक्त इवार्थ सादृश्य में चैत्र को विशेषण होने के कारण चैत्रगत संख्या का आख्यात से अभिधान नहीं होता है (३३, ३४) कर्मत्वाद्यनवरुद्धत्व दलका ऐसा अर्थ करने पर यदि प्रथमान्त पदोपस्थाप्यत्वात्मक द्वितीय दल नहीं दिया जायगा तो "स्तोकं पचति" इस स्थल में स्तोकाभिन्न पाकानुकूल कृतिमान् इत्याकारक शाब्दबोध में स्तोक को धात्वर्थ पाकमात्र के विशेषण होने से स्तोक पदार्थ में आख्यात से संख्या का अभिधान हो जायेगा। अतः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वरूप द्वितीयदल देना आवश्यक है जोकि क्रियाविशेषण होने के कारण द्वितीयान्तपदोपस्थाप्य अल्पात्मक स्तोक पदार्थ में नहीं है। अतः स्तोकगत संख्या का आख्यात से अभिधान नहीं होगा।

(३५) एवं व्यापारेऽपि न शक्तिगौरवात्। (३६) रथोगच्छतीत्यादौ तु व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा। (३७) जानातीत्यादौ तु आश्रयत्वे नश्यतीत्यादौ प्रतियोगित्वे निरूढ़लक्षणा।

(३५) "रथो गच्छति" इत्यादि स्थलों में गमनानुकूलव्यापारवान् रथः अथवा नवीनों के मत से "गमनाश्रयतावान् रथः" इत्याकारक ही शाब्द बोध होता है। अतः कृति के समान व्यापार में भी आख्यात की शक्ति मानना जरूरी है। ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि व्यापार में शक्ति मानने से जन्यत्व घटित व्यापारत्व में शक्यतावच्छेदकत्व की कल्पना करने से गौरव होगा कृति में शक्ति मानने से कृतित्व जाति में शक्यतावच्छेदकत्व की कल्पना में गौरव नहीं होगा। अतः लाघवात् कृत ही में आख्यात की शक्ति मानी जाती है। (३६) और "रथो गच्छति" इत्यादि स्थल में व्यापार अथवा आश्रयत्व में आख्यात की लक्षणा मानकर व्यापारत्व वा आश्रयत्वकाबोध होता है। (३७) एवं "जानाति" इसस्थल में ज्ञानाश्रयता का और "नश्यति इसस्थल में ध्वंस प्रतियोगिता का बोध होने के कारण

उन २ स्थलों में आख्यात की आश्रत्व एवं प्रतियोगित्व में निरूढ़ लक्षणा अर्थात् अनादि तात्पर्य विषय लक्षणा मानी जाती है।

(३८) उपमानाद्यथा शक्तिग्रहस्तथोक्तम्।

(३८) उपमान से जिस प्रकार शक्ति का ग्रह होता है वह उपमान खण्ड ही में कहा जा चुका है।

(३९) एवं कोशादपि शक्तिग्रहः। सति बाधके क्वचित्त्यज्यते। (४०) यथानीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलादिविशिष्टे च शक्तिः कोशेन व्युत्पादितो तथापि लाघवान्नीलादावेव शक्तिः। नीलादिरूप विशिष्टे तु लक्षणेति।

(३९) इसीप्रकार कोष से भी शक्तिग्रह होता है। परन्तु जिस अर्थ में जिस पद का शक्ति कोष से ज्ञापित है उस अर्थ में उस पद की शक्ति मानने में यदि गौरवादि दोष होता है तो उस अर्थ में उस पद की शक्ति नहीं मानी जाती है। (४०) जैसे "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" इस कोष से शुक्लनीलादिपद की शुक्लनीलादिरूप एवं तादृश रूप विशिष्ट इन दोनों में शक्ति ज्ञापित है। परन्तु तादृश रूपाश्रय में शक्ति मानने से तादृश रूप में शक्यता वच्छेदकत्व की कल्पना प्रयुक्त गौरव होगा। अतः शुक्लादिपद की केवल शुक्लरूपादि में लाघवात् शक्ति है और शुक्लरूपाश्रय में लक्षणा मानकर शुक्लादिपद से शुक्लरूपाद्याश्रय का बोध होता है।

(४१) एवमाप्त वाक्यादपि। यथा कोकिलः पिकपदवाच्यः इत्यादि शब्दात्पिकादि पद शक्ति ग्रहः।

(४१) इसी प्रकार आप्त वाक्य से भी शक्ति का ज्ञान होता है जैसे "कोकिलः पिक पद वाच्यः" इत्यादि आप्त वाक्यों से कोकिल रूप अर्थ में पिक पद की शक्ति का ज्ञान होता है।

(४२) एवं व्यवहारादपि। (४३) यथा प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेत्युक्तम् (४४) तच्छ्रुत्वाप्रयोज्यवृद्धेन घट आनीतः। (४५)

तदवाधार्य पार्श्वस्थो बालो घटानयनरूपं कार्यं घटमानयेति शब्द प्रयोज्यमित्यवधारयति।

(४२) इसप्रकार व्यवहार से भी शक्ति का ज्ञान होता है। (४३) जैसे प्रेषक वृद्ध पुरुष से "घटमानय" ऐसा कहा गया। (४४) उसे सुनकर प्रेष्य वृद्ध से घट लाया गया। (४५) इस प्रकार घट के आनयन को देखकर समीपवर्ती सावधान लड़का ऐसा ज्ञान करता है कि "घटमानय" शब्द का प्रयोज्य घटानयनरूप कार्य है।

(४६) ततश्च घटं नय गामानयेत्यादावावापोद्वापाभ्यां घटादिपादानां कार्यान्वितघटादौ शक्तिं गृह्णाति। (४७) इत्थं च भूतले नीलो घटः इत्यादिशब्दान्न शाब्दबोधः। (४८) घटादिपदानां कार्यान्वित घटादिबोधे सामर्थ्यावधारणात्कार्यताबोधं प्रति च लिङादीनां सामर्थ्यात्तदभावान्न शाब्दबोध इत्यपि केचित्। (४९) तन्न प्रथमतः कार्यान्वितघटादौ शक्तयवधारणेऽपि लाघवेन पश्चात्तस्यं परित्यागौ-चित्यात्। (५०) अत एव चैत्र, पुत्रस्ते जातः कन्याते गर्भिणीजाता इत्यादौ मुखप्रसाद मुखमालिन्याभ्यां सुखदुःखे अनुमाय तत्कारणत्वेन परिशेषाच्छाब्दबोधं निर्णीय तद्धेतुतया तं शब्दमवधारयति। (५१) तथा च व्यभिचारात्कार्यान्विते न शक्तिः। (५२) न च तत्र तं पश्येत्यादि शब्दान्तर मध्याहार्यं, मानाभावात्। (५३) चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्चेत्यादौ तदभावाच्च। (५४) इत्थं च लाघवादन्वित घटेऽपि शक्तिं त्यक्त्वा घटपदस्य घटमात्रे शक्तिमवधारयतिं।

(४६) [१]तव "घटं नय" घट को ले जाओ "गामानय" गौ को लाओ। ऐसा पुनः प्रेषक वृद्ध से कहा गया तथा प्रेष्यवृद्ध से वैसा ही

१. लिङ् लोट् तव्यत् अनीयर् इत्यादि प्रत्ययों से कार्यता का बोध होता है। "घट मानय" इस वाक्य स्थल में घट का द्वितीयार्थ कर्मता में निष्ठत्व सम्बन्ध से और घट से अन्वित कर्मता का आनयन क्रिया में निरूपकत्व सम्बन्ध से एवं लिङादि प्रत्ययार्थ कार्यता का आनयन में स्वरूप सम्बन्ध से अन्वय होता है इसलिये कार्यता से परम्परया अन्वित घट भी है और प्रयोजक प्रयोज्य दोनों वृद्धों का व्यवहार उक्त लिङ्लोट् आदि कार्यता वाचक प्रत्ययान्त पद घटित

किया भी गया। इस स्थिति में उक्त बालक आवोपोद्वाप (तर्क वितर्क) से घट पद का परम्परया कार्यत्वान्वित कम्बुग्रीवादि मद् व्यक्ति में और आनय का आनयन क्रिया में तथा नय का नयन क्रिया में और गो पद का परम्परया कार्यत्वान्वित गोव्यक्ति में शक्ति का निश्चय प्राप्त करता है। (४७, ४८) व्यवहार से कार्यत्वान्वित अर्थ ही में पद की शक्ति का ज्ञान हुआ है। अतः पदों से कार्यत्वान्वित अर्थ ही का बोध होना चाहिये। कार्यता का बोध लिङ्, लोट् तव्यत्, अनीयर् इत्यादि प्रत्ययों से ही होता है अतएव जिस स्थल में कार्यताबोधक प्रत्यय नहीं है उस स्थल में शाब्दबोध नहीं होता अतः "भूतले नीलो घटः" इत्यादि स्थल में कार्यताबोधक प्रत्यय नहीं रहने के कारण शाब्दबोध नहीं होगा। यह प्रभाकर का मत है। (४९) लेकिन यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि पहले कार्यता से अन्वित अर्थ में पदनिरूपित शक्ति का ज्ञान व्यवहार से होने पर भी पीछे कार्यत्वान्वित घटादि में घटादिपद की शक्ति मानने से गौरव है। ऐसा ज्ञान होने पर लाघवात् घटपद की शक्ति शुद्ध घटत्वावच्छिन्न ही में निश्चित की जाती है, इसलिये "भूतले नीलोघटः" इत्यादि स्थल में भी शाब्दबोध होने में कोई बाधा नहीं है। (५०, ५१) जिसहेतु घटादि पदों की केवल घटत्वावच्छिन्न में शक्तिमानी गई है अतः "चैत्र पुत्रस्ते जातः कन्याते गर्भिणी" इत्यादि वाक्य सुनने पर क्रम से चैत्र के मुखपर प्रसाद और मालिन्य दोनों होने के कारण चैत्र में सुख दुःख का अनुमान किया जाता है और चैत्र के उक्त सुख दुःख का कारण कोई दूसरा ज्ञात नहीं होता है। अतः परिशेषात् शाब्दबोध ही कारण है ऐसा माना जाता है। और उस शाब्दबोध का कारण "चैत्र पुत्रस्ते जातः कन्याते गर्भिणी"

वाक्यों के स्थल ही में बालक से देखा गया है। अतएव बालक को साक्षात् अथवा परम्परया कार्यत्वान्वित घटादिरूप अर्थ ही में व्यवहार से शक्ति का ज्ञान होता है। अतएव कार्यत्वान्विताार्थाभिधानवादी के मत में साक्षात् परम्परा साधारण कार्यत्वान्वित घटादिरूप अर्थही में व्यवहार से शक्ति का ज्ञान होता है। अतएव कार्यत्वान्विताार्थाभिधानवादी के मत में साक्षात् परम्परा साधारण कर्यत्वान्वितार्थ विषयक शाब्दबोध के प्रति सामान्यतः पदत्वेन कारणता मानी जाती है। मुक्तावली में कार्यपद कार्यता बोधक है।

इत्याकारक शब्द ही है यह निश्चय होता है। भाव यह है कि उक्त वाक्य से यदि शाब्दबोध नहीं होता तो चैत्र का मुख प्रसाद और मुख मालिन्य होना असम्भव था अतः उक्त स्थल में शाब्दबोध मानना आवश्यक है किन्तु यदि कार्य्यत्वान्वित अर्थ ही में पद की शाक्तिमानी जाय तो कार्य्यता से अनन्वित अर्थ का भी उक्त वाक्यस्थल में शाब्दबोध होता है, परन्तु अब नहीं होगा। (५२, ५३) यहाँ उक्त वाक्य में व्यभिचार दोष वारणार्थ "तं पश्य" इत्यादि कार्यता बोधक प्रत्यय घटित वाक्य का अध्याहार करेंगे अतः उक्त स्थल में कार्यतान्वित ही अर्थ का बोध होने के कारण व्यभिचार नहीं होगा, यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि अध्याहार में कोई प्रमाण नहीं है। और "चैत्र पुत्रस्तेजातो मृतश्च" इत्यादि स्थल में पुत्र की अविद्यमानता के कारण "तं पश्य" इत्यादि अध्याहार भी नहीं हो सकता। (५४) घटत्वाद्यपेक्षया गुरु कार्यत्वान्वितघटत्वादि में घटादिपदशक्यता वच्छेदकत्व की कल्पनाप्रयुक्त, एवं घटादिविषयक शाब्दबुद्धित्वापेक्षयागुरु कार्यत्वान्वित घटादिविषयक शाब्दबुद्धित्व में घटादिपदज्ञान जन्यता वच्छेदकत्व की कल्पना प्रयुक्त गौरव के भय से यथा प्रभाकरमतसिद्ध कार्यत्वान्वित घटादि में घटादिपद की शक्ति नहीं मानकर शुद्ध घटत्वावच्छिन्न में घटादिपद की शक्तिमानी जाती है तथा कुमारिलभट्ट मतसिद्ध अन्वितघटादि में घटादिपद की शक्ति मानने से भी घटत्वादि एवं घटविषयक शाब्दबुद्धित्वाद्य पेक्षयागुरु अन्वितघटत्वादि एवं अन्वित घटविषयक शाब्दबुद्धित्वादि में घटादिपदशक्यता तावच्छेदकत्व एवं घटादिपदज्ञान जन्यतावच्छेदकत्व की कल्पनाप्रयुक्त गौरव होगा अतः घटादिपद की शक्ति शुद्धघटत्वाद्यवच्छिन्न में ही मानी जाती है पदार्थान्तर का अन्वय (सम्बन्ध) का ज्ञान तो आकाङ्क्षा ज्ञानी ही से हो जाता है इस हेतु अन्वयांश में शक्ति मानना व्यर्थ है।

(५५) एवं वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहः। (५६) यथा यवमयश्चरुर्भवतीत्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशेषे आर्याणां प्रयोगः कङ्गौ च म्लेच्छानाम्, तत्र हि अथान्या ओषधयोम्लायन्तेऽथैते मोदमनास्तिष्ठन्ति इति वाक्य शेषाद्दीर्घशूके शक्तिर्निर्णीयते कङ्गौतु शक्तिभ्रमात्प्रयोगः नानाशक्तिकल्पने गौरवात्।

(५५, ५६) इसी प्रकार वाक्यशेष से भी शक्तिज्ञान होता है। जैसे यज्ञप्रकरण में "यवमयश्चरुर्भवति" इस वाक्य में यव पद से यवान्न का ग्रहण है, अथ कङ्गु का ग्रहण है। क्योंकि याजक लोग उक्त शब्द का दीर्घ शूक (शूङ) वाले अन्नमें तथा म्लेच्छ लोग कौनी में प्रयोग करते हैं, ऐसा सन्देह होने पर "अथान्या औषधयो म्लायन्तेऽथैते मोद मानास्तिष्ठन्ति" प्रकरणान्त में इस वाक्य शेष अर्थात् अवशिष्ट वाक्य को देखकर दीर्घ शूङवाले अन्न में ही यव पद की शक्ति का निश्चय किया जाता है। और म्लेच्छ लोग भ्रमात्मक शक्ति ज्ञान से कौनी में यव पद का प्रयोग करते हैं ऐसा माना जाता है। यव पद में बिना प्रमाण के उभय अर्थनिरूपित नाना शक्ति की कल्पना में गौरव है।

(५७) हर्यादिपदे तु विनिगमकाभावान्नानाशक्तिकल्पनम्। (५८) एवं विवरणादपि शक्तिग्रहः। (५९) विवरणं तु तत्समानार्थक पदान्तरेण तदर्थकथनम्। (६०) यथा घटोऽस्तीत्यस्य कलशोऽस्तीत्यनेन विवरणाद्धटपदस्य कलशे शक्तिग्रहः। (६१) एवं पचतीत्यस्य पाकं करोतीत्यनेन विवरणादाख्यातस्य यत्नार्थकत्वं कल्प्यते।

(५७) इस प्रकार हरि आदि पद में भी तुल्य युक्त्या गौरव होने के भय से नानाशक्ति की कल्पना नहीं हो सकती ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि दीर्घ शूक विशिष्ट में यव पद की शक्ति है इसमें उक्त वाक्यशेष रूप प्रमाण है और हर्यादि पद में यह बात नहीं है। इसलिये इन्द्र, सूर्य, वासुदेवादि प्रत्येक अर्थ में शक्ति साधक प्रमाण रहने के कारण विनिगमनाविरहात् किसी एक ही अर्थ में आप शक्ति नहीं मान सकते किन्तु नाना शक्ति ही माननी पड़ेगी। (५८) इसी प्रकार विवरण से भी शक्ति का ज्ञान होता है। (५९) समानार्थक भिन्न पदद्वारा जो पदों के अर्थ का व्याख्यान, उसे विवरण कहते हैं। (६०) जैसे "घटोऽस्ति" इस वाक्य का "कलशोऽस्ति" ऐसा विवरण करने से घटपदनिष्ठ शक्ति का कलशरूप अर्थ में ज्ञान होता है। (६१) इसी प्रकार "पचति" इस वाक्य का "पाकं करोति"। इस प्रकार यत्नार्थक कृ धातु से विवरण करने से आख्यात की शक्ति की कल्पना यत्नरूप अर्थ में की जाती है।

(६२) एवं प्रसिद्धपदसांनिध्यादपि शक्तिग्रहः। (६३) यथा इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौतीत्यादौ पिकपदस्य कोकिले शक्तिग्रह इति।

(६२) इसीप्रकार प्रसिद्ध अर्थात् गृहीत शक्तिक पद के सान्निध्य से भी शक्तिग्रह होता है। (६३) जैसे "इह सहकारतरौ पिको मधुरं रौति" इस वाक्य में प्रसिद्ध सहकार, मधुर तथा रौति पद के सान्निध्य से पिक पद की कोकिल नामक पक्षिविशेष में बिना कोषादि ज्ञान के भी शक्ति का ज्ञान होता है।

(६४) तत्र जातावेव शक्तिर्नतु व्यक्तौ व्यभिचारादानन्त्याच्च। (६५) व्यक्तिं विना च जातिभानस्यासंभवाद्व्यक्तेरपि भानमिति केचित्। (६६) तन्न। शक्तिं विना व्यक्तिभानानुपपत्तेः।

(६४) पर मत का निराकरण करते हुए अपने मत को व्यवस्थापित करने के लिये जाति (धर्म) मात्र में शक्ति मानने वाले मीमांसक के मत का प्रतिपादन करते हैं कि जाति मात्र में पद की शक्ति माननी चाहिये व्यक्ति में शक्ति मानते हैं अथवा सभी व्यक्ति में। प्रथम पक्ष में व्यभिचार हो जायगा अर्थात् जिस व्यक्तिविशेष में गो आदि पद का शक्तिज्ञान नहीं है उसका भी शाब्दबोध होता है इसलिये तद्विषयक शाब्दबोध में तद्धर्मिक शक्तिज्ञान कारण है इसकार्य कारणभाव में व्यभिचार हो जायेगा। द्वितीय पक्ष में व्यक्ति के अनन्त होने से शक्ति में भी आनन्त्य हो जायेगा, और उन अनन्त शक्तियों का ज्ञान सर्वज्ञेतर पुरुष को नहीं हो सकने के कारण अस्मदादि व्यक्ति को शाब्दबोध नहीं होगा। (६५) जातिमात्र में शक्ति मानने से व्यक्ति का शाब्दबोध में भान कैसे होगा इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यक्ति भान के विना जाति का भान नहीं हो सकता है। इसलिये व्यक्ति का भी भान हो जायेगा अर्थात् जाति भासक सामग्री को ही व्यक्ति का भी भासक मान लेने से जाति भासक सामग्री से ही व्यक्ति का भी भान हो जायेगा। फिर व्यक्ति में शक्ति मानना व्यर्थ है, यह मीमांसक का मत है। (६६) किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि तद्विषयक शाब्दबोध के प्रति पदज्ञानजन्य तद्विषयक उपस्थिति कारण है। ऐसी दशा में यदि जातिमात्र में शक्ति मानी जायेगी तो जाति

मात्र को पदसम्बन्धी होने के कारण एक सम्बन्धिज्ञानविधया व्यक्ति की उपस्थिति नहीं होने के कारण व्यक्ति का शाब्दबोध में भान नहीं हो सकेगा।

(६७) नच व्यक्तौ लक्षणा, अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनापि व्यक्तिबोधात्। (६८) न च व्यक्तिशक्तावानन्त्यं सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकारात्। (६९) न चाननुगमः, गोत्वादेरेवानुगमकत्वात्।

(६७) यदि आप कहें कि "व्यक्ति में लक्षणा मानते हैं" तब शक्ति न मानने पर भी व्यक्तिका लक्षणा से ही बोध हो जायगा यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि तद्विषयक शाब्दबोध के प्रति पदज्ञानजन्य तद्विषयक उपस्थिति कारण है। ऐसी दशा में यदि जातिमात्र में शक्ति मानी जायगी तो जाति मात्र को पदसम्बन्धी होने के कारण एक सम्बन्धिज्ञानविधया व्यक्ति की उपस्थिति नहीं होने के कारण व्यक्ति का शाब्दबोध में भान नहीं हो सकेगा।

(६७) नच व्यक्तौ लक्षणा, अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनापि व्यक्तिबोधात्। (६८) न च व्यक्तिशक्तावानन्त्यं सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकारात्। (६९) न चाननुगमः, गोत्वादेरेवानुगमकत्वात्।

(६७) यदि आपकहें कि "व्यक्ति में लक्षणा मानते हैं" तब शक्ति न मानने पर भी व्यक्ति का लक्षणा से ही बोध हो जायेगा यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि अन्वयानुपपत्तिज्ञान होने पर लक्षणा से लक्ष्यार्थ का बोध होता है। "गौरस्ति" इत्यादि स्थल में गोत्व में अस्तित्व का अन्वयानुपपत्तिज्ञान नहीं रहने के कारण लक्षणा से गोव्यक्ति का शाब्दबोध नहीं होगा। (६८, ६९) हमारे मत में व्यक्ति के आनन्त्य से शक्ति में आनन्तय की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि सभी व्यक्तियों में ईश्वरेच्छारूप एक ही शक्ति मानते हैं। इसपर यदि आप ऐसा कहें कि शक्तिज्ञानाविषयपदार्थ का प्रकारतया या विशेष्यतया शाब्दबोध में भान नहीं होता है किन्तु गवादि पदों से सकल गवादि की स्मृति एवं शाब्दबोध होता है अतः गवादिपदजन्य सकल तत्तत् गवादिविषयक स्मृति एवं शाब्दबोध के प्रति सकल तत्तत्

गवादिविषयक शक्तिज्ञान को कारण मानना होगा तब सकल तत्तत् गवादि विषयक शक्तिज्ञाननिष्ठ कारणता की विषयितासंबन्ध से अवच्छेदकता सकल तत्तत् गवादि को नहीं मानसकते क्योंकि उनका कोई अनुगमक धर्म नहीं है। लेकिन यह भी कथन ठीक नहीं है क्योंकि सकल गो का गोत्व रूप से अनुगम करके कारणतावच्छेदक कोटि में प्रवेश करते हैं। अर्थात् गौत्व प्रकारक गोविशेष्यक स्मृति और शाब्दबोध के प्रतिगोत्वावच्छिन्न विषयक शक्तिज्ञान को कारण मानते हैं। अतः गोव्यक्ति को अनन्त होने पर भी गोत्व को एक होने के कारण गो में रहने वाला कारणतावच्छेदकत्व एक हो जायगा।

(७०) किंच गौः शक्येति शक्तिग्रहो यदि तदा व्यक्तौ शक्तिः। यदि तु गोत्वं शक्यमिति शक्तिग्रहस्तदा गोत्वप्रकारक-पदार्थस्मरणं शाब्दबोधश्च न स्यात्। (७१) समानप्रकारकत्वेन शक्तिज्ञानस्य पदार्थस्मरणं शाब्दबोधं प्रति च हेतुत्वात्।

(७०, ७१) शक्तिज्ञान विषय पदार्थमात्र का शाब्दबोध में यदि भान मानाजाय तो शक्तिज्ञानाविषय संसर्ग का शाब्दबोध में भान नहीं होगा। अतः शक्तिज्ञान विषय पदार्थमात्र का शाब्दबोध में भान होता है यह नियम नहीं मान सकते हैं। तब घटपदनिष्ठ शक्तिज्ञानविषय गवादि का घटपद जन्य स्मृति और शाब्दबोध में भान की आपत्ति लगेगी अतः गोत्वप्रकारक गोविशेष्यक स्मृति और शाब्दबोध के प्रति गोत्वनिरूपित शक्तिज्ञान को कारण मानते हैं। फिर व्यक्ति में शक्ति मानना व्यर्थ है। इस मीमांसक मत का खण्डन "किञ्चेत्यादि" ग्रन्थ से किया जाता है कि जातिमात्र शक्तिवादी मीमांसक गौः गोपदशक्या इस प्रकार का यदि शक्तिज्ञान मानें तो व्यक्ति में भी शक्ति मानी होगी। क्योंकि अन्यथा ख्याति नहीं माननेवाले मीमांसक व्यक्ति में शक्ति नहीं मानकर गौः गोपदशक्या ऐसा शक्तिज्ञान नहीं मान सकते यदि गोत्वम् गोपद शक्य ऐसा शक्तिज्ञान मानें तो इस शक्तिज्ञान से गोत्व प्रकारक गो विशेष्यक स्मृति और शाब्दबोध नहीं हो सकता है क्योंकि नियम है कि जो शक्तिज्ञान यत्प्रकारक होता है वह तत्प्रकारक ही स्मृति और शाब्दबोध

को उत्पन्न करती है। इसलिये गोत्वगोपदशक्यं, इस शक्तिज्ञान को गोपत्व प्रकारक गोत्व विशेष्यक होने के कारण गोत्वत्व प्रकारक गोत्व विशेष्यक स्मृति और शाब्दबोध ही उस शक्तिज्ञान से उत्पन्न होंगे और गोत्वप्रकारक गोविशेष्यक स्मृति और शाब्दबोध नहीं उत्पन्न हो सकेंगे।

(७२) किं च गोत्वे यदि शक्तिस्तदा गोत्वत्वं शक्यतावच्छेदकं वाच्यम्। (७३) गोत्वत्वं तु गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वम्। (७४) तथा च गोव्यक्तीनां शक्यतावच्छेदकेऽनुप्रवेशात्तवैव गौरवम्।

(७२, ७३, ७४) जातिमात्र शक्तिवादी मीमांसक के मत में यह भी दोष है कि गोत्व में गोपद की शक्ति मानने से शक्यतावच्छेदक गोत्वत्व को मानना होगा। और गोत्वत्व गवेतरा समवेतत्वेसति (गौ को छोड़कर अन्यत्र न रहना) सकल गो समवेतत्व (सभी गौओं में रहना) रूप होने के कारण गोरूप व्यक्तिसे घटित है। अत: गोत्वत्व को शक्यतावच्छेदक माननेवाले मीमांसक को गोरूप व्यक्ति में भी शक्यतावच्छेदकत्व मानना पड़ा इससे गौरव होगा और नैयायिक को जातिरूप गोत्व में शक्यतावच्छेद-कत्व मानने के कारण गौरव नहीं होता है।

(७५) तस्मात्तत्तज्जात्याकृति विशिष्टतत्तद्व्यक्तिबोधानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिर्जात्याकृति विशिष्टव्यक्तौ विश्राम्यतीति।

(७५) इसलिये गोत्वादि तत्तत् जाति अथवा अवयव संयोगरूप आकृति अथवा व्यक्ति (धर्मी) मात्र में शक्ति मानने से तत्तत् जाति और तत्तत् आकृतिविशिष्ट व्यक्ति का तत्तत् पद से होनेवाली स्मृति और शाब्दबोध में ज्ञान नहीं होगा अत: तत्तत् जाति एवं तत्तत् आकृतिविशिष्टव्यक्ति में तत्तत् पद की शक्ति मानी जाती है।

(७६) शक्तं पदं, तच्चतुर्विधम्, क्वचिद्यौगिकं क्वचिद्रूढं क्वचिद्योगरूढं क्वचिद्यौगिकरूढम्। (७७) तथाहि। यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम्। (७८) यथा पाचकादि पदम्। (७९) यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढम्, यथा गोमण्डलादिपदम्।

(७६) न्याय मत में शक्तिमत्त्व ही पद का लक्षण है। वह चार

प्रकार का होता है—यौगिक, रूढ़, योगरूढ़ और यौगिकरूढ़। (७७, ७८) जो शब्द स्वघटक द्वारा स्वार्थ का बोधक होता है वह यौगिक शब्द है जैसे—पाचक शब्द स्व घटक पच् धात्वर्थ (पाक्) और अक् (णवुल्) प्रत्ययार्थ (कर्ता) द्वारा पाककर्त्तारूप स्वार्थ का बोधक होने के कारण यौगिक कहलाता है। (७९) जो शब्द अपने अवयवार्थके बिना स्वार्थ का बोधक हो वह रूढ़ है। जैसे—गो और मण्डल आदि पद अपने अपने अवयवार्थ के बिना गोत्व विशिष्ट और गोलाकार वस्तुविशेषरूप स्वार्थ का बोधक होने के कारण रूढ़ कहलाते हैं।

(८०) यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्। (८१) यथा पङ्कजादिपदम्। (८२) तथाहि पङ्कजपदमवयवशक्तया पङ्कजनि कर्तृत्वरूपमर्थं बोधयति। (८३) समुदायशक्तया च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति। (८४) नच केवलयाऽवयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादिति वाच्यं, रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञाने प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः।

(८०, ८३) जो शब्द अवयवार्थ और समुदायार्थ उभय द्वारा ही स्वार्थ का बोधक हो वह योगरूढ़ है। जैसे—पङ्कज शब्द अवयवार्थ (पङ्काधिकरणक उत्पत्त्याश्रय) और समुदायार्थ (पद्मत्वजातिविशिष्ट) इन दोनों अर्थों के द्वारा ही स्वार्थ का बोधक होने के कारण योगरूढ़ कहा जाता है। (८४) शङ्का—कुमुद में भी पङ्काधिकरणक उत्पत्त्याश्रयत्व रहनेके कारण पङ्कजपद से केवल अवयव शक्ति से कुमुद का बोध क्यों नहीं होता? प्राचीन का समा०—तत्पदजन्य यौगिकार्थ मात्र विषयक बोध के प्रति तत्पदनिरूपित रूढ़ि (समुदाय शक्ति) का ज्ञान प्रतिबन्धक है। अतः पद्मत्वावच्छिन्न में पङ्कजपद निरूपितरूढ़ि को जाननेवाले व्यक्ति को पङ्कज पद से कुमुद का बोध नहीं होगा।

(८५) वस्तुतस्तु, समुदायशक्तयुपस्थितपद्मेवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवति सांनिध्यात्। (८६) यत्र तु रूढ्यर्थस्य बाधः प्रतिसंधीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः। (८७) यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधे न तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधस्तत्रावयवशक्तिमात्रेण

निर्वाह इत्याहुः। (८८) यत्र तु स्थलपद्मादाववयवार्थबाधस्तत्र समुदायशक्तया पद्मत्वेन रूपेण बोधः। (८९) यदि तु स्थलपङ्कजं विजातीयमेव तदा लक्षणयैवेति।

(८५) और वास्तविक तो यह है कि पङ्कज पद की समुदाय शक्ति से उपस्थापित पद्मत्वावच्छिन्न में अवयव शक्ति से उपस्थापित पङ्काधिकरणक उत्पत्त्याश्रय का अव्यवहितोपस्थित होने के कारण अन्वय होता है। अतः पङ्कज पद से पङ्काधिकरणकोत्पत्त्याश्रयाभिन्नम् पद्मम् (कीचड़ में पैदा होनेवाला कमल) ऐसा शाब्दबोध होता है। (८६) जहाँ पङ्कज पद के समुदायार्थ पद्मत्व का बोध निश्चय है। अथवा पद्मत्व विषयक बोध की सामग्री नहीं है। और कुमुदत्व रूप से बोध में तात्पर्यज्ञान है वहाँ पङ्कजपद से लक्षणया कुमुद का बोध होता है। (८७) और जहाँ पर कुमुदत्वेन रूपेण बोध में तात्पर्यज्ञान नहीं है और पङ्कजपद का समुदायार्थ जो पद्मत्व उसका वाध निश्चय अथवा पद्मत्व विषयक बोध की सामग्री का अभाव है वहाँ पर पङ्कजपदसे अवयव शक्तिमात्रोपस्थापित पङ्काधिकरणक उत्पत्त्याश्रय का बोध होता है। (८८) जहाँ पर स्थलकमल में पङ्कज पद के अव्यवार्थ पङ्काधिकरणक उत्पत्त्याश्रयत्व का बाध निश्चय है। वहाँ पर पङ्कजपद से केवल समुदाय शक्ति की महिमा से पद्मत्वेन रूपेण स्थल पद्म का बोध होता है। (८९) यदि स्थल कमल में पद्मत्व जाति प्रमाण सिद्ध नहीं हो किन्तु उसमें विलक्षण एक जाति मानी जाय तो पङ्कज पद से लक्षणा द्वारा उस विलक्षण जाति के आश्रय जो स्थल कमल उसका बोध होगा।

(९०) यत्रावयवार्थ रूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढम्। यथोद्भिदादिपदम्। तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते यागविशेषोऽपीति।

(९०) जो शब्द कहीं केवल अवयवार्थ (यौगिकार्थ) का और कहीं केवल रूढ्यर्थ (समुदायार्थ) का बोधक होता है वह यौगिक रूढ़ कहलाता है जैसे–उद्भिदादि शब्द कहीं केवल यौगिकार्थ भूम्यादि के उद्भेदन कर्त्ता तरु गुल्मादि का और कहीं केवल रूढ्यर्थ उद्भिद् नामक याग विशेष का बोधक होने के कारण यौगिक रूढ़ कहा जाता है।

का० नं० ८२ पूर्वा०

लक्षणा शक्यसंबन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः।

का० अर्थ।

शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। तात्पर्य की अनुपपत्ति जहाँ ज्ञात होती है उस जगह लक्षणा से पदार्थ की स्मृति और शाब्दबोध होते हैं।

(१) गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसंधीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोध इति।

(१) "गङ्गाया घोष" इत्यादि स्थल में गङ्गापद के प्रवाह रूपशक्यार्थ घोष पदार्थ की अन्वयानुपपत्ति अथवा वक्ता की तात्पर्यानुपपत्ति का ज्ञान जहाँ होता है उस जगह लक्षणा से लक्ष्यार्थ तट का बोध होता है।

(२) सा च शक्यसंबन्धरूपा। (३) तथाहि प्रवाहरूप-शक्यार्थसंबन्धस्य तीरे गृहीतत्वात्तीरस्य स्मरणम् ततः शाब्दबोधः। (४) परंतु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा यष्टी प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात् यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्, तत्र च यष्टि प्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा।

(२, ३) लक्षणा शक्य सम्बन्ध रूप है "गङ्गाया घोष" यहाँ "गङ्गापद के प्रवाह रूप शक्यार्थ का सामीप्यरूप सम्बन्ध जब तीर में ज्ञात होता है तब एक सम्बन्धिज्ञानविधया गङ्गा पदज्ञान से गङ्गापद के शक्य सम्बन्धी तीर का स्मरण और तदनन्तर उसका शाब्दबोध होता है (४) अन्वयानुपपत्ति को यदि लक्षणा का बीज माना जाय तो यष्टिधर को भोजन कराने के तात्पर्य से जहाँ "यष्टी प्रवेशय ऐसा" कहा गया है वहाँ यष्टि की कर्मता में और उसकी प्रवेश क्रिया में अन्वयानुपपत्ति नहीं रहने के कारण यष्टि पद का यष्टिधर में लक्षणा नहीं होगी।

(५) एवं काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा सर्वतो दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वात्। (६)

एवं छत्रिणो यान्तीत्यादौ छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा। (७) इयमेवाजहत्स्वार्था लक्षणेत्युच्यते, एकसार्थवाहित्वेन रूपेण छत्रितदन्ययोर्बोधात्।

(५, ६, ७) एवं दधिनाशक काक विलाड़ आदि जन्तुओं से दधिरक्षा के तात्पर्यसे जहाँ "काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्" ऐसा कहा जाता है वहाँ काक की अन्वयानुपपत्ति नहीं रहने के कारण काक पद की दधिनाशक जन्तु में लक्षणा नहीं होगी। एवं छत्रधारी व्यक्तियों के एक साथ जाने वाले जनसमूह के तात्पर्य से जहाँ "छत्रिणो यान्ति" ऐसा कहा जाता है वहाँ भी छत्री की अन्वयानुपपत्ति नहीं रहने के कारण छत्रिपद की छत्रि सार्थवाही अर्थात् छत्रियों के साथ जानेवाले जनसमूह में लक्षणा नहीं होगी। और तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानने पर क्रम से उन उन स्थलों में यष्टिधर के भोजन तात्पर्य की अनुपपत्ति एवं सभी दध्युपघातकों से दधिरक्षा तात्पर्य की अनुपपत्ति तथा छत्रि सार्थवाही के गमन तात्पर्य की अनुपपत्ति रहने के कारण उन उन स्थलों में उपपत्ति होती है। "काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्" इस स्थल में जो काक पद की दध्युपघात में लक्षणा एवं "छत्रिणोयान्ति" इस स्थल में जो छत्रिपद की छत्रि सार्थवाही में लक्षणा है वह क्रम से काकपद शक्यार्थ काक वृत्ति दध्युपघातकत्वावच्छिन्न में एवं छत्रिपद शक्यार्थ छत्रि वृत्ति छत्रिसार्थवाहित्वावच्छिन्न में होने के कारण अजहत् स्वार्थलक्षणा कहलाती है। शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों में वृत्ती धर्मजह लक्ष्यतावच्छेदक होता है वह लक्षणा अजहत् स्वार्था लक्षणा है यथा–उक्त दोनों स्थलों में "दध्युपघातकत्व" एवं "छत्रिसार्थवाहित्व रूप" लक्ष्यतावच्छेदक धर्म को क्रम से काकपद के शक्यार्थ काक में और लक्ष्यार्थ विलाड़ आदि में एवं छत्रिपद के शक्यार्थ छत्रविशिष्ट में और लक्ष्यार्थ छत्रशून्य छत्रिसार्थवाही व्यक्ति में रहने के कारण उक्तदोनों स्थलों में काकपद की दध्युपघातकत्वावच्छिन्न में एवं छत्रिपद की छत्रिसार्थवाहित्वावच्छिन्न में लक्षणा अजहत् स्वार्था लक्षणा है।

(८) यदि चान्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदाक्वचिद्गङ्गापदस्य तीरे क्वचिद्घोषपदस्य मत्स्यादौ लक्षणेति नियमो न स्यात्।

(८) तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है इसमें एक यह भी युक्ति है कि गङ्गा में रहनेवाले मत्स्य के तात्पर्य से उच्चारण किये गये गङ्गायां घोषः इस वाक्य में घोष पद की मत्स्य में लक्षणा है और गङ्गा पदकी तीर में लक्षणा नहीं है। एवं तीरनिष्ठ घोष के तात्पर्य से उच्चारण किये गये गङ्गायां घोषः इस वाक्य में गङ्गा पद की तीर में लक्षणा है और घोष पद की मत्स्य में लक्षणा नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होगी। यदि अन्वयानुपपत्ति लक्षणा का बीज माना जाय तो "गङ्गायां घोषः" इस स्थल में उक्त नियम की उपपत्ति नहीं होगी। क्योंकि गङ्गा पद की तीर में अथवा घोष पद की मत्स्य में लक्षणा मानने ही से अन्वय को उपपत्ति हो जायगी।

(९) इदं तु बोध्यम्। शक्यार्थसम्बन्धो यदि तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तीरत्वेन तीरबोधः। (१०) यदि तु गङ्गातीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम्। (११) अत एव लक्ष्यतावच्छेदके न लक्षणा, तत्प्रकारकबोधस्य तत्र लक्षणां विनाप्युपपत्तेः (१२) परंत्वेवं क्रमेण शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्नस्यात्, तत्प्रकारकशक्यार्थ मरणं प्रति तत्पदस्य सामर्थ्यमित्यस्य सुवचत्वादिति विभावनीयम्।

(९, १०) यह समझना चाहिये कि "गङ्गायां घोषः" इस स्थल में यदि गङ्गापद के शक्यार्थ प्रवाह का सामीप्य सम्बन्ध रूप गङ्गा पद की लक्षणा तीरत्व रूप से तीर में गृहीत होती है अर्थात् "तीरं गङ्गा पद शक्य सम्बन्धि" ऐसा ज्ञान होता है तो गङ्गापद से तीरत्वेन रूपेण तीर की उपस्थिति और शाब्दबोध होता है और यदि गङ्गा तीरत्वेन रूपेण तीर में गृहीत होती है अर्थात् "गङ्गा तीरं गङ्गा पद शक्य सम्बन्धि" इत्याकारक ज्ञान होता है तो गङ्गातीरत्वेन रूपेण तीर की गङ्गापद से उपस्थिति और शाब्दबोध होता है इससे पर्यवसित यह हुआ कि तत्प्रकारक उपस्थिति और शाब्दबोध के प्रति तत्प्रकारक लक्षणा ज्ञान भी कारण है (११) अतएव लक्ष्यतावच्छेदक में लक्षणा नहीं मानने पर भी लाक्षणिक पद से लक्ष्यतावच्छेदक रूप से लक्ष्य की उपस्थिति और शाब्दबोध की उपपत्ति होने के कारण लक्ष्यतावच्छेदक में लक्षणा नहीं मानी जाती है। (१२)

परंतु यह बात यहाँ विशेष ध्यान देने के योग्य है कि इस रीति से शक्यतावच्छेदक में शक्ति मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। क्योंकि घटत्वादि तत्तत्प्रकारक स्मृति और शाब्दबोध के प्रति घटत्वादि तत्तत्प्रकारक शक्तिज्ञान को कारणत्व मानने ही से घटादि पद से घटत्वप्रकारक उपस्थिति और शाब्दबोध की उपपत्ति हो जायगी। तब घटत्वादिरूप शक्यतावच्छेदक में घटादिपद की शक्ति स्वीकार करना व्यर्थ हो जायगा।

(१३) यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यतै। (१४) यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते तत्र लक्षित लक्षणा।

(१३) जहाँ शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ में परम्परा सम्बन्ध अर्थात् सम्बन्धघटित होता है वहाँ की लक्षणा लक्षित लक्षणा कही जाती है। (१४) जैसे–द्विरेफादि पद का स्वशक्य रेफद्वय का घटितत्वसम्बन्ध भ्रमर पद में ज्ञात होता है एवं भ्रमर पद का वाच्यत्व सम्बन्ध भ्रमररूप अर्थ में ज्ञात होता है अतः द्विरेफ पद का स्वशक्य रेफद्वय घटित पद वाच्यत्वरूप परम्परा सम्बन्ध भ्रमर में रहने के कारण द्विरेफ पद की भ्रमर में लक्षणा लक्षित लक्षणारूपा है।

(१५) किन्तु लाक्षणिकं पदं नानुभावकं लाक्षणिकार्थस्य शाब्दबोधे तु पदान्तरं कारणम्, (१६) शक्ति लक्षणा न्यतरसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वितस्वशक्यार्थ शाब्दबोधं प्रति पदानां सामर्थ्यावधारणात्। (१७) वाक्ये तु शक्तेरभावाच्छक्यसम्बन्ध रूपा लक्षणाऽपि नास्ति।

(१५) मीमांसक लाक्षणिक पद से शाब्दबोध नहीं मानते हैं अतएव उनके मत में "कुमतिः पशुः" इस वाक्य में दोनों पदों को कुत्सितज्ञानविशिष्ट और पशुसदृश रूप अर्थ में लाक्षणिक होने के कारण उक्त वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है इसलिये तद्विषयक शाब्दबोध के प्रति तद्वाचक पदज्ञान को कारण मानते हैं, परन्तु इसप्रकार कार्य्य कारण भाव मानने से गङ्गायां घोषः यहाँ भी तीर वाचकपद ज्ञान को नहीं रहने के कारण तीर विषयक शाब्द बोध नहीं होगा। इस हेतु उक्त कार्य्य कारण भाव को

नहीं मानकर (१६) शक्ति लक्षणान्यतर सम्बन्धद्वारा इतरपद से उपस्थित जो अर्थ तदन्वित स्वशक्यार्थ विषयक शाब्दबोध के प्रति ज्ञायमान पद अथवा पदज्ञज्ञन को कारणता मानते हैं। तब "गङ्गायां घोष:" इस स्थल में लक्षणा रूप सम्बन्ध से गङ्गा पदोपस्थापित तीर रूप अर्थ से अन्वित जो घोष पद शक्यार्थ घोष तद्विषयक शाब्दबोध के प्रति घोषपदज्ञान कारण है अत: उक्त स्थल में शाब्दबोध की अनुपपत्ति नहीं होती। और "कुमति: पशु:" इस वाक्य में एक भी वाचक पद नहीं है अत: स्वशक्यार्थ अप्रसिद्ध हो जाने से शाब्दबोध नहीं होता। (१७) मीमांसक मत सिद्ध वाक्य लक्षणा का खण्डन करते हैं कि वाक्य घटक तत्तत्पद में शक्ति मानने ही से वाक्यार्थ विषयक शाब्द बोध उपपन्न हो जाता है इसलिये वाक्य में शक्ति स्वीकार करना व्यर्थ है अत: वाक्य का शक्यार्थ अप्रसिद्ध होने के कारण वाक्य में शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा नहीं होती है।

(१८) यत्र गंभीरायां नद्यां घोष इत्युक्तं तत्र नदी पदस्य नदीतीरे लक्षणा, गंभीरपदार्थस्य नद्या सहाभेदेनान्वय: (१९) क्वचिदेकदेशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वात्।

(१८) घटत्वरूप पदार्थैक देश में नित्यपदार्थ का अभेद सम्बन्ध से अन्वय मानकर "नित्यघट:" इस प्रयोग में भी प्रामाण्यापत्ति हो जायगी इसलिये "पदार्थ: पदार्थे नान्वेति नतु पदार्थैकदेशेन" अर्थात् पदार्थैक देशके साथ पदार्थ का अन्वय नहीं होता है किन्तु मुख्य पदार्थ ही के साथ होता है। यह नियम मानना आवश्य है। तब यदि वाक्यमें लक्षणा नहीं मानी जायगी तो "गभीरायां नद्यां घोष:" इस स्थल में नदी पद की नदी तीर में लक्षणा एवं गभीर पदार्थ का नदीतीर रूप नदी पदार्थ के एक देश नदी रूप अर्थ में अन्वय आपको मानना होगा ऐसी स्थिति में "पदार्थ: पदार्थे नान्वेति" इत्यादि नियम का भङ्ग हो जायगा। और यह इष्ट नहीं है। (१९) इसका उत्तर देते हैं कि "महाकवि:" परम सुन्दर:" इत्यादि स्थल में कवित्व सौ दर्य्यादि रूप पदार्थैक देश में क्रमश: महत्, परम, पदार्थ का अन्वय होने के कारण "पदार्थ: पदार्थे नान्वेति" इत्यादि नियम सार्वत्रिक नहीं है तब "गभीरायां नद्यां घोष:" इस स्थल में भी

उक्त नियम को नहीं मानकर अर्थात् एक देशान्वय मानकर नदी पद की नदी तीर में लक्षणा और नदी पदार्थैक देश नदीरूप अर्थ में गंभीर पदार्थ का अन्वय मानने में कोई बाधा नहीं है।

(२०) यदि तत्रैकदेशान्वयो न स्वीक्रियते तदा नदीपदस्य गभीरनदीतीरे लक्षणा गभीर पदं तात्पर्यग्राहकम्। (२१) बहुव्रीहावप्येवम् तत्र हि चित्रगुपदादौ यद्येकदेशान्वयः स्वीक्रियते तदा गोपदस्य गो स्वामिनि लक्षणा गवि चित्राभेदान्वयः। (२२) यदि त्वेकदेशान्वयो न स्वीक्रियते तदा गोपदस्य चित्र गोस्वामिनि लक्षणा चित्रपदं तात्पर्यग्राहकम्।

(२०) यदि "गभीरायां नद्यां घोषः" इत्यादि स्थल में एक देशान्वय स्वीकार न करें अर्थात् "पदार्थः पदार्थे नान्वेतिः" इत्यादि नियम को माने तो एकदेशान्वय के भय से नदी पद की नदी तीर में लक्षणा आप नहीं मान सकते हैं अतः नदी पद की गभीर नदी तीर में लक्षणा है और गभीर पद केवल तात्पर्य्यग्राहक है अर्थात् (गभीर नदीतीर विषयक बोधेच्छा से नदी पद वक्ता पुरुष से उच्चरित है) इस तात्पर्य्य को समझाता है। (२१) इसीप्रकार बहुव्रीहि समास में भी समझना चाहिये जैसे "चित्रा गौर्य्यस्य असौ चित्रगुः" इत्यादि बहुव्रीहि समास में यदि एक देशान्वय का स्वीकार करें अर्थात् उक्त नियम को नहीं मानें तो गोपद की गोस्वामी में लक्षणा और गो पदार्थैक देश गो रूप अर्थ में चित्र पदार्थ का अभदान्वय समझना चाहिये। (२२) यदि एकदेशान्वय का स्वीकार नहीं करें तो गोपदकी चित्राभिन्न गो स्वामी में लक्षणा और चित्रपद को तात्पर्य्यग्राहक समझना चाहिये।

(२३) एवमारूढानरो वृक्ष इत्यत्र वानरपदस्य वानरारोहण कर्मणि लक्षणा आरूढपदं तात्पर्यग्राहकम् एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

(२३) इसीप्रकार "आरूढः वानरयं (वृक्षं) असौ आरूढ़ वानरो वृक्षः" इत्यादि समासस्थल में भी वानर पद की वानर कर्त्तृक आरोहणरूप क्रिया के कर्म में लक्षणा और आरूढ़पद तात्पर्य्य ग्राहक है। इसी प्रकार स्थानान्तर में भी समझना चाहिये।

(२४) तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा तथाहि। राजपुरुष इत्यादौ राजपदार्थेन सह पुरुषादिपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो निपातातिरिक्त नामार्थयोर्भेदेनान्वयबोधस्या व्युत्पन्नत्वात्। (२५) अन्यथा राजापुरुष इत्यत्रापि तथान्वयबोधःस्यात्।

(२४) एवं तत्पुरुष समास में पूर्व पद में लक्षणा होती है। जैसे राज्ञः पुरुषः राज पुरुषः इत्यादि षष्ठी तत्पुरुष समास में राजपदार्थ के साथ पुरुष पदार्थ का साक्षात् भेद अर्थात् अभेदातिरिक्त स्वत्वादि सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि यह नियम है कि निपातातिरिक्त नामार्थद्वय का साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता है (२५) अन्यथा (यदि निपातातिरिक्त नामार्थद्वय का भी साक्षात् भेद सम्बन्ध से अन्वय माना जाय तो) राजापुरुषः इस स्थल में भी स्वत्वादिरूप भेद सम्बन्ध से अन्वय बोध होने लगेगा इसलिये उक्त नियम का मानना अत्यन्त आवश्यक है।

(२६) पटो न घट इत्यादौ घटपटाभ्यां नञः साक्षादेवान्वय न्निपातातिरिक्तेति। (२७) नीलो घट इत्यादौ नमार्थयोरभेदसम्बन्धे-नान्वया द्भेदेनेति।

(२६) "पटोन घटः" इत्यादि स्थल में घट का प्रतियोगिता सम्बन्ध से नञर्थ भेद में एवं भेद का अनुयोगिता सम्बन्ध से पेट में अन्वय होने के कारणनियम में निपातातिरिक्तत्व विशेषण दिया गया है नञ् को निपातरूप होने के कारण निपातातिरिक्त नामार्थ में नञर्थ भेद का ग्रहण नहीं होगा अतः नञर्थ भेद में घट का प्रतियोगिता सम्बन्ध से एवं पट में भेद का अनुयोगिता सम्बन्ध से अन्वय होने पर भी नियम में व्यभिचार नहीं होगा (२७) "नीलोघटः" इत्यादि स्थल में नील और घटरूप नामार्थद्वय का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है अतः नियम में भेद अर्थात् अभेदातिरिक्त सम्बन्ध की विवक्षा की गई है। इस नियम के अनुरोध से राज पदार्थ का पुरुष पदार्थ में स्वत्व सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता है।

(२८) न च राजपुरुष इत्यादौ लुप्तविभक्तेः स्मरणं कल्प्य मिति वाच्यम्। अस्मृतविभक्तेरपि ततो बोधोदयात् (२९) तस्माद्राज-पदादौ राजसम्बन्धिनि लक्षणा, तस्य च पुरुषेण सहाभेदान्वयः (३०) द्वन्द्वे तु धवखदिरौ छिन्धीत्यादौ धवः खदिरश्च विभक्तयर्थ द्वित्वप्रकारेण बुध्यते तत्र न लक्षणा

(२८) "शङ्का"–राजपुरुष इत्यादि स्थल में राजपदोत्तर लुप्त षष्ठी विभक्ति के स्मरण की कल्पना के राजपदार्थ का षष्ठ्यर्थ स्वत्व में निरूपितत्व सम्बन्ध से एवं स्वत्व का पुरुष इस समासस्थल से अन्वय द्वारा राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरुषः इत्याकारक शाब्दबोधराजपुरुष इस समासस्थल में ही हो जायगा फिर राज पद की राजसम्बन्धी में लक्षणा व्यर्थ है। समा०–जिस पुरुष को विभक्ति का स्मरण नहीं हुआ है अर्थात् प्रकृति प्रत्ययानभिज्ञ पुरुषों को भी राजपुरुष इत्यादि समासस्थल में शाब्दबोध होता है लेकिन अब वह नहीं होगा। (२९) अतः राजपुरुष इत्यादि समासस्थल में राज पद की राज सम्बन्धी में लक्षणा मानकर राजसम्बन्धी का पुरुष के साथ अभेदान्वय मानना ही युक्त है। (३०) एवं "धवखदिरौ छिन्धि" इत्यादि इतरेतर योग द्वन्द्व समास में द्विवचनार्थ द्वित्वप्रकारक धवखदिरविशेष्यक बोध होता है अतः इतरेतर योगद्वन्द्व में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है।

(३१) न च साहित्ये लक्षणेति वाच्यम् साहित्यशून्ययो रपि द्वन्द्व दर्शनात्।

(३१) प्रत्येका वृत्ति धर्म में समुदायवृत्तित्व का अनुभव नहीं होता अतः द्वित्वादि संख्या को प्रत्येकमें वृत्तित्व मानना आवश्यक है, तब घट और आकाश इन दोनों में वर्त्तमान द्वित्व को आकाश में भी वर्त्तमान होने के कारण आकाशौ इस वाक्य को प्रामाण्यापत्ति हो जायगी तद्वारणार्थ यह नियम माना गया है कि उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य जो संख्या वही सुप्विभक्ति का अर्थ है तब घटाकाशोभयवृत्ति द्वित्व संख्या को आकाशत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक का व्याप्य नहीं होने के कारण उस द्वित्वका सुए,

विभक्ति से बोध नहीं होगा अतः "आकाशौ" इसवाक्य में प्रामाण्यापत्ति नहीं हो सकती है परन्तु उक्त नियम मानने पर "धवखदिरौ" इत्यादि इतरेतर योग द्वन्द्वसमास में खदिर रूप उत्तर पद को धवखदिरोभयनिष्ठ साहित्याश्रय में लक्षणा मानना युक्त है क्योंकि यदि लक्षणा नहीं मानी जायगी तो "धवखदिरौ" इस वाक्य में सुबर्थ द्वित्व का उद्देश्यतावच्छेदक अगत्या धवत्व और खदिरत्व को ही मानना होगा। तब एक धव और एक खदिर वृत्ति द्वित्व को धवत्वखदिरत्वात्मक उद्देश्यतावच्छेदक का व्याप्य नहीं होने के कारण एव धवद्वयनिष्ठ द्वित्व को धवत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक का व्याप्य, और खदिर द्वयनिष्ठ द्वित्व को खदिरत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक का व्याप्य होने के कारण एक धव और एक, खदिर के तात्पर्य से "धवखदिरौ" यह प्रयोग नहीं होगा और धवद्वय तथा खदिरद्वय के तात्पर्य से उक्त प्रयोग होने लगेगा इस कारण मीमांसक लोग खदिररूप उत्तर पद की धव खदिरोभयवृत्ति साहित्याश्रय में लक्षणा मानते हैं। तब उक्त साहित्य ही को सुबर्थ द्वित्व का तथा एक खदिर गतम द्वित्व होगा न कि धवद्वय वृत्ति एवं खदिरद्वयवृत्ति द्वित्व होगा इसलिये एक धव और एक खदिर के तात्पर्य्य से "धवखदिरौ" यह प्रयोग होगा और धवद्वय एवं खदिरद्वय के तात्पर्य्य से उक्त प्रयोग नहीं होगा। लेकिन इस तरह मीमांसकों का खदिर रूप उत्तर पद की धव खदिरोभयवृत्ति साहित्याश्रय में लक्षणा मानना युक्त नहीं है क्योंकि सामानाधिकरण्यरूप साहित्य शून्य विरुद्ध घटत्व तथा पटत्व के तात्पर्य्य से भी "घटत्व पटत्वेस्तः" इत्यादि स्थल में द्वन्द्वसमास देखा जाता है।

(३२) नचैक क्रियान्वयित्वरूपं साहित्यमस्तीति वाच्यम्। क्रियाभेदेपि धवखदिरौ पश्य छिन्धीत्यादि दर्शनात् साहित्यस्याननु-भवाच्च। (३३) अत एव राजपुरोहितौ सायुज्याकामौ यजेयातामित्यत्र लक्षणा भावाद् द्वन्द्व आश्रीयते तस्मात्साहित्यं नार्थः।

(३२) शङ्का—सामानाधिकरण्यरूप साहित्याश्रय में लक्षणा नहीं है किन्तु एक क्रियान्वयित्व रूप साहित्याश्रय में ही लक्षणा मानते हैं अतः घटत्व पटत्त्वादि रूप विरुद्ध पदार्थों में सामानाधिकरण्यात्मक साहित्य

नहीं रहने पर भी घटत्व पटत्वेस्त:" इस स्थल में अस् धात्वर्थ रूप एक क्रियान्वयित्वात्मक साहित्य रहने के कारण द्वन्द्व समास की अनुपपत्ति नहीं होगी। समा०—धव दर्शन एवं खदिरच्छेदन तात्पर्येण धव खदिरौ पश्य छिन्धि इत्यादि स्थल में द्वन्द्व समास होता है किन्तु अब वह नहीं होगा। एक युक्ति यह भी है कि द्वन्द्व स्थल में साहित्य विषयक बोध का अनुभव भी नहीं होता है अत: साहित्याश्रय में लक्षणा युक्ति सिद्ध नहीं है। परन्तु साहित्याश्रय में लक्षणा नहीं मानने वाले नैयायिककों के मतमें एक धव तथा एक खदिरके तात्पर्य से धव खदिरौ इस वाक्य की अनुपपत्ति और धवद्वय एवं खदिरद्वय के तात्पर्य से उक्त वाक्य की आपत्तिरूप दोश का वारण नहीं होगा इसका समाधान नैयायिक लोग इस प्रकार करते हैं कि जहाँ एक धर्म उद्देश्यतावच्छेदक है उसी स्थल में सुप् विभक्ति को उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य संख्या बोधकत्व का नियम है और नाना धर्म जहाँ उद्देश्यतावच्छेदकत्व स्थल में उक्त नियम मानने के कारण "आकाशो" इस वाक्य को प्रामाण्यापत्ति नहीं होगी एवं धवत्व तथा खदिरत्व रूप नाना धर्म को उद्देश्यतावच्छेदकत्व स्थल में उक्त नियम को नहीं मानने के कारण एक धव तथा एक खदिर के तात्पर्य से धवखदिरौ इस वाक्य की प्रमाणता में कोई बाधा नहीं होगी। (३३) साहित्याश्रय में लक्षणा नहीं मानने वाले नैयायिकों के मत का पोषक एक यह भी युक्ति है कि "राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्" इस विधिवाक्यस्थल में राज्ञ: पुरोहितौ राजपुरोहितौ यह षष्ठी तत्पुरुष अथवा राजा च पुरोहितश्च इति राज पुरोहितौ यह द्वन्द्व समास है इस संशय को निराकरण करते हुए पूर्वाचार्य ने कहा है कि षष्ठ तत्पुरुष समास मानने से लक्षणा की कल्पना प्रयुक्त गौरव होगा अत: उक्त विधि वाक्य में द्वन्द्व समास मानना नहीं उचित है। किन्तु यदि द्वन्द्व समास में भी लक्षणा मानी जाय तो पूर्व आचार्य्यों का उक्त कथन असंगत हो जायगा। इससे भी यह पर्यवसित हुआ कि उक्त इतरेतर द्वन्द्व समासस्थल में लक्षणा स्वीकार करना युक्त नहीं है।

(३४) किन्तु वास्तवो भेदो यत्र यत्र द्वन्द्व: न च नीलघटयोरभेद

इत्यादौ कथमिति वाच्यम्। तत्र नीलपदस्य नीलत्वे घटपदस्य घटत्वे लक्षणा, अभेद इत्यस्य चाश्रयाभेद इत्यर्थात्। (३५) समाहारद्वन्द्वेतु यदि समाहारोऽप्यनुभूयत इत्युच्यते तदा अहिनकुलमित्यादौ परपदे अहिनकुलसमाहारे लक्षणा पूर्वपदं तु तात्पर्यग्राहकम्।

(३४) परन्तु यदि आप ऐसा कहें कि कर्मधारय समास के समान द्वन्द्व समास में भी यदि लक्षणा नहीं मानी जायगी तो कर्मधारय से द्वन्द्व में भेद नहीं होगा इसका उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं कि समास मान दोनों पदों के अर्थों में जहाँ परस्पर वास्तविक भेद रहता है उसको द्वन्द्व समास कहते हैं और जहाँ भेद नहीं रहता है उसको कर्मधारय समास कहते हैं।

शङ्का—यदि समस्य मान दोनों पदार्थों में परस्पर भेद ही लक्षणा का बीज हो तो "नीलघटयो रभेदः" इस स्थल में नील और घट इन दोनों पदार्थों में परस्पर भेद नहीं रहने के कारण द्वन्द्व समास किस प्रकार होगा? समा०—नील और घट पद के क्रमसे नीलत्व और घटत्व रूप अर्थ में लक्षणा है अतः उन दोनों में परस्पर भेद रहने के कारण द्वन्द्व समास की अनुपपत्ति नहीं होगी और तद्वाक्यघटक अभेद पद का आश्रयाभेद अर्थ है अतः अर्थ में भी बाधा नहीं होगी जिस हेतु नीलत्व और घटत्व के आश्रय में अभेद है ऐसा अर्थ हुआ। (३५) "अहिनकुलम्" इत्यादि समाहार द्वन्द्व में यदि अहिनकुल समुदायत्व रूप समाहार के बोध का भी अनुभव हो तो नकुलरूप उत्तर पद की अहिनकुल समाहार में लक्षणा मानकर अहिरूप पूर्व पद में तात्पर्य ग्राहकत्व मानना आवश्यक है।

(३६) न च भेरीमृदङ्गं वादयेत्यत्र कथं समाहारस्यान्वयः, अपेक्षाबुद्धि विशेषरूपस्य तस्य वादनासम्भवादिति वाच्यम्। परम्परा-सम्बन्धेन तदन्वयात्।

(३६) शङ्का—समाहार द्वन्द्व में यदि पर पद की समुदायत्वरूप समाहार में लक्षणा मानी जाय तो "भेरीमृदङ्गम्वा य" इस स्थल में शब्दजनक संयोगानुकूल व्यापार रूप वादन क्रिया की कर्मतारूप द्वितीयार्थ

में समुदायत्व रूप प्रकृत्यर्थ समाहार का अन्वय किस प्रकार हो सकता है? समा०—वादन क्रिया को कर्म। समुदायत्व निष्ठ नहीं होने के कारण उक्त कर्मता में समुदायत्वरूप प्रकृत्यर्थ का निष्ठत्व सम्बन्ध से अन्वय नहीं करके परम्परा अर्थात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से अन्वय करते हैं। अतः भेरीमृदङ्गनिष्ठ उक्त कर्मता में तन्निष्ठ समुदायत्व को सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से रहने के कारण अन्वयबोध की बाधा नहीं होगी।

(३७) एवं पञ्चमूलीत्यादावपि परत्वेहि नकूलमित्यादा वहिर्नकुलश्चबुध्यते प्रत्यकमेकत्वान्वयः, समाहारसंज्ञा च यत्रैकत्वं नपुंसकत्वं च प्राणितूर्येत्यादिसूत्रेणोक्तं तत्रैवं, अन्यत्रैकवचनमसाध्वित्याहुः।

(३७) जैसे "अहिनकुलम्" इत्यादि स्थल में नकुल पद की अहिनकुल समाहार में लक्षणा और अहि पद में तात्पर्यग्राहकत्व माना गया है इसी प्रकार पञ्चानां मूलानां समाहारः पञ्चमूली इत्यादि स्थल में भी मूल पद की पञ्चमूल समाहार में लक्षणा और पञ्चरूपपूर्व पद में तात्पर्यग्राहकत्व माना जाता है। नवीन नैयायिकों का मत है कि अहिनकुलम् इत्यादि समाहार द्वन्द्व स्थल में अहिनकुल समुदायत्व का बोध नहीं होता है किन्तु एक वचनार्थ एकत्वप्रकारक अहिनकुल प्रत्येक विशेष्यक बोध मात्र का अनुभव होता है इसलिये वहाँ नकुल पद को अहि नकुल समुदायत्व में लक्षणा और पूर्व पद में तात्पर्यग्राहकत्व मानना व्यर्थ है। "द्वन्द्वश्चप्राणितूर्य सेनाङ्गानाम्" "सनपुंसकम्" इन पाणिनीय सूत्रों से क्रमिक जहाँ पद साधुत्वार्थ एक वचनान्तत्व और नपुंसकत्व का विधान किया गया है वह समाहार द्वन्द्व कहा जाता है समाहार शब्द परिभाषिक मात्र है। समाहार का अन्वयबोध नहीं होता है। समाहार संज्ञा का प्रयोजन यह है कि समाहारातिरिक्त अर्थात् इतरेतर द्वन्द्व स्थल में एकवचन विभक्ति असाधु है।

(३८) पितरौश्वशुरावित्यादौ पितृपदे जनकदम्पत्योः श्वशुरपदे स्त्रीजनकदम्पत्योर्लक्षणा। एवमन्यत्रापि (३९) घटा इत्यादौ तु न लक्षणा, घटत्वेन रूपेण नानाघटोपस्थिति सम्भवात्।

(३८) "माता च पिता च पितरौ" इस एक शेषस्थल में मातृ पद के लोप होने के कारण उक्त स्थल में पितृ पद की जनक दम्पती में और श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ इस एक शेषस्थल में श्वश्रू पद के लोप होने के कारण श्वशुर पद की स्त्री के जनक दम्पती में लक्षणा है। इसी प्रकार "पुमान्स्त्रिया" इत्यादि पाणिनीय सूत्र से जहाँ२ एक शेष का विधान किया गया है उन एक शेषस्थलों में भी लक्षणा समझनी चाहिये। (३९) किन्तु घट पद की शक्ति के ज्ञानसे घटत्वेन रूपेण उपस्थित सकल घटों में बहुवचनार्थ बहुत्व का भान होने में कोई बाधा नहीं रहने के कारण घटश्च घटश्च घटश्च इति घटाः इत्यादि एक शेषस्थल में घट पद की घट समुदाय में लक्षणा नहीं है।

(४०) कर्मधारयस्थले तु नीलोत्पलमित्यादावभेदसम्बन्धेन नील पदार्थ उत्पलपदार्थे प्रकारः तत्र च न लक्षणा, अतएव निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र न तत्पुरुषो लक्षणापत्तेः किन्तु कर्मधारयो लक्षणाभ वात्।

(४०) एवम् नीलं च तत् उत्पलं नीलोत्पलम् इत्यादि कर्मधारय स्थल में अभेद सम्बन्ध से नील प्रकारक उत्पल विशेष्यक बोध में कोई बाधा नहीं होने के कारण लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है। अतएव "निषादस्थपतिं याजयेत्" इस विधि वाक्य में निषादस्थपति, पद में निषादानां स्थपतिः निषादस्थपतिः इत्याकारक षष्ठी तत्पुरुष समास मानने से निषादरूप पूर्व पद की निषाद सम्बन्धी में लक्षणा की कल्पना से होने वाले गौरव के भय से निषादश्चासौस्थपतिः निषादस्थपतिः ऐसा कर्मधारय समासही मानना युक्त है। क्योंकि कर्मधारय में लक्षणा नहीं होने के कारण लक्षणा की कल्पना से होने वाला गौरव नहीं होगा। यह जो पूर्व आचार्यों का कथन है वह भी कर्मधारय में लक्षणा नहीं मानने पर असङ्गत नहीं होता।

(४१) न च निषादस्य सङ्कर जाति विशेषस्य वेदानधिकाराद्याजनासंभव इति वाच्यम्, निषादस्य विद्या प्रयुक्तेस्तत एवकल्पनात्।

(४१) शङ्का–यदि आप कहें कि निषाद सङ्कर जाति विशेष है "शूद्र वद् वर्णसङ्कराः" इस वचन से उसमें भी शूद्र तुल्यत्व सिद्ध होने से "नस्त्री शूद्रौ वेदमधीयाताम्" इस वचन के अनुसार उक्त निषादरूप स्थपति (राजा) को वेद मन्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं रहने के कारण वह यज्ञ किस प्रकार कर सकेगा?

समा०–उक्त श्रुति से बोधित निषाद कर्तृक यजन की अनुपपत्ति के भय से निषादरूप सङ्कर जाति विशेष में यागोपयुक्त वेद मन्त्र का पठनाधिकार की कल्पना करते हैं।

(४२) लाघवेन मुख्यार्थस्यान्वये तदनुपपत्त्या कल्पनायाः फलमुखगौरवतयाऽदोषत्वादिति

(४२) यदि आप कहें कि निषादरूप सङ्कर जाति विशेष में वेद मन्त्र के अध्ययनाधिकार की कल्पना करने से आपके मतमें भी गौरव होगा तो इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि उक्त विधि वाक्य में आये हुए "निषादस्थपति" रूप समस्त पद में लक्षणा की कल्पना न करने से होने वाले लाघव के अनुरोध से कर्मधारय पक्ष का अवलम्बन सिद्ध होने के बाद ही उक्त सङ्कर जाति विशेष में वेदाधिकारित्व की कल्पना करनी पड़ती है अतएव यह गौरव फलमुख होने के कारण दोषाधायक नहीं होगा।

(४३) उपकुम्भमर्धपिप्पलीत्यादौ परपदे तत्सम्बन्धिनि लक्षणा पूर्वपदार्थप्रधानतया चान्वयबोध इति (४४) इत्थं च समासे न क्वापि शक्तिः पदशक्त्यैव निर्वाहादिति।

(४३) "कुम्भस्यसमीपम् उपकुम्भम्" इत्यादि अव्ययीभव समास में कुम्भरूप उत्तर पद की कुम्भ सम्बन्धी में लक्षणा और उसका उप रूप पूर्व पदार्थ समीप के साथ अभेदान्वय होने के कारण "कुम्भ सम्बन्ध्यभिन्नं समीपम्" ऐसा पूर्व पदार्थ विशेष्यक बोध होता है एवम् अर्ध पिप्पल्याः अर्ध पिप्पली इत्यादि तत्पुरुष समास में भी पिप्पली रूप पर पद की पिप्पली सम्बन्धी में लक्षणा और उसका अर्ध रूप पूर्व पदार्थ

के साथ अभेदान्वय होने के कारण पिप्पली सम्बन्ध्य भिन्नम् अर्धम् इत्याकारक पूर्व पदार्थ विशेष्यकं बोध होता है। (४४) समास में वैयाकरण जो शक्ति मानते हैं उसका पूर्वोक्त रीति से खण्डन होता है। समासघटक तत्तत्पद की शक्ति वा लक्षणा मानने ही से बोधयितव्य अर्थ का बोध हो जाता है अतः न्याय मत से समास में शक्ति नहीं मानी जाती है।

का० ८२, ८३ पूर्वा०

आसत्तिर्योग्यताकाङ्क्षा तात्पर्यज्ञानमिष्यते।
कारणंसन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते॥

का० अर्थ।

आसत्ति ज्ञान योग्यता ज्ञान आकाङ्क्षाज्ञान और तात्पर्यज्ञान ये शाब्दबोध के प्रति कारण है। पदों के परस्पर सान्निध्य को आसत्ति कहते हैं (कारिकामें आसत्ति पद आसत्ति ज्ञानार्थक है)।

(१) आसत्तिरित्यादि। आसत्तिज्ञानं योग्यताज्ञानमाकांक्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च शाब्दबोधे कारणम्॥ (२) तत्रासत्तिपदार्थमाह, सन्निधानं त्विति।

(१) कारिकार्थ में स्पष्ट है, (२) शाब्दबोध कारण ज्ञान के विषय आसत्ति पदार्थ का निरूपण "सन्निधानन्तु" इत्यादि ग्रन्थ से करते हैं।

(३) यत्पदार्थस्य यत्पदार्थे नान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिःकारणम्। (४) तेन 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादौ न शाब्दबोधः। (५) नीलो घटो द्रव्यं पटः, इत्यादावासत्तिभ्रमाच्छाब्दबोधः। आसत्तिभ्रमाच्छाब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः।

(३) जिस पदार्थ का जिस पदार्थ के साथ अन्वय वक्ता के तात्पर्य का विषय हो उन पदों का अव्यवधान अर्थात् परस्पर सान्निध्य आसत्ति पदार्थ है और उसका ज्ञान शाब्दबोध में कारण है। (४) अतः "गिरिःअग्निमान्" भुक्तं देवदत्तेन" इस तात्पर्य से जहाँ गिरिर्भुक्तमग्निमान्देवदत्तेन" यह वाक्य कहा गया है। वहाँ गिरि पदार्थ का अग्निमत् पदार्थ के

साथ एवं भुक्त पदार्थ का देवदत्त पदार्थ के साथ अन्वय तात्पर्य का विषय है। और गिरि पद का अग्निमत् पद में एवं भुक्त पद का देवदत्त पद में अव्यवधान नहीं है इस कारण शाब्द बोध नहीं होता है। (५) "नील: पट:" "द्रव्यं घट:" इस तात्पर्य से जहाँ नीलो घटो द्रव्यं पट इस वाक्य का प्रयोग किया गया है वहाँ नील पदार्थ और घट पदार्थ का अन्वय वक्ता के तात्पर्यका विषय नहीं है इस कारण नील पद और घट पद में परस्पर अव्यवधान रहने पर भी आसत्ति नहीं रह सकती है तब जो उक्त स्थल में "नीलो घट:" इत्याकारक शाब्द बोध होता है वह भ्रमात्मक आसत्ति ज्ञान ही से मानना होगा और उस घट में नील रूप रहने के कारण उक्त शाब्द बोध प्रमात्मक ही है अत: भ्रमात्मक आसत्ति ज्ञान से प्रमात्मक शाब्द बोध नहीं हो सकता यह प्राचीनों का मत सङ्गत नहीं है।

(६) ननु यत्र 'छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्त:, इत्युक्तं तत्रोत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदस्मरणस्य नाशादव्यवधानेन तत्तत्पद-स्मरणासम्भव इति चेन्न (७) प्रत्येकपदानुभव जन्य संस्कारै श्चरमस्य तावत्पदविषयकं स्मरणस्याव्यवधानेनोत्पत्ते:। (८) नाना सन्निकर्षै-रेकप्रत्यक्षस्येव नानासंस्कारै रेकस्मरणोत्पत्तेरपि सम्भवात्। (९) तावत्पदसंस्कार सहितचरमवर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्।

(६) शङ्का—योग्य विभु विशेष गुण का नाश स्वोत्तरवर्त्ति गुण से अवश्य होने के कारण छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्त: इस वाक्य स्थलमें छत्री पद के ज्ञान का नाश वासस्वी पद के ज्ञान से हो जायगा तब छत्री पदज्ञानाव्यवधानेन एव कुण्डलीपदज्ञानाव्यवधानेन देवदत्त पदज्ञान रूप आसत्ति ज्ञान नहीं रहने के कारण उक्त वाक्य से देवदत्त पदार्थ के साथ छत्री और कुण्डली पदार्थका अन्वय बोध किस प्रकार होगा? [१](७-९) समा०—घट और चक्षु का संयोग एवं पट और चक्षु का संयोग इन दोनों से जिस प्रकार घट पट विषयक समूहालम्ब। प्रत्यक्ष होता है

१. तावत्पद संस्कार सहित चरम वर्णज्ञानस्योद्बोधकत्वात्" इस मुक्तावली की पंक्ति में तावत्पद संस्कार सहितत्व चरमवर्ण ज्ञान का उपलक्षण मात्र है इस हेतु चरम वर्णज्ञान मात्र में उद्बोधकत्व सिद्ध हुआ।

उसी प्रकार छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः इस स्थान में प्रत्येक पद के अनुभव से उत्पन्न नाना संस्कार के सहित देवदत्त पद घटक चरम वर्गज्ञानरूप उब्द्धोधक से उनके अव्यवहितोत्तर क्षण में छत्री इत्यादि सकल पदों का जो समूहालम्बन स्मरण होगा वह छत्री कुण्डली एवं देवदत्त पद विषयक भी है। अतः छत्री कुण्डली पद विषयक उक्त समूहालम्बन और देवदत्त पद विषयक उक्त समूहालम्ब को एक होने के कारण किसी से व्यवधान नहीं हो सकता अतः छत्री पद ज्ञानाव्यवधाने एवं कुण्डली पद ज्ञानाव्यवधानेन देवदत्तपदज्ञानरूप आसत्तिज्ञान होने के कारण छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्तः, इस वाक्य स्थल में उक्त शाब्दबोध की अनुपपत्ति नहीं होगी।

(१०) कथमन्यथानाना वर्णैरेकपदस्मरणम्।

[१](१०) यदि नाना संस्कर सहित चरमवर्ण ज्ञान से समूहालम्बन स्मरण की उत्पत्ति न मानी जाय तो घटादि पद घटक उत्तरोत्तर वर्ण ज्ञान से पूर्व पूर्व वर्ण ज्ञानको नष्ट हो जाने के कारण (तत्तद्वर्ण पूर्वा परी भावापन्न वर्ण समुदायात्मक) घटादि पद का ज्ञान भी न हो सकेगा। अतः आपको भी तत्तत्पद घटक तत्तद्वर्णानुभवजन्य नाना संस्कार सहित चरम वर्णज्ञान रूप उद्बोधक से तत्तत्पद घटक सकल वर्ण विषयक समूहालम्बन स्मरण रूप ही पद का ज्ञान मानना होगा।

(११) परन्तु तावत्पदार्थानां स्मरणादेकदैव खले कपोतन्यायात् तावत्पदार्थानां क्रियाकर्मभावेनान्वयबोधरूपः शाब्दबोधो भवतीति केचित्। (१२) वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथाऽमी युगपत् पतन्ति तथैव सर्वे युगपत् पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति।

(११) पद ज्ञान के समान आशुतर विनाशी क्रमिक पदार्थोपस्थिति का भी मेल नहीं होने के कारण सभी शाब्दबोध में तत्तत्पदार्थानुभव जन्य नाना संस्कार नाना संस्कार सहित चरम पदार्थ ज्ञान रूप उद्बोधक से

---

१. "कथमन्यथा नानावर्णैरेकपदस्मरणम्" इस पंक्ति में नानावर्ण शब्द का तत्तद्वर्ण विषयक नाना संस्कार अर्थ है।

उत्पन्न होनेवाली समूहालम्बन स्मरणात्मक पदार्थोपस्थिति ही को कारणत्व मानना होगा। अतः शाब्दबोध से पूर्व युगपत् (एकसाथ) सकल पदार्थोपस्थिति रहने के कारण सभी शाब्द बोध "विशेष्ये विशेषणम्" तत्रापि विशेषणान्तरम्। इस न्याय ही से होगा किन्तु "विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही" नहीं होगा। क्योंकि विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहि बोध के प्रति विशेषणतावच्छेदक प्रकारक निश्चय कारण है जो उस शाब्दबोध के पूर्व में नहीं है यह जो प्राचीन आचार्यों का मत है वह "परन्तु" इत्यादि ग्रन्थ से कहा जाता है। सकल पदार्थों का युगपत् स्मरण रहने के कारण खले कपोतन्याय के अनुसार सकल पदार्थों का क्रिया कारक भाव से शाब्दबोध होता है। (१२) इसमें उदयनाचार्य की सम्मति दिखलाते हैं कि जिस प्रकार वृद्ध युवा और शिशु कपोत एक ही समय में खरिहान में आ बैठते हैं उसी प्रकार युगपत् उपस्थित सभी पदार्थ परस्पर अन्वय को प्राप्त करते हैं।

(१३) अपरेतु यद्यदाकांक्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते, (१४) तथा च खण्डवाक्यार्थ बोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थबोध इत्यप्याहुः।

(१३, १४) नवीन अपने वक्ष्यमाण सिद्धान्त में प्रामाणिकत्व सूचित करने के लिये प्रथमतः प्रशस्त पादाचार्य की सम्मति "यद्यदाकांक्षितम्" इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं। जो २ पद परस्पर आकांक्षा योग्यता तथा सन्निधि मत्त्वेन ज्ञात होते हैं। तत्तत्पदार्थ से अन्वित जो स्वार्थ वह पदों से प्रथमतः ज्ञात होता है और तदनन्तर महावाक्यार्थ बोध होता है। ऐसा स्वीकार करने से पूर्वोक्त समूहालम्बन रूप तत्तत्पदार्थ स्मरण के बिना भी शाब्दबोध का निर्वाह होगा। शङ्का—यदि आप कहें कि "घटमानय" इत्यादि स्थल में लोट् रूप चरम पद के अर्थ की स्मृति काल में घट पदार्थ स्मरण को नष्ट हो जाने के कारण तत्तत्पदार्थ विषयक समूहालम्बन स्मरण की कल्पना आवश्यक है समा०—चरम पदार्थस्मृति काल में घट स्मरण को नष्ट हो जाने पर भी "घटनिष्ठकर्मत्वम्" इत्याकारक खण्ड वाक्यार्थ विषयक शाब्दबोध ही को पदजन्य पदार्थोपस्थिति रूप होने के कारण उसी से "घटनिष्ठ कर्मतानिरूपका नयनंकार्यम्" इत्याकारक

महावाक्यार्थ बोध का निर्वाह होगा। नवीन के मतमें खण्ड वाक्यार्थ बोध के बिना महावाक्यार्थ बोध नहीं होता है अतएव सभी महावाक्यार्थ बोध से. पूर्व तत्तत् खण्ड वाक्यार्थ बोधरूप विशेषणतावच्छेदक प्रकारक निश्चय को रहने के हेतु सभी महावाक्यार्थ बोध विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही रूप होते हैं। जहाँ खण्ड वाक्यार्थ बोध के नाश होने के बाद महावाक्यार्थ बोध उत्पन्न होता है वहाँ भी खण्ड वाक्यार्थ बोध समानाकारक जो खण्ड वाक्यार्थ विषयक स्मरण उसकी कल्पना करके विशिष्ट वैशिष्ट्याव-गाही महावाक्यार्थ बोध का निर्वाह होता है ऐसा नवीन कहते हैं। परन्तु यहाँ यह समझना चाहिये कि "घटमानय" इत्यादि स्थल में जहाँ 'घटनिष्ठ कर्मत्वम्' इत्यादि खण्ड वाक्यार्थ बोध के अग्रिम क्षण में लोट् रूप चरम पदका स्मरण हुआ है और उसके अग्रिमक्षण में कार्यतव रूप लोट् के अर्थ का स्मरण हुआ है वहाँ तृतीय क्षण में घटनिष्ठं कर्मत्वं इत्याकारक खण्ड वाक्यार्थ बोध का नाश हो जाने के कारण उक्त महावाक्यार्थ बोध की उपपत्ति के लिये तत्तत्पदार्थ विषयक समूहालम्बन स्मरण की कल्पना आवश्यक हो जायगी। एवं प्रत्यक्ष ज्ञान जिस प्रकार विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही और विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम् इस रीति से भी माना जाता है उसी प्रकार जहाँ विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही बोध की विशेषणता वच्छेदक प्रकारक निश्चयादि रूप सामग्री नहीं है वहाँ विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम् इस रीति से ही शाब्दबोध मानना उचित है और जहाँ विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही शाब्दबोध मानना उचित है।

(१५) ऐतेन तावर्द्वणाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटोपि निरस्तः (१६) तत्तद्वर्ण संस्कार सहित चरमवर्णोपलम्बेन तद्व्यञ्जके नैवोपपत्तेरिति।

(१५, १६) 'ऐतन' इत्यादि ग्रन्थ से वैयाकरण मत सिद्ध स्फोट का खण्डन किया जाता है। वैयाकरण कहते हैं कि पूर्वापरी भावापन्न तत्तद्वर्ण समुदायात्मक घटादि पदों को एक क्षण में नहीं रहने के कारण अर्थोपस्थापकता नहीं हो सकती है। अतः स्फोट मानना आवश्यक है और वह स्फोट अर्थ का उपस्थापक होने के कारण "स्फुटति ज्ञायते अर्थः अस्मात्" इस व्युत्पत्ति से स्फोट पद व्यवहारका विषय है। और

वह ब्रह्म रूप है, किन्तु अतिरिक्त पदार्थ रूप नहीं है। अतः अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना प्रयुक्त गौरव भी नहीं होगा यदि कोई शङ्का करे कि स्फोट ब्रह्म रूप होने के हेतु एक ही होगा तब तो उसी को सकल पदार्थोपस्थापकता मानने के कारण घट पदोच्चारण के अनन्तर पटादि की उपस्थिति क्यों नहीं होगी। तो इसका समाधान यह है कि पद स्फोट का अभिव्यञ्जक है और पद से अभिव्यक्त होकर स्फोट अर्थ का उपस्थापक होता है अतः घट पद से अभिव्यज्यमान है और पद से अभिव्यक्त होकर स्फोट अर्थ का उपस्थापक होता है अतः घट पद से अभिव्यज्यमान स्फोट में घटोपस्थापकता एवं पट पद से अभिव्यज्यमान स्फोट में पटोपस्थापकता मानते हैं अतः उक्त दोष नहीं होगा। एवं पद से अभिव्यज्यमान स्फोट पद स्फोट शब्द से, और वाक्य से अभिव्यज्मान स्फोट वाक्य स्फोट शब्द से कहा जाता है। इस मत का खण्डन नैयायिक इस प्रकार करते हैं कि आपके कथनानुसार पूर्वापरी भावापन्न तत्तद्वर्ण समुदायात्मक पद को किसी एक क्षण में नहीं रहने के कारण स्फोट का अभिव्यञ्जकत्व किस प्रकार होगा? यदि आप कहें कि अभिव्यञ्जकत्व अभिव्यञ्जक ज्ञान विषयत्व रूप है अतः पद घटक तत्तद्वर्णानुभवजन्य संस्कार सहित चरमवर्णज्ञानरूप उद्बोधक से जन्य जो पदघटक तावद्वर्ण विषयक समूहालम्वन स्मरण रूप अभिव्यञ्जक ज्ञान तद् विषयत्वात्मक स्फोटाभिव्यञ्जकत्व पूर्वापरी भावापन्न वर्ण समुदाय रूप पद में हो सकता है तो इसी प्रकार मैं भी कहूँगा कि पद में अर्थोपस्थापकत्व अर्थोपस्थापक ज्ञान विषयत्व रूप है और उक्त रीति से अर्थोपस्थापक उक्त समूहालम्बन स्मरण विषयत्व पद में रह सकता है तब अर्थोपस्थित्यर्थ स्फोट की कल्पना व्यर्थ है।

(१७) इदंतु बोध्यम्। यत्र द्वारमित्युक्तं तत्र पिधेहीति पदस्य ज्ञानादेव बोधो नतु पिधानादिस्यार्थज्ञानात्, (१८) पदजन्य पदार्थोपस्थितेस्तत्तच्छाब्दबोधे हेतुत्वात्। (१९) किंच क्रियाकर्म पदानांतेनतेनैवसह साकांक्षत्वात् (२०) तेन क्रियापदं विना कथं शाब्दबोधः स्यात्।

(१७, १८) "इदं तु बोध्यम्" इत्यादि ग्रन्थ से प्रभाकर के मतका नैयायिक खण्डन करते हैं। प्रभाकर का मत है कि तत्पदार्थ विषयक शाब्द बोध के प्रति पदजन्य तत्पदार्थोपस्थितित्वेन कारणता मानने में गौरव है। अतः लाघवात् केवल तत्पदार्थोपस्थितित्वे नैव कारणता मानना उचित है तब वाक्यघटक एक पद का ज्ञान जहाँ नहीं है वहाँ तत्पद स्मरणात्मक तत्पदाध्याहार की कल्पना करके तत्पदार्थ स्मृतिद्वारा शाब्दबोध मानने में गौरव होगा। अतः तत्पदार्थ स्मरणात्मक तत्पदार्थाध्याहार ही की कल्पना समुचित है। इसका खण्डन नैयायिक इस प्रकार करते हैं कि यदि तद्विषयक शाब्दबोध के प्रति केवल तत्पदार्थ विषयक उपस्थितित्वेनैव कारणता मानेंगे तो जहाँ कोकिल रूप अर्थ में पिक पद की शक्ति का ज्ञान नहीं है और पिको रौति इत्याकारक पद ज्ञान है एवं कोकिल का प्रत्यक्ष है। वहाँ पिक पद से कोकिल का शाब्दबोध नहीं होता है। लेकिन अब प्रत्यक्षात्मक पिक पदार्थ की उपस्थिति और पिक पद ज्ञानादि रूप शाब्दबोध की सामग्री को रहने के कारण क्यों नहीं होगा? इस आपत्ति के भय से गौरव रहने पर भी पदजन्य पदार्थोपस्थितित्वेनैव शाब्दबोध के प्रति कारणता मानना उचित है। अतः जहाँ पर "द्वारम्" इतना ही कहा गया है किन्तु "पिधेहि" पद का उच्चारण नहीं किया गया है वहाँ यदि "पिधेहि" रूप पदाध्याहार की कल्पना नहीं करके पिधानादि रूप अर्थाध्याहार की कल्पना की जाय तो तद्विषयक शाब्दबोध के प्रति पद जन्य तत्पदार्थोपस्थिति रूप कारण नहीं रहने के हेतु शाब्दबोध नहीं होगा। (१९, २०) पदाध्याहार में एक और भी युक्ति है कि क्रिया और कर्म वाचक पद में परस्पर आकांक्षा रहती है और आकांक्षाज्ञान शाब्दबोध में कारण है तब यदि "पिधेहि" रूप क्रिया पद का अध्याहार नहीं करेंगे तो आकांक्षा ज्ञान नहीं रहने के कारण शाब्दबोध कैसे होगा।

(२१) तथा पुष्पेभ्य इत्यादौस्पृहयतीति पदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेः पदाध्याहार आवश्यकः।

(२१) एवं जहाँ "पुष्पेभ्यः" इतना ही कहा गया है किन्तु स्पृहयति पद का उच्चारण नहीं किया गया है वहाँ यदि "स्पृहयति" पद का

अध्याहार नहीं माना जायगा तो स्पृह धातु के योग नहीं रहने के कारण "स्पृहरीप्सित:" इस पणिनीय सूत्रसे पुष्प पदोत्तर चतुर्थी विभक्ति नहीं होगी। एतदर्थ भी पद का अध्याहार आवश्यक है।

योग्यतां निर्वक्ति, पदार्थ इत्यादिना–

पदार्थ इत्यादि कारिका से योग्यता का निरूपण करते हैं।

का० ८३ उत्त०

पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता॥

का० अर्थ।

प्रकृत वाक्य घटक एक पदार्थ में अपर पदार्थ के सम्बन्ध को योग्यता कहते हैं।

(१) एकपदार्थेऽपपदार्थ सम्बन्धो योग्यतेत्यर्थ:। तज्ज्ञानाभावाच्च 'वह्निना सिञ्चति, इत्यादौ न शाब्दबोध:।

(१) सिञ्चन में वह्नि करणत्व रूप तृतीयान्तार्थ का निरूपकत्व सम्बन्ध नहीं रहने के कारण षिच् धात्वर्थ में वह्नि करणत्व की योग्यता नहीं है किन्तु जल ही से सिञ्चन होने के कारण षिच् धात्वर्थ में जल करणत्व ही की योग्यता रहेगी अत: "वह्निना सिञ्चति" इत्यादि स्थल में उक्त योग्यता ज्ञान के नहीं रहने के कारण शाब्दबोध नहीं होता है।

(२) नन्वेतस्या योग्यताया ज्ञानं शाब्दबोधात्प्राक् सर्वत्र न सम्भवति वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेन्न तत्तत्पदार्थस्मरणे सति क्वचित्संशयरूपस्य क्वचिन्निश्चयरूपस्यापि योग्यताया ज्ञानस्य सम्भवात्।

(२) शङ्का–शाब्दबोध से पूर्व वाक्यार्थ को अनिश्चित रहने के कारण एक पदार्थ में अपर पदार्थ सम्बन्ध रूप योग्यता का ज्ञान नियमत: शाब्दबोध से पूर्व नहीं रहेगा तब वह कारण किस प्रकार हो सकता है? समा० बुबोधयिषया वाक्योच्चारण में वाक्यार्थ ज्ञान कारण है अत:

वाक्यार्थ ज्ञान के बिना बुबोधयिषा से वाक्य प्रयोग नहीं हो सकता है इसलिये वाक्य प्रयोग कारणी भूत प्रत्यक्षादि रूप वाक्यार्थ ज्ञान शाब्दबोध से पूर्व वक्ता को अवश्य रहेगा। श्रोता को भी वाक्य घटक तत्तत पदार्थ का स्मरण होने पर किसी स्थल में संशयात्मक और किसी स्थल में निश्चयात्मक योग्यता ज्ञान को शाब्दबोध से पूर्व होने में कोई बाधा नहीं है।

(३) नव्यास्तु योग्यताया ज्ञानं न शाब्दज्ञाने कारणम् वह्निना सिञ्चति इत्यादौ सेके वह्निकरणकत्वाभाव रूपाऽयोग्यता निश्चयेन प्रतिबन्धान्न शाब्दबोधः। (४) तदभावनिश्चयस्य लौकिक सन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्य ज्ञानमात्रे प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दबोध प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वं सिद्धम्। (५) योग्यता ज्ञानविलम्वाच्च शाब्दबोध विलम्वोऽसिद्ध इति वदन्ति॥

(३) नवीन आचार्य शाब्दबोध के प्रति योग्यता ज्ञान को कारण नहीं मानते वे कहते हैं कि "वह्निना सिञ्चति" इत्यादि स्थल में सिञ्चन में वह्नि करणकत्वाभाव रूप अयोग्यता का निश्चय अर्थात् वह्नि से सिश्चन नहीं हो सकता है ऐसा निश्चय प्रतिबन्धक है अतः उक्त वाक्य से वह्नि करणक सेक विषयक शाब्दबोध नहीं होगा। (४) क्योंकि "लौकिक सन्निकर्षाजन्य दोषविशेषा जन्य अनाहार्य तत्प्रकारक ज्ञान मात्र के प्रति अनाहार्य और अप्रामाण्य ज्ञानानास्कन्दित तदभाव प्रकारक निश्चय प्रतिबन्धक है। अतः वह्निकरणकत्वाभाव प्रकारक सेक विशेष्यक निश्चय रहने से वह्निकरणकत्व प्रकारक सेक विशेष्यक शाब्द बोध की उत्पत्ति नहीं हो सकता है तब योग्यता ज्ञान को कारणत्व मानना व्यर्थ है। (५) यदि आप कहें कि कारण विलम्ब से कार्य का विलम्ब अनुभव सिद्ध है तब शाब्दबोध के प्रति योग्यता ज्ञान को कारणत्व नहीं मानें तो योग्यता ज्ञान के विलम्ब से शाब्दबोध का विलम्ब किस प्रकार होगा? इसका उत्तर मूल में देते हैं कि योग्यता ज्ञान के विलम्ब से शाब्दबोध में विलम्ब होता ही नहीं है।

का० ८४

आकांक्षां निर्वक्ति, यत्पदेनेत्यादि-

यत्पदेन इत्यादि कारिका से आकांक्षा का निरूपण करते हैं-

यत्पदेन विनायस्याननुभावकता भवेत्।
आकांक्षा वक्तुरिच्छातु तात्पर्यं परिकीर्तितम्॥

का० अर्थ।

जिस पदके बिना जिस पद में यादृश शाब्दबोधजनकत्व नहीं होता है तत्पद सहित तत्पद में तादृश शाब्दबाधानुकूल आकांक्षा रहती है। और वक्ता की इच्छा तात्पर्य है।

(१) येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्या कांक्षेत्यर्थः। (२) क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकांक्षा

(१) इसका अर्थ कारिकार्थ में स्पष्ट है। (२) जैसे "आनयेत्यादि" क्रिया पदके बिना "घटम्" इत्यादि कारक पद घट कर्मक आनयन विषयक शाब्द बोधका उत्पादक नहीं होता है अतः "आनय" पद सहित "घटम्" इस पद में तादृश शाब्दबोधानुकूल आकांक्षा मानी जाती है।

(३) वस्तुतस्तु क्रियाकारकपदानां सन्निधानमासत्त्या चरितार्थम्। (४) परन्तु घटकमताबोधं प्रति घटपदोत्तर द्वितीया रूपा कांक्षा ज्ञानं कारणम्। तेन घटः कर्मत्व मानयनं कृति रित्यादौ न शाब्दबोधः।

(३) वास्तविक विचार करें तो क्रिया वाचक आनयेत्यादि पद और कर्म वाचक घटमित्यादि पद ये दोनों जहाँ नहीं हैं अर्थात् इन दोनों में एक मात्र है वहाँ पदों का सन्निधान रूप आसत्ति नहीं रहने के कारण आसत्ति ज्ञान के अभाव से शाब्दबोध का नहीं होना उपपन्न हो जायगा फिर आकांक्षा ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारणत्व मानना व्यर्थ है। (४) इसका उत्तर "परन्तु" इत्यादि ग्रन्थ से कहते हैं कि यदि शाब्दबोध के

प्रति आकांक्षा ज्ञान को कारणता नहीं माना जाय तो "घट: कर्मत्वम् आनयनं कृति:" इस वाक्य स्थल में घट कर्मत्व आनयन और कृति वाचक उक्त घटादि पदों की परस्पर आसत्ति रहने के कारण आसत्ति ज्ञान और योग्यता ज्ञानादि रूप शाब्दबोध की सामग्री को रहने के कारण "घटनिष्ठकर्मता निरूपकानयनम् कार्यम्" इत्याकारक शाब्दबोध की आपत्ति होगी और आकांक्षा ज्ञान को कारणत्व मानने से घटमानय इत्याकारक "घटपदोत्तर द्वितीयात्व एवं आङ् पूर्वक णीञ् धातूत्तर लोडा देशाख्यातत्व" रूप आकांक्षा के ज्ञान का उक्त स्थल में नहीं रहने के कारण शाब्दबोध की आपत्ति नहीं होगी।

(५) 'अयमेति पुत्रीराज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इत्यादौ तु पुत्रेण सहराज पदस्य तात्पर्यग्रहसत्त्वात्तेनैव सहान्वयबोध। पुरुषेण सह तात्पर्यग्रहे तु तेन सहान्वयबोधः स्यादेव।

(५) "अयमेति पुत्रीराज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस स्थल में राज पदको जब पुत्र और पुरुष इन दोनों पदों के साथ आकांक्षा है तब उक्त वाक्य से कहीं "राज्ञः पुत्रः एति पुरुषोऽपसार्यताम्" इत्याकारक और कही "राज्ञः पुरुषः एति पुत्रोऽपसार्यताम्" इत्याकारक जो वैकल्पिक शाब्दबोध होता है वह युक्त नहीं है अर्थात् सर्वत्र "राज्ञः पुत्रः एति" और राज्ञः पुरुषः एति" ऐसा दोनों तरह का शाब्दबोध क्यों नहीं होगा। इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि उक्त वाक्यस्थल में राजपद का जहाँ पुत्र के साथ तात्पर्य्यज्ञान रहता है वहाँ "राज्ञः पुत्रः एति पुरुषोऽपसार्यताम्" एवं जहाँ पुरुष के साथ तात्पर्य ज्ञान रहता है वहाँ "राज्ञः पुरुषः एति पुत्रोऽपसार्यताम्" इत्याकारक शाब्दबोध होता है। कहने का सारांश यह है कि उक्त वाक्यस्थल में उभयाकारक बोधानुकूल आकांक्षा ज्ञान रहने पर भी जहाँ यादृश बोधानुकूल तात्पर्य ज्ञान रहता है वहाँ तादृश ही शाब्दबोध होता है।

(६) तात्पर्यं निर्वक्ति, वक्तुरिच्छेति।

(६) वक्तुरिच्छेत्यादि कारिका से तात्पर्य का स्वरूप बतलाते हैं।

(७) यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात्तदा 'सैन्धवमानय' इत्यादौ क्वचिदश्वस्य क्वचिल्लवणस्य बोधो न स्यात्। (८) न च तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनामेव शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम् तेषामननुगमात्।

(७) यदि शाब्दबोध में तात्पर्य्यज्ञान का कारण न माना जाय तो 'सैन्धवमानय' इस वाक्य से यात्रा प्रकरण में अश्व ही का बोध होता है लवणका नहीं। एवं भोजन प्रकरण में लवणही का बोध होता है अश्व का नहीं। यह नियम नहीं हो सकेगा और तात्पर्य ज्ञान को कारण मानने पर यात्रा प्रकरण से सैन्धव पद का अश्व ही में तात्पर्य गृहीत होता है। अतः अश्वही का शाब्दबोध होगा। एवं भोजन प्रकरण से उक्त पदका लवणही में तात्पर्य गृहीत होता है। अतः लवण ही का शाब्दबोध होगा यह नियम उपपन्न होता है। (८) शङ्का—शाब्दबोध कारणीभूत तात्पर्यज्ञान में कारणत्व मानें तो क्या हानि? समा०—प्रकरण अनन्त प्रकार के हैं और सकल प्रकार साधारण अनुगत धर्म कोई नहीं है अतः अतिप्रसङ्गाद्यनापादक रूप कारणतावच्छेदक नहीं मिलने के कारण प्रकरण में शाब्दबोध जनकत्व नहीं मान सकते हैं।

(९) तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात्कारणमस्तु। (१०) इत्थं च वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते।

(९) यदि आप कहें कि तात्पर्य ज्ञान जनकत्व को प्रकरण मात्र में रहने के कारण अति प्रसङ्गाद्यनापादक तात्पर्य ज्ञान जनकत्व रूप से प्रकरण में शाब्दबोध का जनकत्व क्यों नहीं होगा तो इसके समाधान में हम यह कह सकते हैं कि तात्पर्य ज्ञानत्वापेक्षया तात्पर्य ज्ञान जनकत्व गुरु धर्म है अतः गौरव के भय से तात्पर्य ज्ञान जनकत्व रूप से कारणत्व नहीं मान सकते हैं किन्तु लाघवात् तात्पर्य ज्ञानत्व रूप ही से तात्पर्यज्ञान को कारणत्व है। (१०) शाब्दबोध सामान्य के प्रति तात्पर्यज्ञान में कारणत्व सिद्ध होने पर वेद वाक्य स्थल में शाब्दबोधजनक ज्ञान विषय

तात्पर्याश्रयत्वेन ईश्वर की कल्पना की जाती है यदि ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान कारण नहीं होता तो तात्पर्य ज्ञान के बिना शाब्दबोध होने से व्यभिचार हो जायगा।

(११) न च तत्राध्यापक तात्पर्य ज्ञानं कारणमिति वाच्यम्। सर्गादावध्यापकाभावात्। (१२) न च प्रलय एव नास्तीति कुतः सर्गादिरिति वाच्यम्। प्रलयस्यागमेषु प्रतिपाद्यत्वात्।

(११) शङ्का-- वेद वाक्याधीन शाब्द बोध में यदि अध्यापक के तात्पर्य ज्ञान ही को कारणत्व माने तो क्या हानि? समा०-सृष्टि के पूर्वक्षण में अध्यापक को नहीं रहने के कारण अध्यापकनिष्ठ तात्पर्य के ज्ञान से सृष्ट्यादि काल में वेद वाक्याधीन शाब्द बोध नहीं हो सकेगा अतः ईश्वर की कल्पना आवश्यक है। (१२) यहाँ यदि आप कहें कि प्रलय ही नहीं होता है फिर सृष्ट्यादि किस प्रकार होगा। और सृष्टि का आरम्भ असिद्ध होने पर अध्यापक तात्पर्य ज्ञान को कारण मानने से भी कोई हानि नहीं है यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि प्रलय "नाहो न रात्रिर्नभोन भूमिर्नासीत्तमोज्योतिरभून्न चान्यत्" इत्यादि वेद वाक्य से सिद्ध है।

(१३) इत्थं च शुकवाक्येऽपीश्वरीयतात्पर्यज्ञानं कारणम्।

(१४) विसंबादिशुकवाक्येतु शिक्षयितुरेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्।

(१३) शाब्द बोध सामान्य के प्रति तात्पर्य ज्ञान में कारणत्व सिद्ध होने पर शुकादि वाक्याधीन प्रमात्मक शाब्द बोध में व्यभिचार वारणार्थ ईश्वरीय तात्पर्य ज्ञान ही में कारणत्व मानते हैं।

(१४) और ईश्वरेच्छा में विसम्बादित्व के भय से शुकवाक्याधीन भ्रमात्मक शाब्द बोध में ईश्वरीय तात्पर्य ज्ञान को कारणत्व नहीं मानकर उक्त शाब्द बोध में शुक शिक्षक पुरुष के तात्पर्य ज्ञान ही को कारणत्वं मानना युक्त है।

(१५) अन्येतु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्, तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः।

(१६) वेदेत्वनादि मीमांसापरिशोधिततर्कैरेवार्थावधारणमित्याहु:॥

(१५) कितने आचार्यों का मत है कि शाब्द बोध सामान्य के प्रति तात्पर्य ज्ञान कारण नहीं है किन्तु नानार्थक शब्द स्थल ही में तात्पर्य ज्ञान के बिना होने पर भी उक्त कार्यकारणभाव में व्यभिचार का प्रसङ्ग नहीं है।

(१६) एवं "कपिञ्जलान् आलभेत" इत्यादि वेद वाक्यस्थल में महर्षियों के अनादि (पारम्परिक) लाघवज्ञानात्मक तर्क से सहकृत अनुमान के द्वारा कपिञ्जल पदोत्तर बहुवचन का अर्थत्व प्रथमोपस्थित त्रित्व ही में निश्चित होता है इस कारण कपिञ्जलत्रयालम्भ ही उक्त वेद का अर्थ है। ऐसा अवधारण किया जाता है।

॥ इति श्रीचन्द्रधारिसिंहशर्मविरचितायांचन्द्रिकाटीकायां शब्दपरिच्छेद: समाप्त:॥

अथ स्मृतिप्रक्रिया

(१) पूर्वमनुभवस्मरणभेदाद्बुद्धेर्द्वैविध्यमुक्तम्।

(२) तत्रानुभवप्रकारा दर्शिता: सुगमतया स्मरणं न दर्शितम्।

(१) पहले बुद्धि के दो प्रभेद अनुभव और स्मरण कहे गये हैं।

(२) ज्ञानान्तर्गत अनुभव के प्रभेद दिखलाये गये किन्तु स्मरण का विचार सुलभ होने के कारण पहले नहीं दिखलाया गया है।

(३) तत्रहि पूर्वानुभव: कारणम्

(४) अत्र केचित्। अनुभवत्वेन न कारणत्वं किन्तु ज्ञानत्वेनैव

(५) अन्यथा सकृदनुभवस्थले स्मरणानन्तरं स्मरणं न स्यात्।

(६) समानप्रकारकस्मरणेन पूर्वसंस्कारस्य विनष्टत्वात्।

(७) मन्मतेतु तेनैव स्मरणेन संस्कारान्तरद्वारा स्मरणान्तरं जन्यते इत्याहु:।

(३) स्मरणके प्रति पूर्वानुभव कारण होता है।

(४) इस विचार पर किसी का ऐसा भी मत है कि स्मरण के प्रति अनुभव मात्र कारण नहीं है किन्तु ज्ञान कारण है।

(५) अगर स्मरण के प्रति ज्ञानत्वेन कारणता न स्वीकार करें तो जहाँ पर एक ही वार अनुभव हुआ है वहाँ पर स्मरण होने के बाद फिर स्मरण नहीं होगा।

(६) क्योंकि नियम हैं कि समान प्रकारक स्मरण से पूर्व संस्कार का नाश होता है।

(७) अब हमारे मत में पूर्व संस्कार के नाश करने वाले प्रथम ही स्मरण से अन्य संस्कार द्वारा दूसरा स्मरण उत्पन्न होता है।

(८) तन्न यत्र समूहालम्बनोत्तरं घटपटादीनां क्रस्मरणमजनिष्ट, सकलविषयक स्मरणं तु नाभूत्तत्र फलस्य संस्कारनाशकत्वा-भावात्कालस्य रोगस्य चरमफलस्य वा संस्कारनाशकत्वं वाच्यम्।

(९) तथा न क्रमिक स्मरणानुपपत्तिः।

[१](८) ऐसा कहना युक्त नहीं है। क्योंकि जहाँ घट पट विषयक समूहालम्बन रूप अनुभव के बाद घटपटादि का क्रमिक (पहले घट का तव पटादि का) स्मरण हुआ है। अर्थात् सकल विषय का स्मरण समान काल में नहीं हुआ है वहाँ घट के मरण रूप फल को संस्कार नाश के प्रति हेतुता नहीं हो सकती है कारण यह है कि घट के स्मरणरूप फल से समूहालम्बन संस्कार का नाश हो जाने पर पटादि का स्मरण नहीं हो

---

१. स्मरण के प्रति प्राचीन आचार्य ज्ञानत्वेन हेतुता मानते हैं जैसे पहले ज्ञान (स्मरण वा अनुभव) तब दूसरे क्षण में संस्कार उसके बाद समायनुसार उद्बोधक द्वारा स्मरण तब पूर्व संस्कार का नाश और सजातीय दूसरे संस्कार की उत्पत्ति पुनः कालान्तर में उद्बोधक द्वारा स्मरण तब पूर्व संस्कार का नाश (इत्यादि) स्मरण के प्रति अर्वाचीन लोग अनुभवत्वेन हेतुता मानते हैं, जैसे पहले अनुभव तब संस्कार उसके बाद उद्बोधक द्वारा स्मरण और वह पूर्व संस्कार ही भविष्यत् तत्तत् सब स्मरण के प्रति कारण होता है।

सकेगा, किन्तु पटादि का स्मरण होता है इसलिये संस्कार नाश के प्रति-काल, रोग विशेष या चरम स्मरण को हेतु मानना होगा ना कि आन्तरालिक स्मरण को।

(९) इसलिये क्रमिक स्मरण की अनुपपत्ति नहीं होगी।

(१०) न च पुनः पुनः स्मरणात् दृढतर संस्कारानुपपत्तिरिति वाच्यं,

(११) झटित्युद्बोधक समवधानस्य दार्ढ्यपदार्थत्वात्।

(१०) शंका - अनुभवत्वेन कारणतावादी के मत में स्मरण को संस्कारानुत्पादकत्व मानने के कारण प्रथम स्मरण से साधारण, द्वितीय से दृढ, तृतीय से दृढतर, और चतुर्थ से दृढ़तम संस्कार की उत्पत्ति जो प्रतिपादित है वह नहीं हो सकती।

(११) समा०-दृढ़, दृढ़तर, दृढ़तम, संस्कार नहीं होता किन्तु (पुनः पुनः स्मरण से) शीघ्र, शीघ्रतर, शीघ्रतम, उद्बोधक का समवधान होता है और उसी को दार्ढ्य पदार्थ कहते हैं।

(१२) न च विनिगमनाविरहादेव ज्ञानत्वेनापि जनकत्वं स्यादिति वाच्यं, विशेषधर्मेण व्यभिचारज्ञाने सामान्यधर्मेणान्यथासिद्धत्वात्।

(१२) शंका - संस्कार के प्रति अनुभवत्व रूप ही से कारणता है इसमें कुछ विशेष प्रमाण नहीं रहने के कारण ज्ञानत्व रूप से भी संस्कार के प्रति कारणत्व मानना ही पड़ेगा। समा० - यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि नियम है कि विशेष धर्म रूप से कारणता स्वीकार करने में अगर व्यभिचार ज्ञान न हो तो सामान्यरूप से कारणता मानने पर अन्यथासिद्धि हो जाती है।

(१३) कथमन्यथा दण्डस्य द्रव्यत्वेन रूपेण न कारणत्वम्

(१३) अगर ऐसा नहीं होता तो भ्रमि द्वारा घट के प्रति दण्डत्व रूप ही से दण्ड में कारणता है और द्रव्यत्व रूप से नहीं है। ऐसा नहीं माना जा सकता था। अर्थात् द्रव्यत्व रूप से भी कारणता हो जाती।

(१४) न चान्तरालिकस्मरणानां संस्कारनाशकत्वसंशयाद्व्यभिचारसंशय इति वाच्यम्। अनन्तसंस्कार तन्नाशकल्पनापेक्षयालाघवेन चरमस्मरणस्यैव संस्कारनाशकत्व कल्पनेन व्यभिचारसंशयाभावात्। इति स्मृति प्रक्रिया।

(१४) शङ्का - यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि संस्कार के प्रति अनुभवत्व रूप से कारणता मानने में आन्तरालिक स्मरणों को संस्कार नाशकत्व के संशय रहने से व्यभिचार का सन्देह हो जायगा। अतः अनुभवत्वेन कारणता नहीं हो सकती। समा० - क्योंकि ज्ञानत्व रूप से कारणता मानने वाले के मत में अनन्त संस्कार और उनके नाश की कल्पना करनी पड़ेगी उसकी अपेक्षा स्मरण ही में संस्कार नाशकत्व की कल्पना करने में लाघव है अतः व्यभिचार शङ्का नहीं हो सकती।

० इति स्मृतिप्रक्रिया ०

इदानीं क्रमप्राप्तं मनो निरूपयितुमाह =

अव क्रम प्राप्त होने से मन का निरूपण करने के लिये उपपादन करते हैं।

का० ८५

साक्षात्कारे सुखादीना करणं मन उच्यते।
अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते।।

का० अर्थ

[१]सुखादि प्रत्यक्ष के प्रति मन करण कहा जाता है। एक काल में अनेक इद्रियों से नाना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये वह अणु

१. विषय को इन्द्रिय के साथ इन्द्रिय को मन के साथ और मन को आत्मा के साथ युगपत् सम्बन्ध हो जाने के बाद तत्तत् विषय का प्रत्यक्ष होता है। कहने का सारांश यह है कि अगर मन का महत्परिमाण हो तो एक ही समय अनेक इन्द्रियों के साथ उसका संयोग हो सकता है तब चाक्षुष श्रावणादि प्रत्यक्ष एक ही काल में हो जाय लेकिन ऐसा कथमपि नहीं होता है इसलिए मन का अणु परिमाण माना जाता है।

माना जाता है।

(१) एतेन मनसि प्रमाणं दर्शितम्। (२) तथाहि सुख-साक्षात्कारः सकरणको जन्यसाक्षात्कारणत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवत्। (३) इत्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः।

(१) "साक्षात्कारे" इत्यादि कारिका से मनम प्रमाण दिखलाया गया। (२) क्योंकि सुखका साक्षात्कार जन्य साक्षात्कार होने के कारण चाक्षुष साक्षात्कार के समान सकरणक है। (३) इस अनुमान से सुखसाक्षात्कार में सकरणकत्वसिद्ध होने पर वाह्येन्द्रिय करणकत्व की सम्भावना नहीं रहने के कारण मनः करणकत्व की सिद्धि होती है।

(४) न चैवं दुःखादिसाक्षात्काराणामपि करणान्तराणि स्युरिति वाच्यं, लाघवादेकस्यैव तादृश सकलसाक्षात्कार करणतया सिद्धेः। (५) एवं सुखादीनामसमवायिकारण संयोगाश्रयतया मनसः सिद्धिर्बोद्धव्या।

(४) अगर कहें कि सुखसाक्षात्कार का करण जैसे मन माना गया उसी प्रकार दुःखादि के साक्षात्कार का भी कोई करण मानना चाहिये तो उसका उत्तर यह कहा जायगा कि लाघव के वजह सुखसाक्षात्कार के करण रूप से सिद्ध जो मन उसी को दुःख साक्षात्कार का भी करण मानते हैं। अन्य को करण मानने पर गौरव होगा। (५) इसी रीति से सुख दुःख का असमवायि कारण जो आत्ममनः संयोग उस संयोग के आश्रय रूप से भी मनकी सिद्धि होती है (यह जानना चाहिये)।

(६) तत्र मनतोऽत्णुत्वे प्रमाणमाह। अयौगपद्यादिति। (७) ज्ञानानां चाक्षुषरासनादीनामयौगपद्यमेककालोत्पत्तिर्नास्तीत्यनुभवसिद्धम्। (८) तत्र नानेद्रियाणां सत्यपि विषयसंनिधाने यत्संबन्धादेकेनेन्द्रियेण-ज्ञानमुत्पद्यते यदसंबन्धाच्च परैर्ज्ञानं नोत्पद्यते तन्मनसो विभुत्वे चासन्निधानं न संभवतीति न विभु मनः।

(६) अयौग पद्यात् इत्यादि कारिका से मन अणु है इसमें प्रमाण कहते हैं। (७) चाक्षुष रासनादि ज्ञानों की एक काल में उत्पत्ति नहीं होती है, यह अनुभव सिद्ध है। (८) उस स्थल में नाना इन्द्रियों के अपने

अपने विषयों से सम्बन्ध रहने पर भी जिस (मन) के सम्बन्ध से एक ही इन्द्रिय से ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसके असम्बन्ध से दूसरे से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है वह (मन) अगर विभु हो तो किसी से असम्बन्ध नहीं होगा, किन्तु असम्बन्ध होता है इसलिये मन विभु नहीं है। याने अणु है।

(९) न च तदानीमदृष्टविशेषोद्बोधक विलम्बादेव तज्ज्ञानविलम्ब इतिवाच्यं, तथा सति चक्षुरादीनामप्यकल्पनापत्तेः।

(९) शङ्काः - कार्यमात्र के प्रति केवल अदृष्ट कारण नहीं है किन्तु उद्बुद्ध अदृष्ट कारण है अतः जिस इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान के अनुकूल अदृष्ट का उद्बोधक विलम्ब से सम्बलित होता है उस इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान में विलम्ब और जिस इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान के अनुकूल अदृष्ट का उद्बोधक शीघ्र सम्बलित होता है उस इन्द्रिय से जन्य ज्ञान में अविलम्ब होता है। ऐसा मानने से नाना इन्द्रिय से होने वाले ज्ञानों में क्रमिकत्व सिद्ध हो ही जाता है। फिर इसके लिए मन में अणुत्व मानना व्यर्थ है। समा॰ - दृष्ट सामग्री रहते हुए भी अदृष्ट के विलम्ब ही से कार्य का विलम्ब माना जाए तो चाक्षुषादि प्रत्यक्ष के प्रति भी चक्षुरादि इन्द्रियों को कारणत्व मानना व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि जिस पुरुष को चक्षु नहीं है। उसमें चाक्षुष प्रत्यक्षानुकूल उद्बुद्ध उदृष्ट की कल्पना नहीं करते हैं एवं जिसको चक्षु है उसमें चाक्षुष प्रत्यक्षानुकूल उद्बुद्ध उदृष्ट की कल्पना करते हैं। इसी से चाक्षुष प्रत्यक्ष का अनुत्पाद और उत्पाद सिद्ध हो जाएगा। फिर उसके लिये चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षु को कारणत्व मानना व्यर्थ हो जाएगा।

(१०) **न च दीर्घशष्कुली भक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदा नानेन्द्रियजन्यज्ञानमिति वाच्यं, मनसोऽति लाघवात्त्वरया नानेन्द्रिय-संबन्धान्नाना ज्ञानोत्पत्तेः।** (११) **उत्पल शतपत्र भेदादिवद्यौगपद्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्।**

(१०) **अणुवादी के ऊपर पूर्व पक्ष** - अगर कहें कि बड़ी रोटी खाते हुए एवं अनेक अवधान करते हुए मनष्यों को एक ही समय में

किस प्रकार अनेक इन्द्रियों से अनेक ज्ञान होते हैं? समा०: - मन बहुत छोटा है इसलिये अत्यन्त शीघ्र नाना इन्द्रियों से सम्बन्ध द्वारा नाना ज्ञान की उत्पत्ति होती है। (११) जैसे आधाराधेय भाव कम से स्थित कमल के १०० पत्तों का छेदन करने में भ्रम होता है कि एक ही मरतवे सब पत्तों का छेदन हुआ है किन्तु वास्तविक रूप से तो वह क्रमशः होता है। वैसे ही अनेक अवधानियों को भी ज्ञान की उत्पत्ति क्रमशः होती है किन्तु युगपत् नहीं होती। युगपत् होने का ज्ञान भ्रममात्र है। (१२) अगर मन में संकोच विकाश मानकर अनेक इन्द्रियों से होने वाले नाना ज्ञानों में यौग पद्य और अयौगपद्य इन दोनों की उपपत्ति का साधन करें तो मन का नाना अवयव और उसके नाश तथा प्रागभावादि की कल्पना करने में गौरव होगा इसलिये निरवयव और अणुरूप मन की कल्पना ही में लाघव है।

० इति द्रव्यपदार्थो व्याख्यात: ०

द्रव्यं निरूप्य गुणा न्निरूपयति

द्रव्यका निरूपण करके गुणो का निरूपण करते हैं।

का० ८६ पूर्वा०

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः

का० अर्थ

गुण, द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं किन्तु गुण में, गुण और क्रिया नहीं रहती है ऐसा जानना चाहिये।

(१) गुणत्वजातौ किं मानमिति चेत्-इदम्। (२) द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना निरवच्छिन्न-कारणताया असम्भवात्। (३) नहि रूपत्वादिकं सत्ता वा तत्रावच्छेदिका न्यूनातिरिक्त देशवृत्तित्वात्। (४) अतश्चतुर्विंशत्यनुगतं किंचिद्वाच्यं तदेव गुणत्वमिति सिद्धम्।

(१) सकल गुणों में रहने वाली गुणत्व नामक एक जाति है इसमें

प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कह सकते हैं। क्योंकि गुरुत्वादि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण उनमें गुणत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता अतः सकल गुणों में एक गुणत्व नामक जाति है इसमें क्या प्रमाण होगा? इसका समाधान कहते हैं कि इसमें अनुमान प्रमाण है जैसे (२) दण्ड में रहने वाली घट की कारणता दण्डत्वरूप धर्म से अवच्छिन्ना ही होती है किन्तु निरवच्छिन्ना नहीं होती वैसे द्रव्य कर्म से भिन्न जो सामान्याश्रय उसमें रहने वाली जो कारणता वह भी किसी धर्म से अवच्छिन्ना अवश्य होगी क्योंकि कारणता निरवच्छिन्ना नहीं होती। (३) रूपत्व या सत्तारूप धर्म से अवच्छिन्ना नहीं हो सकती क्योंकि रूपत्व उस कारणता का न्यूनदेशवृत्ति एवं सत्ता अधिक देश वृत्ति है और कारणत्वादि का अवच्छेदक वही धर्म होता है जो उसका अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति हो। (४) अतः चौबीस गुणों में रहने वाले किसी ऐसे एक धर्म को मानना होगा जिस धर्म से चतुर्विंशति गुणों में रहने वाली वह कारणता अवच्छिन्ना होगी। और उसी अनुगत धर्म को गुणत्व कहते हैं।

(५) (द्रव्याश्रिता इति) यद्यपि द्रव्याश्रितत्वं न लक्षणं कर्मादावतिव्याप्तेस्तथापि द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदक सत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः। (६) भवति हि गुणत्वं द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं तद्वत्ता च गुणानामिति।

(५) यद्यपि द्रव्याश्रितत्व गुण का लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि जन्यद्रव्य, कर्म और जाति में अतिव्याप्ति हो जायगी तो भी द्रव्यत्व का व्यापक तावच्छेदक और सत्ता से भिन्न जो जाति उसका आश्रयत्व गुण का लक्षण हो सकता है। (६) द्रव्यत्व का व्यापकता वच्छेदक और सत्ता से भिन्न जाति गुणत्व है, उसकी आश्रता गुण में रहने के कारण लक्षण समन्वय होता है।

(७) द्रव्यत्वं कर्मत्व वा न द्रव्यत्वं व्यापकतावच्छेदकं गगनादौ द्रव्यकर्मणोरभावात्। (८) द्रव्यत्वत्वं सामान्यत्वादिकं न जातिरिति तद्व्युदासः।

(७) द्रव्यत्व या कर्मत्व द्रव्यत्त्व का व्यापकतावच्छेदक नहीं है क्योंकि नियम है कि अन्त्यावयवी, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, और

मन इनमें समवाय सम्बन्ध से द्रव्य नहीं रहता है। एवं गगन में क्रिया नहीं रहती है, इसलिये जब द्रव्य और कर्म द्रव्यत्व का व्यापक नहीं है, तब द्रव्यत्व और कर्मत्व द्रव्यत्व का व्यापकता वच्छेदक कैसे होगा?

(८) द्रव्यत्वत्व और सामान्यत्वादि द्रव्यत्व का व्यापकतावच्छेदक है किन्तु वह जाति नहीं है अतः द्रव्य कर्म, द्रव्यत्व और सामान्य में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

(९) (निर्गुणा इति) यद्यपि निर्गुणत्वं कर्मादावपि तथापि सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं बोध्यम्। (१०) जात्यादीनां न सामान्यवत्त्वं, कर्मणो न कर्मान्यत्वं, द्रव्यस्य न निर्गुणत्वमिति तत्र नाति व्याप्तिः?

(९) यद्यपि निर्गुणत्व कर्मादि में भी है तो भी जिसमें जाति रहे तथा जो कर्म से भिन्न एवं निर्गुण हो उसे गुण समझना चाहिये। (१०) जात्यादि चार में जाति नहीं है क्योंकि जाति द्रव्य, गुण, कर्म, मात्र में रहती है। कर्म कर्म से भिन्न नहीं है एवं द्रव्य निर्गुण नहीं है इसलिये जात्यादि चार कर्म, और द्रव्य में अतिव्याप्ति नहीं हुई।

(११) निष्क्रिया इति स्वरूपकथनं न तु लक्षणं गगनादावति व्याप्तेः।

(११) गुणका लक्षण निष्क्रियत्व नहीं हो सकता है क्योंकि गगनादि में अतिव्याप्ति हो जायगी अतः "गुण निष्क्रिय है" यह स्वरूप का कथन मात्र है।

का० ८६, ८७ पूर्वा०

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्।
द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी॥

का० अर्थ

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग, स्थितिस्थापक ये सब मूर्त्त (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, मन) के गुण हैं।

(१) मूर्तगुणा इति। (२) अत्र वेगेन स्थितिस्थापकोऽप्युप-लक्षणीयः। (३) अमूर्तेषु न वर्त्तन्त इत्यर्थः। (४) लक्षणंतु तावदन्यान्यत्वम्। (५) एवमग्रेपि।

(१) **मूर्तगुणः** इस कारिकांश की व्याख्या करने के लिये पाठ धारण किया गया है। (२) [1]यहाँ (मूर्त्त के कहे हुये गुणों में) वेग शब्द से वेग और स्थिति स्थापक इन दोनों का ग्रहण हैं। (३) रूपादि उक्त गुणों को प्रत्येक मूर्त्त में नहीं रहने के कारण मूर्त्त गुण शब्द का अमूर्त्त में नहीं रहने वाला गुण यह अर्थ है। (४) उक्त गुणों से भिन्न जो जो पदार्थ हैं तत्तद्भिन्नत्वरूप उक्त गुणान्यतमत्व मूर्त्त गुणों का लक्षण है। (५) इसी प्रकार अमूर्त गुणों का भी लक्षण मूर्त में अवृत्ति जितने गुण हैं, तत्तत् गुणान्यतमत्व समझना चाहिये।

का० ८७, ८८ पूर्वा०

धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च।
एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः॥

का० अर्थ

धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न ये दश अमूर्त के गुण हैं ऐसा विद्वानों ने कहा है।

(१) अमूर्तगुणा इति। (२) मूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः।

(१, २) [2]धर्मादि दश गुणों को प्रत्येक अमूर्त में नहीं रहने के कारण अमूर्त गुण शब्द का मूर्त्त में नहीं रहने वाला गुण यह अर्थ है।

---

१. निश्चित स्थान से दूसरी ओर खिंचे हुये शाखादि छोड़ देने पर जिससे फिर अपने पहले स्थान पर चले जाते हैं वही स्थिति स्थापक संस्कार है, (उपलक्षण) व - स्त्वन्तर का संग्राहक।

२. कारिका घटक चकार से गुरुत्व का ग्रहण है अतः मूर्त गुण में गुरुत्व को भी समझना चाहिये।

का० ८८, उत्त०

संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः॥

का० अर्थ

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पांचों गुण मूर्त (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन) और अमूर्त (आकाश, काल, दिशा और आत्मा) इन दोनों में अर्थात् द्रव्यमात्र में रहते हैं।

(१) उभयेषामिति। (२) मूर्तामूर्तगुणा इत्यर्थः।

(१, २) इसका अर्थ कारिकार्थ में स्पष्ट है।

का० ८९

संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः॥

संयोग, विभाग, द्वित्वादि संख्या, द्विपृथक्त्वादि ये चार अनेक में रहने वाले गुण हैं।

(१) अनेकाश्रिता इति। (२) संयोगविभाग द्वित्वादीनि द्विवृत्तीनि। (३) त्रित्वचतुष्टवादिकं त्रिचतुरादिवृत्तीति बोध्यम्।

(१) अनेकाश्रिताः इस कारिकांश की व्याख्या करने के लिये यह पाठ धारण किया गया है। (२) संयोग, विभाग, द्वित्व और द्विपृथक्त्व ये दो वस्तुओं में रहने वाले गुण हैं। (३) त्रित्व और चतुष्ट्वादि ये तीन और चार प्रभृति वस्तुओं में रहने वाले गुण हैं।

का० ९० पूवा०

अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः।

का० अर्थ

उक्त चारों गुणों से भिन्न जितने गुण हैं वे सब एक एक मात्र में रहने वाले हैं।

(१) रूप रस गन्ध स्पर्शैकत्व परिमाणै कपृथक्त्वपरत्वापरत्व-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा द्वेष- प्रयत्न-गुरुत्व-स्नेह-संस्कारादृष्टशब्दा इत्यर्थः।

(१) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, परिमाण, एकपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, शब्द ये सब एक एक वस्तु में रहने वाले गुण हैं।

का० ९०. ९१ पूवा०

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिकोद्रवः॥
अदृष्टभावना शब्दा अमी वैशेषिका गुणाः॥

का० अर्थ

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, धर्म, अधर्म भावना और शब्द ये विशेष गुण कहे जाते हैं।

(१) बुद्धि सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्ना इत्यर्थः। (२) स्पर्शान्ता रूप रस गन्ध स्पर्शा इत्यर्थः। (३) द्रवो द्रवत्वं।

(१) बुद्ध्यादि शब्द का बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न अर्थ है। (२) स्पर्शान्त शब्द का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अर्थ है। (३) सांसिद्धिक द्रव शब्द का सांसिद्धिक द्रवत्व अर्थ हैं।

(४) वैशेषिका इति। (५) विशेषा एव वैशेषिकाः। (६) स्वार्थे ठक्। (७) विशेष गुणा इत्यर्थः।

(४ -७) विशेष शब्द से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय करने से वैशेषिक शब्द सिद्ध होता है। अतः "वैशेषिका गुणा" इस शब्द का विशेष गुण अर्थ है।

का० ९१, ९२ पूर्वा०

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा॥
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः॥

का० अर्थ

संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, असांसिद्धिक अर्थात् नैमित्तिकद्रवत्व, गुरुत्व और वेग ये सामान्य गुण हैं।

(१) संख्यादिरिति। संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभागपरत्वा परत्वानीत्यर्थः।

(१) संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व ये गुण संख्यादिर परत्वान्त शब्द से लिये जाते हैं।

का० ९२, ९३

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वंस्नेह एवच।।
एतेतु द्वीन्द्रिय ग्राह्याः –

का० अर्थ।

संख्या, परिमाण, पृथत्त्क, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और स्नेह ये गुण दो इन्द्रियों से ग्राह्य है।

(१) द्वीन्द्रियेति। चक्षुषा त्वचाऽपि ग्रहणयोग्यत्वात्।

(१) संख्या; परिमाण; पृथक्त्व; संयोग; विभाग; परत्व; अपरत्व द्रवत्व और स्नेह नव गुण चक्षु से और त्वचा से ग्रहण (ज्ञान) करने योग्य हैं।

का० ९३

अथ स्पर्शान्त शब्दकाः। वाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः।

का० अर्थ।

रूप, रस; गन्ध स्पर्श और शब्द ये सब गुण वाह्य एक एक इन्द्रिय से ग्राह्य है।

(१) वाह्येति। रूपादीनां चक्षुरादिग्राह्यत्वात्।

(१) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द ये गुण क्रमशः चक्षु, रसना; घ्राण, त्वक् और श्रोत्र इन इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं।

का० ९३, ९४

गुरुत्वादृष्टभावनाः।

अतीन्द्रिया विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिकागुणाः।
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः।।

का० अर्थ।

[१]गुरुत्व, अदृष्ट और भावना ये अतीन्द्रिय हैं। विभुक्ते विशेष गुण अर्थात् बुद्धि; सुख; दुःख; इच्छा; द्वेष; यत्न; धर्म; अधर्म; भावना, शब्द ये दश गुण अकारण गुणोत्पन्न हैं।

(१) विभूनामिति। (२) बुद्धिसुखदुःखेच्छा द्वेषप्रयत्न धर्मा धर्म भावना शब्दा इत्यर्थ। (३) अकारणेति कारणगुणेन कार्ये ये गुणा-उत्पद्यन्ते ते कारणगुणपूर्वका रूपादयो वक्ष्यन्ते। (४) बुद्ध्यादयस्तु न तादृशा आत्मादेः कारणाभावात्।

(१; २) [२]बुद्धि, सुख; दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्म, अधर्म, भावना और शब्द इतने विभु के विशेष गुण हैं। (३) रूपादि जो स्वाश्रय के समवायिकारण (अवयव) के गुण से कार्य (अवयवी) में उत्पन्न होते हैं वे कारण गुण पूर्वक हैं। (४) उक्त बुद्ध्यादि दश कारण गुण पूर्वक गुण नहीं है क्योंकि आत्मा और आकाश का कोई कारण नहीं है।

का० ९५, ९६, पूर्वा०

अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम्।

---

१. जीवन योनि यत्न और स्थितिस्थापक संस्कार ये दोनों गुण भी अतीन्द्रिय हैं।

२. ये दश गुण केवल आत्मा और आकाश के विशेष गुण हैं। काल और दिशा में कोई विशेष गुण नहीं रहता है।

स्नेहवेगगुरुत्वैक पृथक्त्वपरिमाणकम्।।
स्थितिस्थापक इत्येतेस्युः कारणगुणोद्भवाः।

का० अर्थ।

अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और अपाकज अर्थात् सांसिद्धिक द्रवत्व, स्नेह, वेग, गुरुत्व, एकत्व, एक पृथक्त्व, परिमाण स्थितिस्थापक, ये सब कारण गुणोत्पन्न हैं।

(१) अपाकजास्त्विति। (२) पाकजरूपादीनां कारण गुण पूर्वकत्वाभावात् अपाकजा इत्युक्तम्। (३) तथाविधमपाकजम्। (४) तथैकत्वमपि बोध्यम्।

(१, २) पाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श को कारणगुण पूर्वक नहीं होने के कारण रूपादि चार गुणों में अपाकजत्व विशेषण दिया गया। (३) कारिका में "तथाविध" शब्द का अपाकज अर्थ है। (४) एकत्व को भी कारण गुणपूर्वक समझना चाहिये।

का० ९६, उत्त०

संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः।

का० अर्थ।

संयोग विभाग और वेग ये तीन गुण कर्मज हैं।

(१) कर्मजा इति। यद्यपि कर्मजत्वं न साधर्म्यं घटादावतिव्याप्तेः, संयोगजसंयोगेऽव्यातेश्च। (२) तथापि कर्मजन्य वृत्ति गुणत्वव्याप्य-जातिमत्त्वं बोध्यम्। (३) एवमन्यत्राप्यूह्यम्।

(१) [1]अगर संयोग, विभाग वेग इन तीनों गुणों का साधर्म्य (लक्षण) कर्मजस्य (कर्मजन्यत्व) करते हैं तो घटादि में अतिव्याप्ति हो

---

१. कपाल (अवयव) और (दूसरा अवयवी) वृक्ष के संयोग से जो (उक्त कपाल वाला) घट और (उक्त) वृक्ष में संयोग उत्पन्न होता है वही संयोग संयोगज संयोग कहा जाता है।

जायगी क्योंकि घटादि भी क्रिया से उत्पन्न होती है। और संयोगज संयोग में अव्याप्ति हो जायगी क्योंकि वह क्रियाजन्य नहीं है। (२) इसलिये संयोग, विभाग, वेग तीनों का लक्षण, कर्मजन्य में (संयोग, विभाग, वेग में) रहने वाली, जो गुणत्वव्याप्य जाति (संयोगत्व, विभागत्व, वेगत्व) उस जाति का आश्रयत्व है। (३) इसी परिपाटी से दूसरे जगह भी कहीं २ ऊह करना चाहिये (अर्थात् विभुके विशेष गुण और संयोग विभाग इनका अव्याप्य वृत्तित्वरूप साधर्म्य "प्रादेशिको विभु गुणः" इत्यादि कारिका से कहा जायगा किन्तु अव्याप्य वृत्तित्व को कर्म में रहने के कारण अतिव्याप्ति और ईश्वरज्ञान में नहीं रहने के कारण अव्याप्ति होगी अतः वहाँ भी अव्याप्त वृत्ति में रहने वाली जो गुणत्वव्याप्यजाति तादृश जातिमत्त्व रूप जाति घटित लक्षण समझना चाहिये)।

का० ९७।

स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वं स्नेहशब्दके।
भवेदं समवायित्वम् –

का० अर्थ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व (एकमात्रनिष्ठ पृथक्त्व) स्नेह शब्द (और स्थिति स्थापक) ये गुण असमवायि कारण मात्र होते हैं।

(१) स्पर्शान्तेति। (स्पर्शोऽत्रानुष्णो ग्राह्यः)। (२) एकपृथक्त्वमित्यत्र त्वप्रत्ययस्य प्रत्येकमन्वयादेकत्वं पृथक्त्वं च ग्राह्यम्। (३) पृथक्त्वपदेन चैकपृथक्त्वं विवक्षितम्।

(१) कारिका घटक "स्पर्शान्तेति ग्रन्थ में" स्पर्श से अनुष्णस्पर्श लेना चाहिये (इसलिये अनुष्णाशीत और शीतस्पर्श ग्राह्य है। (२) एकपृथक्त्व घटक त्वप्रत्ययका प्रत्येक में अन्वय करने के कारण एकत्व और पृथक्त्व रूप अर्थ लब्ध होता है। (३) पृथक्त्व, पद से, एक पृथक्त्व विवक्षित है।

(४) भवेदसमवायित्वमिति। (५) घटादि रूप रस गन्ध

स्पर्शाः कपालादि रूप रस गन्ध स्पर्शेभ्यो भवन्ति। (६) एवं कपालादि परिमाणादीनां घटादिपरिमाणाद्यसमवायिकारणत्वम्। (७) शब्दस्यापि द्वितीयशब्दं प्रत्यसमवायिकारणत्वम्। (८) एवं स्थितिस्थापकैकपृथक्त्वयोरपि ज्ञेयम्।

(४-६) घटादि रूप अवयवो के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्थितिस्थापक, परिमाण, एकत्व, एक पृथक्त्व और स्नेह के अवसमवायि कारण क्रमशः कपालादिरूप अवयव के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्थितिस्थापक, परिमाण, एकत्व, एक पृथक्त्व और स्नेह होते हैं। (७, ८) द्वितीय शब्द के प्रति पूर्व शब्द असमवायि कारण होता है।

का० १७, १८

अथ वैशेषिके गुणे॥
आत्मनः स्यान्निमित्तत्वम् –

का० अर्थ।

आत्मा में जो विशेष गुण हैं (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, धर्म, अधर्म, भावना) वे निमित्तकारण मात्र होते हैं।

(१) निमित्तत्वमिति। (२) बुद्ध्यादीनामिच्छादिनिमित्तत्वादिति भावः।

(१, २) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये इच्छादि के प्रति निमित्तकारण मात्र हैं।

का० १८, १९

उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः।
वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा॥
द्विधैव कारणत्वं स्याद् –

का० अर्थ

उष्णस्पर्श, गुरुत्व, वेग, द्रवत्व, संयोग, विभाग ये सब असमवायि

और निमित्त दोनों तरह के कारण होते हैं।

(१) द्विधैवेति। (२) असमवायि कारणत्वं निमित्तकारणत्वं च। (३) तथाहि। (४) उष्णस्पर्श उष्णस्पर्शस्यासमवायि कारणं पाकजे निमित्तम्। (५) गुरुत्वं गुरुत्वपतनयोरसमवायिकारणम् प्रतिघातेनिमित्तम्। (६) वेगो वेगस्पन्दनयोरसमवायी अभिघाते निमित्तम्। (७) द्रवत्वं द्रवत्वस्यन्दनयोरसमवायि, संग्रहे निमित्तम्। (८) भेरीदण्डसंयोगः शब्देनिमित्तम्। (९) भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायी। (१०) वंशदलद्वयविभागः शब्दे निमित्ताम्। (११) वंशदलाकाशविभागेऽरसमवायीति।

(१, २) कारिका घटक "द्विधैव शब्द" से असमवायि और निमित्त दोनों कारण ग्राह्य हैं। (३) यथा। (४) [1]अवयवीके उष्णस्पर्श के प्रति अवयव का उष्णस्पर्श असमवायि कारण है (यहाँ कारणगुणोत्पन्न समझना चाहिये)। और पाक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के प्रति उष्णस्पर्श निमित्त कारण हैं। यहाँ (अकारणगुणोत्पन्न समझना चाहिये)। (५) [2]अवयवी के गुरुत्व का असमवायि कारण अवयव का गुरुत्व है और अवयक के आद्यपतन का असमवायिकारण अवयवि ही का गुरुत्व है। एवं दो अवयवियों के ठोकर से जो दोनों अवयवियों में प्रतिघात उत्पन्न होता है उस प्रतिघात का निमित्त कारण दोनों अवयवियों का गुरुत्व है। (६) [3]अवयवी के वेग के प्रति अवयव का वेग असमवायिकारण है और अवयवी के स्पन्द के प्रति अवयवि ही का वेग असमवायि कारण होता है। एवं दो अवयवियों के ठोकर से जो दोनों अवयवियों में अभिघात उत्पन्न होता है उस अभिघात का निमित्त कारण अवयविगत वेग होता है।

---

१. एक कार्य के प्रति उष्ण स्पर्श दोनों तरह के कारण नहीं होते किन्तु किसी कार्य के प्रति निमित्त और किसी कार्य के प्रति असमवायि कारण होता है।

२. गुरुत्व का समानाधिकाराण आद्य पतन तथा त्वाश्रयजन्यद्रव्य के गुरुत्व का असमवायि कारण और स्वसमानाधिकारण अभिघात का निमित्त कारण होता है।

३. वेग स्वसमानाधिकरण स्पन्द का, तथा स्वाश्रय जन्य द्रव्यगत वेग का, असमवायि कारण और स्वसमानाधिकरण अभिघात का निमित्त कारण है।

(७) [१]अवयवी के द्रवत्व का असमवायिकारण अवयव का द्रवत्व है और अवयवी के स्यन्दन (पसरने) का असमवायिकारण अवयवि का ही द्रवत्व है और चूर्णादिगत पिण्डीभाव के प्रति उस पिण्डगत जल का द्रवत्व निमित्तकारण है। (८, ९) डंका और लकड़ी का जो संयोग वह (उस संयोग जन्य ध्वन्यात्मक) शब्द के प्रति निमित्त कारण है। एवं डङ्का और आकाश का संयोग असमवायि कारण है। (१०) वंश के दो भागों से होने वाले शब्द के प्रति उक्त विभाग निमित्तकारण है। (११) एवं वंशदल और आकाश के विभाग के प्रति उक्त वंशदलद्वय का विभाग असमवायिकारण होता है।

का० ९९

अथ प्रादेशिको भवेत्।
वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा॥

का० अर्थ॥

विभुके विशेष गुण (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष यत्न, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, संयोग, विभाग) ये सब प्रादेशिक है।

(१) प्रादेशिकोऽव्याप्य वृत्तिः॥

(१) [२]प्रादेशिक अव्याप्य वृत्ति को कहते हैं। अव्याप्य वृत्ति वह है जिसका अपने अधिकरण में अपना अभाव भी रहता है। (जैसा कि उक्त ज्ञानादि १२ है।)।

का० १००

चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादेरुपलम्भकम्।
चक्षुषः सहकारि स्याच्छुक्लादिकमनेकधा॥

---

१. द्रवत्व स्वसमानाधिकरण स्पन्दन का, तथा स्वाश्रयजन्यद्रव्यगत द्रवत्व का असमवायि कारण है।

२. प्रदेशे भवः प्रादेशिकः स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं अव्याप्यवृत्तित्वम्।

का० अर्थ।

जो रूप चक्षुमात्र से ग्राह्य और द्रव्यादि के प्रत्यक्ष में कारण तथा – चक्षुका सहकारी (सहायक) भी है। वह रूप शुक्लादि प्रभेद से सात प्रकार का है।

(१) चक्षुरिति। (२) रूपत्वजातिस्तु प्रत्यक्षसिद्धा। (३) रूपशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिर्नास्तीति चेन्मास्तु रूपशब्दप्रयोगस्तथापि नीलपीतादिष्वनुगतजातिविशेषोऽनुभवसिद्ध एव। (४) रूपशब्दा-प्रयोगेऽपि नीलो वर्णः पीतोवर्ण इति वर्णशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिरस्त्येव। (५) एवं नीलत्वादिकमपि प्रत्यक्षसिद्धम्।

(१, २) रूपत्व जाति तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। (३) शङ्का – जब स्वतन्त्रता से केवल रूप शब्द का प्रयोग सब रूप में नहीं होता है किन्तु तत्तत् नील पीतादि रूप में नील पीतादि का भी प्रयोग होता है तब सकल नील पीतादि रूप में रूपत्व जाति है इसमें क्या प्रमाण? समा० – ऐसा तो नहीं। नील पीतादि में रूप शब्द का प्रयोग होता ही है यथा नील रूप पीता रूप इत्यादि। इसलिये नील पीतादि में अनुगत (एक) रूपत्व जाति मानना अनुभव सिद्ध है। (४) कोई व्यक्ति नील पीतादि में रूप शब्द का प्रयोग नहीं करके यदि नील वर्ण, पीतवर्ण इत्यादि भी प्रयोग करते हैं तथापि दोष नहीं है कारण कि वर्ण शब्द भी रूप शब्द ही का पर्याय है। (५) इसी प्रकार नीलत्वादि जाति भी प्रत्यक्ष सिद्ध है।

(६) न चैकैका एव नील रूपादिव्यक्तय इत्येकव्यक्ति-वृत्तित्वान्नीलत्वादिकं न जातिरिति वाच्यं, नीलो नष्टो रक्त उत्पन्न इत्या- प्रतीतेर्नीलादेरुत्पाद विनाशशालितया नानात्वात्। (७) अन्यथा एकनीलनाशे जगदनीलमापद्येत।

(६) शङ्का – अगर नीलादि ६ एक एक ही वसतु है तब नीलत्वादि ६ जाति नहीं हो सकता है। कारण कि एक (व्यक्ति) मात्र में रहने वाला धर्म जाति नहीं होता है। समा० – ऐसा ज्ञान होता है कि नील नष्ट हो गया और रक्त उत्पन्न हो गया एवं पुनः रक्त नष्ट हो गया और नील उत्पन्न हो गया अतः यह सिद्ध हुआ कि नीलादि उत्पाद

विनाश शाली है। इसलिये नीलादि नाना मानना पड़ेगा और नाना मानने पर जाति में बाधा नहीं हो सकती। (७) और अगर एक ही नील माने तो उस नील के नाश हो जाने के बाद संसार में कहीं भी नील का प्रत्यक्ष नहीं होगा।

(८) न च नीलसमवायरक्तसमवाययो रेवोत्पादविनाश विषयकोऽसा प्रत्यय इति वाच्यं, प्रतीत्या समवायानुल्लेखात्।

(८) शङ्का – अगर कहें कि नील नष्ट हो गया और रक्त उत्पन्न हो गया इस प्रतीति में नील या रक्त के उत्पाद विनाश का भान नहीं होता है। किन्तु नील और रक्त के समवाय सम्बन्ध का जो उत्पाद विनाश उसी का भान होता है, परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि उस प्रतीति के अभिलाषक शब्द से समवाय का उल्लेख नहीं होता है।

(९) न च स एवायं नील इति प्रत्ययाल्लाघवाच्चैक्यमिति वाच्यं, प्रत्यक्षस्य तज्जातीयविषयकत्वात्। (१०) सैवेयं गुर्जरीतिवत्। (११) लाघवं तु प्रत्यक्षबाधितम्।

(९, १०) एक नील नष्ट हो जाने पर भी कहीं दूसरे जगह नील देखने पर "सएवायं नील:" इत्याकारक जो प्रत्यक्ष होता है उसके अनुरोध से, और जगत् में एक ही नील मानने में लाघव है इसलिये भी एक ही नील मानना युक्त है। यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि "जैसे सैवेयं गुर्जरी" जो पुरुष किसी गुर्जरी स्त्री को पहले देख चुका है; पुन: दूसरी गुर्जरी स्त्री को देख कर कहता है कि यह वहीं गुर्जरी स्त्री है। यह प्रतीति पहले देखी हुई गुर्जरी को विषय नहीं करती किन्तु उसके समान दूसरी गुर्जरी को विषय करती है वैसे ही "सएवायं नील:" यह प्रतीति भी पूर्वदृष्ट नील के सजातीय नीलान्तर ही को विषय करती है न कि पूर्व नील को विषय करती है अत: जगत में एक ही नील मानना अयुक्त है। (११) लाघव रूप तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है अर्थात् लाघव के बल से प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थ सिद्ध नहीं होता अत: केवल लाघव से एक मात्र नील की सिद्धि असंभव है।

(१२) अन्यथाघटादीनामप्यैक्यप्रसंगात्। (१३) उत्पादविनाशबुद्धेः

समवाया बलम्बनत्वापत्तेरिति। (१४) एतेन रसादिकमपि व्याख्यातम्।

(१२) अगर प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध लाघव के अनुरोध से सिद्ध हो तो घटादि मे भी एकत्व की आपत्ति हो जायगी। (१३) * घटके उत्पाद विनाश को विषय करने वाली प्रतीति को घट समवाय के उत्पाद विनाश को विषय करने वाली मान सकते है। (१४) इसी युक्ति से रसादि की भी व्याख्या हो गयी (अर्थात् रस भी अनेक मानना चाहिये)।

(१५) चक्षुर्ग्राह्यमिति। (१६) चक्षुर्ग्राह्य-विशेषगुण इत्यर्थः। (१७) एवमग्रेऽपि। (१८) द्रव्यादेरिति। (१९) उपलम्भक मुपलब्धिकारणम्। (२०) इदमेव विवृणोति। (२१) चक्षुष इति। (२२) द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रति उदभूतरूपं कारणम्

(१५, १६) कारिकाघटक चक्षग्र्राह्य शब्द का चक्षर्मात्रग्राह्य विशेष गुण अर्थ है। अन्यथा संयोगादि में भी चक्षग्र्राह्यत्व रहने के हेतु रूप लक्षण की अति व्याप्ति हो जायगी। (१७) + इसी प्रकार रस और स्पर्श के लक्षण में भी समझना चाहिये। (१८, १९) "उपलम्भक शब्द से प्रत्यक्ष का कारण लिया जाता है।" (२०, २१) चक्षष इत्यादि कारिका से (द्रव्यादेरुपलम्भकम्) इसी का विवरण करते हैं। (२२) द्रव्य गुणकर्म और सामान्य के चाक्षष प्रत्यक्ष के प्रति उद्भुत रूप कारण हैं।

(२३) शुक्लादिकमनेकधेति। (२४) तच्च रूपं शुक्लनील-पीतरक्तहरित कपिशकर्वुरादिभेदादनेकप्रकारकं भवति। (२५) ननु कथं कर्वुरमतिरिक्तरूपं भवति। (२६) इत्थं नील पीताद्यवय-वारब्धोऽवयवी न तावन्नील रूपोऽप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। (२७) नापि व्याप्यवृत्ति नीलादिरूपमुत्पद्यते पीतावच्छेदेनापि नीलोपलब्धि प्रसङ्गात्।

---

१. जैसे कि अनेक नील रहने पर भी आप केवल लाघव के कारण नील रक्त के समवाय का उत्पाद विनाश विषयक ही प्रतीति मान कर एक ही नील मानते हैं वैसे ही अनेक घट रहने पर भी रक्त रीति से एक ही घट मानना पड़ेगा। लेकिन यह ठीक नहीं है। कारण कि प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्मुख केवल लाघव अकिंचित्कर है इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुकूल अनेक नील हैं और अनेक घट भी हैं।

२. रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये रसना, घ्राण, त्वक् श्रोत्र से ग्राह्य विशेष गुण हैं।

(२८) नाप्यव्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते व्याप्यवृत्ति जातीयगुणानाम-व्याप्यवृत्तित्वे विरोधात्। (२९) तस्मान्नानाजातीय रूपैरवयविनि विजातीयंचित्रं रूपमारभ्यते। (३०) अतएवैकं चित्रमित्यनुभवोऽपि। (३१) नानारूपकल्पने गौरवात्।

(२४) वह रूप शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश कर्वुर आदि के भेद से सात प्रकार के होते हैं। (२५) शङ्का – शुक्ल नील पीत रक्त हरित कपिश रूपों से भिन्न कर्वुर रूप (चित्र रूप) क्यों माना जाता है। (शुक्लादि रूपों का समुदाय है न कि भिन्न है ऐसा मानना चाहिये)। (२६) समा० – (कर्वुर रूप को शुक्लादि रूप से भिन्न मानने की युक्ति यह है) नील पीतादि रूप वाले अनेक अवयवों से बने हुये जो अवयवा है उनमे अगर कोई रूप न माने तो उनका प्रत्यक्ष नहीं होगा (क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रति रूप कारण है)। (२७) यदि उनमें व्याप्य वृत्ति नीलादि रूप अनेक माने जाये तो उनके सब भागों में नीलादि का प्रत्यक्ष होने लगेगा किन्तु ऐसा नहीं होता है अतः व्याप्य वृत्ति नीलादि को स्वीकार नहीं कर सकते। (२८) अगर उस अवयवी में अव्याप्य वृत्ति (अवयवी के कुछ अंश में रहने वाला न कि समूचे में) अनेक रूप माने तो यह नहीं हो सकता है क्योंकि नियम यह है कि "व्याप्य वृत्ति जातीय गुण अव्याप्य वृत्ति नहीं होता है।" (नील पीतादि व्याप्य वृत्ति है इसलिये वह अव्याप्य वृत्ति नहीं कहा जा सकता) याने जो गुण किसी भी जगह व्याप्य वृत्ति पाया जाता है वह गुण कहीं भी अव्याप्य वृत्ति नहीं हो सकता है। (२९) इसलिये नाना रूप वाले अनेक अवयवों से उत्पन्न अवयवी में विजातीय एक चित्र रूप की कल्पना करनी होगी। (३०) नील पीतादि से अतिरिक्त चित्र रूप मानने ही पर नील पीतादि विभिन्न अवयवों से उत्पन्न अवयवी में "एक चित्र रूपम्" (इसमें एक चित्र रूप है) यह प्रतीति भी प्रामाणिक होती है। (३१) नील पीतादि अनेक रूप वाले अवयवों से बने हुये अवयवी में यदि अनेक रूप माने जायेंगे तो "चित्र रूपम्" इस प्रतीति की विषयता अनेक रूपों में माननी पड़ेगी और ऐसा मानने पर गौरव होगा इसलिये उक्त प्रतीति की विषयता एक अतिरिक्त चित्र रूप ही में माननी चाहिये।

(३२) इत्थं च नीलादीनां पीताद्यारम्भे प्रतिबन्धकत्व-कल्पनादवयविनि न पीताद्युत्पत्तिः। (३३) एतेन स्पर्शोऽपि व्याख्यातः।

(३२) पूर्वोक्त युक्ति से एक स्वतन्त्र चित्ररूप सिद्ध होने पर शङ्का होगी कि समवाय सम्बन्ध से अवयविगत रूप के प्रति स्व समवायि समवेतत्व सम्बन्ध से अवयवगत रूप जबअसमवायि कारण होता है तब अवयवगत नील पीतादि रूप को स्वसमवायि समवेतत्व सम्बन्ध से चित्रित अवयवी में रहने के हेतु उक्त अवयवी मे नील पीत आदि रूप की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? समा० – समवायसम्बन्ध से पीत रूप के प्रति स्वसमवायि समवेतत्व सम्बन्ध से पीतेतर रूप प्रतिबन्धक है। एवं समवाय सम्बन्ध से नील रूप के प्रति स्वसमवायि समवेतत्वसम्बन्ध से नीलेतररूप प्रतिबन्धक है इस प्रका प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव मानने के कारण चित्रित अवयवी में पीत नील रूपादि की उत्पत्ति नहीं होगी। (३३) [१]जो युक्तियों अतिरिक्त चित्र रूप मानने में बतलायी गयी है। उन्हीं युक्तियों से चित्र स्पर्श भी अतिरिक्त माना जाता है, यह समझना चाहिये।

(३४) रसादिकमपि नाव्याप्यवृत्ति किंतु नाना जातीयरसवदवयवैरारब्धेऽवयविनि रसाभावेऽपि न क्षतिः। (३५) तत्र रसनयाऽवयवरस एव गृह्यते, रसनेन्द्रियादीनां द्रव्यग्रहे सामर्थ्याभावात्, अवयविनो नीरसत्वेऽपिक्षतेरभावात्।

(३४) [२]यद्यपि रसादि भी अव्याप्य वृत्ती है तो भी नाना जातीय रस (मधुर, खट्टा इत्यादि) वाले अवयवों से बने हुए अवयवी में रसाभाव मानने पर भी कोई क्षति नहीं है। (३५) क्योंकि नाना जातीय रस वाले

---

१. जैसे चित्ररूप एक स्वतन्त्र रूप माना जाता है वैसे ही चित्र स्पर्श भी एक स्वतन्त्र स्पर्श माना जाता है।

२. प्र० – आप चित्ररूप और चित्र स्पर्श मानते हैं वैसा ही चित्र रस और चित्र गन्ध भी मानिये।

उत्तर० – चक्षु के त्वक् से जो प्रत्यक्ष होता है उसमें द्रव्य का भी भान होता है न केवल गुण ही का, किन्तु रसना या घ्राण से जो प्रत्यक्ष होता है उसमें केवल गुण ही का भान होता है।

अवयवों से बने हुये अवयवी में जो रस का प्रत्यक्ष होता है वह अवयवों के ही रस को विषय करता है न के अवयवी के रस को क्योंकि रसनेन्द्रिय या घ्राणेन्द्रिय से द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है। केवल गुणादि ही का होता है इसलिये अगर अवयवी में रस नहीं माने तो भी कुछ क्षति नहीं है।

(३६) नव्यास्तु, तत्राव्याप्यवृत्त्येव, नानारूपं, नीलादेः पीतादिप्रतिबन्धकत्व कल्पने गौरवात्। (३७) अतएव लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते इत्यादि शास्त्रमप्युपपद्यते।

(३६) नवीन का मत है कि चित्रित अवयवी में अतिरिक्त चित्ररूप न मानकर अव्याप्य वृत्ति नाना रूप ही की सत्ता माननी चाहिये। क्योंकि अतिरिक्त चित्ररूप मानने से अवयविगत पीतादि रूपके प्रति अवयवगत पीतेतर रूपों को एवं अवयविगत नीलरूप के प्रति अवयवगत नीलेतर रूपों को प्रतिबन्धक मानने के कारण गौरवं होगा। (३७) अव्याप्यवृत्ति नाना रूप समुदाय ही चित्ररूप है, ऐसा मानने ही पर "जिसका वर्ण लाल हो मुा तथा पुच्छ पाण्डु हो खुर और सींग श्वेत हो वह नील वृष कहा जाता है" यह शास्त्र का वाक्य भी सङ्गत होता है।

(३८) न च व्याप्याव्याप्यवृत्तिजातीययो र्द्वयोर्विरोधः, मानाभावात्।

(३८) प्राचीन-एक जातीय वस्तु व्याप्य वृत्ति और अव्याप्यवृत्ति नहीं हो सकता है इस नियम से एक अवयवी में जो आप अनेक रूप मानते हैं वह अयुक्त है। नवीन इस नियम में कुछ प्रमाण नहीं है।

(३९) न च लाघवादेकं रूपम् अनुभव विरोधात्। (४०) अन्यथा घटादेरपि लाघवादैक्यं स्यात्। (४१) एतेन स्पर्शादिकमपि व्याख्यातमिति वदन्ति।

(३९) (प्राचीन के प्रति नवीन का कथन) अगर आप लाघव के कारण एक ही रूप माने तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि यह अनुभव विरुद्ध है। (४०) अगर अनुभव विरुद्ध होने पर भी लाघव के लोभ से एक ही रूप मानते हैं, तो लाघव के हेतु घटादि को भी एक ही क्यों

नहीं मानते हैं। इसलिये मानना होगा कि प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थ की केवल लाघवानुरोध से सिद्धि नहीं होती है। अत: प्रत्यक्ष सिद्ध नाना रूप से भिन्न एक अतिरिक्त चित्र रूप की सिद्धि किस प्रकार होगी? (४१) इसी रीति से एक अतिरिक्त चित्र स्पर्श भी नहीं है किन्तु अव्याप्यवृत्ति अनेक स्पर्श ही चित्र स्पर्श माना जाता है यह समझना चाहिये।

का॰ १०१ पूर्वा॰

जलादिपरमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम्।

का॰ अर्थ

जल और तेज के परमाणु में जो रूप है वह नित्य है उससे भी" जितने रूप हैं वे सब अनित्य है।

(१) जलादीति। जलपरमाणौ तेज:परमाणौ च रूपं नित्यम्। पृथिवीपरमाणुरूपं तु न नित्यं तत्र पाकेन रूपान्तरोत्पत्ते:। (२) नहि घटस्य पाकानन्तर तदवयवोऽपक्व उपलभ्यते। नहि रक्तकपालस्य कपालिका नीलावयवा भवति। एवंक्रमेण परमाणावपि पाकसिद्धे:। (३) अन्यज्जलतेज: परमाणुरूपभिन्नरूपं सहेतुकं जन्यम्।

(१) जलपरमाणु और तेज परमाणु में जो रूप हैं वह नित्य और पृथवौ परमाणु में जो रूप हैं वह अनित्य हैं क्योंकि पाकद्वारा पृथिवी परमाणु में पूर्व रूप के नाशानन्तर रूपान्तर की उत्पत्ति होती है। (२) यदि ऐसा कहे कि अवयवी और अवयव में परस्पर भेद माना जाता है और पाक सर्वत्र अवयवी मात्र में देखा जाता है तो परमाणु में पाक नहीं होने के कारण उसका रूप अनित्य कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि घटादि अवयवों पक्व हो गये और उवयव अपक्व है ऐसा नहीं देखा जाता है। एवं पाक होने क कारण कपाल रक्त है और उसक अवयव अपक्व रहने के कारण नील है यह भी नहीं देखा जाता। अत: त्रसरेणु पर्यन्त पाक-पत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इसी रीति से परमाणु पर्यन्त पाक सिद्ध होता है अर्थात् अवयव में पाक के बिना अवयवी में पाक कहीं देखा नहीं जाता अत: त्रसरेणु के प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध पाक से द्व्यणुक में

पाकानुमान एवं द्व्यणुक के पाक से परमाणु में पाक का अनुमान होता है। (३) जल परमाणु और तेजः परमाणु के रूप नित्य हैं और उससे भिन्न सकल रूप सहेतुक (जन्य) अर्थात् अनित्य हैं।

रसं निरूपयति = रस का निरूपण करते हैं।

का० १०१, १०२

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा।।
सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत्

का० अर्थ।

रस रसनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय है और मधुरादि भेद से ६ प्रकार का है एवं रसना का सहकारी हैं और उसमें भी रूप के तरह नित्यत्व, अनित्यत्व माना जाता है।

(१) रसस्त्विवति। सहकारीति। रासनज्ञाने रसः कारणमित्यर्थः। (२) पूर्ववदिति। जलपरमाणौ रसो नित्योऽन्यः सर्वोऽपि रसोऽनित्य इत्यर्थः।

(१) एक कार्य के प्रति अनेक कारण अपने में परस्पर सहकारी होते हैं। रासन प्रत्यक्ष के प्रति रस कारण है और रसना भी कारण हैं अतः रसना का सहकारी रस है। (२) नित्यत्व, अनित्यत्व पूर्ववत् (रूप के समान) है, अर्थात् जल परमाणुगत रस नित्य है और उससे भिन्न सब रस अनित्य हैं।

गन्धं निरूपयति घ्राणग्राह्य इति = घ्राणग्राह्य इत्यादि कारिका से गन्ध का निरूपण करते हैं।

का० १०२ उत्त०

घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः।

का० अर्थ।

गन्ध घ्राणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय है और घ्राण का

सहकारी है।

(१) उपकारक इति। घ्राणजन्यज्ञाने कारणमित्यर्थः। (२) सर्वोगन्धोऽनित्य एव।

(१) [१]घ्राण और गन्ध इन दोनों को घ्राणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति कारणत्व रहने के कारण गन्ध घ्राण का उपकारक अर्थात् सहकारी है। (२) सब गन्ध अनित्य ही है इसका कारण यह है कि पृथिवी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, पाकज होने के कारण अनित्य हैं और गन्ध केवल पृथिवी में रहता है अतः गन्ध मात्र अर्थात् परमाणु में रहने वाला भी गन्ध अनित्य ही है।

का० १०३ पूर्वा

सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः।

का० अर्थ।

सौरभ असौरभ भेद से गन्ध दो प्रकार के हैं।

स्पर्श निरूपयति। स्पर्श इति = स्पर्श इत्यादि कारिका से स्पर्श का निरूपण करते हैं।

का० १०३ उत्त०

स्पर्शस्त्वगिन्द्रिय ग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारकः।।

का० अर्थ

स्पर्शत्वगिन्द्रिय जन्य का विषय है एवं त्वचा का सहकारी है।

(१) उपकारक इति। स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारण मित्यर्थः।

(१) त्वचा और स्पर्श इन दोनों को स्पार्शन प्रत्यक्ष के प्रति

---

१. एक धर्मावच्छिन्न कार्यता निरूपित कारणत्व सहकारित्व है जैसे दण्ड और चक्र इन दोनों में घटत्व रूप एक धर्मावच्छिन्न कार्यता निरूपित कारणत्व रहने के कारण सहकारित्व होता है।

कारणत्व रहने के हेतु स्पर्श त्वचा का उपकारक अर्थात् सहकारी है।

का० १०४

अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्स त्रिविधो मतः।
काठिन्यादिक्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत्।।

का० अर्थ

अनुष्णाशीत, शीत तथा उष्ण भेद से स्पर्श तीन प्रकार के हैं। कठिन स्पर्श और सुकुमार स्पर्श पृथ्वी मात्र में रहता है। स्पर्श में नित्यत्वा नित्यत्व रूप के समान समझना चाहिये।

(१) अनुष्णाशीतेति। पृथिव्यां वायौ च स्पर्शोऽनुष्णाशीतः। जले शीतः। तेजस्युष्णः। (२) काठिन्येति। कठिन सुकुमारस्पर्शौ पृथिव्यामेवेत्यर्थः। कठिनत्वादिकं तु न संयोगगतो जातिविशेषः, चक्षुर्ग्राह्यत्वापत्तेः। (३) पूर्ववदिति। जलतेजोवायुपरमाणु स्पर्शानित्यास्तद्भिन्नास्त्वनित्या इत्यर्थः।

(१) पृथ्वी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है परन्तु पृथ्वी में वह पाकज और वायु में अपाकज है। जल में शीत स्पर्श है। तेज में उष्णस्पर्श है। (२) कठिन और सुकुमार स्पर्श पृथ्वी मात्र में रहते हैं। कठिन और सुकुमार दोनों स्पर्श ही हैं किन्तु संयोग नहीं है अर्थात् कठिनत्व सुकुमारत्व रूप जाति विशेष संयोगनिष्ठ नहीं है क्योंकि नियम है कि जो गुण जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है तद्गत जाति का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है तब यदि उक्त कठिनत्व सुकुमारत्वात्मकजाति विशेष संयोग में माने जाय तो संयाग के, तरह वे जाति विशेष भी चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के विषय हो जायेंगे। (३) पूर्ववत्, अर्थात्, जल, तेज और वायु के परमाणु में रहने वाले स्पर्श नित्य हैं और उससे भिन्न सभी स्पर्श अनित्य हैं।

का० १०५

एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्।
तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये।।

का० अर्थ।

पृथ्वी मात्र में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाकज होते हैं विशेषिक के मत में पृथ्वी में भी पार्थिव परमाणु मात्र में पाक होता है, इसलिये उनके मत से पार्थिव परमाणु मात्र में रहने वाले रूपादि पाकज हैं।

(१) एतेषामिति। एतेषां रूप रस गन्ध स्पर्शानां नान्यत्रेति। पृथिव्यां हि रूपरसगन्धस्पर्श परावृत्तिरग्निसंयोगादुपलभ्यते। नहि शतधापि ध्मायमाने जले रूपादिकं परिवर्तते। (२) नीरे सौरभमौषायं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामौपाधिकमेवेति निर्णीयते। पवनपृथिव्योः शीतस्पर्शादिवत्।

(१) [१]पृथ्वी मात्र में रूप रस गन्ध स्पर्श का परिवर्तन अग्निसंयोग से देखा जाता है अतः पृथ्वी मात्र में रूपादि ४ पाकज माने जाते हैं और जल को सैकड़ों बार तपाने पर भी उसके रूप रसादि परिवर्त्तित नहीं होते अतः जलादि के रूपादि पाकज नहीं माने जाते हैं। (२) +यदि जलादि के रूपादि पाकज़ नहीं माने जायेंगे तो सुगन्धित द्रव्य के साथ जल को तपाने पर जो जल में सौरभ तथा उष्णता की प्रतीति होती है वह किस प्रकार होगी? इसका समाधान मुक्तावली में कहते हैं कि वायु तथा पृथ्वी में जो शीतस्पर्श का भान होता है वह जैसे अन्वयव्यतिरेक के जल सम्बन्ध रूप उपाधि मूलक ही माना जाता है किन्तु वस्तुतः उन दोनों में शीत स्पर्श नहीं है वैसे ही जल में भी जो सौरभ और उष्ण स्पर्श का

---

१. रूपादि परिवर्तन जनक तेजःसंयोग पाक पदार्थ है।

२. तदितरयावत् कारणसत्त्वे तत्सत्वे तत्सत्त्वमन्वयः। तदभावे व्यतिरेकः यथा दण्ड से भिन्न सकल घट के कारणों को रहते हुए और दण्ड को रहते हुए उत्पन्न होता है अतः दण्ड के साथ घट का अन्वय है। एवं दण्ड नहीं रहने से घट उत्पन्न नहीं होता है अतः दण्ड के साथ घट का व्यतिरेक है अन्वय व्यतिरेक ज्ञान से कारणता का ज्ञान होता है ऐसा प्रकृति में भी समझना चाहिये।

भान होता है वह भी अन्वय व्यतिरेक के क्रमशः सुगन्धित द्रव्य संयोग और अग्नि संयोग रूप उपाधि कृत ही है किन्तु जल में सौरभ तथा उष्ण स्पर्श नहीं है अतः जल में भी पाकज़ रूपादि मानने की आवश्यकता नहीं है।

(३) तत्रापि पृथिवीष्वपि मध्ये परमाणावेव पाक इति वैशेषिका वदन्ति। (४) तेषामयमाशयः। अवयबिनाऽवष्टब्धेष्ववय-वेषु पाको न संभवति परन्तु वह्निसंयोगेनावय-विषु विनष्टेषु स्वतन्त्रेषु परमाणुषु पाकः। पुनश्च पक्वपरमाणु संयोगाद्द्व्यणुकादि क्रमेण पुनर्महा-वयवि पर्यन्तमुत्पत्तिः। तेजसामतिशयित वेगवशा त्पूर्वव्यूहनाशो झटितिव्यूहान्तरोत्पत्तिश्चेति।

(३) पृथ्वी में भी पृथ्वी के परमाणु में ही पाक होता है यह वैशेषिक अर्थात् कणाद मुनि के अनुगामियों का मत है। (४) [१]उनका यह तात्पर्य है कि अवयव अवयवी से अवरुद्ध रहता है अतः उसमें रहता है अतः उसमे पाक नहीं हो सकता है किन्तु वेगवद वह्निसंयोग से अवयवी के नाश होने के बाद सब परमाणुओं को स्वतन्त्र हो जाने पर प्रत्येक स्वतन्त्र परमाणु मे पाक होता है। उसके बाद पक्व परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्व्यणुक त्र्यणुकादि क्रम से पुनः महावयवी पर्यन्त की उत्पत्ति होती है। अग्नि में अत्यन्त वेग होने के कारण पूर्व अवयवी का नाश और अति शीघ्र दूसरे अवयवी की उत्पत्ति होती है सारी कार्यवाही के अति शीघ्र होने के कारण उसका ज्ञान नहीं होता।

(५) अत्र द्व्यणुकादि विनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरुत्पत्त्या रूपादिमद्भवतीति शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थं क्षणप्रक्रिया। (६) तत्र विभागजविभागानङ्गीकारे नवक्षणा तदङ्गीकारे तु विभागः किंचित्सापेक्षो विभागं जनयेत्। निरपेक्षस्य तत्त्वे कर्मत्वं स्यात्।

---

१. (क) अवयवी से अवष्टब्ध अवरुद्ध। अवयव में पाक नहीं होने का कारण यह है कि अवयवी से अवरुद्ध परमाणुओं में अग्नि संयोग नहीं हो सकता है।
(ख)दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्रसरेणु और चार त्रसरेणुओं के संयोग से चतुरणुक एवं महावयवी तक की उत्पत्ति होती है।

संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति वैशेषिकसूत्रम्‌ स्वोत्तरोत्पन्न-भावान्तरानपेक्षत्वं तस्यार्थः। अन्यथा कर्मणोऽप्युत्तर संयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगनाशा पेक्षणादव्याप्तिः स्यात्‌।

(५) पाकज रूप की उत्पत्ति स्थल में द्व्यणुक के नाश से लेकर पुनः उत्पन्न द्व्यणुक कितने क्षण में रूप को प्राप्त करते हैं इस प्रसङ्ग में शिष्य की बुद्धि का विकाश करने के लिये क्षण की प्रक्रिया बतलायी जाती है। (६) [१]क्षणप्रक्रिया के विचार में कारण मात्र के विभाग से होने वाले विभाग को अङ्गीकार नहीं करने पर नवक्षण की प्रक्रिया होती और उसके अङ्गीकार करने पर विभाग किसी की अपेक्षा कर ही कर द्वितीय विभाग का जनक होता है। यदि विभाग किसी की अपेक्षा नहीं करके द्वितीय विभाग का जनक हो तो वह विभाग क्रियारूप हो जायेगा क्योंकि वैशेषिक सूत्र में कहते हैं कि "जो वस्तु संयोग वा विभाग को उत्पन्न करने से किसी की अपेक्षा न करे वह कर्म है।" अनपेक्ष शब्द से ऐसा नहीं समझना कि वह किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करे किन्तु उसका अभिप्राय यह है कि वह अपनी उत्पत्ति के बाद उत्पन्न किस भाव पदार्थ की अपेक्षा न करे। यदि ऐसा अर्थ नहीं करेंगे तो उत्तर संयोग की उत्पत्ति में पूर्व संयोग के नाश की अपेक्षा करने वाले कर्म में इस लक्षण की अव्याप्ति हो जायेगी।

(७) तत्र यदि द्रव्यारम्भक संयोगविनाशविशिष्टं काल मपेक्ष्य विभागज विभागः स्यात्तदैका दशक्षणा। (८) अथ द्रव्यनाश विशिष्ट कालमपेक्ष्य विभागज विभागः स्यात्तदैकादशक्षणा।

(७) [२]यदि द्रव्यारम्भक संयोग के नाश क्षण की अपेक्षा करके

---

१. विभागज विभाग दो प्रकार के होते हैं कारण मात्र विभाग जन्य विभाग और कारणा कारण विभागजन्य विभाग जैसे कपाल का कपाल से विभाग होने पर जो कपाल में पूर्वदेशावच्छिन्न आकाश से विभाग होता है वही कारण मात्र विभाग जन्य विभाग कहा जाता है। और हस्त पुस्तक के विभाग से जो शरीर पुस्तक का विभाग होता है वही कारणा कारण विभागजन्य विभाग कहा जाता है।

२. अवयवद्वय के साधारण संयोग से अवयवी की उत्पत्ति नहीं होती यदि ऐसा हो तो कपालद्वय के संयोग मात्र से घट क्यों नहीं बनता? अतः अवयवों के यादृश

विभाजग विभाग माना जाये तो दश क्षण की प्रक्रिया होती है। (८) यदि द्रव्य के नाश क्षण की अपेक्षा करके विभागज विभाग माना जाय तो ग्यारह क्षण की प्रक्रिया होती है।

(९) तथाहि अथ नवक्षण। (१०) वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म। (११) ततः परमाणवन्तरेण विभागः। (१२) अत आरम्भक-संयोगनाशः।

(क) ततो द्व्यगुक नाशः। (ख) ततः परमाणौ श्यामादिनाशः। (ग) ततो रक्ताद्युत्पत्तिः। (घ) ततो द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया। (ङ) ततो विभागः। (च) ततः पूर्वसंयोगनाशः। (छ) तत आरम्भक संयोगः। (ज) ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। (झ) ततो रक्ताद्युत्पत्तिः। (९) नव क्षण की प्रक्रिया बतलाते हैं। (१०) पहले अग्निसंयोग से द्व्यणुकारम्भक किसी एक परमाणु में कर्म।

(११) तब सकर्मक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ विभाग। (१२) [१]उसके बाद द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश।

(क) तब द्व्यणुक का नाश, क्षण की गणना यहाँ ही से करनी चाहिये। क्योंकि ग्रन्थकार ने क्षण गणना का आरम्भ द्व्यगुण नाश के क्षण से करने के लिये पहले कहा है। (ख) तब परमाणु के श्याम रूपादि का नाश। (ग) उसके बाद परमाणु में रक्त रूपादि की उत्पत्ति। (घ) तब द्व्यणुकारम्भानुकूल परमाणु में क्रिया। (ङ) तब सकर्मक परमाणु का पूर्व देश में विभाग। (च) उस के बाद परमाणु के साथ पूर्व देश के संयोग का नाश। (छ) तब द्व्यगुणकारम्भक परमाणुद्वय संयोग। (ज) तब द्व्यगुण की उत्पत्ति। (झ) उसके बाद द्व्यगुण में रक्त रूप की उत्पत्ति।

(१३) ननु श्यामादिनाशक्षणे रक्तोत्पत्तिक्षणे वा परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा, क्रियाऽस्त्वितिचेन्न। (१४) अग्निसंयुक्ते परमाणौयत्कर्म तद्विनाशमन्तरेण गुणोत्पत्तिमन्तरेण च परमाणौ

विलक्षण संयोग से अवयवी की उत्पत्ति होती है तादृश विलक्षण संयोग को द्रव्यारम्भक संयोग कहते हैं।

१. यह द्व्यणुक का रक्तरूप पक्वपरमाणु के रक्तरूप से उत्पन्न हुआ है किन्तु स्वतन्त्र पाकज नहीं है।

क्रियान्तराभावात्कर्मवति कर्मान्तरानुत्पत्तेर्निर्गुणे द्रव्ये द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया नुपपत्तेश्च।

(१३) [१]जिस क्षण में परमाणु के श्याम रूपादि का नाश माना गया है अगर उसी क्षण में द्व्यणुकारम्भानुकूल क्रिया मान ली जाय तो जिस क्षण में परमाणु में रक्त रूपादि की उत्पत्ति मानी गयी है उसी क्षण में परमाणु का पूर्व देश से विभाग भी अवश्य मानना होगा क्योंकि उसके पूर्वक्षण में विभाग को पैदा करने वाली क्रिया है इसलिये इस मत में केवल सात ही क्षण की प्रक्रिया होगी और जिस क्षण में परमाणु में रक्त रूपादि की उत्पत्ति मानी गई है उस क्षण में अगर द्व्यणुकारम्भानुकूल क्रिया भी मानीजाय तब आठ क्षण की प्रक्रिया होगी यद्यपि इस पक्ष में लाघव के कारण लालित्य अवश्य है तो भी यह मान्य नहीं है। (१४) क्योंकि अग्नि संयोग से जो द्व्यणुकनाशानुकूल परमाणु में क्रिया होती है उस क्रिया का बिना नाश हुए तथा अन्य गुण की बिना उत्पत्ति हुये परमाणु में द्व्यणुकोत्पादक दूसरी क्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि क्रिया की उत्पत्ति में समवाय सम्बन्ध से क्रिया प्रतिबन्धक होती है इसीलिये उसका अभाव कारण होता है। एवं रूपाद्यात्मक गुण से शून्य द्रव्य में द्रव्योत्पादक क्रिया नहीं होती द्व्यणुक नाशक पूर्व क्रिया का नाश द्वितीय क्षण में होता है और रूपाद्यात्मक गुणों की उत्पत्ति तृतीय क्षण में होती है। इसलिये उसके बाद ही द्व्यणुकानुकूल क्रिया होगी। उससे पूर्व द्वितीय या तृतीयक्षण में नहीं। अतः सात और आठक्षण की प्रक्रिया नहीं हो सकती।

(१५) तथापि परमाणौ श्यामादिनिवृत्तिसमकालं रक्ताद्युत्पत्तिः स्यादिति चेन्न, पूर्वरूपादि ध्वंसस्यापि रूपान्तरे हेतुत्वात्। (१६) इति नव क्षणा।

(१५) तथापि परमाणु के श्यामादि गुण के नाश क्षण में रक्तादि की उत्पत्ति क्यों नहीं मानते? यह नहीं कह सकते हैं। क्योंकि पूर्व रूप का

---

१. नव क्षण की प्रक्रिया मानने में गौरव है इसलिये सात या आठ क्षण की प्रक्रिया क्यों नहीं मानते हैं। प्रक्रिया का स्वरूप दिखलाते हैं।

ध्वंस रूपान्तर की उत्पत्ति में कारण है अतः उसको एक क्षण पूर्व रहना आवश्यक है इसलिये श्याम रूप नाश क्षण में रक्तरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (१६) इस प्रकार नवक्षण की प्रक्रिया का निरूपण समाप्त हुआ।

(१७) अथ दशक्षणा। (१८) सा च आरम्भकसंयोगविनाश विशिष्ट कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने सतिस्यात्।

(१७) अब दश क्षण की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं। (१८) यदि विभाग आरम्भक संयोगविनाशविशिष्ट काल की अपेक्षा करके विभाग का जनक हो तो दश क्षण की प्रक्रिया होगी।

(१९) तथाहि। वह्निसंयोगाद्द्व्यणुकारम्भके परमाणौ कर्म।

(२०) ततो विभागः। (२१) तत आरम्भकसंयोगनाशः।

(क) ततो द्व्यणुकनाशविभागज विभागौ। (ख) ततः श्यामनाशपूर्वसंयोगनाशौ। (ग) ततो रक्तोत्पत्त्युत्तरसंयोगौ। (घ) ततो वह्निनोदनजन्य परमाणुकर्म्मणो नाशः। (ङ) ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद् द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया। (च) ततो विभागः। (छ) ततः पूर्वसंयोगनाशः। (ज) तत आरम्भक संयोगः। (झ) ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। (ञ) ततो रक्तोत्पत्तिः।

(१९) जैसे वह्निसंयोग से द्व्यणुक के समवायि कारण परमाणु में क्रिया। (२०) तब परमाणुद्वय का विभाग। (२१) तब द्व्यणुक के असमवायि कारण परमाणुद्वय के संयोग का नाश। (क) तब द्व्यणुक का नाश और परमाणुद्वय के विभाग से आकाश के साथ परमाणु का विभाग। (ख) उसके बाद परमाणु के श्यामरूप का नाश तथा पूर्व देशा वच्छिन्न आकाश और परमाणु के संयोग का नाश। (ग) तब परमाणु में रक्त रूप की उत्पत्ति और उत्तरदेशावच्छिन्न आकाश के साथ परमाणु का संयोग। (घ) [1]उस के अनन्तर अग्नि संयोग से उत्पन्न हुई परमाणु की क्रिया का

---

१. नोदन = शब्दाजनक संयोग विशेष।

नाश। (ङ) [1]तब अदृष्टवान् आत्मा के साथ परमाणु के संयोग से परमाणु में द्व्यणुकोत्पादक क्रिया। (च) उसके बाद पूर्व देशावच्छिन्न आकाश के साथ परमाणु का विभाग। (छ) तब पूर्व देशावच्छिन्न आकाश के साथ परमाणु संयोग का नाश। (ज) तब द्व्यणुकारम्भक परमाणुओं का संयोग। (झ) तब द्व्यणुक की उत्पत्ति। (ञ) उसके बाद द्व्यणुक में रक्त रूप की उत्पत्ति।

(२२) अथैकादशक्षण। (२३) वह्नि संयोगात्परमाणौ कर्म। (२४) ततो विभागः। (२५) ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः।(क) ततो द्व्यणुकनाशः। (ख) ततो द्व्यणुकनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभाग श्यामनाशौ। (ग) ततः पूर्वसंयोग- नाशरक्तोत्पत्ती। (घ) तत उत्तर संयोगः। (ङ) ततो वह्निनोदनजन्य परमाणुकर्मनाशः। (च) ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद्द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया।(छ) ततो विभागः। (ज) ततः पूर्वसंयोगनाशः।(झ) ततो द्रव्यारम्भकोत्तरसंयोगः। (ञ) ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। (ट) ततो रक्ताद्युत्पत्तिरिति।

(२२) अब ग्यारह क्षण की प्रक्रिया का प्रदर्शन करते हैं। (२३) अग्निसंयोग से परमाणु में क्रिया। (२४) तब परमाणुद्वय का विभाग। (२५) तब द्व्यणुकारम्भक परमाणुद्वय के संयोग का नाश। (क) तब द्व्यणुक का नाश। (ख) उस के बाद द्व्यणुकनाशविशिष्टकाल की अपेक्षा करके परमाणुद्वय के विभाग से सकर्मक परमाणु का आकाश के साथ विभाग और परमाणुगत श्याम रूप का नाश। (ग) तब पूर्व देशावच्छिन्न आकाशादि के साथ परमाण संयोग का नाश और परमाणु में रक्तोत्पत्ति। (घ) उसके अनन्तर उत्तर देशावच्छिन्न आकाश के साथ परमाणु का संयोग। (ङ) तब वह्निसंयोग से उत्पन्न परमाणु के पूर्व कर्म का नाश। (च) उसके बाद अदृष्ट वाले आत्मा के संयोग से परमाणु में द्व्यणुकारम्भानुकूल क्रिया। (छ) तब पूर्वदेश के साथ परमाणु का विभाग। (ज) उस के अनन्तर पूर्व देश के साथ परमाणु के संयोग का नाश। (झ) तब द्व्यणुकारम्भक परमाणुद्वय का संयोग। (ञ) तब द्व्यणुक की उत्पत्ति। (ट) तब द्व्यणुक में रक्त रूप की उत्पत्ति।

---

१. इस द्व्यणुक से जो घट उत्पन्न होगा उस घट के भोगानुकूल अदृष्टवान् जो आत्मा वही यहाँ अदृष्टवदात्म शब्द का अर्थ है।

(२६) मध्यमशब्दवदेकस्मादग्निसंयोगान्न रूपनाशोत्पादौ तावत्कालमेकस्याग्नेरस्थिरत्वात्। (२७) किं च नाशक एव यद्युत्पादकस्तदा नष्टे रूपादावग्निनाशे नीरूपश्चिरं परमाणुःस्यात्। (२८) उत्पादकश्चेन्नाशकस्तदा रक्तोत्पत्तौ तदग्निनाशे रक्ततरता न स्यात्।

(२६) [१]प्रतिघात के बाद जो शब्द उत्पन्न होता है उस शब्द की धारा में प्रथम शब्द के बाद चरम शब्द से पहले जितने शब्द होते हैं वे सब मध्यम शब्द कहलाते हैं, उन मध्यम शब्दों का स्वभाव है कि वे अपने अपने पूर्व वर्त्ती शब्द का नाशक होते हैं और अपने-अपने उत्तरवर्ती शब्द का उत्पादक भी होते हैं। इन मध्यम शब्दों के समान अग्नि संयोग के पंचम क्षण में होने वाले द्व्यणुक नाश का प्रयोजक जो (प्रथम क्षण में होने वाला) अग्नि संयोग वह श्याम रूप का नाशक और रक्त रूप का उत्पादक दोनों में एक ही नहीं हो सकता। कारण यह है कि उक्त (प्रथम क्षण में होने वाला) अग्नि संयोग षष्ठ वा सप्तम क्षण में क्रमशः होने वाले श्याम रूप का नाश और रक्त रूप की उत्पत्ति से पूर्व पञ्चम या षष्ठ क्षण तक नहीं रह सकता। वह अग्नि संयोग केवल अग्नि क्रिया का नाशक और परमाणु क्रिया का उत्पादक है। (२७) [२]अगर श्याम रूप के नाशक अग्नि संयोग में रक्तरूपोत्पादक अग्नि

---

१. एकस्मात् = द्व्यणुकनाशकात्। (२) अग्नेः = अग्निसंयोगस्य।

२. (वह अग्नि संयोग जिस हेतु केवल परमाणु में क्रियोत्पत्ति के समय ही तक रहता है इसलिए न तो वह श्याम रूप का नाशक हुआ और न रक्त रूप का उत्पादक हुआ) किन्तु जो अग्नि संयोग श्यामिरूप का नाशक है उसी अग्नि संयोग को रक्त रूप का उत्पादक नहीं माना जा सकता क्योंकि नियम है कि तत्तद्विजातीय कार्य के प्रति कारणतावच्छेदक भिन्न-२ मानना होगा न कि एक ही धर्म अनेक विजातीय कार्य के प्रति कारणतावच्छेदक हो सकता है। इसलिये श्याम रूप नाश का कारणतावच्छेदक जो अग्नि संयोग गत जाति है वह रक्त रूप का भी कारणतावच्छेदक नहीं हो सकती है अगर ऐसा कहें कि श्याम रूप नाशक अग्नि संयोग में ही श्याम रूप नाशकतावच्छेदक और रक्त रूपोत्पादकता वच्छेदक दोनों जाति माने तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर सांकर्य दोष लगता है जैसे श्याम रूप नाशक अग्नि संयोग में दोनों जातियाँ है। एवं किसी अग्नि संयोग में नील रूपनाशकतावच्छेदक जाति है और

संयोग को भिन्न नहीं माना जाय किन्तु श्यामनाशक ही को नियमतः रक्त का उत्पादक माना जाय तो जो अग्नि संयोग श्याम रूप के नाश क्षण ही में नष्ट हो गया है उस अग्नि संयोग में रक्त रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि रक्त रूपोत्पत्ति के पूर्व क्षण में वह स्वयं ही नहीं है। तब अगर दूसरे अग्नि संयोग से रक्त रूप की उत्पत्ति आप माने तथापि नहीं हो सकता क्योंकि वह अग्नि संयोग श्यामरूप का नाशक नहीं है। इस से सिद्ध हुआ कि परमाणु नीरूप (रूप रहित) हो जायगा। (२८) यदि नाशकतावच्छेदक और उत्पादकतावच्छेदक दोनों जातियों में अभेद की विवक्षा करे अर्थात् उक्त दोनों जाति एक होनी चाहिये ऐसा यदि कहें तो जिस अग्निसंयोग से रूपोत्पत्ति की सम्भावना नहीं है उसको नाशकता भी नहीं मानेंगे तब पूर्वोक्तं दोष नहीं होगा इसलिये (उत्पादकश्चेन्नाशकः) इत्यादि ग्रन्थ से दूसरा दोष दिया जा रहा है कि रूप नाशकतावच्छेदक अग्नि संयोगनिष्ट जाति विशेष ही यदि रूपोत्पादकतावच्छेदक हो तो कार्यतावच्छेदक भी सामान्यतः पृथ्वी परमाणु रूपत्व को मानना होगा क्योंकि रक्तत्व रक्ततरत्वादि जाति को कार्यतावच्छेदक मानें तो रूपनाशकाग्नि संयोग से जो कभी नील रूप की कभी पीत रूप की कभी रक्त रूपादि की उत्पत्ति होती है वह नहीं होगी अतः सामान्यतः पृथ्वी परमाणु रूपत्व ही को कार्यतावच्छेदक मानना होगा तब अनुभव सिद्ध जो कार्य (पक्व, परमाणु रूप) गत रक्तत्व रक्तरत्व रक्तमत्वादि रूप वैलक्षणय है वह नहीं हो सकता। कारण यह है कि कारणतावच्छेदक को भिन्न-भिन्न नहीं रहने से अर्थात् एक ही रहने से कार्य में वैलक्षण्य नहीं होता है। रूपनाशकाग्नि संयोग मात्र को रूपोत्पादकता मान कर ही यह दोष बतलाया गया है। अन्यथा पूर्व रूप ध्वंसादि को भी यदि सहकारी मानें

रक्तरूपोत्पादकतावच्छेदक जाति नहीं है। इस स्थिति में सुतरां श्याम रूप नाशकतावच्छेदक और रूपोत्पादकतावच्छेदक इन दोनों जातियों में सांकर्य दोष लग जायगा इस कारण हम रक्त रूपोत्पादकतावच्छेदक जाति को व्याप्य मानते हैं और श्याम रूप नाशकतावच्छेदक जाति को व्यापक मानते हैं। इस प्रकार व्याप्यभाव मानने से पर्यवसान यह हुआ कि श्याम रूप नाशक अग्नि संयोग से भिन्न रक्तरूपोत्पादक अग्नि संयोग होती ही नहीं है इसी भाव पर किंच इत्यादि ग्रन्थ हैं।

तो रक्तत्व रक्तरत्व रक्त तमत्वादि रूप कार्य वैलक्षण्य की अनुपपत्ति नहीं होगी। जैसे प्रथम अग्नि संयोग से श्यामरूप का नाश और उस नाश के सहित उसी अग्नि संयोग से रक्त रूपोत्पत्ति और दूसरे अग्निसंयोग से रक्त रूप का नाश और तादृश नाश सहित उक्त संयो से रक्ततर रूपोत्पत्ति और तीसरे अग्नि संयोग से रक्ततर रूप का नाश और तादृश नाश सहित उक्त संयोग से रक्ततम रूप की उत्पत्ति इसी प्रकार दूसरे जगह भी जानना चाहिये।

(२९) अथ परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्पञ्चमादि क्षणेऽपि गुणोत्पत्तिः। (३०) तथाहि। (३१) एकत्रपरमाणौ कर्म। (३२) ततो विभागः। (३३) तत आरम्भकसंयोगनाश परमाण्वन्तरकर्मणी। (क) ततस्तु द्व्यणुक नाशः परमाण्वन्तर कर्मजन्यविभाग इत्येकः कालः। (ख) ततः श्यामादिनाशः, विभागाच्च पूर्व संयोग नाशश्चेत्येकः कालः, (ग) ततो रक्तोत्पत्तिः द्रव्यारम्भकसंयोगश्चेत्येकः कालः। (घ) अथ द्व्यणुकोत्पत्तिः। (ङ) ततो रक्तोत्पत्तिरिति। (च) पञ्चक्षणा।

(२९) [१]अगर द्व्यणुक के एक परमाणु में द्व्यणुकनाशानुकूल कर्म और उसी द्व्यणुक के दूसरे परमाणु में द्व्यणुकोत्पादनानुकूल कर्म मानें तो ५, ६, ७, ८ क्षण की भी प्रक्रिया हो सकती है। (३०) जैसे – (३१) अग्नि संयोग से एक परमाणु में कर्म। (३२) तब परमाणुद्वय का विभाग। (३३) तब द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश और द्व्यणुकोत्पादनानुकूल (उक्तद्व्यणुक के) दूसरे परमाणु में कर्म। (क) तब द्व्यणुक का नाश और परमाण्वन्तर के कर्म से पूर्व देश के साथ उक्त परमाणु का विभाग। (ख) तब परमाणु के श्याम रूप का नाश और परमाणु के पूर्व देश के साथ उत्पन्न हुए विभाग से परमाणु और पूर्व देश के संयोग का नाश। (ग) उस के बाद परमाणु में रक्त रूपोत्पत्ति और द्व्यणुकारम्भक रक्त परमाणुद्वय का संयोग। (घ) तब द्व्यणुक की उत्पत्ति। (ङ) और स के

---

१. अगर द्व्यणुक के एक ही परमाणु में द्व्यणुक नाशानुकूल कर्म और द्व्यणुकोत्पादनानुकूल कर्म दोनों माने जायें तो ९, १०, ११ क्षण की प्रक्रियायें होती हैं। गुणोत्पत्ति, रक्तादि रूपोत्पत्तिः।

अनन्तर द्व्यणुक में रक्त रूप की उत्पत्ति। (च) यह पाँच क्षण की प्रक्रिया हुई।

(३४) द्रव्यनाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्षष्ठे गुणोत्पत्तिः।

(३४) यदि द्व्यणुकनाशकाल में परमाण्वन्तर (दूसरे परमाणु) में कर्म माना जाय तो ६ क्षण की प्रक्रिया होगी।

(३५) तथाहि। परमाणुकर्मणा परमाण्वन्तरविभागः। (३६) तत आरम्भकसंयोगनाशः। (क) अथ द्व्यणुकनाश परमाण्वन्तरकर्मणी। (ख) अथ श्यामादिनाशः परमाण्वन्तरे कर्मजश्च विभागः। (ग) ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगः नाशश्च। (घ) ततः परमाण्वन्तर संयोगः। (ङ) ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। (च) अथ रक्तोत्पत्तिरिति षट्क्षणा।

(३५) जैसे अग्नि संयोग से उत्पन्न परमाणु में रहने वाले कम से परमाणुद्वय का विभाग। (३६) तब द्व्यणुक के आरम्भक संयोग का नाश। (क) तब द्व्यणुक का नाश और दूसरे परमाणु में कर्म। (ख) तब परमाणु के श्याम रूप का नाश और दूसरे परमाणु के कर्म से पूर्व देश के साथ उसका विभाग। (ग) उसके बाद परमाणु में रक्त रूप की उत्पत्ति और दूसरे परमाणु में पूर्व देश के साथ संयोग का नाश। (घ) तब रक्त परमाणुद्वय संयोग। (ङ) तब द्व्यणुक की उत्पत्ति। (च) और उसके बाद द्व्यणुक में रक्तरूप की उत्पत्ति। यह ६ क्षण की प्रक्रिया हुई।

(३७) एवं श्यामनाशक्षणे परमाण्वन्तरे कर्म चिन्तनात्सप्तक्षणा।

(३७) इस प्रकार यदि श्याम रूप के नाश क्षण में दूसरे परमाणु में (द्व्यणुकोत्पादनानुकूल) कर्म माना जाय तो सात क्षण की प्रक्रिया होगी।

(३८) तथाहि। (३९) परमाणौ कर्म ततः परमाणवन्तरेण विभागः। (४०) तत आरम्भक संयोगनाशः। (क) ततो द्व्यणुक नाशः। (ख) ततः श्यामादिनाश परमाण्वन्तरकर्मणी। (ग) ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे कर्मजविभागश्च। (घ) ततः परमाण्वन्तरेण पूर्व

संयोगनाशः।(ङ) तत परमाण्वन्तरेण संयोगः। (च) ततो द्व्यणुकोत्पत्ति। (छ) ततो रक्तोत्पत्तिः। इति सप्तक्षणा।

(३८) जैसे – (३९) अग्नि संयोग से परमाणु में कर्म तब उस कर्म से परमाणुद्वय का विभाग। (४०) तब द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश। (क) तब द्व्यणुक नाश। (ख) उसके बाद परमाणु में श्याम रूप का नाश और दूसरे परमाणु में (द्व्यणुकोत्पादनानुकूल) कर्म। (ग) तब परमाणु में रक्त रूप की उत्पत्ति और दूसरे परमाणु के कर्म से पूर्व देश के साथ उसका विभाग। (घ) तब दूसरे परमाणु के साथ पूर्व देश के संयोग का नाश। (ङ) तब द्व्यणुकोत्पादनानुकूल रक्त परमाणुद्वय का संयोग। (च) उस के अनन्तर द्व्यणुक की उत्पत्ति। (छ) और उसके बाद द्व्यणुक में रक्त रूप की उत्पत्ति। यह सात क्षण की प्रक्रिया हुई।

(४१) एवं रक्तोत्पत्ति समकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तना-दष्टक्षणा।

(४१) इस प्रकार यदि परमाणु में रक्त रूपोत्पत्ति के क्षण में द्व्यणुकोत्पादनानुकूल दूसरे परमाणु में कर्म माना जाय तो आठ क्षण की प्रक्रिया होगी।

(४२) तथाहि। (४३) परमाणौ कर्म। (४४) तत परमाण्वन्तरविभागः। (४५) तत आरम्भकसंयोगनाशः।

(क) ततो द्व्यणुकनाशः। (ख) ततः श्यामनाशः। (ग) ततो रक्तोपत्तिपरमाण्वन्तरकर्मणी। (घ) ततः परमाण्वन्तरकर्मज विभागः। (ङ) ततः परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशः। (च) ततः परमाण्वन्तरसंयोगः। (छ) ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। (ज) अथ रक्तोत्पत्तिरित्यष्टलक्षणा।

(४२) जैसे। (४३) अग्निसंयोग से परमाणु में कर्म। (४४) तब परमाणुद्वय का विभाग। (४५) तब द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश। (क) तब द्व्यणुक का नाश। (ख) उसके बाद परमाणुओं के श्यामरूप का नाश। (ग) तब परमाणुओं में रक्त रूप की उत्पत्ति और दूसरे परमाणु

में द्व्यणुकारम्भानुकूल कर्म। (घ) उसके अनन्तर दूसरे परमाणु के कर्म से पूर्व देश के साथ उसका विभाग। (ङ) तब दूसरे परमाणु में पूर्व देश के साथ संयोग का नाश। (च) तब द्व्यणुकारम्भानुकूल रक्तपरमाणुद्वय का संयोग। (छ) तब द्व्यणुक की उत्पत्ति। (ज) तब द्व्यणुक में रक्तरूप की उत्पत्ति। यह आठ क्षण की प्रक्रिया हुई।

का० १०६ पूर्वा०

नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते।

का० अर्थ।

नैयायिकों के मत में परमाणु और द्व्यणुकादि अवयवीमें भी पाक होता है।

(१) नैयायिकानामिति। (२) नैयायिकानां मते द्व्यणुकादाव वयविन्यपि पाको भवति। (३) तेषामयमाशयः। (४) अवयविनां सच्छिद्रत्वाद्वह्नेः सूक्ष्मावयवैरन्तः प्रविष्टैर- वयवेष्ववष्टब्धेष्वपि पाको न विरुध्यते। (५) अनन्तावयवि तन्नाशकल्पने गौरवात्।

(१,२) कारिकार्थ में स्पष्ट है। (३) उनका यह आशय है कि... .....। (४) अबयवी मात्र में छिद्र होता है इसलिये सूक्ष्म सूक्ष्म अग्नि के अवयव उन छिद्रों के द्वारा अवयवियों के भीतर तक प्रवेश कर जाते हैं और अवयवी के रहते हुए भी अवयवी से अवरुद्ध अवयव तथा अवयवी को भी पका देते हैं। इस प्रकार अवयवी में भी पाक मानने में कुछ विरोध नहीं है। (५) वैशेषिकों के मत में परमाणु मात्र में पाक मानने के कारण अनन्त अवयवी और अवयवियों के अनन्त नाश और अनन्त उत्पत्ति माननी होगी जिससे उन्हें गौरव होता है।

(६) इत्थं च सोऽयं घट इत्यादिप्रत्यभिज्ञाऽपि संगच्छते। (७) यत्र तु न प्रत्यभिज्ञा तत्रावयविनाशोऽपि स्वीक्रियत इति।

(६) अवयवी में भी पाक मानने वाले नैयायिकों के मत से अवयवी का नाश मानना आवश्यक नहीं है अत एव घट में पाक होने

के बाद 'सोयं घटः' (यह घड़ा वही है) इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा जो होती है वह सङ्गत हुई। (७) परन्तु जिस स्थल में पक्व घट में अवयव सन्निवेश के अन्यथा भूत होने के कारण 'सोयं घटः' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है उस स्थल में उस अवयवी का नाश भी मानते हैं।

संख्यांनिरूपयितुमाह = संख्या का निरूपण करते हैं।

का० १०६ उत्त०।

गणनाव्यवहारे तु हेतुः संख्याभिधीयते।

का० अर्थ।

गणना व्यवहार का असाधारण कारण संख्या है।

(१) गणनेति। (२) गणनाव्यवहारा साधारणकारणं संख्येत्यर्थः।

(१, २) कारिकार्थ में स्पष्ट है।

का० १०७

नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते।
द्वित्वादयः परार्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः॥

का० अर्थ।

नित्य में रहने वाली एकत्व संख्या नित्य है और अनित्य में रहने वाली अनित्य है। द्वित्व से लेकर परार्द्धपर्यन्त संख्या अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होती है अतएव वह अनित्य होगी।

(१) नित्येष्विति। (२) नित्येषु परमाण्वादिषु एकत्वं नित्यम्। (३) अनित्ये घटादावेकत्वमनित्यमित्यर्थः। (४) द्वित्वादयो व्यासज्यवृत्तिसंख्या अपेक्षाबुद्धिजन्याः।

(१, ४) नित्य परमाण्वादिगत एकत्व नित्य और अनित्य घटादिगत एकत्व अनित्य है। व्यासज्यवृत्ती अर्थात् एकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक पर्याप्त

प्रतियोगी द्वित्वादि संख्या अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है।

का० १०८

अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः।
अपेक्षा बुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः॥

का० अर्थ।

द्वित्वादि संख्या अनेकाश्रय में पर्याप्त संबन्ध से रहती है और अपेक्षा बुद्धि के नाश से उन संख्याओं का नाश होता है।

(१) अनेकेति। यद्यपि द्वित्वादिसमवायः प्रत्येकं घटादावपि वर्तते तथाप्येको द्वाविति प्रत्ययाभा- वात् एको न द्वाविति प्रत्ययसंभवाच्च द्वित्वा दीनां पर्याप्ति लक्षणः कश्चन संबन्धोऽनेका- श्रयोऽभ्युगम्यते।

(१) यद्यपि द्वित्वादि संख्या समवाय सम्बन्ध से प्रत्येक घट पटादि में रहती है तो भी 'एको द्वौ' इत्याकारक प्रतीति नहीं होने के कारण तथा 'एकौ न द्वौ' इत्याकारक प्रतीती होने के कारण द्वित्वादि का 'पर्याप्त' नामक सम्बन्ध विशेष अनेक पदार्थ ही में माना जाता है न कि एक पदार्थ मात्र में।

(२) प्रथममपेक्षाबुद्धि ततोद्वित्वोत्पत्तिः। ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकम्। ततो द्वित्वत्वविशिष्ट प्रत्यक्षम्। अपेक्षाबुद्धिनाशश्च ततो द्वित्वनाश इति।

(२) प्रथम क्षण में 'अयमेकः अयमेकः' इत्याकारक अपेक्षाबुद्धि होती है, द्वितीय क्षण में अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति, तृतीय क्षण में द्वित्व द्वित्वत्वे इत्याकारक निर्विकल्पक ज्ञान, चतुर्थ क्षण में द्वित्वत्व द्वित्वविशेष्यक सविकल्पक ज्ञान और अपेक्षाबुद्धि का नाश, तब पञ्चम क्षण में द्वित्व का नाश होता है।

(३) यद्यपि ज्ञानानां द्विक्षण मात्रस्थायित्वं योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तर वर्त्तिगुण नाश्यत्वात्। तथाप्यपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते।

(४) अन्यथा निर्विकल्पक कालेऽपेक्षाबुद्धि- नाशानन्तरं द्वित्वस्यैव नाशः स्यात्। न तु द्वित्वप्रत्यक्षं, तदानीं विषयाभावात्। विद्यमानस्यैव चक्षुरादिना ज्ञानजननोपगमात् तस्मात् द्वित्वप्रत्यक्षादिकमपेक्षा-बुद्धेर्नाशकं कल्प्यते।

(३) योग्य अर्थात् प्रत्यक्ष विषय जो विभुके विशेषगुण = बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न और शब्द इन सबों का नाश स्वोत्तरोत्पन्न (उनके बाद में पैदा हुये) गुण से होता है इसलिये सामान्यतः ज्ञान में द्विक्षणमात्र स्थायित्व माना जाता है तथापि अपेक्षाबुद्धि में त्रिक्षण स्थायित्व की कल्पना की जाती है। (४) अपेक्षा बुद्धि को भी यदि द्विक्षण मात्र स्थायित्व मानें तो तृतीय क्षण में अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञानोत्पत्ति क्षण में अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से चतुर्थक्षण में द्वित्व का भी नाश हो जायगा। तब उक्त चतुर्थक्षण में द्वित्व को नहीं रहने के कारण "द्वित्व" का सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होगा क्योंकि प्रत्यक्ष क्षण में विषय को रहना आवश्यक है इस का कारण यह है कि विद्यमान ही पदार्थ का चक्षुरादि से प्रत्यक्ष होना सर्व सम्मत है। इसलिये द्वित्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही अपेक्षा बुद्धि का नाशक होता है ऐसी कल्पना की जाती है।

(५) न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यं, कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावात्। अपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशात्तन्नाश इति कल्पनात्।

(५) शं० - अगर ऐसा कहें कि अपेक्षा बुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश क्यों माना जाता है? समा० – यदि नहीं माना जाय तो उक्त अपेक्षाबुद्धि के नाश के बाद भी द्वित्व का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये किन्तु नहीं होता है इसलिये द्वित्व का नाश मानना उचित है। अपेक्षाबुद्धि द्वित्व का उत्पादक है और उसी के नाश से द्वित्व के नाश की कल्पनाः की जाती है।

(६) अतएव तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्य द्वित्वादिकं तेनैव गृह्यत इति कल्प्यते।

(६) जिस हेतु अपेक्षा बुद्धि द्वित्व का उत्पादक मानी गयी है इसीलिये तत्तत् पुरुष की अपेक्षाबुद्धि से पैदा हुए द्वित्वादि का प्रत्यक्ष तत्तत् पुरुष ही को होता है।

(७) न चापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वप्रत्यक्षे कारणत्वमस्त्विति वाच्यं, लाघवेन द्वित्वं प्रत्येव कारणत्वस्योचिततत्वात्। (८) अतीन्द्रिये द्व्यणुकादावपेक्षाबुद्धिर्योगिनाम्। सर्गादिकालीन परमाण्वादावीश्वरीयापेक्षाबुद्धिर्ब्रह्माण्डान्तरवर्तियोगिना मपेक्षाबुद्धिर्वा द्वित्वादिकारणमिति।

(७) शङ्का – द्वित्व के प्रत्यक्ष ही में अपेक्षाबुद्धि कारणत्व क्यों नहीं मानते? समा॰ – ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि द्वित्व के प्रति अपेक्षाबुद्धि को कारणता मानने की अपेक्षया द्वित्व प्रत्यक्ष के प्रति कारणता मानने में कार्यतावच्छेदक में गौरव है। (८) हम लोगों को अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण योगियों की अपेक्षाबुद्धि द्व्यणुकादि अतीन्द्रिय पदार्थों में द्वित्वोत्पादक होती है। ब्रह्माण्ड के सृष्टि काल में योगियों को नहीं रहने पर भी तत्कालीन परमाण्वादि में ईश्वरीयापेक्षाबुद्धि अथवा दूसरे ब्रह्माण्ड में रहने वाले योगियों की अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि की उत्पत्ति होती है।

अपेक्षाबुद्धिः केत्यत आह = अपेक्षाबुद्धि क्या है इस पर कहते हैं।

का॰ १०९ पूर्वा॰

अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धिरिष्यते।

का॰ अर्थ।

अनेक तत्तद्धर्म्म विशेष्यक एकत्व प्रकारक जो 'अयमेकः अयमेकः' इत्याकारक ज्ञान वह अपेक्षाबुद्धि कही जाती है।

(१) अनेकेति। अयमेकोऽयमेक इत्याकारिका इत्यर्थः। (२) इदन्तुबोध्यं यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसंख्योत्पद्यते यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः।

(१) "इस का अर्थ कारिकार्थ ही से गतार्थ है।" (२) यह समझना

चाहिये कि जिस स्थल में नियत एकत्वज्ञान नहीं है अर्थात् एकत्व धर्मिक संख्याविशेष का ज्ञान नहीं है वहाँ त्रित्व चतुष्ट्वादि संख्या से भिन्न एक विजातीय बहुत्व संख्या की उत्पत्ति होती है जैसे सेना वनादि स्थल में अगणित एकत्व ज्ञान रहने के कारण केवल बहुत्व संख्या की उत्पत्ति होती है क्योंकि उस स्थल में बहुत्व संख्या से भिन्न किसी संख्या का ज्ञान नहीं होता है यह कन्दलीकार का मत है।

(३) आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेव बहुत्वं मन्यन्ते। तथाच त्रित्वत्वादि व्यापिका बहुत्वत्व जातिर्नाति- रिच्यते। सेना वनादाबुत्पन्नेऽपि त्रित्वादौ त्रित्वत्वाद्यग्रहो दोषात्।

(३) परन्तु उदयनाचार्य का मत है कि उन स्थलों में बहुत्य संख्या त्रित्व चतुष्ट्वादि रूप ही है किन्तु अतिरिक्त नहीं है अर्थात् जहाँ हजार सेना है वहाँ सेनागत सहस्रत्व ही बहुत्व है एवं जहाँ एक हजार एक सेना है वहाँ एकाधिक सहस्रत्व ही बहुत्व है किन्तु अतिरिक्त नहीं है। तब यही पर्यवसित हुआ कि त्रित्वात्वादि व्यापक अर्थात् त्रित्व चतुष्टवादि में रहने वाली बहुत्वत्व जाति त्रित्वत्व चतुष्ट्वत्वादि से भिन्न नहीं है। सेना वनादि स्थल में त्रित्वादि रूप बहुत्व संख्या उत्पन्न होने पर भी नियतैकत्व ज्ञानाभाव रूप दोष से त्रित्वादिगत जाति का ज्ञान नहीं होता है।

(४) इत्थंचेतो बहुतरेयं सेनेति प्रतीतिरुपपद्यते। बहुत्वस्य संख्यान्तरत्वे तु तत्तारतम्याभावान्नोपपद्येतेत्यबधेयम्।

(४) बहुत्व को त्रित्व चतुष्ट्वादि संख्या से अतिरिक्त नहीं मानने के कारण "इतो बहुतरेयंसेना" 'यह सेना इस से अधिक है'। इत्याकारक प्रतीति की उपपत्ति होती है क्योंकि बहु सेनागत बहुत्व सहस्रत्वादि रूप है और अन्य सेनागत बहुत्व शतत्वादि रूप है। बहुत्व को तारतम्य नहीं रहने के कारण "इतो बहुतरेयं सेना" इत्याकारक प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती है।

परिमाणं निरूपयति = परिमाण का निरूपण करते हैं।

का० १०९, उत्त०।

परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम्।

का० अर्थ।

मान व्यवहार का असाधारण "परिमाण" अर्थात् परिमिति है।

(१) परिमाणमिति। परिमिति व्यवहारा साधारणं कारणं परिमाणमित्यर्थः।

(१) इस का अर्थ कारिकार्थ ही से गतार्थ है।

का० ११०, पूर्वा०

अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरितः।

का० अर्थ।

उक्त "परिमाण" अणु दीर्घ महत् ह्रस्व के भेद से चार प्रकार का है।

(१) तच्चतुर्विधम् अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं चेति।

(१) इस का अर्थ कारिकार्थ ही से गतार्थ है।

का० ११० उत्त० १११ पूर्वा०।

अनित्येतदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम्
संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते॥

का० अर्थ।

अनित्य द्रव्यगत परिमाण अनित्य है और नित्यद्रव्यगत परिमाण नित्य है अनित्यद्रव्य गत परिमाण-संख्या परिमाण प्रचय इन तीनों से उत्पन्न होते हैं।

(१) तत् परिमाणम्। नित्यमित्यत्र परिमाण मित्यनुषज्यते। जायत इत्यत्रापि परिमाण मित्यनुवर्त्तते। अनित्यमिति पूर्वेणान्वितम्। (२) तथा चानित्यपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणजन्यं प्रचयजन्यं चेत्यर्थः।

(१) कारिकागत "तत्" पद परिमाण बोधक है और "नित्य" पद् परिमाणपद साकांक्ष है। कारिका गत "जायते" पद भी परिमाणपद साकांक्ष है और अनित्य पदार्थ परिमाण पदार्थ के साथ अनित्य है। (२) तब अनित्य परिमाण संख्याजन्य परिमाणजन्य और प्रचयजन्य है ऐसा अर्थ हुआ।

तत्र संख्याजन्यमुदाहरति = उन में संख्याजन्य परिमाण का प्रदर्शन करते हैं।

का० १११ उत्त०।

अनित्यं द्व्यणुकादौ तु संख्याजन्यमुदाहृतम्।।

का० अर्थ।

द्व्यणुक, त्र्यणुकगत अनित्य परिमाण संख्याजन्य कहा गया है।

(१) अनित्यमिति। द्व्यणुकस्य त्रसरेणोश्च परिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं वा न कारणं परिमाणस्य स्वसमान जातीपोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वात्। (२) द्व्यणुकस्याणुपरिमाणं तु परमाण्वणु त्वापेक्षया नोत्कृष्टम्। त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम्। (३) अतः परमाणौ द्वित्वसंख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य, द्व्यणुके त्रित्वसंख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्यासमवायिकारणमित्यर्थः।

(१) द्व्यणुक परिमाण के प्रति परमाणु परिमाण एवं त्र्यणुक परिमाण के प्रति द्व्यणुक परिमाण कारण नहीं है क्योंकि नियम है कि "परिमाण" स्वसमानजातीय जो उत्कृष्ट परिमाण उसी का जनक होता है। (२) [१]इस स्थिति में द्व्यणुक परिमाण परमाणु परिमाणापेक्षया उत्कृष्ट अर्थात् अणुतर नहीं है एवं त्र्यणुकगत महत् परिमाण द्व्यणुकगत अणुपरिमाण का सजातीय नहीं है। (३) अतः द्व्यणुकपरिमाण और त्रसरेणु परिमाण के प्रति क्रमशः परमाणु परिमाण और द्व्यणुक परिमाण कारण नहीं है।

---

१. "साजात्य" परिमाण विभाजक अणुत्व महत्त्वादि रूप से विवक्षित है। अतः द्व्यणुक परिमाण का सजातीय त्र्यणुक परिमाण नहीं है।

किन्तु द्व्यणुक परिमाण के प्रति परमाणुगत द्वित्व संख्या "और त्रसरेणु परिमाण के प्रति द्व्यणुकगत त्रित्व संख्या असमवायि कारण है।"

परिमाणजन्यं परिमाणमुदाहरति = परिमाणजन्य परिमाण का प्रदर्शन करते हैं।

का० ११२,११३ पूर्वा०

परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते।
प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते।।
परिमाणं तूलकादौ–

का० अर्थ।

घटादि (अवयवि) गत परिमाण कपालादि (अवयव) गत परिमाण से उत्पन्न होते हैं। तूलकादिगत शिथिल (ढीला) संयोग प्रचय कहा जाता है और प्रचय से तूलकादि में परिमाण की उत्पत्ति होती है।

(१) परिमाणं घटादाविति। घटादिपरिमाणं कपालादि-परिमाणजन्यम्। (२) प्रचयजन्यमुदाहर्तुं प्रचयं निर्वक्ति प्रचय इति।

(१) कारिकार्थ में स्पष्ट है। (२) प्रचयजन्य परिमाण को दिखाने के लिये पहले प्रचय का स्वरूप बतलाते हैं।

का० ११३ पूर्वा०

नाशस्त्वाश्रयनाशतः।

का० अर्थ।

परिमाण का नाश आश्रय नाश के अधीन है।

(१) परिमाणं चाश्रयनाशादेव नश्यतीत्याह – (२) नाश इति। अर्थात्परिमाणस्यैव। (३) न चावयविनाशः कथं परिमाण नाशकः सत्यप्यवयविनि परिमाणान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वा- दिति वाच्यम्, परमाणुविश्लेषे हि द्व्यणुकस्य नाशोऽवश्यमभ्युपेयस्तन्नाशे

च त्रसरेणुनाश एवं क्रमेण महावयविनो नाशस्यावश्यकत्वात्।

(१) करिकार्थ में स्पष्ट है। (२) नाश शब्द यहाँ परिमाण नाश का बोधक है। (३) शङ्का-जिस अवयवी से तीन चार परमाणु हट गये हैं अथवा उस में मिल गये हैं उस अवयवी में "सएवायम्" इत्याकारक प्रतीति पूर्ववत् होती है। अत अवयवी का नाश नहीं मान सकते और उस अवयवी में परिमाणान्तर प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिये अवयवि नाश परिमाण नाशक कैसे होगा? समा० – परमाणुओं के परस्पर हट जाने से उन के संयोग नष्ट हो जाने के कारण द्व्यणुक का नाश अवश्य मानना होगा। एवं द्व्यणुकों को नष्ट हो जाने के कारण द्व्यणुक का नाश अवश्य मानना होगा। एवं द्व्यणुकों को नष्ट हो जाने से उन के संयोग नष्ट हो जाने के कारण त्रसरेणु का भी नाश अवश्य होगा। इस प्रकार महावयवी पर्यन्त का नाश अवश्य मानना होगा क्योंकि असमवायि कारण के नाश से द्रव्य का नाश अवश्य होता है।

(४) सति च नाशकेऽनभ्युपगममात्रेण नाशस्यापलपितु-मशक्यत्वात्। (5) शरीरादाववयवोपचयेऽसमवायिकारणनाशस्याव-श्यक- त्वादवयविनाश आवश्यतः।

(४) नाश की सामग्री रहने पर अस्वीकार मात्र से नाश का अपलाप नहीं हो सकता है। (५) एवं शरीरादि के अवयवों के उपचय स्थल में पूर्व शरीर के असमवायि कारण अवयव संयोग का विनाश अवश्य होता है। इसलिये अवयवी रूप शरीर का विनाश भी अवश्य मानना होगा। जिससे पूर्व परिमाण नष्ट होकर परिमाणान्तर उत्पन्न होता है। इस से भी पर्यवसितु हुआ कि बिना अवयवी के नाश से परिमाण का नाश नहीं होता है।

(६) नच पटाद्यविनाशेऽपि तन्त्वन्तरसंयोगात्परिमाणाधिक्यं न स्यादिति वाच्यं, तत्रापि वेमाद्यभिघातेना समवायिकारणतन्तुसंयोग-नाशात्पटनाश्स्यावश्यकत्वात्।

(६) शंका – पट के रहते हुए भी कुछ तन्तुओं के जोड़ने से उस पट में परिमाण का आधिक्य होता है वह नहीं होगा क्योंकि बिना पटके

नाश होने से पूर्व परिमाण का नाश नहीं हो सकता है और बिना पूर्व परिमाण नाश के परिमाणान्तर की उत्पत्ति नहीं होगी। समा० – तन्त्वन्तर संयोग जनक अभिघात से पट के असमवायि कारण तन्तुद्वय संयोग को नष्ट हो जाने से पट का नाश अवश्य मानना होगा।

(७) किं च तन्त्वन्तरस्य तत्पटावयवत्वे पूर्वं तत्पट एव न स्यात्तन्त्वन्तररूपकारणाभावात्। (८) तन्त्वन्तरस्यावयवत्वाभावे च न तेन परिमाणाधिक्यं संयुक्तद्रव्यान्तरवत्।

(७) एवं तन्त्वन्तर यदि पूर्व पट का अवयव माना जाय तो (समवायि कारण रूप) तन्त्वन्तर से पूर्व उक्त पटरूप कार्य ही सिद्ध नहीं होगा क्योंकि कार्य से पहले कारण का रहना आवश्यक है किन्तु वह यहाँ नहीं है। (८) यदि तन्त्वन्तर उक्त पट का कारण नहीं माना जाय तो उन तन्त्वन्तरों से परिमाण का आधिक्य नहीं होगा। जैसे घट पट के संयोग से उन दोनों का परिमाण नहीं बढ़ता है केवल संयुक्त व्यवहार मात्र होता है।

(९) तस्मात्तत्र तन्त्वन्तरसंयोगे सति पूर्वपटनाश- स्ततः पटान्तरोत्पत्तिरित्यवश्यं स्वीकार्यम्। (१०) अवयबिनः प्रत्यभिज्ञानं तु साजात्येन दीप कालिकादिवत्।

(९) इसलिये पूर्व पट के साथ तन्त्वन्तर संयोग होने से पहले पूर्व पट का नाश तब द्वितीय पट की उत्पत्ति होती है। यह अवश्य मानना होगा। (१०) "सएवायं पटः" इत्याकारक तत् पटरूप अवयवी की प्रत्यभिज्ञा तो दीप शिखा को प्रति क्षण भिन्न होने पर भी "सैवेयं दीपकलिका" इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा के समान साजात्य विषयक है।

(११) न च पूर्वतन्तव एव तन्त्वन्तरसहका- रात्पूर्वपटे सत्येव पटान्तरमारभन्तामिति वाच्यं, मूर्तयोः समानदेशताविरोधात्तत्र पटद्वयासंभवादेकदा नानाद्रव्यस्य तत्रोपलम्भस्य बाधितत्वाच्च। (१२) तस्मात्पूर्वद्रव्यस्य प्रतिबन्धकस्य विनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्ति- रित्यस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्॥

(११) शंका – पूर्वतन्तु नवीन तन्त्वन्तर के साहाय्य से पूर्व पट के रहते हुए ही पटान्तर की उत्पत्ति करता है ऐसा मानें वह भी नहीं हो सकता। क्योंकि दो मूर्त समवाय सम्बन्ध से एक जगह में नहीं रह सकते हैं। अतः एक तन्तु में पटद्वय की समवाय सम्बन्ध से उत्पत्ति असम्भव है। एवम् एक तन्तु में एक कालावच्छेदेन समवाय सम्बन्ध से दो पट का प्रत्यक्ष भी नहीं होता है। (१२) इस से यही पर्यवसित होता है कि समवाय सम्बन्ध से उत्तरपट का समवाय सम्बन्ध से प्रतिबन्धक जो पूर्व पट उस के नाश हुए बिना नवीन पट की उत्पत्ति उन तन्तुवों में नहीं हो सकती यह आप को अवश्य मानना होगा।

पृथक्त्वं निरूपयति = पृथक्त्व का निरूपण करते हैं।

का० ११३, ११४

संख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात्पृथक्प्रत्ययकारणम्।
अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते।
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा॥

का० अर्थ

यह इस से पृथक् है इस व्यवहार का असाधारण कारण पृथक्त्व है उस में नित्यत्वानित्यत्व संख्या के समान है, वह पृथक्त्व अन्योन्याभाव से गतार्थ नहीं हो सकता है क्योंकि "इदमस्मात् पृथक्" इत्याकारक पृथक्त्व प्रतीति से "इदमिदन्न" इत्याकारक अन्योन्याभाव की प्रतीती में वैलक्षण्य का स्पष्ट भान होता है।

(१) संख्यावदिति। पृथक्प्रत्ययासाधारणं कारणं पृथक्त्वम् (२) तन्नित्यतादिकं संख्यावत्। तथाहि नित्येष्वेकत्वम् नित्यम्। अनित्येष्वनित्यम् अनित्यमेकत्वं तु आश्रयद्वितीयक्षणे चोत्पद्यते- आश्रयनाशान्नश्यति। तथैव पृथक्त्वमपि। द्वित्वादिवच्च द्विपृक्त्वादि- कमपीत्यर्थः।

(१) कारिकार्थ ही से स्पष्ट है। (२) पृथक्त्वगत नित्यत्व, अनित्यत्व,

संख्या के समान है। जैसे नित्यगत एकत्व संख्या नित्य और अनित्यगत एकत्व संख्या अनित्य होती है। एवम् अनित्य एकत्व आश्रयोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है और आश्रय के नाश से नष्ट होता है। तथा एक पृथक्त्व भी नित्यगत नित्य और अनित्यगत अनित्य है। इसी प्रकार द्वित्वादिसंख्या के समान द्विपृथक्त्वादि भी अनित्य और अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त कारण से उत्पन्न होने वाला तथा अपेक्षाबुद्धि के नाश से नष्ट होने वाला है यही अभिप्राय है।

(३) नन्वयमस्मात्पृथगित्यादा वन्योन्याभावो भासते तत्कथं पृथक्त्वं गुणान्तरं स्वीक्रियते, न चास्तु पृथक्त्वं न त्वन्योन्याभाव इति वाच्यं, रूपं न घट इति प्रतीत्यनापत्तेः। (४) नहि रूपे घटावधिकं पृथक्त्वं गुणान्तरमस्ति न वा घटे घटावधिकं पृथक्त्वमस्ति येन परम्परा संबन्धः कल्प्यतत्यन्त आह। (५) अस्मादिति।

(३) शङ्का – "इदमस्मात् पृथक्" इस प्रतीति में अन्योन्याभाव ही का भान मानने से कुछ हानि नहीं है तब पृथक्त्व रूप गुणान्तर मानना व्यर्थ है। यदि अन्योन्या भाव को नहीं मानकर "इदम् इदं न" इस प्रतीति का विषय पृथक्त्व ही को माने तो इस प्रश्न का समाधान यह दिया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में "रूपं न घटः" ऐसी प्रतीति नहीं होगी। (४) क्योंकि रूप को गुण होने के कारण घटावधिक पृथक्त्व रूप में नहीं रह सकता है क्योंकि गुण में गुण नहीं रहता है। "रूपं न घटः" इस प्रतीति में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से घटावधिक पृथक्त्व का रूप में भान होता है ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि घट में यदि घटावधिक पृथक्त्व रहे तब घटवृत्ति रूप में घटावधिक पृथकत्व सामानाधिकरण्य रूप परम्परा सम्बन्ध से भासित हो सकता है किन्तु ऐसा नहीं है। इस से यह पर्यवस्नित हुआ कि अन्योन्या भाव को नहीं मानना आवश्यक है। तब "इदमस्मात् पृथक्" इस प्रतीति का विषय अन्योन्या भाव ही को मान लेने से काम चल जाता है तब पृथक्त्व को मानना व्यर्थ है यह प्रश्न अभी तक निरुत्तरित रह गया अतः– (५) "अस्मात् पृथक् इदं नेति" इत्यादि कारिका से समाधान करते हैं कि अन्योन्या भाव ही को मान कर यदि पृथक्त्व नहीं माना जाय तो अर्थ भेद के बिना प्रतीती में भिन्नाकारत्व

नहीं होने के कारण "इदमस्मात् पृथक्" "इदम् इदन्न" इन दोनों प्रतीतियों में वैलक्षण्य नहीं होगा।

(६) ननु शब्दवैलक्षण्यमेव न त्वर्थवैलक्षण्य मिति चेन्न विनार्थभेदं घटास्पृथगितिवद्धटो न पट इत्यत्रापि पंचमीप्रसङ्गात्। (७) तस्माद्यदर्थयोगे पञ्चमी सोऽर्थो नञर्थान्योन्याभावतो भिन्नो गुणान्तरं कल्प्यत इति।

(६) उक्त दोनों प्रतीतियों में केवल शब्द भेद कृत भेद है। अर्थ भेद कृत भेद नहीं है। यह शंका भी निर्मूल ही है क्योंकि यदि अर्थ भेद न हो तो जैसे "घटात् पृथक्" इस प्रयोग में पञ्चमी विभक्ति होती है उसी प्रकार "घटो न पट:" इस प्रयोग में भी पंचमी विभक्ति होनी चाहिये किन्तु नहीं होती है। (७) इसलिये यदर्थक शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है उस पृथक्त्व रूप अर्थ को "न अर्थ" अन्योन्या भाव से भिन्न गुणान्तर मानना होगा।

संयोगं निरूपयति = संयोग का निरूपण करते हैं।

का० ११५

अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।
कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः॥

का० अर्थ।

अमिलित द्रव्यद्वय का जो मिलन वह संयोग कहा जाता है वह संयोग तीन प्रकार का है जिस में प्रथम अन्यतर कर्मजन्य है। अर्थात् संयुक्त होने वाले दो द्रव्यों में किसी एक द्रव्य के कर्म से पैदा होने वाला है।

(१) अप्राप्तयोरिति। तं विभजते-कीर्तित इति। एष संयोगः।

(१) अर्थ स्पष्ट है।

का० ११६, ११७ पूर्वा०

तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपरः।
आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः॥
मेषयोः संनिपातो यः स द्वितीय उदाहृतः।

का० अर्थ।

दूसरा उभय कर्मजन्य और तीसरा संयोगजन्य है इन तीनों में पर्वत के साथ श्येनादि पक्षी का संयोग प्रथम अन्यतर कर्मजन्य संयोग है। भेड़ों का सन्निपात (टक्कर) रूप द्वितीय उभय कर्मजन्य संयोग है।

(१) सन्निपातः संयोगः। द्वितीय उभयकर्मजः।

(१) अर्थ स्पष्ट है।

का० ११७ उत्त० ११८ = ११९ पूर्वा०

कपालतरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः।
तृतीयः स्यात्कर्मजोऽपि द्विधैव परीकीर्तितः।
अभिघातो नोदनं च शब्दहेतुरिहादिमः॥
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्याद्।

का० अर्थ।

कपाल वृक्ष के संयोग से उत्पन्न घट वृक्ष का संयोग तृतीय संयोगजन्य संयोग है। अन्यतर कर्मजन्य और उभय कर्मजन्यरूप जो कर्मज संयोग वह अभिघात और नोदन के भेद से दो प्रकार का होता है। शब्द का जनक जो संयोग वह अभिघात कहा जाता है और शब्द का अजनक जो संयोग वह नोदन कहा जाता है।

(१) तृतीय इति। संयोगजसंयोग इत्यर्थः। तृतीयःस्यादिति पूर्वेणान्वितम्। आदिमः अभिघातः। द्वितीयो नोदनाख्यः संयोग इति।

(१) अर्थ स्पष्ट है।

विभक्तप्रत्यय कारणं विभागं निरूपयति = यह इस से विभक्त है इस प्रतीति असाधारण कारण जो विभाग उस का निरूपण करते हैं।

का० ११९, १२०

विभागोऽपि त्रिधा भवेत्।
एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्वयकर्मोद्भवोऽपरः॥
विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत्।
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः॥

का० अर्थ।

विभाग भी तीन प्रकार का होता है, प्रथम एक कर्मजन्य (अन्यतर कर्मजन्य) है। द्वितीय उभय कर्मजन्य है और तृतीय विभागजन्य है। तृतीय जो विभागजन्य विभाग वह भी कारण मात्र विभागजन्य विभाग और कारणाकारण विभागजन्य विभाग के भेद से दो प्रकार का होता है।

(१) विभाग इति। एक कर्मेति। तदुदाहरणं तु श्येनशैल-विभागादिकं पूर्ववद्बोध्यम्। (२) तृतीयोऽपि विभागजविभागः-कारणमात्रविभागजन्यः कारणाकारणविभागजन्यश्चेति। (३) आद्यस्तावत् यत्र कपाले कर्म ततः कपालद्वयविभागः। (४) ततो घटारम्भकसंयोगनाशः। (५) ततो घटनाशः। (६) तस्तेनैव कपालविभागेन सकर्मणः कपालस्याकाशविभागोजन्यते। (७) तत आकाशसंयोगनाशः। (८) तत उत्तरदेशसंयोगः। (९) ततः कर्मनाश इति।

(१) उक्त तीन प्रकार के विभागों में पर्वत से जो श्येनादि पक्षी का विभाग वह अन्यतर कर्मज विभाग है एवं मेषद्वय का विभाग उभय कर्मज विभाग है। (२) तीसरा जो विभागजविभाग वह कारण मात्र विभागजन्य और कारणाकारणविभागजन्य के भेद से दो प्रकार का है। (३) कारण मात्र विभागजन्य विभाग का उदाहरण यह है कि जिस स्थान में एक कपाल में कर्म हुआ है तब कपालद्वय का विभाग। (४) तब घट

का आरम्भक जो कपालद्वयसंयोग उस का नाश। (५) तब घट नाश। (६) तब उसी कपाल विभाग से सकर्मक कपाल में आकाश के साथ विभाग उत्पन्न होता है। (७) तब पूर्व देशावच्छिन्न जो कपालाकाश संयोग उस का नाश होता है। (८) तब उत्तर देश के साथ कपाल का संयोग होता है। (९) तब कपाल कर्म का नाश होता है। कपाल कपाल के विभाग से उत्पन्न जो कपाल और आकाश का विभाग वही कारण मात्र विभागजन्य विभाग है।

(१०) न च तेन कर्मणैव कथं देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम्, एकस्य कर्मणः आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनक- त्वस्य अनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्वि विभागजन्यकत्वस्य च विरोधात्। अन्यथा विकसत्कमल कुड्मलभङ्गप्रसंगात्।

(१०) [1]शंका - कपालद्वय विभाग का कारण जो एक कपालगत कर्म उसी से कपालाकाश विभागोत्पत्ति क्यों नहीं मानते हैं? समा० - आरम्भक संयोग विरोधिविभागजनकत्वं एवं अनारम्भक संयोग विरोधिविभागजनकत्व इन दिनों में परस्पर विरोध है अर्थात् एक वस्तु में ये दोनों नहीं रह सकते हैं इसलिये आरम्भक कपालद्वय संयोग विरोधि विभागजनक जो कपालगत कर्म वह अनारम्भक कपालाकाश संयोग के विरोधी जो कपालाकाश विभाग उसका जनक नहीं हो सकता है।

(११) अन्यथा विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्।

(११) अनारम्भक संयोग विरोधि विभागजनक कर्म को यदि आरम्भक संयोग विरोधि विभाग के जनक मानें तो खिलते हुए कमल-कोष का नाश जो जायगा क्योंकि कमल पत्रों का अग्रावच्छेदेन जो द्रव्यानारम्भक परस्पर संयोग तद्विरोधी विभाग का जनक जो पत्रगत कर्म है उस कर्म से मूलावच्छेदेन पत्रों का जो कमलारम्भक संयोग तद्विरोधी जो मूलावच्छेदेन कमल पत्र विभाग वह उत्पन्न हो जायगा। तब उस विभाग से कलारम्भक संयोग नाश होने के बाद कमल का भी नाश सुतरां हो जायगा।

---

१. द्रव्योत्पादक अवयव द्वय संयोग आरम्भक संयोग कहलाता है।

(१२) तस्माद् यदीदमनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्वि विभागं जनयेत्त-दारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं न जनयेत्।

(१२) इसलिये कपाल गत कर्म से यदि अनारम्भक कपालाकाश संयोग का विरोधी विभाग उत्पन्न हो तो घटारम्भक संयोग विरोधी कपालद्वय विभाग उत्पन्न नहीं होगा। तब यह सिद्ध हुआ कि कपालगत कर्म से कपालाकाश विभाग उत्पन्न नहीं होगा।

(१३) न च कारणविभागनैव द्रव्यनाशात् पूर्वं कुतो देशान्तर विभागो न जन्यत इति वाच्यम्, आरम्भक संयोगप्रतिद्वन्द्वि विभागवतोऽवयवस्य सति द्रव्ये देशान्तरविभागासंभवात्।

(१३) शंका कहते हैं कि कपालद्वय विभाग से घट नाश के पूर्व क्षण में अर्थात् कपालद्वय संयोग नाश क्षण के कपालाकाश विभाग क्यों नहीं उत्पन्न होता है जो आप घट नाश के उत्तर क्षण में मानते हैं? समा० – आरम्भक संयोग विरोधि विभागाश्रय कपालादि रूप अवयव में जब तक घटादि रूप द्रव्य समवायेन रहेगा तब तक उस अवयव का आकाशादि रूप देशान्तर के साथ विभाग नहीं हो सकता है। क्योंकि आरम्भक संयोग विरोधिविभागाश्रय अवयव में देशान्तर विभाग के प्रति समवाय सम्बन्धेन घटादि रूप द्रव्य प्रतिबन्धक है।

(१४) द्वितीयस्तावत्। यत्र हस्तक्रियया हस्ततरुविभागस्ततः शरीरेऽपि विभक्तप्रत्ययो भवति तत्र शरीरतरुविभागे हस्तक्रिया न कारणं व्यधिकरणत्वात्। (१५) शरीरे तु क्रिया नास्त्येव अवयविकर्मणो यावदवयवकर्मनियतत्वात्। (१६) अतस्तत्र कारणाकारणविभागेन कार्याकार्य विभागो जन्यत इति।

(१४) कारणाकारण विभागजन्रू विभाग का उदाहरण। जहाँ हस्त में क्रिया होने के कारण हस्त वृक्ष का विभाग हुआ है तब उस विभाग से शरीर और वृक्ष में विभाग की प्रतीति होती है इसलिये शरीर और वृक्ष का विभाग मानना होगा उस विभाग में हस्त की क्रिया असमानाधिकारण होने के कारण कारण नहीं है। (१५) अवयवी के प्रत्येक अवयवों में जब तक क्रिया नहीं होती तब तक अवयवी क्रियावान् नहीं कहता है।

इसलिये हस्त मात्र में क्रिया होने के कारण शरीर में क्रिया नहीं मानी जा सकती जिसको समानाधिकारण होने के कारण वृक्ष विभाग के प्रति कारणत्व मानना युक्त होता। (१६) इसलिये (अगत्या) कारणाकारण विभाग रूप हस्त तरु विभाग से कार्याकार्य विभाग रूप शरीर तरु विभाग उत्पन्न होता है ऐसा मानना होगा।

(१७) अत एव विभागो गुणान्तरम्। अन्यथा शरीरे विभक्तप्रत्ययो न स्यात्। अतः संयोग नाशेन विभागो नान्यथासिद्धो भवति।

(१७) विभागज विभाग मानने के कारण संयोगध्वंस रूप विभाग नहीं मान सकते हैं। क्योंकि संयोगध्वंस रूप ही यदि विभाग माना जाय तो हस्त तरु विभागानन्तर शरीर में तरु विभागप्रत्यय नहीं होगा क्योंकि हस्तक्रियाजन्य जो हस्ततरुसंयोगध्वंस वह शरीर में वृत्ती नहीं है। हस्तक्रिया व्यधिकरण होने के कारण शरीर गत संयोगजसंयोग ध्वंस का कारण नहीं होगा। यदि शरीर में क्रिया होती तो तज्जन्य शरीरगत संयोगज संयोग का नाश होता किन्तु उस समय सकल अङ्ग में क्रिया नहीं है अतः शरीर में क्रिया नहीं मानी जा सकती इसलिये संयोग ध्वंस रूप विभाग नहीं है किन्तु गुणान्तर है तब हस्त क्रिया जन्य हस्त तरु विभाग से शरीर तरु विभाग शरीर में रहने के कारण शरीरगत विभक्तप्रत्यय में कोई बाधा नहीं है।

परापर व्यवहारनिमित्ते परत्वापरत्वे निरूपयति =

परापर व्यवहार का असाधारण कारण जो परत्व और अपरत्व उन दोनों का निरूपण करते हैं।

का० १२१, १२२

परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम्।
दैशिकं कालिकं चापि मूर्त एव तु दैशिकम्।।
परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत्।
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम्।।

का० अर्थ।

दैशिक और कालिक के भेद से परत्व तथा अपरत्व दो-दो प्रकार के होते हैं। जिन में दूरत्व, समीपत्व रूप दैशिक परत्वापरत्व मूर्त मात्र में रहते हैं। दैशिक परत्व बहुतर मूर्त संयोगान्तरितत्व ज्ञान से उत्पन्न होता है और दैशिक अपरत्व अल्पतर मूर्त संयोगान्तरितत्व ज्ञान से उत्पन्न होता है।

(१) परत्वं चेति। दैशिकमिति। दैशिकपरत्वं बहुतरमूर्तसंयोगान्त-रितत्वज्ञानादुंत्पद्यते। एवं तदल्पीयस्त्व ज्ञानादपरत्व मुत्पद्यते। अत्राव धित्वार्थं पञ्चम्यपेक्षा। यथा पाटलिपुत्रात्काशीमपेक्ष्य प्रयागः परः पाटलिपुत्रात्कुरुक्षेत्रमपेक्ष्य प्रयागोऽपर इति।

(१) उदाहरण पाटलिपुत्र (पटना) से काशरी तक मध्य में जितने मूर्त संयोग हैं उन से अधिक मूर्तसंयोग पटने से प्रयाग तक है। इत्याकारक ज्ञान से काशी की अपेक्षा प्रयाग में परत्व उत्पन्न होता है। एवं पटना और कुरुक्षेत्र के मध्य में जितने मूर्त संयोग हैं। तदपेक्षया अल्प मूर्त संयोग पटना और प्रयाग के मध्य में हैं। इत्याकारक ज्ञान रहने पर प्रयाग में अपरत्व उत्पन्न होता है "पाटलि पुत्रात्" एतत्प्रयोग घटक पञ्चमी अवधित्व ज्ञानार्थ अपेक्षित है।

का० १२३ पृ०

तयोरसमवायी तु दैशिकसंयोगस्तदाश्रये।

का० अर्थ।

दैशिक परत्वापरत्व का असमवायि कारण दैशिक परत्वापरत्वाश्रय के साथ दिशा का संयोग है।

(१) तयोर्दैशिक परत्वापरत्वयोः। असमवायी असमवायिकारणम्। तदाश्रये दैशिक परत्वापरत्वाश्रये।

(१) कारिकार्थ से स्पष्ट है।

का० १२३, १२४

दिवाकरपरिस्पन्द भूयस्त्वज्ञानतो भवेत्।
परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः।।
अत्र त्वसमवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः।।

का० अर्थ।

दिवाकर के परिस्पन्द (क्रिया) में भूयस्त्वज्ञान से ज्येष्ठत्व रूप कालिक परत्व उत्पन्न होता है। एवं दिवाकर परिस्पन्द में अल्पत्व ज्ञान से कनिष्ठत्व रूप कालिक अपरत्व उत्पन्न होता है। कालिक परत्वापरत्व का असमवायि कारण कालिक परत्वापरत्वाश्रय के साथ काल का संयोग है।

(१) दिवाकरोति। अत्र परत्वमपरत्वं कालिकं ग्राह्यम्। (२) यस्य सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स ज्येष्ठः। यस्य न्यूनः स कनिष्ठः। (३) कालिक परत्वापरत्वे जन्यद्रव्य एव। अत्र कालिक परत्वापरत्वयोः।

(१) कारिका घटक परत्वापरत्व शब्द से कालिक परत्वापरत्व समझना चाहिये। (२) जिस वस्तु की उत्पत्ति समय से लेकर वर्तमान समय पर्यन्त सूर्य परिस्पन्दापेक्षया जिस वस्तु की उत्पत्ति समय से लेकर वर्तमान समय पर्यन्त सूर्य परिस्पन्द अधिक है वह ज्येष्ठ है। अगर अल्प है तो वह कनिष्ठ है। (३) जिस हेतु नित्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है अतः कालिक परत्व और अपरत्व जन्यद्रव्य मात्र में रहते हैं। कारिका में "अत्र" शब्द कालिक परत्वा परत्व पर है।

का० १२५ पूर्वा०

अपेक्षाबुद्धिनाशेन नाशस्तेषां निरूपितः।

का० अर्थ।

अपेक्षाबुद्धि के नाश से दैशिक और कालिक परत्वापरत्व का नाश होता है।

(१) तेषां कालिकदैशिकपरत्वापरत्वानाम्।

(१) कारिका घटक तत्पद कालिक और दैशिक परत्वापरत्व बोधक है।

क्रमप्राप्तां बुद्धिं निरूपयितुमाह = निरूपण क्रमप्राप्त बुद्धि का निरूपण करते हैं।

का० १२५, १२६, १२७

बुद्धेः प्रपञ्चं प्रागेव प्रायशो विनिरूपितः।
अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते।
अप्रमा च प्रमाचेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते।
तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता।
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः॥

का० अर्थ।

बुद्धि के प्रभेद (प्रकार) का निरूपण पूर्व ही अधिक हो चुका है। अब उस के अवशिष्ट प्रकार बतलाये जाते हैं। यथार्थ और अयथार्थ के भेद से ज्ञान दो प्रकार के होते हैं। तदभाववद्विशेष्यक और तत्प्रकारक जो ज्ञान वह अयथार्थ ज्ञान कहाता है। अयथार्थ ज्ञान विपर्यास और संशय के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

(१) बुद्धेरिति। तत्राप्रमां निरूपयति-तच्छून्य इति। तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः। तत्प्रपञ्चोऽप्रमाप्रपञ्चः।

(१) इन का अर्थ कारिकार्थ से ही स्पष्ट है।

का० १२८।

आद्यो देहेष्वात्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः।
भवेन्निश्चयरूपा या संशयोऽथ प्रदर्श्यते॥

का० अर्थ।

निश्चयात्मक भ्रम विपर्यास कहलाता है यथा "गौरोऽहम्" इत्याकारक देह विशेष्यक आत्मत्व प्रकारक निश्चय एवं "शंख: पीत:" इत्याकारक शंख विशेष्यक पीतत्व प्रकारक निश्चय विपर्याप्त है। अब संशय का स्वरूप बतलाते हैं।

(१) आद्य इति। विपर्याप्त इत्यर्थः। शरीरादौ निश्चयरूपं यदात्मत्वप्रकारकं ज्ञानं गौरोऽह- मित्याकारकम्। एवं शङ्खादौ पीतः शङ्ख इत्याकारकं यज्ज्ञानं निश्चयरूपं तदभ्रम इति।

(१) कारिकार्थ से ही स्पष्ट है।

का० १२९

किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादि बुद्धिस्तु संशयः।
तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः॥

का० अर्थ।

"अयं नरोवा स्थाणुर्वा" इत्याकारक बुद्धि संशय रूप है एवं तदभावाप्रकारक तत्प्रकारक ज्ञान निश्चय है।

(१) किं स्विदिति। किं स्विदितिवितर्के। निश्चयस्य लक्षणमाह-तदभावेति तदभावाप्रकारकं तत्प्रकारकं ज्ञानं निश्चयः।

(१) किंस्वित् शब्द वितर्कार्थक है। तदभावेत्यादि कारिका से निश्चय का लक्षण कहते हैं जो कारिकार्थ से स्पष्ट है।

संशयं लक्षयति = संशय का लक्षण करते हैं।

का० १३०

स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः।
साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम्॥

का॰ अर्थ।

एक वस्तु विशेष्यक विरुद्ध भावाभाव प्रकारक ज्ञान संशय है। साधारणादि धर्म ज्ञान संशय का कारण है।

(१) स संशय इति। एकधर्मिक विरुद्ध भावाभाव प्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थः।

(१) कारिकार्थ से स्पष्ट है।

(२) साधारणेति। उभयसाधारणो यो धर्मस्तज्ज्ञानं संशयकारणम्। (३) यथोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषसाधारणं ज्ञात्वायं स्थाणुर्नवेति संदिग्धे। (४) एवमसाधारण धर्मज्ञानमपि कारणम्। यथा शब्दत्वस्य नित्यानित्यव्यावृत्तत्वेन शब्दे गृहीतत्वाच्छब्दो नित्यो न वेति संदिग्धे।

(२) कोटिद्वय समानाधिकरण जो धर्म उस का ज्ञान संशय का कारण है। (३) यथा स्थाणुत्व स्थाणुत्वा भाव रूप कोटिद्वय समानाधिकरण उच्चैस्तरत्व का पुरोवर्त्ती "इदम्" पदार्थ में ज्ञान होने से "अयंस्थाणुर्न वा" इत्याकारक सन्देह होता है। (४) एवं कोटि द्वय के असमानाधिकरण जो धर्म उस का ज्ञान भी संशय का कारण है। यथा "शब्दो नित्यः शब्दत्वात्" इस स्थल में शब्द का पक्ष होने के कारण शब्द में नित्यत्व, एवं नित्यत्वाभाव का निश्चय नहीं है। इसलिये शब्दत्व में नित्यत्व सामानाधिकरण्य एवं नित्यत्वाभाव सामानाधिकरण्य का निश्चय नहीं होगा, अतः "नित्यत्व नित्यत्वाभाव रूप कोटिद्वया समानाधिकरण शब्दत्ववान् शब्दः" इत्याकारक ज्ञान होने से "शब्दो नित्यो न वा" इत्याकारक सन्देह होता है।

(५) विप्रतिपत्तिस्तु शब्दो नित्यो न वेत्यादि शब्दात्मिका न संशयकारणं शब्दव्याप्ति ज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वस्वभावात्। (६) किंतु तत्र शब्देनकोटिद्वयज्ञानं जन्यते संशयस्तु मानस एवेति।

(५) "शब्दो नित्यो न वा" इत्यादि शब्द रूप विप्रतिपत्ति संशय का कारण नहीं है क्योंकि शब्द और व्याप्ति ज्ञानादि को निश्चय मात्र जनकत्व स्वभाव है। (६) किन्तु विप्रतिपत्ति स्थल में "शब्दो नित्यो न

वा" इत्याद्याकारक शब्द रूप विप्रतिपत्ति से नित्यत्व नित्यत्वाभावाद्यात्मक कोटिद्वय का स्मरण होता है तदनन्तर शब्दादि विशेष्यक नित्यत्व नित्यत्व भावादि प्रकारक संशय मानस (उपनीत भानात्मक) होता है।

(७) एव ज्ञाने प्रामाण्य संशयाद्विषयसंशय इति।

(७) "अयं घटः" इत्याकारक घटत्वेप्रकारक ज्ञान में "इदं घटत्व प्रकारकं ज्ञानं घटत्ववति घटत्वप्रकारकं नवा" इत्याकारक प्रामाण्य संदेह से "अयं घटो न वा" इत्याकारक घटत्व का संशय होता है।

(८) एवं व्याप्य संशयादपि व्यापकसंशय इत्यादिक बोध्यम्। (९) किंतु संशये धर्मिज्ञानं धर्मीन्द्रियसंनिकर्षो वा कारणमिति।

(८) एवं धूमादि रूप व्याप्य के सन्देह से वह्न्यादि रूप व्यापक का सन्देह होता है। (९) एवं संशय में धर्मी का ज्ञान अथवा धर्मी के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष कारण है।

का० १३१

दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत्।
पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधः स्मृतः॥

का० अर्थ।

अप्रमा के प्रति दोष और प्रमा के प्रति गुण कारण है। पित्त दूरत्वादि भेद से दोष अनन्त प्रकार के हैं।

(१) दोष इति। अप्रमां प्रति दोष कारणम्। प्रमां इति गुणः कारणम्। (२) तत्रापि पित्तादिरूपा दोषा अननुगताः। तेषां कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धम्। (३) गुणस्य प्रमाजनकत्वं तु अनुमानात्सिद्धम्। यथा प्रमा ज्ञानसाधारणकारणभिन्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वात् अप्रमावत्।

(१) कारिकार्थ से स्पष्ट है। (२) पित्तादि रूप दोष अननुगत है। अप्रमात्मक ज्ञान के साथ अन्वय व्यतिरेक रहने के हेतु वह अप्रमात्मक

ज्ञान के प्रति कारण माना जाता है। (३) गुण में प्रमाजनकत्व अनुमान से सिद्ध है यथा "प्रमा ज्ञानसामान्य कारण भिन्नकारण जन्याजन्यज्ञानत्वात् अप्रमावत्" अर्थात् आत्म-मनः संयोगत्वङ्मनः संयोगादिरूप ज्ञानसामान्य के कारण से भिन्न पित्तादि दोषरूप कारणजन्य अप्रमा ज्ञान के तरह प्रमा ज्ञान भी जन्य ज्ञानरूप होने के कारण उक्त संयोगादि रूप ज्ञान सामान्य के कारण से भिन्न सन्निकर्षादि रूप गुणजन्य है।

(४) नच दोषाभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यं पीतः शङ्ख इति ज्ञानस्थले पित्तदोषसत्त्वाच्छङ्खत्वप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

(५) विनिगमनाविरहादनन्तदोषाभावकारणत्वमपेक्ष्य गुणस्य कारणताया न्याय्यत्वात्।

(४) शङ्का – प्रमा में गुण को कारण नहीं मान कर दोषाभाव ही को कारणता मानें तो क्या हानि है? समा० – "पीतः शंखः" इत्याकारक आंशिक अप्रमात्मक प्रभा में पित्त रूप दोष रहने के कारण दोषाभाव नहीं रहेगा। अतः वह ज्ञान शांत्वाश में प्रमा है यह नहीं होगा।

(५) और यह भी कारण है कि सकल दोष में एक दोषत्व अनुगत नहीं रहने के कारण दोषत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक दोष सामान्य भाव को आप कारण नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह अप्रसिद्ध हो जायगा। अतः विनिगमना विरहात् अनन्त तत्तत् दोषाभाव कूट ही को कारणत्व मानना होगा। तदपेक्षया लाघवात् गुण ही को कारणत्व मानना उचित है।

(६) नच गुणसत्त्वेऽपि पित्तेन प्रतिबन्धाच्छंखे न श्वैत्यज्ञानमतः पित्तादिदोषाभावानां कारणत्वमवश्यं वाच्यं तथाच किं गुणस्य हेतुत्व कल्पनयेति वाच्यं, तथाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणस्यापि हेतुत्वसिद्धेः।

(६) (शंका) यदि कहे कि शंखगत शुक्ल रूप के साथ चक्षुः संयुक्त समवाय रूप सन्निकर्षात्मक गुण रहने पर भी नेत्रगत पित्तदोष प्रयुक्त शंख रूप की प्रमा नहीं होती है। अब उक्त गुण रहने के कारण प्रमा होनी चाहिये। अतः प्रमा के प्रति दोषाभाव को कारणत्व मानना आवश्यक हुआ तब गुण को कारणत्व मानना व्यर्थ है। (समाधान) यह

युक्त नहीं है क्योंकि नेत्रगत पित्तादि दोष रहित पुरुषों को दोषाभाव रहने पर भी शंख में पीत रूप प्रकारक प्रमा नहीं होती है। वह क्यों नहीं होगी अतः सन्निकर्षादि रूप गुण को भी प्रमा कारण मानते हैं। तब दोषाभाव को रहते हुए भी पीत रूप के साथ सन्निकर्षात्मक गुण नहीं है। इसलिये शंख में पीत प्रमा नहीं होती है।

(७) एवं भ्रमं प्रति गुणाभावः कारणमित्यस्यापि सुवचत्वात्।

(७) प्रमा के साथ गुण में अन्वय व्यतिरेक रहने पर भी यदि आप प्रमा के प्रति केवल दोषाभाव को कारण मानकर गुण को अन्यथासिद्ध माने तो भ्रम के साथ दोष में अन्वय व्यतिरेक रहने पर भी भ्रम के प्रति गुणाभाव ही को कारणत्व मानकर दोष को अन्यथा सिद्ध क्यों नहीं माना जाय? इससे यह पर्यवसित हुआ कि भ्रम के प्रति यथा दोष और गुणाभाव दोनों कारण हैं तथा प्रमा के प्रति भी गुण और दोषाभाव दोनों कारण हैं। नेत्रगत पित्तदोष विशिष्ट पुरुष को दोष रहने पर भी पीत पट में पीत रूप प्रकारक भ्रम नहीं होता। अतः भ्रम के प्रति सन्निकर्ष रूप गुणाभाव को कारणत्व मानते हैं एवं सन्निकर्ष रूप गुणाभाव रहने पर भी बिना पित्तादि दोष के शंख में पीत रूप प्रकारक भ्रम नहीं होता अतः भ्रम के प्रति दोष को भी कारणत्व मानना आवश्यक है।

(८) तत्र दोषाः इत्याकांक्षायामाह-पित्तेति।

(८) दोष किस को कहते हैं इस आकांक्षा के निवृत्त्यर्थ पित्तेत्यादि कारिका से दोष का स्वरूप कहते हैं।

(९) क्वचित्पीतादिभ्रमे पित्तं दोषः। क्वचिच्चन्द्रादेः स्वल्पपरिमाणभ्रमे दूरत्वं दोषः। क्वचिच्च वंशोरगभ्रमे मण्डूक वसाञ्जनमित्येवंरूपा दोषा अननुगता भ्रान्तिजनका इत्यर्थः।

(९) कहीं शंखादि में पीत रूप के भ्रम में नेत्रगत पित्तजन्य पीतिमा दोष है। कहीं चन्द्रादि में अल्प परिमाण के भ्र में चन्द्रादिगत दूरत्व दोष है। कहीं वंश में सर्पत्व भ्रम में मण्डूक मज्जाञ्जन दोष है। इस प्रकार अननुगत अनन्त दोष भ्रम का जनक होते हैं।

अथ के गुणा इत्याकांक्षायां प्रत्यक्षादौ गुणान्दर्शयति =

प्रमात्मक ज्ञान के कारणीभूत गुण कौन हैं। इत्याकारक आकांक्षा निवृत्त्यर्थ प्रत्यक्षादि प्रमात्मक ज्ञान में कारणीभूत प्रत्येक २ गुण दिखलाते हैं।

का० १३२, १३३

प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम्।
संनिकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः॥
पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत्।
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः॥

का० १३४

शाब्दबोध योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा।
गुणः स्यादभ्रमभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा॥

का० अर्थ।

विशेषण विशिष्ट विशेष्य के साथ जो इन्द्रिय सन्निकर्ष वह प्रत्यक्ष प्रमा में गुण हैं। साध्यविशिष्ट पक्ष में जो साध्यव्याप्य हेतु वैशिष्ट्यावगाही परामर्श वह अनुमिति प्रमा में गुण हैं। गवयादि पद के शक्यार्थ गवयादियों में जो गवादि का सादृश्य ज्ञान वह उपमिति प्रमा के गुण है। प्रमात्मक योग्यता ज्ञान अथवा प्रमात्मक तात्पर्य ज्ञान शब्द बोध प्रमा में गुण है।

(१) प्रत्यक्षे त्विति। प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्य- संनिकर्षो गुणः। अनुमितौ साध्यवति साध्य- व्याप्यवैशिष्टज्ञानं गुणः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्।

(१) इन का अर्थ कारिकार्थ में ही स्पष्ट है।

(२) प्रमां निरूपयति। भ्रमभिन्नन्तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा। भ्रम भिन्न मिति।

(२) "भ्रमभिन्नम्" इत्यादि कारिका से प्रभा का निरूपण करते हैं, भ्रम से भिन्न ज्ञान प्रमा कहलाता है।

ननु यत्र शुक्तिरजतयोरिमे रजते इति ज्ञानं जातं तत्र रजतांशेऽपि प्रमा न स्यात्, तज्ज्ञानस्य भ्रमभिन्नत्वाभावादत आह =

शंका कहते हैं कि यदि भ्रमभिन्न ज्ञान को प्रमा माने तो जिस स्थल में शुक्ति का और रजत इन दोनों में रजतत्व प्रकारक "इमे रजते" इत्याकारक एक ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस स्थल में "इमे रजते" यह ज्ञान शुक्तिकांश में भ्रम और रजतांश में प्रमा है जो भ्रम-भिन्न नहीं होने के कारण रजतांश में भी प्रमात्मक नहीं होगा अतः "अथवा" इत्यादि कारिका से प्रमा का लक्षणान्तर करते हैं।

का० १३५, १३६ पूर्वा०

अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम्।
तत्प्रमा न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्॥
प्रकारतादिशून्यं हि संबन्धानवगाहि तत्।

का० अर्थ।

"तदाश्रयविशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान" प्रमा है और निर्विकल्पक ज्ञान न प्रमा है न भ्रम है। जिस हेतु निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारता विशेष्यता शून्य और सम्बन्धानवगाही होता है।

(१) अथवेति। तद्वद्विशेष्यकं तत्प्रकारकज्ञानं प्रमेत्यर्थः।

(१) इस का अर्थ कारिकार्थ से ही स्पष्ट है।

(२) अथैवं स्मृतेरपि प्रमात्वं स्यात्। (३) ततः किमिति चेत्तथा सति तत्करणस्यापि प्रमाणान्तरत्वं स्यादिति चेन्न। यथार्थानुभव करणस्यैव प्रमाणत्वेन विवक्षितत्वात्।

(२) (शंका) तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान ही यदि प्रमा हो तो स्मृत्यात्मक ज्ञान को भी तादृश होने के कारण प्रमात्वापत्ति हो जायगी। (३) स्मृति को प्रमा रूप होने से क्षति ही क्या है। तब स्मृति को प्रमात्मक होने से तत्करा संस्कार या अनुभव को पञ्चम प्रमाण मानना होगा। समा० – यह नहीं कह सकते हैं। क्योंकि यथार्थानुभव करण ही

को मैं प्रमाण रूप मानता हूँ। स्मृति को यथार्थानुभव रूप नहीं होने के कारण उस का करण संस्कारादि प्रमाणान्तर नहीं हो सकता है।

(४) इदं तु बोध्यम्। येन संबन्धेन यद्वत्ता तेन संबन्धेन तद्वद्विशेष्यकत्वं तेन संबन्धेन तत्प्रकारकत्वं वाच्यम्। (५) तेन कपालादौ संयोगादिना घटादिज्ञाने नातिव्याप्तिः।

(४) यहाँ यह समझना चाहिये कि जिस सम्बन्ध से प्रकार विशेष्य में रहता हो उस सम्बन्ध से तद्वत्त्व और तत्प्रकारकत्व लेना चाहिये। (५) अतः समवाय सम्बन्ध से कपाल में घट को रहने पर भी संयोग सम्बन्ध से घट प्रकारक कपाल विशेष्यक ज्ञान में अति व्याप्ति नहीं हुई। क्योंकि प्रकारतावच्छेदकी भूत संयोग सम्बन्ध से कपाल में घटवत्ता नहीं है।

(६) एवं सति निर्विकल्पकं प्रमा न स्यात्तस्य सप्रकार-कत्वाभावादत आह न प्रमेति।

(६) प्रमात्मक ज्ञान के ऐसे लक्षण करने से निर्विकल्पक ज्ञान किंचित्प्रकारक नहीं होने के कारण प्रमा रूप नहीं होगा। इस शंका का "न प्रमा" इत्यादि कारिका से इष्टापत्ति द्वारा खण्डन करते हैं।

(७) ननु वृक्षे कपिसंयोगज्ञानं भ्रमः प्रमा च स्यादितिचेन्न प्रतियोगिव्यधिकरणसंयोगाभाववति संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्।

(७) शंका करते हैं कि जिस वृक्ष में कपिसंयोग किसी एक देशावच्छेदेन है उसी वृक्ष में अन्यदेशावच्छेदेन कपि संयोगाभाव को रहने के कारण तादृश वृक्ष विशेष्यक कपि संयोग प्रकारक ज्ञान कपि संयोगाभाववद्विशेष्यक कपि संयोग प्रकारक होने के कारण भ्रम रूप एवं कपि संयोगवद्विशेष्यक कपि संयोग प्रकारक होने के कारण प्रमा रूप भी हो जाना चाहिये। समा०—प्रतियोगिव्यधिकरण कपिसंयोगाभाववद्विशेष्यक कपिसंयोग प्रकारक ज्ञान को भ्रम रूप मानताहू। उक्त वृक्ष में प्रतियोगिव्यधिकरण होकर कपिसंयोगाभाव को नहीं रहने से उक्त ज्ञान प्रतियोगिव्यधिकरण कपिसंयोगाभाववद्विशेष्यक कपिसंयोग प्रकारक नहीं है अतः भ्रम रूप नहीं हो। केवल प्रमा रूप है।

(८) नच वृक्षे संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानं भ्रमो न स्यात्तत्र संयोगाभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादिति वाच्यं, तत्र संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्। लक्ष्यस्याननुगमाल्लक्षणाननुगमेऽपि न क्षतिः।

(८) शङ्का करते हैं कि कपिसंयोगवत् वृक्ष में कपि संयोगाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण होकर नहीं रहता है अतः कपिसंयोगाभाववान् कपिसंयोगी इत्याकरक वृक्ष में कपिसंयोगाभावावच्छेदेन कपिसंयोगज्ञान भ्रम रूप नहीं होगा। समा०—अव्याप्यवृत्ति पदार्थ प्रकारक भ्रम लक्षण तद्भावावच्छेदेन तत्प्रकारक ज्ञानत्व है। अतः कपिसंयोगाभावावच्छेदेन वृक्ष में कपि संयोग प्रकारक ज्ञान को भ्रम रूप होने में कोई बाधा नहीं है। व्याप्यवृत्ति पदार्थ प्रकारक भ्रम का लक्षण उक्त तद्भाववद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञानत्व है। लक्ष्य का अननुगत होने के कारण लक्षण का अननुगत होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

का० १३६ उत्त०

प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तिः॥

का० अर्थ।

प्रमात्व स्वतो ग्राह्य नहीं है अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान का ग्रह होता है उसी सामग्री से तज्ज्ञाननिष्ठ प्रमात्व का ग्रह नहीं होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तर "इदं ज्ञानं प्रमा न वा" इत्याकारक संशय नहीं होगा। (इसका हेतु मुक्तावली में बतलाया गया है)।

(१) प्रमात्वमिति, मीमांसका हि प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यमिति वदन्ति। (२) तत्रगुरूणां मते ज्ञानत्व स्वप्रकाशरूपत्वा- त्तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनव गृह्यत इति। (३) भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। (४) ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षतया च ज्ञानमनुमीयते। (५) मुरारिमिश्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। (६) सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते।

(१) मीमांसक लोग ज्ञान में प्रमात्व स्वतोग्राह्य मानते हैं। अर्थात्

ज्ञान ग्राहक सामग्री से ही ग्राह्य मानते हैं। (२) गुरु प्रभाकर के मत में ज्ञान स्वप्रकाश है अर्थात् अपने को भी विषय करता है अतः स्वात्मक ज्ञान से जैसे स्वनिष्ठ ज्ञानत्व गृहीत होता है। उसी प्रकार ज्ञाननिष्ठ प्रमात्व भी गृहीत्व होता है। (३) कुमारिल भट्ट के मत से ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है। (४) ज्ञानोत्पत्ति होने पर विषयनिष्ठ ज्ञानग्रन्थ एक ज्ञातता नाम का धर्म विशेष उत्पन्न होता है जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। तादृश ज्ञातता से ज्ञान का अनुमान किया जाता है यथा–"यह ज्ञातता घटवृत्ति घटत्व प्रकारक ज्ञातता रूप होने के कारण घटविशेष्यक घटत्व प्रकारक ज्ञानजन्य है।" जो ज्ञातता यद्वृत्ति यत्प्रकारक होती है वह तद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञानजन्य होती है यथा पटवृत्ति पटत्व प्रकारक ज्ञातता है।

(५) एवं मुरारि मिश्र के मत से ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है।

(६) उक्त सवों के मत में तज्ज्ञान विषयक ज्ञान से तज्ज्ञान निष्ठ प्रामाण्य गृहीत होता है।

(७) विषयनिरूप्यं हि ज्ञानमतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः।

(८) तन्मतं दूषयति–न स्वतो ग्राह्यमिति।

(७) ज्ञान विषय से निरूप्य होता है अर्थात् विषया विषयक प्रत्यक्ष का अविषय होता है। अतः ज्ञान ज्ञान से पूर्व ज्ञान का विषय ज्ञात होता है। इसलिये तद्वन्निष्ठ विशेष्यता निरूपित तन्निष्ठ प्रकारताकत्व रूप जो विषय घटित प्रमात्व वह ज्ञान ज्ञान से ज्ञात होता है।

(८) उक्त मीमांसक मत का "प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यम्" इत्यादि कारिका से नैयायिक खण्डन करते हैं।

(९) संशयेति । यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं स्यात्तदाऽनभ्यासदाशापन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्। तत्रहि यदि ज्ञानं ज्ञात तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेवेति कथं संशयः। (१०) यदि तु ज्ञानं न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानाभावात्कथं संशयः। (११) तस्माज्ज्ञाने प्रामाण्यमनुमेयम्।

(९) यदि ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य ज्ञान ग्राहक सामग्री से ग्राह्य माना जाय तो अनिश्चित प्रामाण्यक जो ज्ञान उस ज्ञान से सजातीय ज्ञान में प्रामाण्य का सन्देह नहीं होगा क्योंकि यदि ज्ञान का ज्ञान है तो मीमांसक मत से ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य भी निश्चित ही हो जायगा अत: प्रामाण्य का सन्देह नहीं हो सकता है। (१०) यदि ज्ञान ज्ञात नहीं है तो संशय में धर्मिज्ञान को कारण होने के हेतु ज्ञान रूप धर्मि ज्ञान के अभाव से ज्ञान में प्रामाण्य का सन्देह नहीं हो सकता है। (११) इसलिये ज्ञान में प्रामाण्य अनुमेय है।

(१२) तथाहि। इदं ज्ञानं प्रमा सम्बादिप्रवृत्तिकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा। (१३) इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा, गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्। (१४) एवमिदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा स्नेहवति जलत्वप्रकारक ज्ञानत्वात्।

(१२) जैसे यह ज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक होने के कारण प्रमा है जो ज्ञान प्रमा नहीं होता है वह सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं होता है जैसे अप्रमात्मक ज्ञान। (१३) पृथ्वी में पृथिवीत्व का ज्ञान होने पर यह पृथिवीत्व प्रकारक ज्ञान गन्धवत् में पृथिवीत्वप्रकारक ज्ञान रूप होने के कारण प्रमा है। (१४) एवं जल में जलत्व का ज्ञान होने पर यह जलत्व प्रकारक ज्ञान स्नेहवत् में जलत्व प्रकारक ज्ञान रूप होने के कारण प्रमा है। इत्यादि अनुमानों से ज्ञान में प्रामाण्य ज्ञात होता है।

(१५) न च हेतुज्ञानं कथं जातमिति वाच्यं, पृथिवीत्वप्रकारकत्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात्। (१६) तत्र गन्धग्रहणो गन्धवद्विशेष्यकत्वस्यापि सुग्रहत्वात्। (१७) तत्प्रकारकत्वावच्छिन्नतद्वद्विशेष्यकत्वं परं न गृह्यते, संशयानुरोधात्।

(१५) शंका करते हैं कि गन्धवद्विशेष्यक पृथिवीत्व प्रकारक ज्ञानत्व रूप हेतु का एवं स्नेह वद्विशेष्यक जलत्व प्रकारक ज्ञानत्व रूप हेतु का ज्ञानात्मक पक्ष में ज्ञान कैसे हुआ। समा०—ज्ञान निष्ठ जो पृथिवीत्व प्रकारकत्व उस को मै स्वतोग्राह्य अर्थात् ज्ञान ज्ञान से ग्राह्य मानता हूँ। (१६) एवं पृथिवी में गन्ध ज्ञान होने के कारण गन्धवद्विशेष्य

कत्व भी ज्ञान-ज्ञान से ग्राह्य है। (१७) परन्तु पृथिवीत्वादि प्रकारकत्वावच्छिन्न पृथिवीत्ववद्विशेष्य- कत्व रूप प्रमात्व स्वतो ग्राह्य नहीं माना जाता है। क्योंकि यदि तादृश प्रमात्व स्वतो ग्राह्य माना जाय तो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तर ज्ञान में प्रामाण्य का सन्देह नहीं होगा।

(१८) ननु "सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात्प्रमालक्षणे तद्वद्विशेष्यकत्वं विशेषणं व्यर्थम्, नच रङ्गे रजतार्थिनः प्रवृत्तिर्भ्रमजन्या न स्यात् तव मते भ्रमस्याभावादिति वाच्यम्, तत्रहि दोषाधीनस्य पुरोवर्तिनि स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्तस्य हेतुत्वात्। सत्यरजतस्थले तु विशिष्टज्ञानस्य सत्त्वात्तदेव कारणम्।"

(१८) मीमांसक कहते हैं कि ज्ञान मात्र यथार्थ ही होता है। अयथार्थ ज्ञान होता ही हीं। तब "तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञानत्व रूप जो यथार्थ ज्ञान का लक्षण है। उस में तत्प्रकारक ज्ञानत्व मात्र यदि कहें तथापि कोई दोष नहीं होगा अतः लक्षण घटक तद्वद्विशेष्यकत्व रूप विशेषण व्यर्थ है क्योंकि यह विशेषण केवल भ्रम में अतिव्याप्ति वारणार्थ है जो भ्रम मीमांसक मत में माना ही नहीं जाता है। यदि नैयायिक कहे कि रंग में रजतार्थियों की प्रवृत्ति भ्रम से होती है किन्तु अव नहीं होगी। क्योंकि आप (मीमांसक) के मत में तो भ्रम माना ही नहीं जाता है। (मीमांसक का समाधान) रंग में रजतार्थियों की जो विसम्बादिनी प्रवृत्ति होती है जिस को नैयायिक भ्रमजन्य कहते हैं उस प्रवृत्ति में पुरोवर्ति रङ्गनिष्ठ चाक्‌चिक्य रूप दोषाधीन स्वतन्त्रोपस्थित अर्थात् स्वातन्त्र्येण स्मृति विषय जो उस रजत के भेदाग्रह को भ्रम के बदले में कारण मानते हैं। अतः उक्त तादृश भेदाग्रह से विसम्बादि प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं होगी। और जहां वास्तविक रजत है तत् स्थलीय सम्बादिनी अर्थात् सफल प्रवृत्ति में रजतत्व प्रकारक विशिष्ट ज्ञान को रहने के हेतु तादृश विशिष्ट ज्ञान ही कारण माना जाता है।

(१९) अस्तु वा तत्रापि भेदाग्रहः स एव कारणमिति। न चान्यथाख्यातिः सम्भवति, रजत प्रत्यक्षकारणस्य रजत सन्नि- कर्षस्याभावाद्रंगे रजतबुद्धेरनुपपत्तेरितिचेन्न। सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः क्लृप्त्वादन्यत्रापि तत्कल्पत।

(१९) मीमांसक कहते हैं कि विसम्बादि प्रवृत्ति में भेदाग्रह और सम्बादि प्रवृत्ति में विशिष्ट ज्ञान इन दोनों को पृथक् २ कारणता मानने से मुझे गौरव होगा अतः प्रवृत्ति मात्र में भेदाग्रह ही को कारणता मानना युक्त है। अतः सत्य रजतस्थल में भी प्रवृत्ति के प्रति रजत भेदाग्रह को की कारणता मानते हैं। मीमांसक शंका करते हैं कि रजतत्व प्रकारक प्रत्यक्ष का कारण जो चक्षुः संयुक्त समवाय रूप सन्निकर्ष उसको नहीं रहने के कारण रङ्ग में रजतत्व प्रकारक अन्यथा ख्याति नहीं हो सकती है जो (नैयायिकों के मत में) विसम्बादि प्रवृत्ति में कारण होती है (नैयायिक का समा०) -सत्यरजतस्थलीय सम्वादि प्रवृत्ति के प्रति रजत भेदग्रहाभावापेक्षया लाघवात् रजतत्व प्रकारक विशिष्ट ज्ञान ही को कारणता स्वीकृत है। इसलिये असत्य रजतस्थलीय विसम्बादि प्रवृत्ति में भी रजतत्व प्रकारक विशिष्ट ज्ञान ही को लाघवात् कारण मानन होगा।

(२०) न च संवादिप्रवृत्तौ तत्कारणं विसंवादिप्रवृत्तौ च भेदाग्रहः कारणमिति वाच्यं, लाघवेन प्रवृत्तिमात्रे तस्य हेतुत्वकल्पनात्।

(२०) यदि आप (मीमांसक) कहें कि सम्वादि प्रवृत्ति में विशिष्ट ज्ञान कोकारणता मानने पर भी विसम्बादि प्रवृत्ति में भेदाग्रह ही कारण है तो यह कथन युक्त नहीं होगा क्योंकि समवादि प्रवृत्ति में विशिष्ट ज्ञान और विसम्वादि प्रवृत्ति में भेदाग्रह इन दोनों को कारणता मानने में गौरव होगा अतः प्रवृत्ति मात्र में विशिष्ट ज्ञान ही को कारणता मानना युक्त है।

(२१) इत्थं च रंगे रजतत्वविशिष्टबुद्ध्यनुरोधेन ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्तिकल्पनेऽपि न क्षतिः, फलमुखगौरवस्यादोषत्वात्।

(२१) प्रवृत्ति मात्र के प्रति लाघवात् विशिष्ट ज्ञान को कारणता मानने पर रङ्ग में रजतत्वभासम सन्निकर्ष नहीं रहने के कारण रङ्ग में रजतत्व भानार्थ ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति की कल्पना आवश्यक है अतः तादृश प्रत्यासत्ति कल्पनाकृत गौरव फलमुख होने के कारण दोषाधायक नहीं हैं।

(२२) किंच यत्र रंगरजतयोरिमे रजते रंगेवेति ज्ञानं जातं तत्र न कारणबाधोऽपि।

(२२) एवं जहाँ रङ्ग और रजत इन दोनों में "इमे रजते रंगे वा" इत्याकारक ज्ञान हुआ है उस स्थल में रजतत्व अथवा रङ्गत्व के साथ चक्षुः संयुक्त समवाय रूप लौकिक सन्निकर्ष का अभाव नहीं रहने के कारण सन्निकर्षाभाव प्रयुक्त अन्यथाख्याति का अभाव नहीं हो सकता है जो कि आप (मीमांसक) पूर्व में कह चुके हैं।

(२३) अपि च यत्र रंगरजतयोरिमे रजतरंगे इति ज्ञानं तत्रोभयत्र युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातां, रंगे रंगभेदाग्रहे रजते रजतभेदग्रहे चान्यथाख्यातिभयात्त्वन्मते दोषाद् रंगे रजतभेदाग्रहस्य रजते रंगभेदाग्रहस्य च सत्त्वात्।

(२३) जहाँ पुरोवर्ती रङ्ग तथा रजत में युगपत् रङ्ग में रजतत्व ज्ञान और रजत में रंगत्व ज्ञान हुआ है वहाँ युगपत् प्रवृत्ति निवृत्ति की आपत्ति (मीमांसक मत में) हो जायेगी क्योंकि रंग में रंग भेदाग्रह और रजत में रजत भेदाग्रह अन्यथाख्याति नहीं मानने वाले मीमांसक को मानना होगा एवं चाक् चिक्य रूप दोष वश रंग में रजत भेदाग्रह और रजत में रंग भेदाग्रह भी मानना होगा। अतः रजतार्थी व्यक्ति को रंग में रजत भेदाग्रह रूप प्रवृत्ति का कारण और रंग में रंग भेदाग्रह रूप निवृत्ति का कारण दोनों ही रह गये एवं रंगार्थी व्यक्ति को रंग में रंग भेदाग्रह रूप प्रवृत्ति का कारण और रंग में रजत भेदाग्रह रूप निवृत्ति का कारण दोनों ही रह गये। इसी प्रकार रजत में भी रजतार्थी और रंगार्थी व्यक्तियों की प्रवृत्ति निवृत्ति का कारण समझना चाहिये। किन्तु यह आपत्ति नैयायिक मत में नहीं है। क्योंकि रूप में चाक्चिक्य रूप दोष वश रजतत्व ज्ञान होने के कारण रजतार्थी को प्रवृत्ति होती है और उक्त दोषवश रंगत्व ज्ञान नहीं होने के कारण निवृत्ति नहीं होगी इसी प्रकार रंगार्थी को भी समझना चाहिये।

(२४) किंचानुमितिं प्रति भेदाग्रहस्य हेतुत्वे जलह्रदे वह्निव्याप्यधूमवद्भेदाग्रहादनुमितिर्निराबाधा। यदि च विशिष्टज्ञानं कारणं तदाऽयोगोलके वह्निव्याप्यधूमज्ञानमनुमित्यनुरोधादापतितम्। सेयमुभयतः पाशारज्जुः।

(२४) अन्यथा ख्याति मानने में ग्रन्थकार "किंचेत्यादि" ग्रन्थ से एक और भी युक्ति दिखलाते हैं। अनुमिति के प्रति मीमांसक व्याप्यवद् भेदाग्रह को यदि कारण माने तो दोष वश वह्नि व्याप्य धूमवद्भेदाग्रह जल में होने के कारण उनको "वह्नि मज्जलम्" इत्याकारक अनुमित्यात्मक अन्यथाख्याति माननी होगी। तद्वारणार्थ यदि अनुमिति के प्रति व्याप्यवद्भेदाग्रह को कारणत्व नहीं मानकर व्याप्य प्रकारक विशिष्ट ज्ञान ही को कारण माने तो "अयोगोलकं वह्नि मत्" इत्याकारक अनुमिति होती है। तदर्थ तत् कारणीभूत विशिष्ट ज्ञानात्मक वह्निव्याप्य धूमवदयोगोलकम् इत्याकारक परामर्श रूप अन्यथाख्याति मानना आवश्यक हो जायगा अतः अन्यथाख्याति भयभीत मीमांसक अनुमिति के प्रति व्याप्यवद्रभेदाग्रह और विशिष्ट ज्ञान इन दोनों में एक को भी कारण नहीं कह सकते हैं।

(२५) इत्थं चान्यथाख्यातौ प्रत्यक्षमेव प्रमाणं रङ्गं रजततयाऽवेदिषमित्यनुभवादिति संक्षेपः।

(२५) [१]इस प्रकार अनेक युक्ति सिद्ध जो अन्यथाख्याति उस में सर्वप्रमाणापेक्षया बलवत्तर प्रत्यक्ष प्रमाण भी "इत्थम्" इत्यादि ग्रन्थ से ग्रन्थकार दिखलाते हैं। जैसे रंग को मैं रजत करके जानता था अर्थात् रजतत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित रंगनिष्ठ विशेष्यता शालि प्रत्यक्ष वानहम्। इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक प्रत्यक्ष भी अन्यथाख्याति में प्रमाण है।

पूर्वं व्याप्तिरुक्ता तद्ग्रहोपायस्तु न दर्शित इत्यतस्तं दर्शयति =

व्याप्ति का निरूपण पहले किया जा चुका है। परन्तु व्याप्तिग्रह का उपाय दिखलाया नहीं गया है। अतः व्याप्तिग्रह का उपाय बतलाते हैं।

का० १३७

व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्कः क्वचिच्छंकानिवर्तकः॥

---

१. प्रयक्षमेव यहां एवकारअप्यर्थक है।

का० अर्थ।

व्यभिचार ज्ञानाभाव और सहचार ग्रह ये दोनों व्याप्ति ज्ञान के कारण हैं और तर्क कहीं कहीं व्याप्तिज्ञान के प्रतिबन्धक व्यभिचार शंका का विघातक होने से व्याप्ति ज्ञान में उपयोगी होता है।

(१) व्यभिचारस्येति। व्यभिचाराग्रहः सहचारग्रहश्च व्याप्तिग्रहे कारणम्। (२) व्यभिचारग्रहस्य व्याप्तिग्रहे प्रतिबन्धकत्वात्तदभावः कारण मित्यर्थः। (३) एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सहचारग्रहस्यापि हेतुता। (४) भूयो दर्शनं तु न कारणं व्यभिचारास्फूर्तौ सकृद्दर्शनेऽपि क्वचिद्व्याप्तिग्रहात्। क्वचिद्व्यभिचारशङ्काविधूननद्वारा भूयोदर्शनमुपयुज्यते।

(१) कारिकार्थ में स्पष्ट है। (२) व्याप्ति ज्ञान में व्यभिचार ज्ञान को प्रतिबन्धक होने के कारण प्रतिबन्धकाभाव रूप व्यभिचारज्ञानाभाव व्याप्तिज्ञान का कारण है। (३) एवं साध्य साधन सामानाधिकरण्य ज्ञान रूप सहचार ज्ञान को व्याप्तिज्ञान के साथ अन्वय व्यतिरेक रहने के कारण व्याप्तिज्ञान के प्रति कारणत्व है। (४) व्यभिचार का अज्ञान रहने से एक बार भी साध्य साधन के समानाधिकरण्य का ज्ञान होने पर कहीं-कहीं व्याप्ति का ज्ञान हो जाता हैं अतः व्याप्ति ज्ञान में बारम्बार साध्य साधन सामानाधिकरण्य ज्ञानात्मक भूयो दर्शन व्याप्ति ज्ञान में उपयोगी है।

(५) यत्र तु भूयोदर्शनादपि शङ्का नापैति तत्र विपक्षबाधकतर्कोऽपेक्षितः। (६) तथाहि वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यादिति यद्याशङ्का भवति तदा सा वह्निधूमयोः कार्यकारणभावस्य प्रतिसन्धानान्निवर्तते। (५) (और जहाँ पर भयोदर्शन होने पर भी व्यभिचार शंका की निवृत्ति नहीं होती हैं वहाँ पर व्याप्तिज्ञान प्रतिबन्धक व्यभिचार शंका के निवर्तक तर्क की अपेक्षा होती है।)

(६) जैसे –"धूमो यदि वह्नि व्यभिचारीस्यात्" अर्थात् वह्नि शून्य देश में भी यदि धूम उत्पन्न हो इत्याकारक व्याप्ति ज्ञान प्रतिबन्धक यदि शङ्का हो तो वह वह्नि धूम के कार्यकारणभाव के निश्चय से निवृत्त होती

है।

(७) यद्ययं वह्निमान्न, स्यात्तदा धूमवान्न, स्यात्कारणं विना कार्यानुत्पत्तेः।

(७) [१]जैसे "धूमो यदि वह्निव्यभिचारीस्यात् तदा वह्निजन्यो न स्यात्" अर्थात् वह्नि शून्य देश में भी यदि धूम उत्पन्न हो तो धूम वह्नि का जन्य नहीं होगा। क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है।

(८) यदि च क्वचित्कारणं बिना कार्यं भविष्यति तदाऽहेतुक एव भविष्यतीति तत्राप्याशङ्का भवेत्तदा सा व्याघातादपसारणीया। (९) यदि हि कारणं बिना कार्यं स्यात्तदा धूमार्थं वह्नेस्तृप्त्यर्थं भोजनस्य वा नियमत उपादानं तवैव न स्यादिति। (१०) यत्र स्वत एव शंका नावतरति तत्र न तर्कापेक्षापीति तदिदमुक्तम्-तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तक इति।

(८) यदि क्वचित् कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति होती होगी तो धूम भी कारण के बिना भी उत्पन्न हो सकती है। यह यदि शंका हो तो व्याघात से उस शंका की निवृत्ति करनी चाहिये। (९) जैसे कारण के बिना भी यदि कार्य की उत्पत्ति हो तो धूमार्थ वह्नि का एवं तृप्त्यर्थ भोजन का नियमतः उपादान (ग्रहण) जो होता है वह आप के मत से नहीं होना चाहिये। (१०) जहाँ व्याप्तिज्ञानं प्रतिबन्धक व्यभिचा शंका स्वतः उत्पन्न नहीं होता है वहां तर्क की अपेक्षा भी नहीं है। अतः मूल में कहा है कि "तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः" अर्थात् व्यभिचार शंका निवृत्त्यर्थ तर्क की अपेक्षा सार्वत्रिक नहीं है।

इदानीं परकीयव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धार्थमुपाधिं निरूपयति =

---

१. "यद्ययं वह्निमान् नस्यात् तदा धूमवान् न स्यात्" इस पंक्ति का यदि यह अर्थ करें कि "यदि यह पर्वत वह्निमान् नहीं होगा तो धूमवान् भी नहीं होना चाहिये" तो यद्ययं वह्निमान् न स्यात् तदा धूमवान् न स्यात्" इस विषय परिशोधक तर्क को व्याप्तिग्राहक नहीं होने के कारण असङ्गति हो जायगी। अतः उक्त पंक्ति का "धूमो यदि वह्नि व्यभिचारीस्यात् तर्हि वह्नि जन्यो न स्यात्" इत्याकारक अर्थ करना उचित है।

परकीय व्याप्ति ज्ञान के प्रतिबन्ध का प्रयोजक उपाधि का "साध्यस्य" इत्यादि कारिका से निरूपण करते हैं।

का० १३८

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा।
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते॥

का० अर्थ।

साध्य का व्यापक और हेतु अर्थात् साधन का अव्यापक जो पदार्थ वह उपाधि कहलाता है। उस उपाधि का निष्कर्ष बतलाते हैं।

(१) साध्यस्येति साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकत्व मुपाधिरित्यर्थः।

(१) साध्यत्वेन अभिमत वस्तु का व्यापक होकर साधनत्वेन अभिमत वस्तु का अव्यापक जो पदार्थ वह उपाधि कहलाता है।

(२) ननु स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजन्यत्वं नोपाधि स्यात्तस्य साध्यव्यापकत्वाभावाच्छ्यामत्वस्य घटादावपि सत्त्वात्, एवं वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्रोद्भूत-रूपवत्त्वं नोपाधिः स्यात्प्रत्यक्षत्वस्यात्मादिषु सत्त्वात्तत्र च रूपाभावात्, एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र भावत्वं नोपाधिः स्यात्‌विना-शित्वस्य प्रागभावेऽपि सत्त्वातत्र च भावत्वाभावादिति चेन्न।

(२) शंका करते हैं कि साध्य व्यापक होकर साधना व्यापक ही यदि उपाधि रूप हो तो "स श्यामो मित्रा तनयत्वात्" इस अनुमान में शाक पाकजन्यत्व नील घटादि में नहीं रहने के कारण श्यामत्व रूप साध्य व्यापक नहीं है। (अतः उक्त स्थल में शाक पाक जन्यत्व उपाधि नहीं होगा। एवं "वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्वात्" इस अनुमान में उद्भूतरूपवत्त्व प्रत्यक्षत्व रूप साध्य के आश्रय आत्मादि में नहीं रहने के कारण प्रत्यक्षत्व रूप साध्य का व्यापक नहीं है। अतः उद्भूत रूपवत्त्व उपाधि नहीं होगा। इसी प्रकार "ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्" इस स्थल में

विनाशित्व रूप साध्य के अधिकरण प्रागभाव में भावत्व को नहीं रहने के कारण विनाशित्व रूप साध्य का व्यापक भावत्व नहीं है। अत: वह भी उपाधि नहीं होगा।

(३) यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधना-व्यापकत्वमित्यर्थे तात्पर्यात्।

(३) समा०– केवल साध्य व्यापक और साधना व्यापक ही उपाधि नहीं हैं किन्तु यद्धर्मविशिष्ट साध्य का व्यापक होकर तद्धर्म विशिष्ट साधन का अव्यापक जो वस्तु वह उपाधि रूप है।

(४) मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य व्यापकं शाकपाकजत्वं तदवच्छिन्नसाधनाव्यापकं च।

(४) "स श्यामो मित्रा तनयत्वात्" इस स्थल में मित्रा तनयत्व रूप यद्धर्म विशिष्ट जो श्यामत्वरूप साध्य तद्व्यापक जो शाक पाक जन्यत्व वह मित्रा तनयतव रूप यद्धर्म विशिष्ट मित्रा तनयत्व रूप साधन के अधिकरण और मित्रातनय में नहीं रहने के कारण मित्रातनयत्वरूप यद्धर्म विशिष्ट साधन का अव्यापक है अत: शाक पाकजन्यत्व उपाधि हो सकती है।

(५) एवं पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वस्य व्यापकमुद्‌भूत रूप वत्त्वम्। एवं वहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनस्याव्यापकं च।

(५) एवं "वायु: प्रत्यक्ष: प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयतवात्" इस स्थल में वायु रूप पक्ष मं रहने वाले वहिर्द्रव्यतव रूप यद्धर्म विशिष्ट प्रत्यक्षत्व रूप साध्य का व्यापक जो उद्‌भूत रूपवत्त्व वह वहिर्द्रव्यत्व रूप यद्धर्म विशिष्ट प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्व रूप साधन के अधिकरण वायु में नहीं रहने के कारण वहिर्द्रव्यत्व रूप तद्धर्म विशिष्टसाधन का अव्यापक है। अत: उपाधि हो सकता है।

(६) एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्न-साध्यव्यापकं भावत्वम्।

(६) एवं "ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्" इस स्थल में जन्यत्व रूप यद्धर्म विशिष्ट विनाशित्व रूप साध्य का व्यापक भावत्व जन्यत्व रूप यद्धर्म विशिष्ट जन्यत्वरूप साधन का अव्यापक है। अतः उपाधि हो सकता है।

(७) सद्धैतौ तु एतादृशो धर्मो नास्ति यदवच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकं तदवच्छिन्नस्य साधनस्य चाव्यापकं किंचित्स्यात्। (८) व्यभिचारिणि तूपाध्यधिकरणं यत्साध्याधिकरणं यच्चोपाधिशून्यं साध्यव्यभिचाराधिकरणं तदन्यतरत्वावच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकत्वं साधनस्य चाव्यापकत्वमुपाधेरन्ततः संभवतीति।

(७) सद्धेतु स्थल में ऐसा धर्म एक भी प्रसिद्ध नहीं है। यद्धर्मविशिष्ट साध्य का व्यापक और तद्धर्म विशिष्ट साधन का अव्यापक कोई वस्तु हो। (८) और व्यभिचारि स्थल में उपाध्यधिकरण जो साध्याधिकरण और उपाधि शून्य जो साध्य व्यभिचारनिरूपकाधि करण तदन्यतरत्व को "यद्धर्म" से अन्ततः ग्रहण करके तादृशान्यतरत्व विशिष्ट साध्य का व्यापक और तादृशान्यतरतव विशिष्ट साधन का अव्यापक उपाधि अन्ततः अवश्य होगा। जैसे –"धूमवान् वह्नेः" इत्यादि स्थल में आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाध्यधिकरण जो धूमाधिकरण महानसादि और आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधि शून्य जो धूम व्यभिचाराधिकरण अयोगोलकादि तदन्यतरत्व रूप यद्धर्म विशिष्ट साध्य के सकल अधिकरण रहने के कारण तादृशान्यतरत्वात्मक यद्धर्म विशिष्ट साध्य का व्यापक जो आर्द्रेन्धन संयोग वह तादृशान्यतरत्वात्मकं यद्धर्म विशिष्ट साधन के अधिकरण अयोगोलक में नहीं रहने के कारण तद्धर्म विशिष्ट साधन का अव्यापक है। अतः उपाधि हो सकता है।

अतएव लक्ष्यमप्युपाधिस्वरूपमेतदनुसारेण दर्शयति = यद्धर्मावच्छिन्न साध्य व्यापकत्व तद्धर्मावच्छिन्न साधना व्यापकत्व रूप उपाधि लक्षण जिस हेतु मूलकार का अभिप्रेत है। अतः उसी लक्षण के अनुसार लक्ष्य "सर्वे" इत्यादि कारिका से दिखलाते हैं।

का० १३९

सर्वे साध्य समानाधिकरणाः स्युरुपाधयः।
हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता॥

का० अर्थ।

सभी उपाधि साध्य के समानाधिकरण होते हैं और हेतु के किसी अधिकरण में उन उपाधियों का व्यभिचारित्व (अभाव) और साध्यका व्यभिचारित्व (अभाव) रहा करता है।

(१) सर्वइत्यादिना स्वसाध्येति स्वं च साध्यं च स्वसाध्ये तयोर्व्यभिचारितेत्यर्थः।

(१) कारिका घटक स्व पद उपाधि बोधक है। स्वपद और साध्य पद को पूर्व द्वन्द्व समान करके पश्चात् समस्त स्व साध्य पद का व्यभिचारिता पद के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर द्वन्द्वान्ते "द्वन्द्वादौ वाश्रूयमाणं पदं प्रत्येक मभि सम्बध्यते" इस नियम के बल से अभाव रूप व्यभिचारित्व पदार्थ में स्व और साध्य इन दोनों पदार्थों का अन्वय होता है।

उपाधेर्दूषकता बीजमाह = उपाधिनिष्ठ दोष प्रयोजकता का कारण "व्यभिचारस्येतयादि" कारिका से कहते हैं।

का० १४० पूर्वा०

व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम्।

का० अर्थ।

हेतु में व्यभिचार का अनुमान कराना उपाधि का प्रयोजन है।

(१) व्यभिचारस्येति उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः। (२) तथाहि यत्र शुद्धसाध्यव्यापक

उपाधिस्तत्र शुद्धेनैवोपाधिव्यभिचारेण साध्य व्यभिचारानुमानम्। (३) यथा धूमवान्वह्नरित्यादौ वह्निर्धूमव्यभिचारी तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति। (४) व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात्।

(१) साध्य व्यापक जो उपाधि उसका व्यभिचार जहाँ रहेगा वहाँ साध्य का व्यभिचार अवश्य होगा। क्योंकि व्यापक का व्यभिचारी पदार्थ व्याप्य का व्यभिचारी अवश्य होता हैं अतः आर्द्रेन्धन संयोगादि रूप उपाधि के व्यभिचार रूप हेतु से वह्न्यादि रूप हेतु में धूमादि रूप साध्य का व्यभिवारानुमान उपाधि का प्रयोजन है। (२) जिस स्थल में शुद्ध साध्य व्यापक उपाधि होता है उस स्थल में शुद्ध उपाधि व्यभिचार से साध्य व्यभिचारानुमान होता है। (३) धूमवान् वह्ने इस स्थल में आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधि को शुद्ध साध्य व्यापक होने के कारण शुद्ध आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधि के व्यभिचार से हेतु में साध्य व्यभिचार का अनुमान होता है। जैसे "वह्निः धूमव्यभिचारी धूमव्यापक आर्द्रेन्धन संयोग व्यभिचारित्वात्"। (४) व्यापक व्यभिचारी को व्याप्य व्यभिचारी अवश्य होने के कारण धूम व्यापक आर्द्रेन्धन संयोग का व्यभिचारी जो वह्नि वह धूम का व्यभिचारी अवश्य होगा।

(५) यत्र तु किंचिद्धर्मावच्छिन्न साध्यव्यापक उपाधिस्तत्र तद्धूमवति उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम्। (६) यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यादौ मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि मित्रातनये शाकपाकजत्व व्यभिचारित्वादिति। (७) बाधानुन्नीतपक्षेतरस्तु साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात्स्वव्याघातकत्वाच्च नोपाधिः।

(५) जिस स्थल में यत्किचिद्धर्म विशिष्ट साध्य का व्यापक उपाधि होता है। उस स्थल में तादृश यत्किचिद्धर्म वन्निष्ठ जो उपाधि व्यभिचार तादृश उपाधि व्यभिचार से हेतु में साध्य व्यभिचारानुमान होता है। (६) यथा "सश्यामो मित्रातनयत्वात्" इस स्थल में मित्रातनयत्व रूप यद्धर्म विशिष्ट साध्य व्यापक शाक पाक जन्यत्व रूप उपाधि होने के कारण व्यभिचारानुमान इस प्रकार होगा। "मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि मित्रातनये शाक पाक जन्यत्व व्यभिचारित्वात्" अर्थात् मित्रातनयत्व मित्रा तनयनिष्ठ शाक पाक

जन्यत्व का व्यभिचारी होने के कारण श्यामत्व का व्यभिचारी है। (७) जो पक्ष साध्याभाव वत्त्वेन अनिश्चित है अर्थात् जिस पक्ष में साध्य का सन्देह है तादृश पर्वतादि रूप पक्ष भिन्नत्व में साध्य व्यापकता निश्चायक प्रमाण नहीं रहने के कारण उत्त पक्षेतरत्व में साध्य व्यापकता का निश्चय नहीं होगा। इसलिये वह उपाधि नहीं है। दूसरी युक्ति यह है कि यदि पक्षतरत्व उपाधि माना जाय तो सयब सद्धेतु स्थलों में भी पक्षेतरत्व रूप उपाधि अवश्य होने के कारण अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायेगा। तब हेतु मेव्यभिचारानुमान द्वारा उपाधि को दूषकता नहीं होगी अत: स्वनिष्ठ दूषकत्वा भाव सम्पादकत्व रूप स्वव्याघातकत्व हेतुक उक्त पक्षेतरत्व में उपाधित्वा भाव की सिद्धि होगी।

(८) बाधोन्नीतस्तूपाधिर्भवत्येव।

(९) यथा वह्निरनुष्ण: कृतिकत्वादित्यादौ प्रत्यक्षेण वह्नावुष्णत्वग्रहे वह्नीतरत्वमुपाधि:। यत्र तूपाधे: साध्यव्यापकता संदिह्यते स संदिग्धो- पाधि:। (१०) पक्षेतरस्तु संदिग्धोपाधिरपि नोद्भावनीय: कथा संप्रदायानुरोधादिति।

(८) साध्याभाववत्त्वेन निश्चित जो पक्ष तादृश पक्षेतरत्व उपाधि रूप होता ही है। (९) जैसे "वह्नि: अनुष्ण: कृत कत्वात्" इस स्थल में वह्नि रूप पक्ष में अनुष्णत्व रूप साध्य का अभाव अर्थात् उष्णत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चय रहने के कारण वह्नी तरत्व रूप उपाधि हो सकता है। जिस उपाधि में साध्य व्यापकता का सन्देह रहता है वह संदिग्धोपाधि शब्द से व्यवहृत होता है। (१०) संदिग्ध साध्यवत् पक्षेतरत्व यद्यपि संदिग्धोपाधि है। तथापि भाष्यकारादियों के संप्रदायानुरोध से कथा में दोषत्वेन उद्भावन योग्य नहीं है।

(११) केचित्तु सत्प्रतिपक्षोत्थापनमुपाधिफलम्। (१२) तथाहि। अयोगोलकं धूमवद्वह्नेरित्यादावयोगोलकं धूमाभाववदार्द्रेन्धनाभावादिति सत्प्रतिपक्षसंभवात्। (१३) इत्थं च साधनव्यापकोऽपि क्वचिदुपाधि:। (१४) यथा करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्त्वादित्यादावनुष्णाशीत-स्पर्शवत्त्वम्।

(११) किसी का मत है कि सत्प्रतिपक्षोत्थापन उपाधि का फल है। (१२) जैसे "अयो गोलकं धूमवद्वह्ने" इस स्थल में धूम व्याप्य वह्निमद योगोलकम् इत्याकारक परामर्श काल में "धूमाभावव्याप्य आर्द्रेन्धन संयोगाभाववदयोगोलकम्" इत्याकारक परामर्श होने के कारण सत्प्रतिपक्ष होता है। (१३) जिनके मत में सत्प्रतिपक्षोत्थापन ही उपाधि का फल है उन के मत से क्वचित्साधन व्यापक पदार्थ भी उपाधि रूप होता है। (१४) जैसे करका पृथिवी कठिन संयोगवत्त्वात्" इस अनुमान में अनुष्णाशीत स्पर्शवत्त्व कठिन संयोगवत्त्व रूप हेतु का व्यापक होने पर भी उपाधि रूप होता है। अनुष्णाशीत स्पर्शवत्त्व रूप उपाधि से सत्प्रतिपक्षोत्थापन इस प्रकार होता है। जैसे "पृथिवीत्वव्याप्य कठिन संयोगवत्त्ववती करका" इत्याकारक परामर्श के समय में पृथिवीत्वव्याप्य कठिन संयोगवत्त्ववती कारका" इत्याकारक परामर्श के समय में पृथिवीत्वा भाव व्याप्य अनुष्णाशीत स्पर्शवत्त्वा भाववती करका इत्याकारक परामर्श होने से सत्प्रति पक्षोत्थापन समझना चाहिये।

(१५) न चात्र स्वरूपासिद्धिरेव दूषणमिति वाच्यं, सर्वत्रोपाधेर्दूषणान्तरसांकर्यात्। (१६) अत्र च साध्यव्यापकः पक्षावृत्तिरुपाधिरित्याहुः।

(१५) [1]शंका करते हैं कि "करका पृथिवी कठिन संयोग वत्त्व त् इस स्थल में करका को पिघलने के बाद उसमें कठिन संयोग नहीं रहेगा। अतः पक्ष में हेत्वभाव और साध्याभाव रहने के कारण स्वरूपा सिद्धि और बाधादि दोष के रहने हुए उपाधि दोष नहीं रहने पर भी हेतु में दुष्टत्व व्यवहार हो ही जायगा। तब साधन व्यापक अनुष्णाशीत स्पर्शवत्त्व को उपाधि रूप मानना व्यर्थ है। समा०– सर्वत्र उपाधि स्थल में व्यभिचारादिरूप दोष अवश्य रहने हुए भी जैसे उपाधिरूप दोष माना जाता है। उसी तरह प्रकृत स्थल में भी स्वरूपसिद्धि बाधादि दोष रहते हुए अनुष्णाशीत स्पर्शवत्त्व रूप उपाधि माना जा सकता है। (१६) जिनके मत में सत्प्रतिपक्षोत्थान उपाधि का फल है उनके मत में साध्य व्यापक पक्षावृत्ति पदार्थ उपाधि रूप है।

१. स्वरूपासिद्धिरेव यहाँ एव शब्द अप्यर्थक हैं।

का० १४०, १४१

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्।
तन्न सम्यग्बिना व्याप्तिबोधं शब्दादिबोधतः॥

का० अर्थ।

वैशेषिक (कणाद) के मत से शब्द और उपमान इन दोनों में अनुमान से पृथक् प्रामाण्य नहीं है। अर्थात् अनुमान ही में ये दोनों अन्तर्ग हैं किन्तु नैयानिक मत से यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द और उपमान जन्यबोध व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है।

(१) शब्दोपमानयोरिति। वैशेषिकाणां मते प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणम्। (२) शब्दोपमानयोस्त्वनुमानविधयैव प्रामाण्यम्। (३) तथाहि दण्डेनगामानयेत्यादिलौकिकपदानि यजेतेत्यादि वैदिकपदानि वा तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकांक्षादिमत्पदकदम्ब-त्वाद्घटमानयेति पदकदम्बवत्।

(१) वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं। (२) क्योंकि शब्द और उपमान में अनुमान रूप ही से प्रामाण्य है किन्तु अनुमान से पृथक् प्रामाण्य नहीं है। (३) वुबोधयिषा से वाक्यों के उच्चारण में वाक्यार्थ ज्ञान कारण है। अर्थात् किसी को समझाने के लिये जो वाक्योच्चारण किया जाता है उस में वाक्यार्थ का ज्ञान कारण है। क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान जिस को नहीं है वह आदमी बुबोधयिषा से वाक्योच्चारण नहीं कर सकता है। अत: "घटमानय" यह वाक्य आकांक्षा; योग्यता, तात्पर्य सहित पद समूह रूप होने के कारण जिस प्रकार वक्ता के तात्पर्य का विषय जो पद द्वारा स्मरण कराये गये घट, कर्मत्व, आनयन, और कार्यत्व रूप पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, उस सम्बन्ध के यथार्थ ज्ञान से होता है। उसी प्रकार "दण्डेन गामानय" इत्यादि लौकिक वाक्य और "यजेत" इत्यादि वैदिक वाक्य आकांक्षा, योग्यता, और तात्पर्य सहित पदों का समूह रूप होने के कारण वक्ता के तात्पर्य का

विषय जो पदस्मारित दण्ड, करणत्व, गो, कर्मत्व, आनयन और कार्यत्व, रूप पदार्थो का परस्पर सम्बन्ध, एवं योग, इष्टसाधनत्व, कृति साध्यत्व, और वलवदनिष्ठा ननुवन्धित्व रूप पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध उस सम्बन्ध के यथार्थ ज्ञान से होता है। और यह ज्ञान "दण्डेनगामानय" इस वाक्य से होने वाला जो दण्डकरणक गोकर्मकानयनङ्कार्यम् इत्याकारक ज्ञज्ञन एवं "यजेत" इस वाक्य से होने वाला जो दण्डकरणक गोकर्मकानयनङ्कार्यम् इत्याकारक ज्ञान एवं "यजेत्" इस वाक्य से होने वाला जो यागः इष्ट साधनं, कृति साध्यो, बलवदनिष्ठा ननुवन्धी च इत्याकारक ज्ञान; तद्रूप है इसलिए शब्द से जैसा बोध आनुभविक है वैसा बोध अनुमान ही से लब्ध हो जाता है। अतः शब्द प्रमाण का अनुमान ही में अन्तर्भाव है।

(४) यद्वा एते पदार्था मिथःसंसर्गवन्तः, योग्यतादिमत्पदोपस्थापितत्वात्, तादृशपदार्थवत्। (५) दृष्टान्तेऽपि दृष्टान्तान्तरेण साध्यसिद्धिरिति।

(४) पद विशेष्यक अनुमान को बतला कर यद्वा इत्यादि ग्रन्थ से पदार्थ विशेष्यक अनुमान का प्रदर्शन करते हैं। योग्यादि मत्पदों से उपस्थापित होने के कारण योग्यतादि मत्पदोपस्थापित घट, कर्मत्व, आनयन और कार्यत्व, रूप पदार्थान्त के सदृश "दण्डेन गामानय" इत्यादि वाक्यान्तः पाती पदों से उपस्थापित दण्ड, करणत्व गो, कर्मत्व, आनयन और कार्यत्व रूप पदार्थ भी परस्पर सम्बद्ध हैं। यह ज्ञान "दण्डेन गामानय" इस वाक्य से होने वाला जो दण्डकरण्क गों कर्मकानयनं कार्यम्। इत्याकारक ज्ञान तद्रूप है इस कारण शब्द से जैसा बोध आनुभविक है वैसा बोध अनुमान ही से लैब्ध हो जाता है। अतः शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव है। (५) "घटमानय" इत्यादि वाक्य घटक पदों से उपस्थापित घट, कर्मत्व, आनयन और कार्यत्व रूप पदार्थ समुदायात्मक दृष्टान्त में भी "पटमानय इत्यादि वाक्य घटक पदोपस्थापित पदार्थ रूप दृष्टान्तान्तर से परस्पर संसर्गवत्त्व रूप साध्य का निश्चय करना चाहिये।

(६) एवं गवयव्यक्तिप्रत्यक्षानन्तरं गवयपदं गवयत्वप्रवृत्ति-

निमित्तकम्, असतिवृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्। असति च वृत्त्यन्तरे वृद्धैर्यत्र यत्प्रयुज्यते तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम्। यथा गोपदं गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम्।

(६) एवम् इत्यादि ग्रन्थ से उपमान के अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव का प्रदर्शन करते हैं। गोत्व रूप अर्थ में गो पद की लक्षणा नहीं है। तथापि गोत्व के तात्पर्य से गो पद का प्रयोग वृद्ध लोग करते हैं और गोपद गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तक माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस अर्थ में जिस पद की लक्षणा नहीं है परन्तु वृद्ध लोग उस अर्थ में उस पद का प्रयोग करते हैं, वह पद तत्प्रवृत्तिनिमित्तक होता है इसलिये गवय व्यक्ति के प्रत्यक्षपानन्तर गवय पद में गवयत्व प्रवृत्ति निमित्तकत्व का निश्चय अनुमान से हो जायगा क्योंकि गवयत्व रूप अर्थ में गवय पद को लक्षणा नहीं है तथापि गवयत्वरूप अर्थ में गवय पद का प्रयोग वृद्ध लोग करते हैं। अतः गवय पद गवयत्व प्रवृत्ति निमित्तिक है अर्थात् गवय पद का प्रवृत्ति निमित्त याने वाच्यतावच्छेदक गवयत्व है, इत्याकारक ज्ञान जो कि उपमान से होता है वह अनुमान ही से हो जायगा तब उपमान को प्रमाणान्तर मानना व्यर्थ है।

(७) यद्वा गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपदत्वादित्यनुमानेन पक्षधर्मतावलाद्गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं सिद्ध्यति।

(७) अथवा गवयपद साधु पद होने के कारण किंचित्प्रवृत्ति निमित्तक है इस अनुमान से (गवय पद में किंचित्प्रवृत्ति निमित्तकत्व की सिद्धि के पश्चात्) गवय पद में अन्यप्रवृत्ति निमित्तकत्व नहीं है इस इतरबाध निश्चय की सहायता से गवयत्वप्रवृत्ति निमित्तकत्व को सिद्धि होती है।

(८) तन्मतं दूषयति-तन्न सम्यगिति। (९) व्याप्तिज्ञानं विनापि शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धित्वात्। (१०) न हि सर्वत्र शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञाने प्रमाणमस्तीति। (११) किंच सर्वत्र शाब्दस्थले यदि व्याप्तिज्ञानं कल्प्यते तदा सर्वत्रानुमितिस्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शाब्दबोध एव किं न स्वीक्रियत इति ध्येयम्।

(८) "तन्नसम्यक्" इत्यादि ग्रन्थ से वैशेषिक मत का नैयायिक खण्डन करते हैं। (९) व्याप्ति ज्ञान के बिना भी शाब्द बोध होता है इस कारण शब्द जन्य बोध का अन्तर्भाव अनुमिति में नहीं हो सकता है। (१०) सर्वत्र शब्द श्रवणानन्तर व्याप्ति ज्ञान हो ही कर शाब्द बोध होता है इस में कोई प्रमाण नहीं है। (११) एवं सर्वत्र शाब्द बोध स्थन में व्याप्ति ज्ञान की कल्पना कर के यदि आप (वैशेषिक) शाब्द बोध का अनुमिति में अन्तर्भाव करते हैं तो सर्वत्र अनुमिति स्थल मं पदज्ञान की कल्पना कर के शाब्द बोध ही में अनुमिति का अन्तर्भाव क्यों नहीं मानते हैं। इस विनिगमना विरह से यह सिद्ध होता है कि जैसे अनुमिति स्थान मं पद ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती है वैसे शाब्द बोध स्थल में भी व्याप्ति ज्ञान की कल्पना नहीं हो सकती है। तब शब्द में पृथक् प्रामाण्य मानना आवश्यक हो जायगा।

का० १४२, १४३ पूर्वा०

त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः।
द्वैविध्यं तु भवेद्व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः॥
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादिहोच्यते।

का० अर्थ।

केवलान्वयि केवल व्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि के भेद से अनुमान तीन प्रकार का होता है एवं अन्वय और व्यतिरेक के भेद से व्याप्ति दो प्रकार की होती है। उस में अन्वय व्याप्ति का प्रदर्शन पूर्व ग्रन्थ से किया जा चुका है अब व्यतिरेक व्याप्ति का प्रदर्शन यहां किया जा सकता है।

(१) त्रैविध्यमिति। अनुमानं हि त्रिविधं केवलान्वयि केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्। (२) तत्रासद्विपक्षः केवलान्वयी। (३) यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादौ। तत्र हि सर्वस्यैवाभिधेयत्वाद्विपक्षासत्त्वम्। (इस का अर्थ कारिका के अर्थ से ही स्पष्ट है।)

(२) अलीक है विपक्ष जिस का ऐसा जो साध्य उस साध्य की अनुमिति का जो करण अर्थात् अत्यन्ताभावा प्रतियोगि साध्यक अनुमिति का जो करण वह केवलान्वयि अनुमान कहलाता है। (३) जैसे घटोभिधेयः प्रमेयत्वात् "इस स्थल में पदशक्यत्वात्मक अभिधेयत्व रूप साध्य का अभाव कहीं नहीं है अतः अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो अभिधेयत्व रूप साध्य उस साध्य की अनुमिति का करणत्व प्रमेयत्व रूप हेतु में है। इस कारण प्रमेयत्व केवलान्वयि अनुमान कहलाता है।

(४) असत्सपक्षः केवलव्यतिरेकी। यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यादौ। तत्र हिं जलादित्रयोदशभेदस्य पूर्वमनिश्चिततया निश्चितसाध्यवतः सपक्षस्याभावात्। (५) सत्सपक्षविपक्षोऽन्वयव्यति-रेकी यथा वह्निमान्धूमादित्यादौ। तत्र सपक्षस्य महानसादेर्विपक्षस्य जलह्रदादेश्च सत्त्वादिति।

(४) एवं अलीक है सपक्ष जिसका ऐसा जो अुनमान वह केवलव्यतिरेकि अनुमान कहलाता है। जैसे "पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्" इस स्थल में जलादि का जो चतुर्दश भेद तादृश चतुर्दश भेद रूप जो साध्य उस साध्य के अभाव का जलादि में निश्चय रहने के कारण जलादि विपक्ष ही हुआ किन्तु सपक्ष नहीं होगा एवं पृथिवी में अनुमिति से पूर्व उक्त साध्य का सन्देह रहने के कारण पृथिवी भी पक्ष ही है नकि सपक्ष है। अतः इस स्थल में सपक्ष नहीं रहने के कारण गन्धवत्त्व रूप हेतु केवलव्यतिरेकि अनुमान कहलाता है। यद्यपि इस स्थल में पृथिवी से इतर जलादि ८ और गुणादि य६ येचौदह पदार्थ हैं। अतः पृथिवी मं १४ भेद को साध्य करना युक्त था तब जो मुक्तावली में त्रयोदश भेद लिया है वहाँ "त्रयोदशसु भेदः त्रयोदश भेदः" इसव्युत्पत्ति से त्रयोदश भेद शब्द से त्रयोदश निष्ठ चतुर्दश भेद अभिप्रेत है। अतः असङ्गति नहीं हुई। (५) एवं वर्तमान है सपक्ष और विपक्ष जिस का ऐसा जो अनुमान वह अन्वयव्यतिरेकि अनुमान कहलाता है जैसे "वह्निमान् धूमात्" यहाँ महानस रूप सपक्ष और जल ह्रदादि रूप विपक्ष रहने के कारण धूम हेतु अन्वय व्यतिरेकि अनुमान कहलाता है।

तत्र व्यतिरेकिणि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं कारणं तदर्थं व्यतिरेकव्याप्ति निर्वक्ति = "पृथिवी इतरभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात्" इत्यादि सील में व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान ही अनुमिति का कारण है। इस हेतु व्यतिरेक व्याप्ति का निरूपण करते हैं।

का० १४३ उत्त०।

साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद्भवेत्।

का० अर्थ।

साध्याभाव व्यापकीभूत जो अभाव तादृशाभाव प्रतियोगित्व व्यतिरेक व्याप्ति है।

(१) साध्याभावेति। साध्याभाव व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व-मित्यर्थः। (२) अत्रेदं बोध्यम्। यत्संबन्धेन यदवच्छिन्नंप्रति येन संबन्धेन येन रूपेण व्यापकता गृह्यते तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तद्धर्मावच्छिन्नाभाववत्ता ज्ञानात्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-कतद्धर्मावच्छिन्नाभावस्य सिद्धिरिति।

(१) इस का अर्थ कारिकार्थ ही में स्पष्ट है। (२) यहाँ यह समझना चाहिये कि जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न के प्रति जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न में व्यापकत्व गृहीत होता है तत्संबन्धावच्छिन्न तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगितानिरूपक जो अभाव तत्प्रकारक ज्ञान से तत्सम्बन्धावच्छिन्न तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक अभाव की अनुमिति होती है। जैसे संयोग सम्बन्ध से धूमत्वावच्छिन्न के प्रति संयोग संबन्धावच्छिन्न वह्नित्वेन रूपेण वह्नि में व्यापकता का ज्ञान होने से संयोग संबन्धावच्छिन्न वह्नित्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक जो वह्न्यभाव तादृशा भाव प्रकारक ज्ञान जलादि में होने से जलादि में संयोग सम्बन्धावच्छिन्न धूमत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपक धूमाभाव की सिद्धि अर्थात् अनुमिति होती है, क्योंकि यह नियम है कि व्यापक का अभाव व्याप्य और व्याप्य का अभाव व्यापक होता है अतः वह्न्य भाव रूप व्याप्य से धूमाभाव रूप व्यापक की सिद्धि होती है।

(३) इत्थं च यत्र विशेषणतादिसंबन्धेनेतरत्वव्यापकत्वं गन्धाभावे गृह्यते तत्र गन्धाभावाभावेनेतरत्वात्यन्ताभावः सिध्यति। यत्र तु तादात्म्य संबन्धेनेतरव्यापकत्वं गन्धाभावस्य गृह्यते तत्र तादात्म्यसंबन्धेनेतरस्याभावः सिध्यति। स एवान्योन्याभावः। (४) एवं यत्र संयोगसम्बन्धेन धूमं प्रति संयोग- सम्बन्धेन वह्नेर्व्यापकता गृह्यते तत्र संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकवह्न्यभावेन जलह्रदे संयोगसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकधूमाभाव सिध्यति।

(३) ऐसा नियम रहने के कारण जहां स्वरूप सम्बन्ध से जलादिनिष्ठ इतरत्व के प्रति स्वरूप सम्बन्ध से गन्धाभाव में व्यापकत्व का ज्ञान है, वहाँ गन्धाभाव के स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव अर्थात् गन्ध के ज्ञान से स्वरूप सम्बन्धावच्छि प्रतियोगिताक इतरत्वाभाव की अनुमिति होती है। और जहां तादात्म्य सम्बन्ध से जलादि रूप इतर के प्रति स्वरूप सम्बन्ध से गन्धाभाव में व्यापकता का ज्ञान है वहाँ गन्धाभाव के स्वरूप सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव अर्थात् गन्ध के ज्ञान से तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक इतराभाव अर्थात् इतर भेद की अनुमिति होती है। (४) इस की व्याख्या इसी कारिका की मुक्तावली न० २ में जैसे इत्यादि शब्द से हो चुकी है।

(५) अत्र च व्यतिरेकव्याप्तिग्रहे व्यतिरेकसहचारज्ञानं कारणम्। (६) केचित्तु व्यतिरेकसहचारेणान्वयव्याप्तिरेव गृह्यते न तु व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानकारणम्। यत्र व्यतिरेकसहचाराद्व्याप्तिग्रहस्तत्र व्यतिरेकीत्युच्यते। (७) साध्यप्रसिद्धिस्तु घटादावेवजाता पश्चात्पृथिवी-त्वावच्छेदेन साध्यत इति वदन्ति।

(५) व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान में व्यतिरेक सहचार ज्ञान अर्थात् "साध्याभाव समानाधिकरणो हेत्वभावः" इत्याकारक सहचार ज्ञान ही कारण है। (६) कुछ आचार्य्यों का ऐसा मत है कि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान से अनुमिति नहीं होती है। किन्तु केवल अन्वयव्याप्तिज्ञान ही से अनुमिति होती है। अन्वयव्याप्ति ज्ञान ही क्वचित् अन्वय सहचार ज्ञान से क्वचित् व्यतिरेक सहचार ज्ञान से क्वचित् उभय सहचार ज्ञान से होता है जहाँ केवल व्यतिरेक सहचार ज्ञान से व्याप्ति ज्ञान हुआ है वहीं

अनुमान कवेल व्यतिरेकी कहलाता है। (७) पृथिवी इतरेभ्योभिद्यते गन्धवत्त्वात् इस स्थल में सपक्ष नहीं रहने के कारण साधन में साध्य के सामानाधिकरण्य का निश्चय होना असम्भव है। तब हेतु व्यापक साध्य सामानाधिकरण्य रूप अन्वय व्याप्ति ज्ञान उक्त स्थल मं नहीं होगा। इसी शंका का "साध्य प्रसिद्धिस्तु" इत्यादि मुक्तावली से निराकरण करते हैं अर्थात् "पृथिवी इतरेभ्योभिद्यन्ते गन्धवत्त्वात्" इस स्थल में घटादि रूप जिस पृथिवी में इतर भेद का निश्चय है उसी पृथिवी के द्वारा साधन में साध्य के सामानाधिकरण्य का निश्चय होने के कारण उक्त स्थल में उक्त अन्वय व्याप्ति का ज्ञान हो सकता हैं यत्किंचित् घटादि रूप पृथिवी में साध्य निश्चय रहने पर भी पृथिवीत्वावच्छेदेन साध्य निश्चय नहीं रहने के कारण पृथिवीत्वावच्छे देन इतर भेद को साध्यता हो सकती है।

का० १४४।

अर्थापत्तिस्तु नैवेह प्रमाणान्तरमिष्यते।
व्यतिरेकव्याप्तिबुद्धया चरितार्था हि सा यतः॥

का० अर्थ।

अर्थापत्ति प्रमाणान्तर अर्थात् अनुमानातिरिक्त प्रमाण नहीं है क्योंकि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान ही में वहाँ अन्तर्भू हो सकता है।

(१) अर्थापत्तिरिति। अर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमिति केचन मन्यन्ते। (२) तथाहि यत्र देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वं ज्योतिः शास्त्रादवगतं जीविनो गृहासत्त्वं च प्रत्यक्षादवगतं तत्र शतवर्षजीविनो गृहासत्त्वं वहिःसत्त्वं विनाऽनुपपन्नमिति वहिःसत्त्वं कल्प्यत इति। तदनुमानेन गतार्थत्वान्नेष्यते।

(१) मीमांसक तथा वेदान्ती अर्थापत्ति को प्रत्यक्षादि चार प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाण मानते हैं। (२) जैसे देवदत्त का शतवर्ष तक जीना ज्योतिष शास्त्र से निश्चिता है और जीते हुए देवदत्त का घर में नहीं रहना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। तब शतवर्ष जीवी देवदत्त का गृहासत्त्व वहिःसत्त्व के बिना अनुपपन्न है। इत्याकारक अनुपपत्ति ज्ञान रूप

अर्थापत्ति प्रमाण से शतवर्ष जीवी देवदत्त में वहि:सत्त्व की कल्पना की जाती है परन्तु यह शतवर्ष जीवी देवदत्त में वहि:सत्त्व का ज्ञान अनुमान प्रमाण ही से सिद्ध हो सकता है। इस कारण अनुमान प्रमाण से अतिरिक्त अर्थापत्ति प्रमाण नैयायिक नहीं मानते हैं।

(३) तथाहि - यत्र जीवित्वस्य वहि: सत्त्व गृहसत्त्वान्यतर-व्याप्यत्वं गृहीतं तत्रान्यतरसिद्धौ जायमानायां गृहसत्त्वबाधाद्वहि: सत्त्वमनुमितौ भासते।

(३) जैसे यन्निष्ठ जीवित्व में गृह सत्त्व वहि: सत्त्वान्यतर व्याप्यत्व का निश्चय होने पर जीवित्व हेतु से गृह सत्त्व वहि: सत्त्वान्यतर की सिद्धि की जाती है। वहाँ गृह सत्त्व के प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध निश्चय रहने के कारण कवेल वहि: सत्त्व का अनुमिति में भान होता है "जैसे देवदत्तो वहिरास्ते गृहासत्त्वे सति जीवित्वात्"।

(४) एवं पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इत्यादौ पीनत्वस्य भोजनव्याप्यत्वावगमाद्भोजनसिद्धौ दिवा भोजनबाधे रात्रिभोजनं सिध्यतीति। (५) अभाव प्रत्यक्षस्यानुभविकत्वादनुपलम्भोऽपि न प्रमाणान्तरम्।

(४) "एवं पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते" इत्यादि स्थल में भी दिवा भोजन नहीं करने वाले देवदत्त का पीनत्व रात्रि भोजन के बिना अनुपपन्न है। इत्याकारक अनुपपत्ति ज्ञान रूप अर्थापत्ति प्रमाण से देवदत्त में रात्रि भोजन कर्तृत्व की कल्पना की जाती है। परन्तु यह देवदत्त में रात्रि भोजन कर्तृत्व का ज्ञान अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध हो जायगा। जैसे पीनत्व में भोजन कर्तृत्व व्याप्यतव का निश्चय होने पर पीनत्व हेतु से भोजन कर्तृत्व की सिद्धि होने पर दिन में भोजन कर्तृत्व के अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण से रहने के कारण अनुमिति में रात्रि भोजन कर्तृत्व का भान होता है। जैसे "देवदत्तौ रात्रि भोजी दिवाऽभुंजानत्वेसति पीनत्वात् इत्यादि। इस प्रकार जब अनुमान सेही अर्थापत्ति का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। तब उस का प्रमाणान्तर मानना व्यर्थ है। (५) विशेषणता सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष होता है। ऐसा अनुभव होने के कारण

अभाव ज्ञान का जनक अनुपलब्धि भी एक अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।

(६) किंचानुपलम्भस्याज्ञातस्य हेतुत्वे ज्ञानाकरणकत्वात्प्रत्यक्षत्वम्। (७) ज्ञातस्य हेतुत्वे तु तत्राप्यनुपलम्भान्तरापेक्षेत्यनवस्था।

(६) एवं अनुपलब्धि को प्रमाणान्तर मानने पर एक और भी दोष लगेगा वह यह है कि अनुपलम्भ यदि अज्ञान होकर अभाव ज्ञान का जनक हो तो अभाव ज्ञान को ज्ञाना करणक ज्ञान रूप होने के कारण उस में प्रत्यक्षत्वापत्ति हो जायगी क्योंकि ज्ञाना करणक ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही होता है। (७) यदि ज्ञात होकर अनुपलम्भ अभाव ज्ञान का जनक हो तो उपलम्भा भाव रूप अनुपलम्भ के ज्ञानार्थ उपलम्भ रूप प्रतियोगी की अनुपलब्धि कारण होगी। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी।

(८) एवं चेष्टापि न प्रमाणान्तरं तस्याः संकेतग्राहक शब्दस्मारकत्वेन लिप्यादि- समशीलत्वाच्छब्द एवान्तर्भावात्। (९) यत्र च व्याप्त्यादिग्रहस्तानुमितिरेवेति।

(८) इसी प्रकार चेष्टा भी प्रमाणान्तर नहीं है। क्योंकि चेष्टा को संकेत ग्राहक शब्द के स्मारक होने के कारण संकेत ग्राहक शब्द के स्मारक लिप्यादि से होने वाले बोध को शाब्द बोध में अन्तर्भूत होने के कारण जैसे लिप्यादि प्रमाणान्तर नहीं है वैसे चेष्टा भी प्रमाणान्तर नहीं है किन्तु शब्द प्रमाण ही में अन्तर्भूत है। (९) यदि चेष्टा स्थल में व्याप्ति ज्ञान हो ही कर बोध हो तो तादृश बोध को अनुमिति रूप होने के कारण अनुमानान्तर्गत ही चेष्टा हो जायगी। अतः चेष्टा भी प्रमाणान्तर नहीं है।

सुखं निरूपयति = सुख का निरूपण करते हैं।

का० १४५ पूर्वा०।

सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते।

का० अर्थ।

सकल प्राणियों की इच्छा का विषय जो सुख वह धर्म से उत्पन्न होता है।

(१) सुखंत्विति। काम्यमभिलाषविषयः। (२) धर्मेणेति। धर्मत्वेन सुखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः।

(१) स्पष्ट है। (२) सुख रूप कार्य के प्रति धर्म निमित्त कारण हैं।

का० १४५ उत्त०।

अधर्मजन्यं दुःखं स्यात्प्रतिकूलसचेतसाम्॥

का० अर्थ।

सकल प्राणियों के द्वेष का विषय जो दुःख वह अधर्म से उत्पत्त होता है।

(१) अधर्मेति। अधर्मत्वेन दुःखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः।

(२) प्रतिकूलमिति। दुःखत्वज्ञानादेव सर्वेषां स्वाभाविकद्वेषविषय इत्यर्थः।

(१) दुःख रूप कार्य के प्रति अधर्म निमित्त कारण है।

(२) दुःख दुःखत्व ज्ञान मात्र से प्राणी मात्र के स्वाभाविक अर्थात् द्वेषानधीन द्वेष का विषय होता है।

इच्छां निरूपयंति = इच्छा का निरूपण करते हैं।

का० १४६

निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
इच्छातु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि॥

का॰ अर्थ।

दु:खाभाव की इच्छा में दु:खाभाव ज्ञान और सुख की इच्छा में सुखज्ञान कारण है। दु:खाभाव और सुख के साधन में इष्ट साधनता ज्ञान रहने से उस साधन की इच्छा होती है।

(१) निर्दु:खत्व इति। इच्छा द्विविधा फलविषयिणी उपायविषयिणी च। (२) फलं तु सुखं दु:खाभावश्च। (३) तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानं कारणम्। (४) अतएव पुरुषार्थः संभवति। (५) यज्ज्ञात सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थ इति तल्लक्षणात्। इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं फलितोऽर्थः। (६) उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम्।

(१) फलेच्छा और उपायेच्छा के भेद से इच्छा दो प्रकार की होती है। (२) सुख और दु:खाभाव फल कहलाता है। (३) फलेच्छा के प्रति फल ज्ञान कारण है। (४) इसीलिये सुख और दु५खाभाव दोनों पुरुषार्थ हो सकते हैं। (५) क्योंकि जिस के ज्ञान मात्र से सभी को उस की प्राप्ति की इच्छा हो अर्थात् जो इतरेच्छानधीन इच्छा का विषय जो वह पुरुषार्थ (स्वतः पुरुषार्थ) कहा जाता है। (६) उपायेच्छा के प्रति इष्ट साधनता का ज्ञान कारण है।

का॰ १४७।

चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत्।
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत्॥

का॰ अर्थ।

कृतिसाध्यत्वप्रकारक इच्छा को चिकीर्षा कहा जाता है। कृति साध्यता का ज्ञान और इष्ट साधनता का ज्ञान उस (चिकीर्षा) का कारण है।

(१) चिकीर्षेति। कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्य विषयिणीच्छा चिकीर्षा पाकं कृत्या साधयामिति तदनुभवात्। (२) चिकीर्षा प्रतिकृति साध्यताज्ञानमिष्टसाधनाज्ञानं च कारणम् (३)

तद्धेतुरिति। अतएव बृष्ट्यादौ कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षा।

(१) कृति साध्यत्व प्रकारक जो कृतिसाध्य विषयक इच्छा वह चिकीर्षा कहलाती है। "पाकं कृत्या साधयामि" अर्थात् अपने यत्न से पाक का सम्पादन मैं करूं। इत्याकारक प्रतीति चिकीर्षा को विषय करती है। (२) चिकीर्षा के प्रति "इदम्मदिष्ट साधनम्" इत्याकारक कृति साध्यता ज्ञान और इष्टसाधनता ज्ञान कारण है। (३) यतः कृतिसाध्यता ज्ञान चिकीर्षा के प्रति कारण है अतः वृष्टि में कृतिसाध्यता ज्ञान रूप कारण का अभाव रहने के कारण चिकीर्षा नहीं होती।

का० १४८ पूर्वा:।

बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः स्यात्प्रतिबन्धिका।

का० अर्थ।

चिकीर्षा के प्रति बलवद्द्विष्ट साधनता का ज्ञान प्रतिबन्धक है।

(१) बलवदिति। बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं प्रतिबन्धकम्। अतो मधुविषसंपृक्तान्नभोजने न चिकीर्षा बलवद्द्वेषः प्रतिबन्धक इत्यन्ते।

(१) बलवद्द्विष्ट साधनता के ज्ञान को चिकीर्षा के प्रति प्रतिबन्धक होने के कारण मधु और विष से मिले हुए अन्न के भोजन में कृति साध्यता ज्ञान और इष्टसाधनता ज्ञान रहने पर भी चिकीर्षा नहीं होती है। किसी का ऐसा भी मत है कि बलवद्दिष्ट साधनता के ज्ञान से पैदा हुआ जो बलवद्द्वेष वही चिकीर्षा में प्रतिबन्धक है।

का० १४८ उत्त०

तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते।।

का० अर्थ।

एवं किसी के मत से चिकीर्षा के प्रति बलवत् अनिष्ट के अजनकत्व का ज्ञान ही कारण है।

(१) तदहेतुत्वेति। बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं कारणमित्यर्थः।

(१) इस का अर्थ कारिकार्थ से स्पष्ट है।

द्वेषं निरूपयति = द्वेष का निरूपण करते हैं।

का० १४९ पूर्वा०।

द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद्द्विषस्य कारणम्।

का० अर्थ।

उपाय द्वेष के प्रति बलवद्द्विष्ट साधनता ज्ञान कारण है। एवं सुख और सुखाभाव रूप फल के द्वेष के प्रति तत्तत्फल का ज्ञान कारण है।

(१) द्विष्टसाधनतेति। दुःखोपायविषयकं द्वेषं प्रति बलवद्-द्विष्टसाधनताज्ञानं कारणमित्यर्थः। (२) बलवदिष्टसाधनता ज्ञानं प्रतिबन्धकम्। तेन नान्तरीयकदुःखजनके पाकादौ न द्वेषः।

(१) कारिकार्थ से स्पष्ट है। (२) एवं उपाय विषयक द्वेष के प्रति बलवत् इष्ट साधनता का ज्ञान प्रतिबन्धक है अतः पाकजनक जिस दुःख के बिना पाक नहीं हो सकता है तादृश दुःख के जनक पाक में द्विष्टसाधनता का ज्ञान रूप द्वेष का कारण रहने पर भी भोजन रूप बलवत् इष्ट के प्रति साधनता का ज्ञान रूप प्रतिबन्धक रहने के कारण पाक में द्वेष नहीं होता है।

प्रयत्नं निरूपयति = प्रयत्न का निरूपण करते हैं।

का० १४९, १५० पूर्वा०।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम्।
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम्।।

का० अर्थ।

प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि भेद से प्रयत्न तीन प्रकार का होता है। ऐसा पण्डितों ने कहा है।

(१) प्रवृत्तिश्चेति। प्रवृत्ति-निवृत्ति-जीवनयोनियत्न भेदात्प्रयत्न-स्त्रिविध इत्यर्थः।

(१) इस का अर्थ कारिकार्थ ही से स्पष्ट है।

का० १५०, १५१ पूर्वा०।

चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा।
उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत्।

का० अर्थ।

चिकीर्षा, कृतिसाध्यताज्ञान, इष्टसाधनताज्ञान और प्रवृत्ति का साध्य जो पदार्थ उस के समवायि कारण का प्रत्यक्ष ये प्रवृत्ति के कारण हैं।

(१) चिकीर्षेत्यादि। मधुविषसंपृक्तान्नभोजनादौ बलवद-निष्टानुवन्धित्वेन चिकीर्षाभावान्न प्रवृत्तिरिति भावः। (२) कृतिसाध्यताज्ञानादिवद्बलवदनिष्टाननुवन्धित्वज्ञानमपि स्वतन्त्रान्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तौ कारणमित्यपि वदन्ति। (३) कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरवः।

(१) मधु और विष से मिले हुए अन्न के भोजन में बलवदनिष्टाननुवन्धित्व का ज्ञान अर्थात् महदनिष्टा प्रयोजकत्व का ज्ञान नहीं रहने के कारण प्रवृत्ति कारणीभूत चिकीर्षा नहीं होती है। इसलिये उस में प्रवृत्ति नहीं होती है। (२) किसी का मत है कि प्रवृत्ति के प्रति स्वतन्त्र अन्वय व्यतिरेक रहने के कारण कृति साध्यता ज्ञानादि जैसे स्वतन्त्र कारण हैं वैसे बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ननुवन्धित्व ज्ञान को भी प्रवृत्ति के प्रति स्वतन्त्र अन्वय व्यतिरेक रहने के कारण प्रवृत्ति में बलवदनिष्टा ननुवन्धित्व ज्ञान भी स्वतन्त्र कारण है। (३) गुरु प्रभाकर का मत है कि कार्यता का ज्ञान (कृति साध्यता ज्ञान) प्रवृत्ति में कारण है।

(४) तथाहि-ज्ञानस्य प्रवृत्तौ जननीयायां चिकीर्षातिरिक्तं नापेक्षितमस्ति। (५) सा च कृतिसाध्यताज्ञानसाध्या, इच्छायाः

स्वप्रकारप्रकारकधीसाध्यत्वनियमात्। चिकीर्षा हि कृतिसाध्यत्व-प्रकारिकेच्छा। तत्र कृतिसाध्यत्वं प्रकारस्तत्प्रकारकज्ञानं चिकीर्षायां तद्द्वारा च प्रवृत्तौ हेतुः।

(४) अर्थात कृति साध्यता ज्ञान स्वजन्य प्रवृत्ति में चिकीर्षा से अतिरिक्त (इष्ट साधनता ज्ञानादि रूप) किसी की अपेक्षा नहीं करता है। (५) नियम है कि इच्छा समान प्रकारक ज्ञान से जन्य होती है इसलिये चिकीर्षा को कृतिसाध्यत्व प्रकारक इच्छा समान प्रकारक ज्ञान से जन्य होती है इसलिये चिकीर्षा को कृति साध्यत्व प्रकारक इच्छा रूप होने के कारण हैं एवं चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्ति में भी कृति साध्यत्व प्रकारक ज्ञान कारण हैं।

(६) नत्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र हेतुः। कृत्यसाध्येऽपि चन्द्रमण्डलानयनादौ प्रवृत्त्यापत्तेः। (७) ननु कृत्यसाध्यताज्ञानं प्रतिबन्धकमिति चेन्न तदभावापेक्षया कृतिसाध्यताज्ञानस्य लघुत्वात्।

(६) किन्तु इष्ट साधनता ज्ञान प्रवृत्ति में कारण नहीं है। यदि ऐसा हो तो कृत्य साध्य चन्द्रमण्डलानयन में भी इष्ट साधनता ज्ञान रहने के कारण प्रवृत्त्यापत्ति हो जायगी। (७) शङ्का – प्रवृत्ति के प्रति कृत्य साध्यता ज्ञान को प्रतिबन्धक मानते हैं अतः कृत्यसाध्यताज्ञान चन्द्रमण्डलानयन में रहने के कारण प्रवृत्ति की आपत्ति नहीं होगी। समा० प्रवृत्ति के प्रति कृत्यसाध्यता ज्ञान प्रतिबन्धक हो तो प्रतिबन्धकाभाव को कारण रूप होने के हेतु कृत्यसाध्यता ज्ञानाभाव को कारणता माननी होगी। तदपेक्षया लाघवात् कृति साध्यता ज्ञान ही को प्रवृत्ति के प्रति कारणत्व मानना युक्त है।

(८) नच द्वयोरपि हेतुत्वं, गौरवात्।

(८) प्रवृत्ति के प्रति कृतिसाध्यता ज्ञान और इष्ट साधनता ज्ञान दोनों कारण नहीं हैं क्योंकि जब कृतिसाध्यता ज्ञान ही को कारणता मानने से निर्वाह हो जाता है तब कृति-साध्यता ज्ञान एवं इष्ट साधनता ज्ञान दोनों को प्रवृत्ति के प्रति कारणता मानने से गौरव हैं

(९) ननु त्वन्मतेऽपि मधुविषसंपृक्तान्नभोजने चैत्यवन्दने च प्रवृत्त्यापत्तिः कार्यताज्ञानस्य सत्त्वादिति चेन्न। (१०) स्वविशेषणवत्ताप्रतिसंधानजन्यकार्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वात्। (११) काम्ये हि यागपाकादौ कामना स्वविशेषणम्। (१२) ततश्च बलवदनिष्टाननुबन्धि काम्यसाधनताज्ञानेन कार्यताज्ञानम्। ततः प्रवृत्तिः।

(९) (नैयायिक की शङ्का) प्रवृत्ति के प्रति यदि कृतिसाध्यता ज्ञान ही को कारणता मानी जाय तो मधुविषसंपृक्तान्न भोजन में भोजन में और बौद्ध के देवता विशेष रूप चैत्य के वन्दन में कृति साध्यता ज्ञान रहने के कारण प्रवृत्ति की आपत्ति हो जायेगी। (१०) (मीमांसक का समा०) प्रवृत्ति के प्रति सामान्यतः कृति साध्यता ज्ञान कारण नहीं है किन्तु स्वविशेषण वत्ता ज्ञानजन्य कार्यता ज्ञान ही को कारणता मानते हैं यहाँ "स्व" पद का अर्थ प्रवृत्त्याश्रय पुरुष है। (११) पाक यागादिरूप सकामकार्य विषयक प्रवृत्तिस्थल में स्वविशेषण शब्द से कामना लेनी चाहिये। एवं कामना रूप "स्वविशेषणवत्ता" स्वविषयसाधनत्ववत्ता सम्बन्ध से विवक्षित है। वह इस सम्बन्ध से इष्ट साधन पदार्थ मात्र में रहती है। इस कारण इष्ट साधनता रूप हो सकती है। और इष्ट साधनता कार्यतानुमापक वक्ष्यमाण हेतु का घटक है। इसलिये इष्ट साधनता ज्ञान रूप स्वविषेषणवत्ता ज्ञान को हेतु ज्ञान विधया कृतिसाध्श्त्त्वसपुमिति रूप ज्ञान में कारणत्व समझना चाहिये। (१२) अतः काम्य पाक यागादि स्थल में "मत्कृतिं विना असत्त्वे सति बलवदनिष्टा ननुवन्धित्व विशिष्ट मदिष्ट साधनत्व ज्ञान रूप जो स्वविशेषणवत्ता ज्ञान तादृश ज्ञानजन्य जो पाकादि विशेष्यक कृति साध्यत्वानुमिति अर्थात् "पाकोमत्कृति साध्यः मत्कृतिम्बिना असत्त्वे सति बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशिष्ट मदिष्टसाधनत्वात्" इत्याकारक अनुमिति रूप कार्यता ज्ञान वही काम्यस्थलीय प्रवृत्ति के प्रति कारण है। अतः मधु विष संपृक्तान्न भोजन और चैत्यवन्दन में बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशिष्ट इष्ट साधनत्व नहीं रहने के कारण तादृश कार्यता ज्ञान नहीं होता है। अतः प्रवृत्त्यापत्ति नहीं होगी।

(१३) तृप्तश्च भोजने न प्रवर्तते तदानीं कामनायाः पुरुषविशेषणत्वाभावात्। (१४) नित्ये च शौचादिकं पुरुषविशेषणम्।

(१५) तेन शौचादिज्ञानाधीन कृतिसाध्यताज्ञानात्तत्र प्रवृत्तिः।

(१३) भोजन से तृप्त व्यक्ति को तत्काल में भोजनजन्य तृप्ति की इच्छा नहीं रहने के कारण भोजन में इष्टसाधनता ज्ञान नहीं होता है। अतः "मत्कृतिम्बिना असत्त्वे सति बलवदनिष्टाननुवन्धित्व विशिष्टमदिष्ट साधनत्व ज्ञानजन्य कृतिसाध्यता ज्ञान भोजन में नहीं हैं अतः तत्काल में भोजन विषयक प्रवृत्ति नहीं होती है। (१४) एवं नित्य कर्मस्थल में "स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धान" घटक स्वविशषण शब्द से शौच एवं आदि पद ग्राह्य विहित काल जीवित्वादि रूप अर्थ लिये जाते हैं। तादृश स्वविशेषणवत्त्व स्वरूप सम्बन्ध से विवक्षित है। (१५) अतः शौचादि रूप पुरुष विशेषणवत्ता ज्ञानजन्य जो सन्ध्यावन्दनदि विशेष्यक अनुमिति रूप कृति साध्यता ज्ञान वह सन्ध्या वन्दनादि नित्यकार्म विषयक प्रवृत्तिका कारण है। सन्ध्या वन्दनादि विशेष्यक तादृश कृति साध्यतानुमिति इस प्रकार होती हैं यथा – "यह मिदानीं कृति साध्य सन्ध्यावन्दनः विहित काल जीवित्वे सति शौचादि मत्त्वात्" अर्थात् सन्ध्या वन्दनोचित काल में जीते हुए और शौचादि मान मुझसे सन्ध्या बन्दन करने योग्य है।

(१६) ननु तदपेक्षया लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनता-विषयककार्यताज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमस्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं चेष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिक दुःखाजनकत्वं बलवद्द्वेषविषय दुःखाजनकत्वं वेति चेन्न। (१७) इष्टसाधनत्व-कृतिसाध्यत्वयोर्युग पज्ज्ञातुमशक्यत्वात्साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधात्। (१८) असिद्धस्य हि साध्यत्वं सिद्धस्य च साधनत्वम्। (१९) न चैकमेकेनैकदा सिद्धमसिद्धं चेति ज्ञायते तस्मात्कालभेदादुभयं ज्ञायत इति।

(१६) नैया० शङ्का०– बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशिष्ट इष्टसाधनता ज्ञानजन्य कार्यता ज्ञानापेक्षया बलवदनिष्टा ननुबन्धित्व विशिष्ट इष्ट साधनता विषयक कार्यता ज्ञान ही को "जन्यत्व और ज्ञानत्व" से अघटित होने के कारण आघवात् प्रवृत्ति के प्रति कारणत्व मानना उचित है। बलवदनिष्टा ननुबन्धित्व विशिष्ट शब्द का इष्टोत्पत्ति नान्तरीयक दुःखाधिक दुःखाजनकत्व अर्थात् जितने दुःख के बिना इष्टोपत्ति नहीं हो सकती है। तावत् दुःख से अधिक दुःख का अजनकत्व अथवा

बलवद्द्वेष विषय दुखः का अजनकत्व अर्थ है। (१७-१९) समा० जब तक कार्य की सिद्धि अर्थात उत्पत्ति नहीं होती है तब तक उस कार्य में कृति साध्यता रहती है और कार्य की उत्पत्ति के बाद उसमें इष्ट साधनत्व होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कृत साध्यत्व और इष्ट साधनत्व इन दोनों में कालिक परस्पर विरोध है। अतः एक काल में एक वस्तु को सिद्ध (उत्पन्न) और प्रसिद्ध (अनुत्पन्न) करके एक आदमी नहीं समझना है। इसलिये एक वस्तु में एक कालावच्छेदे इष्टसाधनत्व और कृत साध्यत्व का ज्ञान एक आदमी को होना असम्भव है। अर्थात् विभिन्न काल ही में हो सकता है। इसलिये बलवदनिष्टाननुवन्धित्व विशिष्ट इष्ट साधनता विषयक कार्यता (कृतिसाध्यता) ज्ञान को नैयायिक कारण नहीं मान सकते हैं।

(२०) मैवम्। लाघवेन बलवदनिष्टाननुवन्धीष्ट साधनत्वे सति कृतिसाध्यताज्ञानस्य हेतुत्वात्। (२१) नच साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधी यदा कदाचित्साध्यत्वसाधनत्वयोरविरोधादेकदा साध्यत्वसाधनत्वयोश्च ज्ञानात्।

(२०, २१) (नैया० खण्डन) काम्य, नित्यादि, स्थलीय प्रवृत्ति सामान्य के प्रति बलवदनिष्टाननुबन्धितव, विशिष्ट इष्ट साधनता विषयक कृतिसाध्यता ज्ञान ही लाघवात् कारण है। इष्ट साधनत्व कृति साध्यत्व इन दोनों में परस्पर कालिक विरोध रहने पर भी काल के भेद से एक वस्तु में इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व रह सकता है। इसलिये एक वस्तु में एक कालीन इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व का ज्ञान नहीं होने पर भी सामान्यतः इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व का ज्ञान हो सकता है।

(२२) नव्यास्तु ममेदं कृतिसाध्यमिति ज्ञानं न प्रवर्तकमनागते तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। (२३) किंतु यादृशस्य पुंसः कृतिसाध्यं यद्दृष्टं तादृशत्वं स्वस्य प्रतिसंधाय तत्र प्रवर्तते। (२४) तेनौदनकामस्य तत्साधनता ज्ञानवतस्तदुपकरणवतः पाकः कृतिसाध्य स्तादृशश्चाहमिति प्रतिसंधाय पाके प्रवर्तत इत्याहुः। (२५) तन्न। स्वकल्पित-लिप्यादिप्रवृत्तौ यौवने कामोद्रेदादिना संभोगादौ च तदभावात्।

(२२) प्रभाकर मतानुयायि मीमांसकं विशेष का मत है कि "ममेदं कृति साध्यम्" इत्याकारक ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है। क्योंकि अनागतावस्था में "इदम्" पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण तादृश ज्ञान हो सकता है। (२३) किन्तु यादृश पुरुष के प्रयत्न से यादृश कार्य को सिद्ध होते हुए जिस पुरुष ने देखा है वह पुरुष अपने को तादृश पुरुष के समान समझकर तादृश कार्य में प्रवृत्त होता है। (२४) अतः ओदन की इच्छा करने वाले पाक धर्मिक कृतिसाध्यता ज्ञान वाले और पाकोपकरण वाले व्यक्ति की कृति का साध्य पाक होता है। मैं भी तादृश अर्थात् ओदन की इच्छा करने वाला पाक में धर्मिक कृति साध्यता ज्ञान वाला और पाकोपकरण वाला हूँ। ऐसा समझकर पाक मं प्रवृत्त होता है। (२५) मीमांसक का यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि स्वकल्पित विजातीयाक्षर में और प्रारम्भिक युवावस्था पन्नपुरुषों की कामातुरता जन्य सम्भोग विशेष में तादृश ज्ञान नहीं रहने के कारण स्वकल्पित विजातीयाक्षर एवं प्रारम्भिक युवावस्थापन्न पुरुषों की कामातुरता जन्य सम्भोग विशेष में उन पुरुषों की जो प्रवृत्ति होती है। वह अव इस मत के अनुसार नहीं हो सकेगी।

(२६) इदं तु बोध्यम्। इदानींतनेष्टसाधनत्वादिज्ञानं प्रवर्तकं तेन भावियौवराज्ये बालस्य न प्रवृत्तिः, तदानीं कृतिसाध्यत्वाज्ञानात्।

(२६) ऐसा समझना चाहिये कि नैयायिक के मत से प्रवृत्ति के प्रति जो बलवदनिष्टाननुवन्धित्व इष्ट साधनत्व और कृति साध्यत्व के ज्ञान के कारण कहा गया है। वह तत् कालीन प्रवृत्ति के प्रति तत्कालीन बलवदनिष्टा ननुवन्धित्वादि ज्ञान कारण है। अतः राज पुत्र को भावि यौवराज्य में तत्कालीन कृति साध्यता ज्ञान नहीं रहने के कारण तत्काल में प्रवृत्ति नहीं होती है।

(२७) एवं तृप्तश्च भोजने नप्रवर्तते तदानीमिष्टसाधनत्वाज्ञानात्। (२८) प्रवर्तते च रोगदूषितचित्तो विषादिभक्षणे तदानीं बलवदनिष्टानुबन्धितत्वाज्ञानात्।

(२७) एवं भोजन से तृप्त पुरुषों को भोजन में तत्कालीन इष्ट

साधनता ज्ञान नहीं रहने के कारण तत्कालीन भोजन में प्रवृत्ति नहीं होती है। (२८) रोगादि जन्य आत्यन्तिक दु:ख से दु:खित चित्त वाले पुरुष को विषादि भक्षण में तत्कालीन बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ज्ञान रहने के कारण तत्काल में प्रवृत्ति होती है।

(२९) न चास्तिकस्यागम्यागमन-शत्रुवधादिप्रवृत्तौ कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वबुद्धिर्नरकसाधनत्वज्ञानादिति वाच्यम्, उत्कृष्ट रागादिना नरकसाधनता धीतिरोधनात्। (३०) वृष्ट्यादौ तु कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षाप्रवृत्ती किं त्विष्टसाधनता ज्ञानादिच्छा-मात्रम्। (३१) कृतिश्च प्रवृत्तिरूपा बोध्या। (३२) तेन जीवनयोनियत्नसाध्ये प्राणपञ्चक- संचारे न प्रवृत्ति:। (३३) इत्थं च प्रवर्तकत्वानुरोधाद्विधेरपीष्टसाधनत्वादिकमेवार्थ:।

(२९) शङ्का – अगम्यागमन एवं शत्रु वधादि रूप नरक प्रयोजक कर्मों में आस्तिकों को भी क्वचित् प्रवृत्ति होती है। वह बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ज्ञान नहीं रहने के कारण कैसे होगी? समा०– उत्कट राग होने से नरक साधनता का ज्ञान तिरोहित हो जाता है इस कारण बलवदनिष्टाननुबन्धित्व का ज्ञान होकर प्रवृत्ति हो सकती है। (३०) वृष्ट्यादि में कृतिसाध्यता ज्ञान नहीं रहने के कारण तद्विषयक चिकीर्षा और प्रवृत्ति नहीं होती है। किन्तु इष्ट साधनता ज्ञान रहने के कारण वृष्ट्यादि विषयक इच्छा मात्र होती है। (३१, ३२) कृति साध्यता ज्ञान घटक कृति पद का प्रवृत्ति अर्थ है अन्यथा जीवनयोनि यत्न साध्य प्राण पंचक संचार में कृतिसाध्यता ज्ञान रह जाने के कारण प्रवृत्त्यापत्ति जो जायगी। (३३) पूर्वोक्त लाघवानुरोध से बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ज्ञान इष्टसाधनता ज्ञान और कृति साध्यता ज्ञान इन तीन ही को प्रवृत्ति के प्रति कारणत्व मानने के वजह "यजेत" इत्यादि विधि वाक्यस्थलों में भी प्रवृत्त्यर्थ बलवदनिष्टाननुबन्धित्वादित्रितय लिङ् लोट्, तव्यत्, अनीयर इत्यादि विधि प्रत्ययो का अर्थ माना जाता है।

(३४) इत्थं च "विश्वजिता यजेत" इत्यादौ यत्र फलं न श्रूयते तत्रापि स्वर्ग: फलं कल्प्यते।

(३४) बलवदनिष्टा ननु वन्धित्वादि त्रय को विध्यर्थ मानने के

कारण "विश्वजिता यजेत" इत्यादि विधिवाक्य स्थलों में जहाँ फल का श्रवण नहीं है वहाँ भी स्वर्ग रूप इष्ट फल की कल्पना की जाती है। उसी की साधनता के ज्ञान के उक्त यज्ञ में प्रवृत्ति होती है।

(३५) ननु 'अहरहः संध्यामुपासीत' इत्यादा विष्टानुत्पत्ते प्रवृत्तिः कथम्। (३६) न चार्थवादिकं ब्रह्मलोकादि प्रत्यवाया भावो वा फलमिति वाच्यं, तथा सति काम्यत्वेन नित्यत्वहान्यापत्तेः। कामनाभावे चाकरणापत्तेः। (३७) इत्थंच यत्र फलश्रुतिस्तत्रार्थवादमात्रमिति चेन्न।

(३५) '(मीमांसक की शङ्का)' 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इस विधि वाक्यबोधित सन्ध्योपासन रूप नित्य में से किसी फल विशेष की उत्पत्ति नहीं होने पर भी उस में प्रवृत्ति होती है। अतः इष्ट साधनताज्ञान में प्रवृत्ति कारणत्व मानना युक्त नहीं है। तब प्रवर्तक ज्ञान विषय ही को विध्यर्थ होने के कारण इष्टसाधनत्व को जो विधि प्रत्ययार्थ माना जाता है। वह कैसे होगा। (३६) यहां ऐसा कहा जा सकता है कि "सन्ध्यामुपासते येतु सततं संशितव्रताः, विधूत पापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्" इत्यादि अर्थ वाद वाक्य से सिद्ध पाप नाश पूर्वक बह्मलोक प्राप्ति रूप ही सन्ध्योपासन का फल है अतः उस फल की साधनता के ज्ञान ही से प्रवृत्ति होगी। एवं इष्ट साधनत्व विधि प्रत्ययार्थ भी होगा परन्तु यह कैसे होगा। क्योंकि कर्मनिष्ठ नित्यत्व और काम्यत्व में परस्पर विरोधं रहने के कारण सन्ध्योपासन में "सफलत्वे सति विधिप्रतिपाद्यत्व" रूप काम्यत्व मानने से "निष्फलत्वे सति विधि प्रतिपाद्यत्व" रूप नित्यत्व का अभाव हो जायगा यदि आप इसे इष्ट करें तो फलकामनावत् पुरुष ही को काम्य कर्माधिकार होने के कारण जैसे पुत्र कामना शून्य पुरुषों को पुत्रेष्टि यज्ञ नहीं करने पर भी उन को प्रत्यवाय नहीं होता है। उसी प्रकार ब्रह्मलोक की कामना शून्य द्विज को सन्ध्योपासन नहीं करने पर भी प्रत्यवाय नहीं होना चाहिये। (३७) अतः सन्ध्योपासनादि रूप नित्यकर्मों में निष्फलत्व मान कर "शोचादि" रूप स्वविशेषणवत्ता ज्ञानजन्य कृति साध्यता ज्ञान को नित्य कर्म स्थल में प्रवृत्ति का कारण कहना होगा तब "सन्ध्यामुपासते येतु" इत्यादि फल बोधक स्मृति को अप्रामाण्य हो जायगा। अतः तादृश फल बोधक स्मृति को प्रशंसा बोधक अर्थ बाद रूप ही मानना उचित है

पर यह भी ठीक नहीं है।

(३८) ग्रहणश्राद्धादौ नित्यत्व-नैमित्तिकत्वयोरिव नित्यत्व-काम्यत्वयोरप्यविरोधात्॥

(३८) क्योंकि ग्रहण निमित्तक श्राद्ध गत नित्यत्व नैमित्तिकत्व एवं भरणी नक्षत्र निमित्तक श्राद्धगत काम्यत्व नैमित्तिकत्व के समान नित्यत्व और काम्यत्व में विरोध नहीं मानते हैं। तब सन्ध्योपासन रूप नित्य कर्म में काम्यत्व मानने पर भी नित्यत्वाभाव की आपत्ति नहीं हो सकती है।

(३९) नच कामनाभावेऽकरणापत्तिः, त्रिकाल-स्तवपाठादाविव कामनासद्भावस्यैव कल्पनात्।

(३९) शङ्का – सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म भी यदि काम्य हो तो फलकामनावान् पुरुष को ही काम्यकर्माधिकारी होने के कारण जिस पुरुष को फल की कामना नहीं है। वह पुरुष यदि सन्ध्योपासन नहीं करे तो उसको पापोत्पत्ति होती है। वह अव नहीं होगी। समा०– "अकुर्वन् विहितं कर्म नरो भवति किल्विषी" इस वचन के साथ ''शुचिकर्म कुर्वीत'' इस विधि वाक्य को एक वाक्यता करने से ज्ञात होता है कि शौचशून्य पुरुष को विहित नित्य कर्माननुष्ठान से प्रत्यवाय नहीं होता है। एवं शौच विशिष्ट पुरुष को विहित कर्माननुष्ठान से प्रत्यवाय अवश्य होता है। तब त्रिकाल पठनीय सन्ध्योपासनाङ्ग नित्यकर्मात्मकगायत्री कवच के पाठ नहीं करने से पापात्पाद हो जायगा। अतः गायत्री कवच पाठ में यथा "पापानुत्पाद रूप" फल की कामना अवश्य है तथा सन्ध्योपासनादि रूप नित्य कर्म में भी तत्कर्मा करण प्रयुक्त फल की कामना अवश्य है तथा सन्ध्योपासनादि रूप नित्य कर्म में भी तत्कर्मा करण प्रयुक्त फल की कामना अवश्य है तथा सन्ध्योपासनादि रूप नित्य कर्म में भी तत्कर्मा करण प्रयुक्त पापानुत्पाद रूप इष्ट की साधनता के ज्ञान ही से नित्य कर्म में प्रवृत्ति होगी।

(४०) न तु वेदबोधितकार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिरिति संभवति। (४१) स्वेष्टसाधनत्वमविज्ञाय तादृशकार्यताज्ञानसहस्त्रेणापि प्रवृत्तेरसंभवात्।

(४०, ४१) किन्तु नित्यकर्म स्थल में शौचादि रूप स्वविशेषणवत्ता

ज्ञानजन्य कार्यता ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। यह जो मीमांसकों का कथन है वह नहीं हो सकता है। क्योंकि जब तक अपने इष्ट की साधनता का ज्ञान नहीं होगा तब तक शौचादि रूप स्वविशेषणवत्ता ज्ञानजन्य कार्यता ज्ञान सहस्र से भी प्रवृत्ति होना असम्भव है।

(४२) यदपि पण्डापूर्वं फलमिति तदपि न। कामनाभावेऽकरणापत्तेस्तौल्यात्। (४३) कामनाकल्पने त्वार्थवादिकफलमेव रात्रिसत्रन्यायात्कल्प्यताम्। (४४) अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तेनानुत्पत्तिं प्रत्यवायस्यान्ये मन्यन्ते।

(४२) प्रभाकर का मत है कि नित्यकर्मजन्य "पण्ड" (नपुंसक) अर्थात् फल का अजनक अपूर्व (अदृष्ट) रूप फल होता है तादृश फल रूपदृष्ट साधनता के ज्ञान ही से नित्यकर्म में प्रवृत्ति होती है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पण्डापूर्व रूप फल से इष्ट सिद्धि नहीं होने के कारण तादृश फल की इच्छा प्रायशः किसी को नहीं होगी। अतः उस की कामना से शून्य पुरुष को सन्ध्यावन्दनादि रूप नित्य कर्म नहीं करने पर पापोत्पत्ति होती है। वह नहीं होगी। (४३) रात्रि सत्र नामक यज्ञ का विधि वाक्य में फल श्रवण नहीं है। तथापि विश्वजित् यज्ञ के समान स्वर्ग फल की कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि जहाँ पर विधि वाक्य में अथवा अर्थवाद वाक्य में कहीं भी फल का श्रवण नहीं रहता है। वहीं अश्रुत स्वर्गादि रूप फल की कल्पना की जाती है। क्योंकि नियम है कि जहाँ श्रुत फल की सम्भावना नहीं हो वहीं अश्रुत फल की कल्पना होती है। विश्वजित् यज्ञ का तो अर्थवाद वाक्य में भी फल का श्रवण नहीं है। अतः अश्रुत स्वर्ग रूप फल की कल्पना की जाती है। किन्तु रात्रि सत्र यज्ञ का तो अर्थवाद वाक्य में प्रतिष्ठा रूप फल का श्रवण है। अतः अश्रुत स्वर्ग रूप फल की कल्पना जैसे नहीं की जाती है वैसे सन्ध्यावन्दनादि रूप नित्य कर्म के प्रत्यवाया भावादि रूप फल का अर्थवाद वाक्य में श्रवण रहने के कारण अश्रुत पण्डापूर्वात्मक फल की कल्पना उचित नहीं है। (४४) यदि सन्ध्यावन्दनादि रूप नित्य कर्म का कुछ भी फल नहीं माना जाय तो उन कर्मों में शिष्टों की प्रवृत्ति नहीं होगी अतः नवीन विद्वान् अर्थवाद वाक्यान्तर से सिद्ध प्रत्यवायानुत्पत्ति ही को सन्ध्या वन्दनादि रूप नित्यकर्मों का फल मानते हैं।

(४५) एवम् – -सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंशितव्रताः। विधूतपापास्तेयान्ति ब्रह्मलोकमनामयम्। (४६) एवम् ''दद्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन्'' इति प्रीत्यात्मकमेव फलमस्तु॥

(४५,४६) एवं प्राचीन का मत है कि सन्ध्या वन्दन रूप नित्यकर्म का पाप निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मलोक प्राप्ति ही फल है जो ''सन्ध्यामुपासते'' इत्यादि अर्थवाद वाक्य से भी प्रीति नित्यकर्मात्मक पितृश्राद्ध का फल है।

(४७) नच पितृप्रीतिः कथं फलं व्यधिकरणत्वादिति वाच्यं, गयाश्राद्धादाविवोद्देश्यत्वसंबन्धेनैव फलजनकत्वस्य क्वचित्कल्पनात्। (४८) अत एवोक्तं शास्त्रदर्शितफलमनुष्ठानकर्तरीत्युत्सर्ग इति।

(४७) शंका – यदि आप कहें तो क्रियात्मक श्रद्धाधिकरण श्राद्धकर्त्ता में पितृ प्रीति नहीं रहने के कारण श्राद्ध का फल पितृ प्रीति कैसे होगी? समा० – ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उद्देश्यता सम्बन्ध से साधारण श्राद्ध भी पितृ प्रीति रूप फल का कारण है। अतः समवायेनपितृ कार्य को उद्देश्यता सम्बन्ध से श्राद्धात्मक कारण के साथ पितृ रूप एक देश में रहने के कारण शब्द श्राद्ध का फल पितृ प्रीति हो सकती है। (४८) जिस हेतु श्राद्ध रूपक्रिया का फल श्राद्ध कर्त्ता को नहीं हो कर केवल पितृ मात्र को होता है अतः शास्त्र प्रतिपादित अनुष्ठान का फल अनुष्ठान कर्ता को होता है। यह (उत्सर्ग) सामान्य नियम है। अर्थात् बहुस्थलाभिप्रायक है किन्तु सार्वत्रिक नहीं है।

(४९) पितृणां मुक्तत्वे तु स्वस्य स्वर्गादिफलं, यावन्नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानस्य सामान्यतः स्वर्गजनकत्वात्। (५०) पण्डा पूर्वार्थं - प्रवृत्तिश्च न संभवति। नहि तत् सुखदुःखाभाववत् स्वतःपुरुषार्थो न वा तत्साधनम्। (५१) प्रत्यवायानुत्पत्तौ कथं प्रवृत्तिरिति चेदित्थम्, यथा हि नित्ये कृते प्रत्यवायाभावस्तिष्ठति तदभावे तद भावः। एवं प्रत्यवायाभावसत्त्वे दुःख प्रागभावसत्त्वं तदभावे तदभाव- इति योगक्षेमसाधारणकारणताया दुःखप्रागभावं प्रत्यपि सुवचत्वात्। (५२) एवमेव प्रायश्चित्तस्यापि दुःख प्रागभावहेतुत्वमिति।

(४९) जहाँ पर गया श्राद्ध से पूर्व ही पितर को मोक्ष हो चुका है वहाँ पितृनिष्ठ स्वर्ग प्राप्त्यादि रूप फल होना असम्भव है। अतः वहाँ श्राद्ध कर्तानिष्ठ स्वर्ग प्राप्ति ही गया श्राद्ध का फल मानते हैं। क्योंकि सकल नित्य नैमित्तिकानुष्ठान को सामान्यतः स्र्व जनकत्व सिद्धान्त सिद्ध है।

(५०) सुख दुःखा भाव और इन दोनों के साधन इन तीन हीं पदार्थौं के उद्देश्य से लोगों की प्रवृत्ति होती है किन्तु पण्डा पूर्व इन तीनों में एक भी नहीं है। अतः पण्डा पूर्व के उद्देश्य से किसी की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये पण्डा पूर्व किसी भी कर्म का फल नहीं हो सकता है। पूर्व ग्रन्थ मं पण्डापूर्व रूप फल को श्रुत फल रूप नहीं होने के कारण सन्ध्या के कारण सन्ध्या वन्दनादि रूप नित्यकर्म का पण्डापूर्व फल नहीं है यह कहा गया है। और अब पण्डापूर्व के उद्देश्य से किसी की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः पण्डापूर्व किसी भी कर्म का फल नहीं हो सकती है। (५१, ५२) [१]शङ्का – यदि आप कहें कि पापानुत्पत्ति भी तो पण्डापूर्व के समान सुख दुःखाभाव एवं इन दोनों का साधन रूप नहीं है। तब पापानुत्पत्ति के लिये शिष्ट जनों की सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्मों में प्रवृत्ति क्यों होगी। समा० – जैसे नित्य कर्म करने पर प्रत्यवाय प्रागभाव रहता है और नित्यकर्म नहीं करने से प्रत्यवाय प्रागभाव का ध्वंस (पाप) होता है। वैसे प्रत्यवाय प्रागभाव रहने से दुःख प्रागभाव रहता है। और प्रत्यवाय प्रागभाव के ध्वंस (प्रत्यवाय) होने से दुःख प्रागभाव का ध्वंस (दुःख) होता है। इस प्रकार दुःख प्रागभाव के प्रति प्रत्यभाव को एवं दुःख प्रागभाव ध्वंस के प्रति प्रत्यवाय प्रागभाव ध्वंस को प्रयोजकत्व है अतः अनादि दुःख प्रागभाव के प्रति प्रत्यवाय प्रागभाव को अन्यथा सिद्धि शून्यत्वे सति कार्योपत्ति पाकक्षणावच्छेदेन कार्यव्यापकत्व रूप कारणत्व

१. दण्डाभावाद्घटाभावः इत्याकारक प्रतीति होने के हेतु यथा दण्डाभाव प्रयोज्य घटाभाव होता है तथा पाप प्रागभावाभावाद्दुःख प्रागभावाभावः इत्याकारक प्रतीति होने के हेतु पाप प्रागभावाभाव प्रयोज्य दुःख प्रागभावाभाव होता है। अतः घटात्मक कार्य के अभाव प्रयोजक दण्डाभाव के प्रतियोगित्व दण्ड में रहने के कारण यथा घट के हेतु दण्ड होता है। तथा दुःख प्रागभावात्मक कार्य के अभाव प्रयोजक पाप प्रागभावाभाव के प्रतियोगित्व पापप्रागभाव में रहने के कारण पाप प्रागभाव दुःखप्रागभाव का कारण है।

नहीं रहने पर भी कार्याभाव प्रयोजकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप योगक्षेम साधारण कारणतव है। और इष्टसाधनता ज्ञान का विषय इष्टसाधनतव भी एतादृश कारणत्व रूप ही विवक्षित है। इसलिये दुःख की अनुत्पत्ति इष्ट की क्षैमिक साधनता का ज्ञान प्रत्यवायानुत्पत्ति में रहने के कारण प्रत्यवायानुत्पत्त्यर्थं सन्ध्या वन्दनादि में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार प्रायश्चित्त को भी पापनाश द्वारा परम्परा अनादि दुःख प्राग भाव के प्रति उक्त योग क्षेम साधारण कारणता है। अप्राप्त की प्राप्ति योग शब्द का एवं प्राप्त का परिरक्षण क्षेम शब्द का अर्थ समझना चाहिये।

(५३) ननु न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्र विध्यर्थे कथं नञर्थान्वयः इष्टसाधनत्वाभावस्य कृति साध्यत्वाभावस्य च बोधयितुमशक्यत्वादिति चेन्न। (५४) तत्र बाधादिष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वं च न विध्यर्थो। किन्तु बलवदनिष्टा ननु बन्धित्वमात्रं तदभावश्च नञा बोध्यते। (५५) अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं विध्यर्थः। तदभावश्च नञा बोध्यमानो विशिष्टाभावो विशेष्यवति विशेषणाभावेविश्राम्यति।

(५३, ५४) शङ्का – "न कलञ्जं भक्षयेत्" इस स्थल में कलञ्ज (शुष्क मास) भक्षण को इष्ट साधन और कृति साध्य होने के कारण उक्त वाक्य से कलञ्ज भक्षण में इष्टसाधनत्वा भाव और कृति साध्यत्वाभाव की प्रतीति नहीं हो सकती है। समा० – कलञ्ज भक्षण में इष्टसाधनत्व और कृति साध्यत्व ही रहने के कारण उक्तस्थल में केवल बलवदनिष्टा ननुबन्धित्व ही विधि प्रत्ययार्थ है। और इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व नहीं है, अतः बलवदनिष्टाननुबन्धित्वा भाव मात्र की न ञ् घटित उक्त वाक्य से प्रतीति होती है। (५५) [१]अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व

---

१. विशेष्यवत् में विशिष्टाभाव विशेषणाभाव रूप होता है। यथा जल में पृथिवोत्व विशिष्ट द्रव्यत्वाभाव रूप विशिष्टाभाव द्रव्यत्व रूप विशेष्यवद्वृत्ति होने के कारण पृथिवीत्वात्मक विशेषणाभावरूप है। एवं विशेषणवत में विशिष्टाभाव विशेष्याभाव रूप होता है। यथा जल में द्रव्यत्व विशिष्ट पृथिवीत्वाभाव रूप विशिष्टाभावद्रव्यत्व रूप विशेषणवद्वृत्ति होने के कारण पृथिवीत्वात्मक विशेष्याभाव रूप हैं। कलञ्ज भक्षण में बलवदनिष्टाननुबन्धित्व विशिष्ट, इष्ट साधनत्व विशिष्ट

विशिष्ट इष्टसाधनत्व विशिष्ट कृतिसाध्यत्व ही विध्यर्थ है। नञ् घटित वाक्य से तादृश विशिष्टाभाव की प्रतीति होती है। कलञ्ज भक्षण में इष्ट साधनत्व और कृति साध्यत्व के रहने पर भी बलिवदनिष्टाननुबन्धित्व रूप विशेषणाभाव प्रयुक्त उक्त विध्यर्थाभाव रूप विशिष्टाभाव रहता है।

(५६) "ननुश्येनेनाभिचरन् यजेते" त्यादौ कथं बलवद-निष्टाननुवन्धित्वमर्थः, श्येनस्य मरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेन नरकसाधनत्वात्, न च वैधत्वान्न निषेध इति वाच्यम्, अभिचारे प्रायश्चित्तोपदेशात्, न च मरणानुकूलव्यापारमात्रं यदि हिंसा तदा खङ्गकारस्य कूपकर्तुश्च हिंसकत्वापत्तिर्गललग्नान्न भक्षणजन्यमरणो स्वात्मवधत्वापत्तिश्चेतिवाच्यं, मरणोद्देश्यकत्वस्यापिविशेषणत्वात्, अन्योद्देश्यकक्षिप्तनाराचहतब्राह्मणस्य तु वाचनिकं प्रायश्चित्तम्' इतिचेन्न। (५७) श्येनवारणायादृष्टाद्वारकत्वेन विशेषणात्। (५८) अत एव काशीमरणार्थकृतशिवपूजादेरपि न हिंसात्वम्।

(५६) शङ्का – शत्रुवध कामः "श्येनेनाभि चरन् यजेत" इत्याकारक विधि वाक्य से प्रतिपादित मारणात्मक अभिचार कर्म हिंसात्मक होने के कारण नरक का साधन होगा। अतः बलवदनिष्टा ननुवन्धित्व रूप विध्यर्थ का बोध कैसे होगा? यदि आप कहें कि माहि स्यात् सर्वा भूतानि इत्याकारक निषेध वचन वैधेतर हिंसा ही का निषेध करता है। अत वैधहिंसा निषिद्ध नहीं होने के कारण पाप जनक नहीं होगी। तो धर्म शास्त्र में अभिचारात्मक कर्म के प्रायश्चित्त का जो प्रतिपादन किया गया है अव असंगत हो जायगा। अतः उसको पाप जनक अवश्य मानना होगा। साक्षात् वा परम्परया मरणानुकूल व्यापार मात्र यदि हिंसा हो तो खड्ग (तलवार) बनाने वाले और धर्मार्थ कूप खुदवाने वाले पुरुषों को हिंसा हो जायगी। क्योंकि उक्त खड्ग से जिसका मरण हो गया है और उक्त कूप में जो प्राणी मर गये हैं परम्परया उनके मरण का प्रयोजक व्यापार उन दोनों में रह जायगा। एवं जिस पुरुष को भोजन समय में

कृति साध्यता भाव रूप विशिष्टा भाव इष्ट साधनत्व विशिष्ट कृति साध्यत्व रूप विशेष्यवद्वृत्ति होने के कारण बलवदनिष्टाननुबन्धित्व रूप विशेषणाभावात्मक है।

कण्ठ में अन्न रुक जाने के कारण मृत्यु हो गई है उस पुरुष को भी आत्म हत्या का पाप होना चाहिये। अतः मरणोद्देश्यक मरणानुकूल व्यापार ही हिंसा है। किन्तु मरणानुकूल व्यापार मात्र हिंसा नहीं है। यदि ऐसा कहं कि जहाँ पर केवल निशान ठीक करने के लिये वाण फेंकने पर दैव वश उस वाण से अज्ञान ब्राह्मण का वध हो जाता है वहां उक्त वाण के फेंकने वाले पुरुष के लिये सेतुबन्ध स्थानाधिकरणक स्नानादि रूप प्रायश्चित्त का विधान करने से यह स्थिर होता है कि उस पुरुष का उक्त व्यापार भी हिंसा है। किन्तु यदि मरणोद्देश्यक मरणानुकूल व्यापार ही हिंसा मानी जायगी तो उक्त व्यापार को मरणोद्देश्यक नहीं होने के कारण हिंसा रूपता नहीं होगी। अतः उसके लिये प्रायश्चित्त का विधान अनुचित होगा तो उसका यह उत्तर होता है कि ''माहिंस्यात् सर्वा भूतानि'' इस निषेध शास्त्र के रहते हुए भी ''ब्राह्मणं न हन्यात्'' इत्याकारक निषेध शास्त्र से ज्ञात होता है कि अज्ञानतः ब्राह्मण मरणानुकूल व्यापार भी पाप का जनक है और उसी का ''सेतौ च स्नान मात्रेण ब्रह्म हत्यां व्यपोहति'' इत्यादि ग्रन्थ से (वाचनिक) प्रायश्चित्त का विधान है। अत एव मरणोद्देश्यक ब्राह्मण मरणानुकूल व्यापारात्मक ब्रह्म हत्या के प्रायश्चित्ताभाव प्रतिपादक तत्तत् धर्मशास्त्र ग्रन्थों का विरोध इस वाचनिक प्रायश्चित्त प्रतिपादक ग्रन्थ से नहीं होता है। अतः पर्यवसित हुआ कि मरणोद्देश्यक मरणानुकूल व्यापार ही हिंसा है। उक्त पुरुष के उक्त व्यापार को हिंसा रूप न होने पर भी कोई क्षति नहीं है। लेकिन यह कथन ठीक नहीं है। (५७-५८) क्योंकि काशी मरणार्थ शिव की पूजा करने वाले पुरुषों का मरणोद्देश्यक मरणानुकूल व्यापार ही को हिंसा रूप मानना उचित है। ऐसा मानने पर उक्त शिव पूजन अदृष्ट द्वारा मरणानुकूल व्यापार रूप होने के कारण हिंसा रूप नहीं होगा। इसी प्रकार श्येन योग भी अदृष्ट द्वारा मरणानुकूल व्यापार रूप होने के कारण हिंसा रूप नहीं है।

(५९) न च साक्षान्मरणजनकस्यैव हि हिंसात्वं श्येनस्तु न तथा किंतु तज्जन्यापूर्वमिति वाच्यं, खड्गाघातेन ब्राह्मणे ब्रणपाकपरम्परया मृते हिंसात्वानापत्तेः।

(५९) किसी का मत है कि साक्षात् मरण का जनक ही हिंसा है। श्येन याग साक्षात् शत्रुमरा जनक नहीं है किन्तु श्येन याग जन्य अदृष्ट

ही साक्षात् शत्रु मरण का जनक है। अतः श्येन याग हिंसा रूप नहीं होगा। लेकिन यह युक्त नहीं है क्योंकि खड्ग घात से व्रण ज्वरादि द्वारा जहाँ ब्राह्मण की मृत्यु हुई है वहां ज्वर ही साक्षात् मरण जनक होने के कारण हिंसा रूप होगा। किन्तु खड्गाघात साक्षात् मरण का जनक नहीं है अतः उस में हिंसात्व की अनुपपत्ति हो जायगी।

(६०) केचित्तु श्येनस्य हिंसा फलं न तु मरणम्। (६१) तेन श्येनजन्य खड्गघातादिरूपा हिंसाऽभिचारपदार्थः। तस्य च पापजनकत्वम्। (६२) अतः श्येनस्य वैधत्वात्पापाजनकत्वेऽपि अग्रिमपापं प्रतिसंधाय सन्तो न प्रवर्तन्त इत्याहुः।

(६०, ६१) [१]और किसी का ऐसा भी मत है कि पूर्वोक्त साक्षात् मरा का जनक ही हिंसा है। अतः श्येन यागजन्य खड्ग घातादि साक्षात् मरण कर जनक होने के कारण हिंसा रूप है और श्येनयाग साक्षात् मरण का जनक नहीं होने के कारण हिंसा नहीं है किन्तु हिंसा का जनक है। (६२) अतः श्येन यागजन्य खड्ग घातादि रूप हिंसा ही पाप का जनक है और वैध श्येन योग हिंसा रूप नहीं होने के कारण पाप का जनक नहीं है तो भी श्येन याग से परम्परया पापोत्पत्ति की सम्भावना से सज्जन पुरुष श्येन याग में प्रवृत्त नहीं होते हैं।

(६३) आचार्यास्तु आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः। 'पाकं कुर्याः' इत्यादावाज्ञादिरूपेच्छावाचित्व-वल्लिङ्मात्रस्येच्छावाचित्वं लाघवात्। (६४) एवं च 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादौ यागः स्वर्गकाम-कृतिसाध्यतया आप्तेष्ट इत्यर्थः। (६५) ततश्चाप्तेष्टत्वेनेष्टसाधनत्वादिक-मनुनाय प्रवर्तते। (६६) कलञ्जभक्षणे तदभान्न प्रवर्तते।

---

१. शङ्का – नचेत्यादि ग्रन्थ में साक्षात् मरण जनक ही को हिंसा रूप मानने के कारण पौनरुक्त्य क्यों नहीं होगा। समा० – पूर्व साक्षात् मरण जनक श्येनजन्य अदृष्ट ही को हिंसा रूप कहा है और इस मत में तो तादृश अदृष्ट खड्गाघात ही के प्रति कारण माना जाता है। मरण के प्रति नहीं। अतः मरण जनक नहीं होने के कारण हिंसा रूप नहीं है इस हेतु दोनों मतों में भेद होने से पौनरुक्त्य नहीं होगा।

(६३) उदयनाचार्य का मत है कि वक्ता की इच्छा विध्यर्थ है। क्योंकि "पाकं कुर्याः" इत्यादि स्थल में विधि प्रत्यय को जिस प्रकार आज्ञा रूप इच्छा वाचकत्व मानते हैं। उसी प्रकार लिङ् मात्र को लाघवात् इच्छावाचकत्वं मानना उचित है। (६४, ६५) तब "स्वर्ग कामो यजेत्" इत्यादि स्थल में "यागः मम स्वर्ग कामस्य बलवदनिष्टाननु वन्धीष्ट साधनम् मत्कृति साध्यत्वेन आप्तेन इष्यमाणत्वात्" इत्याकारक अनुमित्यात्मक इष्ट साधनता ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। (६६) कलञ्ज भक्षण में किसी विधि वाक्य को नहीं रहने के कारण एतादृश अनुमित्यात्मक इष्ट साधनता ज्ञान नहीं रहेगा। अतः प्रवृत्ति नहीं होती है।

(६७) यस्तु वेदे पौरुषेयत्वं नाभ्युपैति तं प्रति विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुति कुमार्याः पुंयोगे मानम्।

(६७) वक्ता की इच्छा को विधि प्रत्ययार्थ मानने पर जो मीमांसकादिवेद को अपौरुषेय अर्थात् किसी से प्रणीत नहीं मानते हैं। उन के मत में वेद घटक विधि प्रत्ययार्थ किसी की इच्छा नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि उन के मत से वेद का कर्त्ता कोई नहीं है। किसी दूसरे पुरुष की इच्छा का बोध कराने विधि प्रत्यय को सामर्थ्य नहीं है तब जिस प्रकार किसी कुमारी का गर्भ पुरुष संयोग का प्रमाण होता है उसी प्रकार वेद वाक्य घटक विधि प्रत्यय श्रुति कुमारी का स्वकर्तृ पुरुष येग में प्रमाण होता है। अर्थात् यदि वेद निर्माता पुरुष नहीं माना जाये तो किसकी इच्छा वेद घटक विधि प्रत्यय का अर्थ होगा? अतः वेद में पौरुषेयत्व मानना उचित है।

(६८) नच कर्त्रस्मरणं बाधकं, कपिल कणादादिभिरद्यपर्यन्तं कर्तृस्मरणस्यैव प्रतीयमानत्वात्। (६९) अन्यथा स्मृतीनामप्य-कर्तृकत्वापत्तेः। तत्रैव कर्तृस्मरणमस्तीति चेद्वेदेऽपि 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादि कर्तृस्मरणमस्त्येव। (७०) एवं 'प्रतिमन्वन्तरं चैषाश्रुतिरन्या विधीयते' इत्यपि द्रष्टव्यम्।

(६८, ७०) यदि आप कहें कि वेद कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं है तब वेद में अस्मर्यमाण कर्तृकत्व रहने के कारण "वेदः

अपौरुषेय: अस्मर्यमाण कर्तृकत्वात् आकाशवत्'' इस अनुमान से अपौरुषेयत्व की सिद्धि होने पर वेद में पौरुषेयत्वा की सिद्धि नहीं होगी। यह युक्त नहीं है क्योंकि कपिल कणादादि महर्षियों से देव में सकर्तृकत्व बोधक स्मृति प्रणयन होने के कारण ज्ञान होता है कि उन लोगों को वेदकर्त्ता का स्मरण अवश्य था। यदि आप शंका करें कि वेद कर्त्ता ईश्वर को जब किसी ने न देखा तब उन का स्मरण किस को हो ही कैसे सकता। यह आप का कथन युक्त नहीं होगा क्योंकि वेद कर्त्ता का प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी ''वेद: पौरुषेय: वाक्य समूहत्वात् महाभारतादिवत्'' इस अनुमान से वेद कर्त्ता की अनुमिति होने के बाद उन का स्मरण हो सकता है। यदि आप उक्त अनुमान को अप्रयोजक मान कर वेद में पौरुषेयत्व का अनंगीकार करें तो उक्त रीति से मन्वादि स्मृतियों में भी सकर्तृकत्व सिद्ध नहीं होगा। अगर ऐसा कहें कि तत्तत् मन्वादि स्मृति में तत्तत् स्मृति कर्त्ता का नाम प्रतिपादन होने के कारण स्मृति कर्ता का अस्मरण नहीं है अत: स्मृतियों में सकर्तृकत्व माना जाता है। तो इस का उत्तर यह है कि श्रुति में भी 'छन्दांसि यज्ञिरे तस्मात्'' इत्यादि मन्त्रों से तत्तत् स्थल विशेष में वेद कर्त्ता का भी प्रतिपादन होने के कारण वेद को भी अपौरुषेय नहीं कह सकते हैं। एवं ''प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते'' इत्यादि स्मृति भी प्रतिमन्वन्तर में विभिन्न श्रुतियां बनाई जाती हैं। इस का स्पष्ट प्रमाण है। अत: आप उस को अपौरुषेय नहीं मान सकते हैं।

(७१) 'स्वयंभूरेष भगवान्वेदो गीतस्त्वया पुरा' शिवादिऋषिपर्यन्ता स्मर्तारोऽस्य न कारकाः। (७२) इति तु वेदस्य स्तुतिमात्रम्। न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसंभवादप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यं नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषत्वात्। (७३) अतएव पुरुषान्तरस्य भ्रमादिसंभावान्न कपिलादेरपि कर्तृत्वं वेदस्य। (७४) किंच वर्णानामेवानित्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुतरां तत्संदर्भस्य वेदस्यानित्यत्वमिति सक्षेपः।

(७१-७४) महाभारत में व्यास देव ने ईश्वर कहा है कि हे ईश्वर अनादि वेद रूप भगवान् आप से पूर्व उच्चारित हैं। शिवादि ऋषि पर्यन्त वेद के स्मरण कर्त्ता हैं नकि प्रणेता हैं। यह व्यास देव का वचन वेद की स्तुति रूप होने के कारण अपौरुषेयत्व का प्रमाण नहीं हो सकता है।

शङ्का – यदि वेद में पौरुषेयत्व माना जाय तो पुरुष मात्र को भ्रम होने के कारण निर्माण कर्त्ता पुरुष के भ्रम से वेद में अप्रामाण्य हो जायेगा। समा० –ईश्वर को सर्व विषयक नित्य ज्ञानवान् होने के कारण भ्रम होने की सम्भावना नहीं है। अतः वेद में ईश्वर कर्तृकत्व मानने पर भी अप्रामाण्य नहीं होगा। अतएव ईश्वर से भिन्न पुरुषों को भ्रम की सम्भावना अवश्य होने के कारण कपिलादि ऋषियों में भी वेद कर्तृत्व मानना युक्त नहीं है। और वेद में अनित्यत्व की यह भी युक्ति है कि वक्ष्यमाण (का० १६७) प्रतिपादित हेतु से जब प्रत्येक वर्णो को अनित्य मानना होगा। तब सुतरां वर्ण समुदायात्मक वेद को आप नित्य नहीं मान सकते हैं।

(७५) उपादानस्येति। उपादानस्य समवायिकारणस्याध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रवृत्तौ कारणमिति।

(७५) उपादान (समवायि कारण) का प्रत्यक्ष प्रवृत्ति में कारण है।

का० १५१ उत्त०।

निवृत्तिस्तु भवेद्द्वेषाद्द्विष्टसाधनताधियः।।

का० अथ उत्त०।

द्वेष और द्वेष विषय जो दुःखादितत्साधनता ज्ञान से दुःखोपाय विषयक निवृत्ति होती है।

(१) निवृत्तिरिति। द्विष्टसाधनताज्ञानस्य निवृत्तिप्रति जनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधारितमिति भावः।

(१) निवृत्ति के साथ द्विष्ट साधनता ज्ञान का अन्वय व्यतिरेक रहने के कारण निवृत्ति के प्रति द्विष्ट साधनता ज्ञान को भी कारणत्व माना जाता है।

का० १५२।

यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदातीन्द्रियो भवेत्।

शरीरे प्राणसंचारे कारणं परिकीर्तितम्॥

का॰ अर्थ।

प्राणियों के जीवन पर्यन्त रहने वाला जीवनयोनि नाम का यत्न अतीन्द्रिय है और वह शरीर में प्राण संचार का कारण माना जाता है।

(१) यत्न इति। जीवनयोनियत्नो यावज्जीवनमनुवर्तते स चातीन्द्रियः। (२) तत्र प्रमाणमाह। (३) शरीर इति। प्राणसंचारो हि अधिक श्वासादिः यत्नसाध्यः। (४) इत्थं च प्राणसंचारस्य सर्वस्य यत्नसाध्यत्वानु- मानात्प्रत्यक्षयत्नबाधाच्चातीन्द्रिय यत्नसिद्धिः। स एव जीवनयोनिर्यत्नः।

(१) इस का अर्थ कारिकार्थ ही से स्पष्ट है। (२) जीवनयोनि यत्न में प्रमाण कहते हैं। (३) व्यायामादि कालिक दीर्घ श्वास प्रश्वास रूप प्राण संचार प्रयत्न साध्य है। यह सर्वानुभव सिद्ध है। (४) इस से प्राणसञ्चार सामान्य में यत्न साध्यत्व की अनुमिति होती है और तादृश यत्न का प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण वह अतीन्द्रिय सिद्ध होता है और तादृश यत्न का प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण वह अतीन्द्रिय सिद्ध होता है जो जीवनयोनियत्न के नाम से प्रसिद्ध है।

गुरुत्वं निरूपयति = गुरुत्व का निरूपण करते हैं।

का॰ १५३, १५४ पूर्वा॰।

अतीन्द्रियगुरुत्वं स्यात्पृथिव्यादिद्वये तु तत्।
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम्।
तदेवासमवायि स्यात्पतनाख्ये तु कर्मणि॥

का॰ अर्थ।

गुरुत्व पृथ्वी और जल में रहता है और अतीन्द्रिय है परमाणुगत गुरुत्व नित्य और तदन्यगत गुरुत्व अनित्य है और वही गुरुत्व आद्य पतन का असमवायि कारण है।

(१) अतीन्द्रियमिति। अनित्य इति। अनित्ये द्व्यणुकादौ तद्गुरुत्वमनित्यम्। नित्ये परमाणौ नित्यम्। गुरुत्वमित्यनुवर्तते। तद्गुरुत्वम्समवायि-असमवायि कारणम्। पतनाख्य इति। आद्यपतन-इत्यर्थः।

(१) कारिकार्थ में ही स्पष्ट है।

द्रवत्वं निरूपयति = द्रवत्व का निरूपण करते हैं।

का० १५४, १५५।

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम्।
सांसिद्धिकं तु सलिलेद्वितीयं क्षितितेजसोः।
परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमुच्यते।।

का० अर्थ।

सांसिद्धिक नैमित्तिक भेद से द्रवत्व दो प्रकार के होते हैं। उन में सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक द्रवत्व पृथ्वी और तेज में रहता है। जल परमाणु में रहने वाला द्रवत्व नित्य और पार्थिव तैजस परमाण्वादि एवं जलीय द्व्यणुकादि में रहने वाला द्रवत्व अनित्य है।

(१) सांसिद्धिकमिति। द्रवत्वं द्विविधं सांसिद्धिकं नैमित्तिकं चेति। द्वितीयं नैमित्तिकम्। (२) परमाणाविति जलपरमाणौ द्रवत्वं नित्यमित्यर्थः। अन्यत्र पृथिवीपरमाण्वादौ जलद्व्यणुकादौ च द्रवत्वमनित्यम्। (३) कुत्रचित्तेजसि कुत्रचित्पृथिव्यां च नैमित्तिकं द्रवत्वम्। तत्र को वा नैमित्तिकार्थस्तद्दर्शयति।

(१, २) कारिकार्थ में स्पष्ट है। (३) सुवर्णादि रूप किसी तेज में एवं घृतादि रूप किसी पृथ्वी में रहने वाला द्रवत्व नैमित्तिक द्रवत्व है। नैमित्तिक होने का कारण (नैमित्तिकमित्यादि कारिका से) बतलाते हैं।

का० १५६।

नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु।
द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं संग्रहे तु तत्॥

का० अर्थ।

सुवर्णादि रूप तेज और घृत लाक्षादि रूप पृथिवी में रहने वाला द्रवत्व वह्निसंयोग रूप निमित्त से पैदा होने के कारण नैमित्तिक कहा जाता है। द्रवत्व स्यन्दन का असमवायि कारण और संग्रह का निमित्त कारण है।

(१) नैमित्तिकमिति। वह्नीति। अग्निसंयोगजन्यं नैमित्तिकं द्रवत्वम्। तच्च सुवर्णादिरूपे तेजसि घृतजतुप्रभृतिपृथिव्यां च वर्तत इत्यर्थः। (२) द्रवत्वमिति। हेतुरिति। असमवायिकारणमित्यर्थः। (३) संग्रहे सक्तु-कादि-संयोगविशेषे तत् द्रवत्वं स्नेहसहितमिति बोद्धव्यम्। तेन द्रुतसुवर्णादिना न संग्रहः।

(१, २) कारिकार्थ में स्पष्ट है। (३) सक्तु वगैरह का पिण्डीभाव रूप संयोग विशेषात्मक संग्रह में स्नेह और द्रवत्व अर्थात् सांसिद्धिक द्रवत्व ये दोनों निमित्त कारण हैं अतः द्रुत सुवर्णादि में उन दोनों को नहीं रहने के कारण उस से संग्रह नहीं होता है। शङ्का – संग्रह के प्रति केवल स्नेह को कारणत्व मानने से भी किसी दोष की सम्भावना नहीं है तब सांसिद्धिक द्रवत्व को कारणत्व मानना व्यर्थ है। समा० – विनिगमनाविरह हो जाने के कारण संग्रह के प्रति स्नेह और सांसिद्धिक द्रवत्व दोनों को कारणत्व मानना आवश्यक होगा।

स्नेहं निरूपयति = स्नेह का निरूपण करते हैं।

का० १५७।

स्नेहो जले स नित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ।
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता॥

का॰ अर्थ।

जल मात्र में रहने वाला स्नेह नित्य, अनित्य के भेद से दो प्रकार का है। जल परमाणु में नित्य और जन्य जल में अनित्य स्नेह रहता है। तैल में जल रहने पर भी उस जल में अधिक स्नेह रहने के कारण वह जल अग्नि के अनुकूल ही होता है।

(१) स्नेह इति। जल इति जल एवेत्यर्थः। असौ स्नेहः। (२) ननु पृथिव्यामपि तैले स्नेह उपलभ्यते, न चासौ जलीयः, तथा सति दहनप्रातिकूल्यं स्यादत आह–तैलान्तर इति। तत्प्रकर्षात्, स्नेह प्रकर्षात् तैले उपलभ्यमानः स्नेहोऽपि जलीय एव तस्यप्रकृष्टत्वादग्नेरानुकूल्यम्। अपकृष्टस्नेहं हि जलं वह्निं नाशयतीति भावः।

(१) स्पष्ट है। (२) शङ्का करते हैं कि तैलादि रूप पृथ्वी में स्नेह उपलब्ध होने के कारण स्नेह जल मात्र में रहता है। यह कैसे हो सकता है। यदि आप कहें कि तेल में भी जल ही का स्नेह उपलब्ध होता है तो यह युक्त नहीं है। क्योंकि तेल के भीतर यदि जल माना जाय तो तैल भी अग्नि के अनुकूल नहीं होगा प्रत्युत जल युक्त होने के कारण प्रतिकूल हो जायगा। इस शङ्का का निराकरण ''नैलान्तर'' इत्यादि कारिका से करते हैं कि तैल में जो स्नेह पाया जाता है वह भीजल ही का है। परन्तु तैलान्तर्गत जल में अधिक स्नेह रहने के कारण वह जल अग्नि के अनुकूल ही होता है। अल्प स्नेह, जिसमें रहता है वही जल अग्नि का नाशक होता है।

संस्कार निरूपयति = संस्कार का निरूपण करते हैं।

का॰ १५८।

संस्कारभेदोवेगोऽथस्थितिस्थापकभावने।
मूर्तमात्रे तु वेगः स्यात्कर्मजो वेगजः क्वचित्॥

का॰ अर्थ।

वेग स्थितिस्थापक और भावना के भेद से संस्कार तीन प्रकार का

होता है वेग मूर्त मात्र में रहता है और कर्मज तथा वेगज के भेद से दो प्रकार का होता है।

(१) संस्कारेति। वेगस्थितिस्थापकभावना भेदात्संस्कारस्त्रिविध इत्यर्थः। (२) मूर्तमात्र इति। कर्मज वेगजभेदाद्वेगो द्विविध इत्यर्थः। (३) शरीरादौ हि नोदनजनितेन कर्मणा वेगो जन्यते। (४) तेन च पूर्व कर्मनाशस्तत उत्तरं कर्म। एवमग्रेऽपि।

(१, २) कारिकार्थ ही से स्पष्ट है।

(३) शरीरादि गत नोदन संयोगजन्य कर्म से शरीर में वेग उत्पन्न होता है। (४) उस वेग से पूर्व कर्म का नाश और तब उत्तर कर्म की उत्पत्ति होती है। पुनः उत्तर कर्म से पूर्व वेग का नाश और उत्तर वेग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार समझना चाहिये।

(५) विना च वेगं कर्मणः कर्मप्रतिबन्धकत्वात्पूर्वकर्मनाश उत्तरकर्मोत्पत्तिश्च न स्यात्। (६) यत्र वेगवता कपालेन जनिते घटे वेगो जन्यते स वेगजो वेगः।

(५) यदि वेग नहीं माना जाय तो नाशक के अभाव के कारण पूर्व कर्म का नाश नहीं होगा। और जब तक पूर्व कर्म का नाश नहीं होगा तब तक उत्तर कर्म की उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि कर्मोत्पत्ति में कर्म प्रतिबन्धक है। अतः पूर्व कर्म नाशार्थ वेग मानना आवश्यक है यही वेग कर्मज कहलाता है। (६) वेग विशिष्ट कपाल से उत्पन्न घट में जो वेग उत्पन्न होता है वह वेगज वेग का उदाहरण है क्योंकि उस घटगत वेग का असमवायि कारण कपालगत वेग ही है।

का० १५९।

स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि।
अतीन्द्रियोऽसौ विज्ञेयः क्वचित्स्पन्देऽपि कारणम्॥

का० अर्थ।

स्थितिस्थापक संस्कार पृथ्वी में माना जाता है और किसी के मत

से वह पृथिव्यादि चारों में माना जाता है। वह संस्कार अतीन्द्रिय है और कहीं २ आकृष्ट शाखादि में जो स्पन्द होता है उस का भी कारण वही है।

(१) स्थितिस्थापकेति आकृष्टशाखादीनां परित्यागे पुनर्गमनस्य स्थितिस्थापकसाध्यत्वात्। (२) केचिदिति। चतुर्षु क्षित्यादिषु स्थितिस्थापकं केचिन्मन्यन्ते तदप्रमाणमिति भावः। (३) असौ स्थितिस्थापकः। क्वचिदाकृष्ट शाखादौ।

(१) आकृष्ट शाखा आदि का जो परित्यागानन्तर पुनः पूर्व देश में गमन होता है उस का कारण जो गुण विशेष उसी का नाम स्थितिस्थापक संस्कार है। (२) किसी का मत है कि स्थितिस्थापक संस्कार पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों में मानना चाहिये, परन्तु उस के प्रमाण नहीं रहने के कारण वह मत श्रद्धास्पद नहीं है। (३) अर्थ स्पष्ट है।

का० १६०।

भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः।
उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत्।।

का० अर्थ।

जीवात्मा में रहने वाला भावनाख्य संस्कार अतीन्द्रिय है। और उपेक्षानात्मक निश्चय उस का कारण होता है।

(१) भावनाख्य इति। तस्य संस्कारस्य। (२) उपेक्षात्मक ज्ञानात्संस्कारानुत्पत्तेरुपेक्षानात्मक इत्युक्तम्। (३) तत्संशयात्तस्यानुत्पत्तेर्निश्चय इत्युक्तम्। (४) तेनोपेक्षान्यनिश्चयत्वेन संस्कारं प्रति हेतुतेति भावः।

(१) अर्थ स्पष्ट है। (२-४) उपेक्षात्मक ज्ञान से भावनाख्य संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः उपेक्षानात्मक कहा गया। उपेक्षानात्मक संशय से उस संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः तादृश संस्कार के प्रति उपेक्षानात्मक निश्चय को कारणता मानी जाती है।

(५) ननु स्मरणं प्रत्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुत्वं तेनोपेक्षादिस्थले न स्मरणम्। (६) इत्थं च संस्कार प्रति ज्ञानत्वेनैव हेतुतास्त्विति चेन्न। (७) विनिगमनाविरहेणापि संस्कारं प्रति उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात्।

(५-७) शङ्का है कि संशय से एवं उपेक्षात्मक निश्चय से स्मरण नहीं होता है अतः स्मरण के प्रति उपेक्षान्य निश्चयत्वेन कारणता मानना आवयश्क हैं तब संस्कार के प्रति यदि ज्ञानत्वेन कारणता मान ली जाय तो हानि क्या है? क्योंकि संशय एवं उपेक्षात्मक निश्चय से संस्कारोत्पत्ति होने पर भी स्मरण का कारण जो उपेक्षान्य निश्चय, वही नहीं हैं। अतः स्मरण की आपत्ति नहीं होगी। समा० – विनिगमनाविरहात् संस्कार ही के प्रति उपेक्षान्य निश्चयत्वेन कारणता माने और स्मरण के प्रति यदि ज्ञानत्वेन कारणता मानें तो भी संशय एवं उपेक्षात्मक निश्चय के बाद संस्कार रूप व्यापार की अनुत्पत्ति होने के कारण स्मरण की आपत्ति नहीं होगी। तो इसी प्रकार कारणता क्यों नहीं मानी जाय इत्याकारक विनिगमना विरह से संस्कार एव स्मरण दोनों ही के प्रति उपेक्षान्य निश्चयत्वेन कारणता माननी होगी।

(८) किंचोपेक्षास्थले संस्कारकल्पनाया गुरुत्वात्संस्कारं प्रति चोपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात्।

(८) यदि वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो संस्कार ही के प्रति उपेक्षान्य निश्चय को कारणता मानने में विनिगमक प्रतीत होता है। क्योंकि संस्कार के प्रति यदि ज्ञानत्वेन कारणता मानी जाय तो संशय और उपेक्षात्मक निश्चय स्थल में भी संस्कार की कल्पना प्रयुक्त गौरव होगा।

का० १६१।

स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते।

"स एवायं देवदत्तः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा और स्मरण का कारण भावनाव संस्कार है।

(१) असौ संस्कारः। (२) तत्र प्रमाणं दर्शयति स्मरण इति। (३) यतः स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं च जनयत्यतः संस्कारः कल्प्यते। (४) विना व्यापारं पूर्वानुभवस्य स्मरणादिजन- नासामर्थ्यात्स्व स्वव्यापारान्यतराभावे कारणत्वासंभवात्।

(१) कारिका में "असौ" पद से भावनाख्य संस्कार का ग्रहण होता है। (२) स्मरण इत्यादि कारिका से संस्कार में प्रमाण बतलाते हैं। (३) पूर्वानुभव आशुविनाशी है। किन्तु कालान्तर भावी स्मरण और प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करता है यह सर्वसम्भव है अतः संस्कार रूप व्यापार की कल्पना की जाती है। (४) पूर्वानुभव को पूर्व ही नष्ट हो जाने के कारण संस्कार रूप व्यापार के बिना पूर्वानुभव स्मरणादि जनकत्व नहीं हो सकता है। कार्याव्यवहित पूर्व क्षण में कारण अथवा कारण का व्यापार इस अन्यतर के नहीं रहने से उसको कारणत्व नहीं हो सकता है। जिसे हेतु कार्याव्यवहित पूर्वक्षण वृत्तिस्वस्वव्यापारान्यतर कतव ही कारणता का स्वरूप है।

(५) नच प्रत्यभिज्ञां प्रति तत्तत्संस्कारस्य हेतुत्वे प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम् अप्रयोजकत्वात्। (६) परे त्वनुद्बुद्धसंस्कारात्प्रत्यभिज्ञानुदयादुद्बुद्ध-संस्कारस्य हेतुत्वापेक्षया तत्तस्मरणस्यैव प्रत्यभिज्ञां प्रति हेतुत्वं कल्प्यत इत्याहुः।

(५) शङ्का– प्रत्यभिज्ञा के प्रति तत्तत् संस्कार को कारणता मानने पर प्रत्यभिज्ञा में संस्कार जन्यत्व होने के कारण स्मृतित्वापत्ति हो जायगी। समा०– यह नहीं कह सकते हैं। क्योंकि संस्कारजन्यतव स्मृतित्व का प्रयोजक है, इसमें कोई अनुकूल तर्क नहीं है। (६) चिन्तामणिकार का मत है कि अनुद्बुद्ध संस्कार से प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। अतः प्रत्यभिज्ञा के प्रति उद्बुद्ध संस्कार ही को कारणता माननी होगी। तदपेक्षया लाघवात् तत्तत् पदार्थ के स्मरण ही को तत्तत् पदार्थ प्रत्यभिज्ञा के प्रति कारणत्व मानना युक्त है। अतः प्रत्यभिज्ञा में संस्कार जन्यत्व नहीं रहने के कारण स्मृतित्वापत्ति नहीं होगी।

अदृष्टं निरूपयति = अदृष्ट का निरूपण करते हैं।

का० १६१, १६२ पूर्वा०

धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम्।
गङ्गास्नानादियागादि-व्यापारः स तु कीर्तितः।

धर्म, अधर्म दोनों अदृष्ट शब्द के अर्थ हैं। उन में धर्म स्वर्ग का कारण है। और वह धर्म गङ्गा स्नानादि यागादि रूप क्रिया का व्यापार है।

(१) धर्माधर्माविति। स्वर्गादीति। स्वर्गादिसकल-सुखानां वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्म इत्यर्थः। (२) तत्रप्रमाणं दर्शयितुमाहयागादिति, यागादिव्यापारतया धर्मः कल्प्यते। (३) अन्यथा यागादीनां चिरविनष्टतया निर्व्यापारतया च कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वं न स्यात्। (४) तदुक्तमाचार्यैः - 'चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना' इति।

(१) स्वर्गादि सकल सुखों का एवं स्वर्ग साधनीभूत स्वर्गीय शरीर का कारण धर्म है। (२) धर्म में प्रमाण बतलाने के लिये कहते हैं। यागादि के व्यापार रूप में धर्म की कल्पना होती है। (३) यदि याग का व्यापार धर्म नहीं माना जाय तो व्यापार शून्य याग को स्वर्गादि फल से बहुत पूर्व ही नष्ट हो जाने के कारण चिरकालोत्तर भावी स्वर्गादि के प्रति जनकत्व नहीं होगा। (४) इसी बात को "चिरध्वस्तम्" इत्यादि कारिकसो उदयनाचार्य ने कहा है।

(५) ननु यागध्वंस एव व्यापारः स्यात्, न च प्रतियोगितद्ध्वं-सयोरेकत्राजनकत्वं, सर्वत्र तथात्वे मानाभावात्, न च त्वन्मते फलानन्त्यं मन्मते चरमफलस्यापूर्वनाशकत्वान्न तथात्वमिति वाच्यं, कालविशेषस्य सहकारिकत्वादित्यह आह - (६) गङ्गास्नानेति। गंगास्नानस्य हि स्वर्गजनकत्वेऽनन्तानां जलसंयोगध्वंसा नां व्यापारत्वमपेक्ष्यैकमपूर्वमेव कल्प्यते लाघवादिति भावः।

(५) शंका करते हैं कि याग दि के व्यापार रूप में एक अद्भुत धर्म रूप पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि याग ध्वंस को याग का व्यापार मान लेने से भी सामंजस्य हो जाता है। यदि आप कहें कि

एक कार्य के प्रति प्रतियोगी और उस के ध्वसं दोनों को जनकत्व कहीं सिद्ध नहीं है तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि एक कार्य के प्रति प्रतियोगी और उस के ध्वंस इन दोनों को कारणता नहीं हो सकती ळै। इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है। यदि आप ऐसा कहें कि धर्म को नहीं मान कर याग ध्वंस ही को याग का व्यापार मानें तो यागध्वंस रूप व्यापार का कभी नाश नहीं होने के कारण स्वर्गादि रूप फल भी कभी अन्त नहीं होगा और हमारे (धर्म रूप व्यापार वादी के) मत से तो चरम फल से धर्म के नाश हो जाने के कारण स्वर्गादि रूप फल का अवसान हो जायगा। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि काल विशेष को यागध्वंस रूप व्यापार का सहकारी मानने के कारण काल विशेष के नष्ट हो जाने पर स्वर्गादि रूप फल का अवसान अवश्य हो जायगा। अतः कहते हैं कि – (६) स्वर्ग जनक जो अत्यन्त जल संयोगात्मक गङ्गा स्नान उस का व्यापार अनन्त तत्तज्जल संयोग ध्वंस को मानना होगा तदपेक्षया एक धर्म ही को लाघवात् व्यापारत्व मानना युक्त है।

(७) ननु ध्वंसोपि न व्यापारोऽस्तु नच निर्व्यापारस्य चिरध्वस्तस्य कथं कारणत्वमिति वाच्यम्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वस्य तत्रापि सत्त्वात्। (८) अव्यवहितपूर्ववर्तित्वंहि चक्षुस्संयोगादेः कारणत्वे, न तु सर्वत्र, कार्यकालवृत्तित्वमिवसमवायिकारणस्य कारणत्वे इत्यत आह –

(७, ८) शंका करते हैं कि गंगा स्नानादि क्रिया के ध्वंस में भी यदि उक्त क्रिया का व्यापार नहीं मानें तो हानि ही क्या है? यदि कहे कि व्यापार रहित चिरध्वस्त गंगा स्नानादि रूप क्रिया स्वर्ग से अव्यवहित पूर्वक्षण में नहीं है और न उसका कोई व्यापार ही है तब वह स्वर्ग का कारण कैसे होगा तो इस का उत्तर यह किया जा सकता है कि जैसे समवायि कारण मात्र का कार्यक्षण में रहना आवश्यक है वैसे ही चक्षुः संयोग रूप प्रत्यक्षादि कारण ही को कार्याव्यवहित पूर्व क्षण में रहना आवश्यक है। और अन्य कारणों में केवल कार्य पूर्व काल वृत्तित्व ही आवश्यक है। अतः गंगास्नानादि रूप क्रियाओं को स्वर्गाव्यवहित पूर्वक्षण में नहीं रहने पर भी कारणत्व होने में कोई बाधा नहीं। इसलिये कहते

हैं कि "कर्मनाशा" इत्यादि।

का० १६२ उत्त०।

कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यस्त्वसौ मतः॥

का० अर्थ।

कर्मनाशा नदी के जल स्पर्शादि से धर्म का नाश होता।

(१) कर्मनाशेति। यदि ह्यपूर्वं न स्यात्तदा कर्मनाशा जलस्पर्शादिना नाश्यत्वं धर्मस्य न स्यात्, नहि तेन यागादेर्नाशः प्रतिबन्धो वा कर्तुं शक्यते तस्य पूर्वमेव वृत्तत्वादिति भावः।

(१) यदि धर्म नहीं माना जाय तो कर्मनाशा नदी के जल स्पर्शादि से नाश किस का होगा? यागादि क्रिया का नाश वा अनुत्पाद उस के जल स्पर्शादि से नहीं हो सकता है। क्योंकि यागादि क्रिया तो पूर्व ही नष्ट हो गई है।

(२) एतेन देवताप्रीतेरेव फलत्वमित्यपास्तम्। (३) गंगास्नानादौ सर्वत्र देवताप्रीतेः संभवाच्च। (४) देवतायाश्चेतनत्वेऽपि तत्प्रीतेरनुद्देश्यत्वात्। (५) प्रीतेः सुखस्वरूपत्वेन विष्णुप्रीत्यादौ तदसम्भवात् जन्यसुखादेस्तत्राभावात्। (६) तेन विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन पराभिमतस्वर्गादिरेव विष्णुप्रीतिशब्देन लक्ष्यते।

(२) किसी का मत है कि यागादि क्रिया का देवताप्रीति ही फल है अतः धर्म मानना व्यर्थ है। यह भी पूर्वोक्त ही उत्तर से खण्डित हो गया। क्योंकि यदि धर्म नहीं माना जाय तो उक्त जल स्पर्श से नाश किस का होगा। देवता की प्रीति जल स्पर्श का व्यधिकरण है। इस कारण उस से देवता प्रीति का नाश होना असम्भव है। (३) एवं गंगास्नानादि क्रिया से देवता की इष्टसिद्धि कुछ नहीं होने के कारण उनकी प्रीति होना असम्भव है। (४) और दूसरी यह भी युक्ति है कि देवता को चेतन मानने पर भी देवता प्रीति उद्देश्य नहीं रहने के कारण उसे क्रिया का फल कैसे मान सकते हैं। (५) एवं प्रीति सुख विशेष रूप है।

ईश्वरात्मक विष्णु में यदि सुख माना भी जाय तथापि उन में जन्यसुख की सम्भावना नहीं है। अतः उनका नित्यसुख यागादि क्रिया का फल किस प्रकार हो सकेगा। (६) अतः विष्णुप्रीति शब्द से लक्षणता विष्णुप्रीति जन्य मीमांसकाभिमत स्वर्गादि ही का बोध होगा।

का० १६३।

अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः।
प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणौ।।

का० धर्म।

श्रुति-स्मृति निषिद्ध कर्म से उत्पन्न होने वाला अधर्म नरकादि सकल दुःखों का कारण है और प्रायश्चित्तादि से नाश्य है। एवं धर्म अधर्म दोनों जीवात्मा में रहते हैं।

(१) अधर्म इति। नरकादिसकलदुःखानां नारकीयशरीरादीनां च साधनमधर्म इत्यर्थः।

(१) अधर्म नरकादि सकल दुःख एवं नारकीय शरीर का कारण है।

तत्र प्रमाणमाह = अधर्म में प्रमाण कहते हैं।

(१) प्रायश्चित्तेति। यदि ह्यधर्मो न स्यात्तदा प्रायश्चित्तादिनाश्यत्वं न स्यात्। (२) नहि तेन ब्रह्महननादीनां नाशः प्रतिबन्धो वा विधातुं शक्यते। तस्य पूर्वमेव विनष्टत्वादिति भावः। (३) जीवेति। ईश्वरस्य धर्माधर्माभावादिति भावः।

(१) यदि अधर्म नहीं माना जाय तो प्रायश्चित्तादि कर्मों से नाश किस का होगा। अतः अधर्म मानना आवश्यक है। (२) ब्रह्म-हननादि रूप पापोत्पादक क्रियाओं का नाश वा अनुत्पाद प्रायश्चित्त से नहीं हो सकता है। क्योंकि वह पूर्व ही नष्ट हो गया है। (३) धर्म तथा अधर्म ईश्वर में नहीं रहने के कारण जीवमात्र में रहता है।

का० १६४ पूर्वा०।

इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः।

का० अर्थ।

धर्म और अधर्म, मिथ्याज्ञानजन्य वासना से उत्पन्न होते हैं और तत्वज्ञान से नष्ट होते हैं।

(१) इमौ धर्माधर्मौ। वासनेति। अतो ज्ञानिनां कृतिः अपि सुकृत-दुष्कृतकर्मणी न फलायालमिति भावः।

(१) धर्म तथा अधर्म मिथ्या ज्ञानजन्य वासना से उत्पन्न होते हैं अतः तत्त्वज्ञानियों को वासना का अभाव रहने के कारण उन से किये हुए यागादि रूप सुकृत एवं गो वधादि रूप दुष्कृत कर्मों से धर्माधर्म नहीं उत्पन्न होते हैं।

(२) ज्ञानादपीति। अपिना भोगपरिग्रहः। (३) ननु तत्त्वज्ञानस्य कथं धर्माधर्मनाशकत्वं 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इति वचनविरोधात्, इत्थं च तत्त्वज्ञानिनां झटिति कायव्यूहेन सकलकर्मणां भोगेन क्षय इति चेन्न। अत्र भोगस्य वेदबोधितनाशकोपलक्षकत्वात्। कथमन्यथा प्रायश्चित्तादिना कर्मणां नाशः। तदुक्तम्। 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इत्यादिना। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति।

(२) "ज्ञानादपि" इस वाक्य में आया हुआ "अपि शब्द भोग का बोधक है। (३) यहाँ कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं, कि ज्ञान में यदि "धर्मा धर्म नाशकत्व मानें तो भोग के बिना धर्माधर्म का नाश नहीं होता है। इस बात को बताने वाला "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि" यह वचन विरुद्ध हो जायगा। अतः तत्त्वज्ञानियों के कायव्यूह (सकल धर्माधर्मजन्य भोगार्थ एक कालावच्छेदेन उत्पादित वहु शरीरों) से अति शीघ्र सकल कर्मों का भोग नाश होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि "ना भुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यादि वचन में आया हुआ भुज धातु वेदबोधित अदृष्ट नाशक अन्य वस्तुओं का भी बोधक है। तब तत्त्व ज्ञान

को भी वेदबोधित अदृष्ट नाशक वस्तु विशेष रूप होने के कारण तत्त्व ज्ञान से धर्माधर्म का नाश मानने पर भी उक्त वचन का विरोध नहीं हो सकता है। यदि भो मात्र ही से धर्माधर्म का नाश माना जाय तो प्रायश्चित्तादि को भी पाप नाशकत्व नहीं होगा। अतएव भगवद्गीता में तत्त्वज्ञान को धर्माधर्म नाशकत्व प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन के प्रति कहा है कि ''ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि वाक्य से ईश्वर साक्षात्कार प्राप्त करने वाले पुरुषों के धर्माधर्म नष्ट हो जाते हैं। यह कथन भी संगत हो जाता है।

(४) ननु तत्त्वज्ञानिनस्तर्हि शरीरावस्थानं सुखदुःखादि च न स्याज्ज्ञानेन सर्वेषां कर्मणां नाशादिति चेन्न। प्रारब्धेतरकर्मणामेव नाशात्। (५) तत्तच्छशरीरभोगजनकं हि यत्कर्म तत्प्रारब्धं तदभिप्रायकमेव नाभुक्तमिति वचनमिति।

(४) यदि आप शंका करें कि तत्त्वज्ञानियों के तत्त्व ज्ञान से सकल धर्माधर्म नष्ट हो जाने के कारण शरीर की स्थिति नहीं रहेगी और सुख दुःख भी नहीं होंगे। लेकिन यह ठीक नहीं है। क्योंकि तत्त्वज्ञान से प्रारब्धेतर कर्म ही का नाश हो सकता है। (५) तत्तत् शरीर के द्वारा भोग के जनक कर्म ही को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्म का नाश भोग के बिना नहीं होता है। इसी में ''नाभुक्तं क्षीयते कर्म'' इत्यादि वचन का तात्पर्य है। ''ज्ञानाग्नि रित्यादि'' ''क्षीयन्ते'' चास्यकर्माणि इत्यादि दोनों वचनों में कर्म पद प्रारब्धेतर कर्म का बोधक है। अतएव इन दोनों वचनों का नाभुक्तं क्षीयते कर्म इत्यादि वचन से विरोध नहीं होता है।

शब्दं निरूपयति = शब्द का निरूपण करते हैं।

का० १६४, १६५, १६६ पूर्वा०।

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदंगादिभवोध्वनिः।
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः॥
सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते।
वीचीतरंगन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।

का० अर्थ।

ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक के भेद से शब्द दो प्रकार के होते हैं। उन में मृक्ष्यादिजन्य शब्द ध्वन्यात्मक है और कण्ठ संयोगादिजन्य ककाराद्यात्मक शब्द वर्णात्मक है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दोनों प्रकार के शब्द आकाश में समवेत हैं और श्रोत्रेन्द्रिय में उत्पन्न होने पर ज्ञात होते हैं। वीचीतरंगन्याय से शब्द की उत्पत्ति होती है।

(१) शब्द इति। नभोवृत्तिराकाशसमवेतः। दूरस्यशब्दस्याग्रहणादाह श्रोत्रेति। (२) ननु मृदंगाद्यवच्छेदेनोत्पन्ने शब्दे श्रोत्रे कथंमुत्पत्तिरत आह वीचीति। (३) आद्यशब्दस्य वहिर्दशदिग वच्छिन्नोऽन्यः शब्दस्तेनैव शब्देन जन्यते। (४) तेन चापरस्तद्व्यापकः। एवं क्रमेण श्रोतोत्पन्नो गृह्यत इति।

(१) दूरस्थित शब्दों का ज्ञान नहीं होने के कारण कहा गया है कि श्रोत्र में उत्पन्न होने पर शब्द ज्ञात होते हैं। (२) मृदंगाद्यवच्छेदेन उत्पन्न शब्दों की उत्पत्ति श्रोत्र में किस प्रकोर होगी? अतः "वीचीत्यादि" शब्द से कहते हैं कि (३) अभिघातादिजन्य प्रथम शब्द से वाह्य दश दिग् देशावच्छेदेन व्यापक द्वितीय शब्द उत्पन्न होता है। (४) एवं द्वितीयादि शब्दों से भी दश दिशाओं में तत्तद्व्यापक शब्दान्तर की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जो शब्द श्रोत्रेन्द्रिय में उत्पन्न होता है वह ज्ञात होता है।

का० १६६, उत्त०।

कदम्वगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते॥

का० अर्थ।

किसी के मत से कदम्बगोलक न्याय से शब्द की उत्पत्ति होती है।

(१) कदम्वेति। आद्यशब्दाद्दशदिक्षु दशशब्दा उत्पद्यन्ते। तैश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः। (२) अस्मिन्मते गौरवादुक्तं-कस्य-चिन्मत-इति।

(१) अभिघातादि जम्य प्रथम शब्द से दशो दिशाओं में दश शब्द

उत्पन्न होते हैं। और उन दश शब्दों के प्रत्येक २ शब्द से दश २ शब्द दशो दिशाओं में उत्पन्न होते हैं। (२) इस पक्ष में बहु शब्दों की कल्पना प्रयुक्त कल्पना गौरव होने के कारण इस पक्ष में अस्वरस सूचन करने के लिये कारिका में "कस्यचिन्मते" इस पद का उल्लेख किया गया है।

ननु शब्दस्य नित्यत्वादुत्पत्तिकथनमसंगतमत आह =

शब्द को नित्य होने के कारण उस की उत्पत्ति का कथन असंगत है अतः कहते है।

का० १६७।

उत्पन्न को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते।।

का० अर्थ।

ककारादि शब्दों के उत्पाद विनाश की प्रतीति होने के कारण शब्द में अनित्यता मानी जाती है। यह वही ककार है जिस को पूर्व से सुन चुका हूँ यह प्रतीति पूर्वश्रुत ककार के सजातीय ककार को विषय करती है।

(१) उत्पन्न इति। शब्दानामुत्पादविनाश प्रत्ययशालित्वादनित्यत्वमित्यर्थः। (२) ननु स एवायं ककार इत्यादि प्रत्यभिज्ञाच्छब्दानां नित्यत्वम्, इत्थं चोत्पादविनाशबुद्धिर्भ्रमरूपैवेत्यत आह। (३) सोऽयंकइति साजात्यमिति। तत्र प्रत्यभिज्ञानस्य तत्सजातीयत्वंविषयो न तु तद्व्यक्त्यभेदो विषयः। उक्त प्रतीतिविरोधात्। इत्थं च द्वयोरपि प्रतीत्योर्न भ्रमत्वमिति।

(१) कारिकार्थ ही से स्पष्ट है। (२) यहां ऐसी, शंका होती है कि "स एवायं ककारः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा होने के कारण शब्द को नित्य मानना होगा। अतः शब्द में उत्पाद विनाश की प्रतीति भ्रम रूप ही है इस के उत्तर में कहते हैं कि- (३) "सोऽयंककारः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा, पूर्वश्रुत ककार के सजातीय अन्य ककार को विषय करती है। किन्तु पूर्व

श्रुत ककार को विषय नहीं करती है क्योंकि उक्त प्रतीति में पूर्व श्रुत ककार को विषय मानने पर ककारादि शब्दों में उत्पाद विनाश की प्रतीति विरुद्ध हो जायगी। पूर्व श्रुत ककार से सजातीय ककार को विषय मानने पर "सोऽ ककार:" और "उत्पन्न: ककार:" इन दोनों प्रतीतियों में किसी को भी भ्रम रूप नहीं मानना पड़ता है।

ननु सजातीये सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा कुत्र दृष्टेत्यह आह =

पूर्वानुभूत व्यक्ति से सजातीय को विषय करने वाली "सांऽयम् इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा आपने कहां देखी है। इस प्रश्न का समाधान करते हैं।

का० १६८।

तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः॥

का० अर्थ।

जिस औषध को मैंने किया था वहीं औषध दूसरे से किया गया है। इत्यादि स्थल में अन्यकृत औषध को स्वकृत औषध से भिन्न रहने पर भी उस की प्रत्यभिज्ञा होने के कारण उस प्रत्यभिज्ञा को सजातीय विषयक अवश्य मानना होगा। अत: ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक सभी शब्द अनित्य ही हैं। यह हम नैयायिकों का सिद्धान्त है।

(१) तदेवेति। यदौषधं मयाकृतं तदौषधमन्येनापि कृतमित्यादि दर्शनादिति भाव:।

इति सिद्धान्तमुक्तावली समाप्ता॥

(१) कारिकार्थ से स्पष्ट है।

।इति श्री चन्द्रधारिसिंहशर्मकृता चन्द्रिकाटीका समाप्ता॥

परिशिष्ट
चित्रसारिणी

चि० १ का० २–१३

पदार्थ

(१) द्रव्य (नवप्रकार)
१. पृथिवी २. जल
३. तेज ४. वायु
५. आकाश ६. काल
७. दिशा ८. आत्मा
९. मन

(२) गुण (चौबीस प्रकार)
१. रूप २. रस ३. गन्ध
४. स्पर्श ५. संख्या ६. परिमाण
७. पृथक्त्व ८. संयोग ९. विभाग
१०. परत्व ११. अपरत्व १२. गुरुत्व
१३. द्रवत्व १४. स्नेह १५. शब्द
१६. बुद्धि १७. सुख १८. दुःख
१९. इच्छा २०. द्वेष २१. प्रयत्न
२२. धर्म २३. अधर्म २४. संस्कार

(३) कर्म (पाँच प्रकार)
१. उत्क्षेपण २. अपक्षेपण
३. आकुञ्चन ४. प्रसारण
५. गमन, गमन में ही भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्य्यगमन ये पाँच भी गृहीत होते हैं।

(४) सामान्य (जाति)
द्रव्य, गुण, कर्म में रहता है।
त्रिविध,
मुख्यत:, द्विविध
१. पर (सत्ता)
२. अपर (घटत्वादिक)
३. परापर (द्रव्यत्वादि)

(५) विशेष (अनन्त)
परमाण्वादि नित्य द्रव्यों के परस्पर भेदक धर्म विशेष

(६) समवाय (एकमात्र)
नित्य सम्बन्ध रूप।

(७) अभाव (दो प्रकार)
- संसर्गाभाव (त्रिविध)
  - १. प्रागभाव (अनित्य)
  - २. प्रध्वंसाभाव (अनित्य)
  - ३. अत्यन्ताभाव (नित्य)
- अन्योन्याभाव (नित्य)

चि० २ क — का० २–१६–२३

कार्यकारण विचार

- प्राग्भावप्रतियोगी कार्य है यथा- घटादि
- अन्यथासिद्धभिन्न नियत पूर्ववर्ती कारण है
  - १. समवायि — द्रव्यमात्र समवायि कारण होता है। (कपालादि)
  - २. असमवायि — गुणकर्म से भिन्न नहीं होता है। (कपालद्वय संयोग)
  - ३. अणु परिमाण, आत्माद्यतिरिक्त के परम महत्परिमाण, अतीन्द्रियसामान्य, विशेष इन चार से भिन्न पदार्थमात्र निमित्त कारण होते हैं। (व्यापारवत् असाधारण कारण यथा- दण्डादि)

चि० २ ख

अन्यथासिद्ध कार्य विचार।

- कार्य (घट)
- अन्यथासिद्धि
  - १. दण्डत्व
  - २. दण्डरूप
  - ३. आकाश
  - ४. कुलालपिता
  - ५. गर्दभादि (यह पाँचवाँ आवश्यक है)

चि० ३ का० ३५-३८

(गन्ध का समवायिकारण) क्षिति है।

का० १०४ ।
१. पृथिवीमात्रवृत्ति काठिन्य और सुकुमार स्पर्श दोनों हैं।
का० १०५ ।
२. पाकज, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के चार केवल पृथिवी में रहते हैं। किन्तु सकल पृथिवी में नहीं।

पाकज अनुष्णाशीत स्पर्शादि, वेग, रूप (सप्तविध नैमित्तिकद्रवत्व, गुरुत्व, रस, (षड्विध) गन्ध (द्विविध) और स्थितिस्थापक संस्कार ये समवाय सम्बन्ध से पृथिवी में रहते हैं।

- १. नित्य (परमाणु रूप)
  - २. पृथिवी परमाणु में रूप नित्य नहीं है
  - ३. वैशेषिक मत से परमाणुमात्र में पाक और न्याय मत से अवयवी में भी पाक का० १०५, १०६।
- २. अनित्य (परमाणु से भिन्न यही अवयववती कहलाती है) द्व्यणुकादि ही कार्य रूप पृथिवी हैं।
  - १. शरीर (द्विविध)
    - १. योनिज
      - १. जरायुज (मनुष्यादि)
      - २. अण्डज (पक्षी प्रभृति)
    - २. अयोनिज
      - १. स्वेदज (मशकादि)
      - २. उद्भिज्ज (वृक्ष के अङ्कुरादि)
  - २. इन्द्रिय (घ्राण) गन्ध का ग्राहक है
  - ३. विषय (द्व्यणुकादि से ब्रह्माण्ड पर्यन्त)

चि॰ ४ का॰ ३९-४०

(स्नेह का समवायि कारण)
जल है

१. अभास्वर शुक्ल रूप २. मधुर रस ३. शीतस्पर्श ४. संख्या ५. परिमाण ६. पृथक्त्व ७. संयोग ८. विभाग ९. परत्व १०. अपरत्व ११. गुरुत्व १२. सांसिद्धिक द्रवत्व १३. स्नेह १४. वेग ये १४ गुण समवाय सम्बन्ध से जल में रहते हैं।

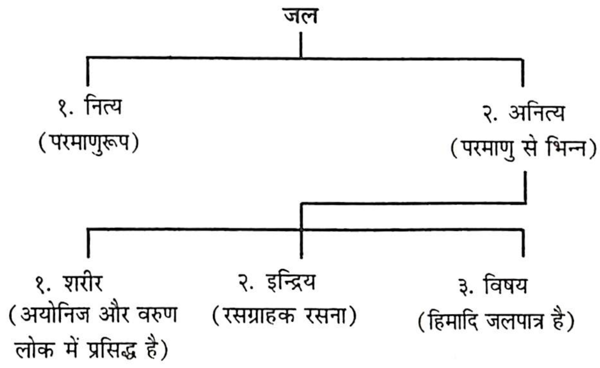

चि॰ न॰ ५ का॰ ४१-४२

(उष्णस्पर्श का समवायि कारण)
तेज है।

१. भास्वरशुक्ल रूप २. उष्णस्पर्श ३. संख्या ४. परिमाण ५. पृथक्त्व ६. संयोग ७. विभाग ८. परत्व ९. अपरत्व १०. नैमित्तिकद्रवत्व ११. वेग ये ११ गुण समवाय सम्बन्ध से तेज में रहते हैं।

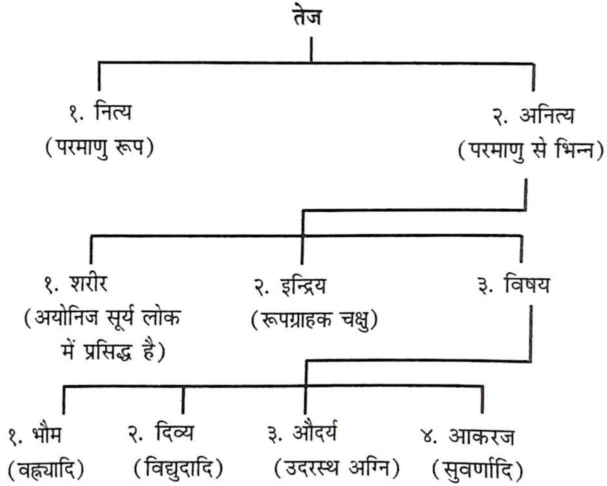

चि० न० ६ का० ४२-४४

अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श का समवायिकारण वायु है।

१. अपाकज अनुष्णाशीत विलक्षण स्पर्श २. संख्या ३. परिमाण ४. पृथक्त्व ५. संयोग ६. विभाग ७. परत्व ८. अपरत्व ९. वेग ये ९ गुण समवाय सम्बन्ध से वायु में रहते हैं।

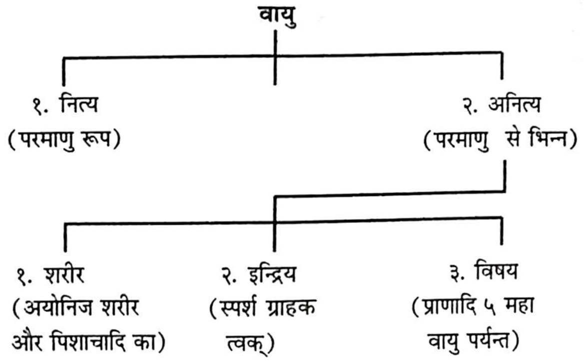

चि० न० ७ का० ४४-४५

शब्द का समवायिकारण आकाश है।

१. आकाश एक है।
२. किन्तु उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है।
३. नित्य है।
४. परममहत् परिमाणवत् है।
५. इसका इन्द्रिय श्रोत्र है।

१. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग ६. शब्द ये ६ गुण समवाय सम्बन्ध से आकाश में रहते हैं।

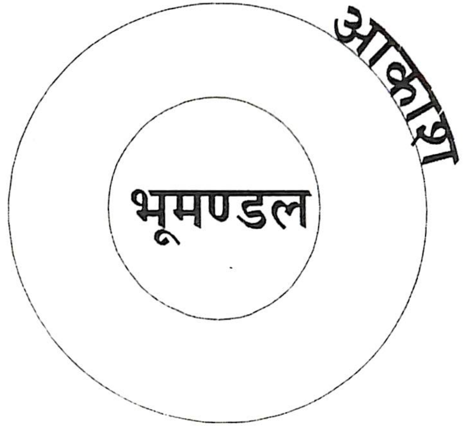

चि॰ न॰ ८ का॰ ४५-४६

अतीतादि व्यवहार का असाधारणकारण काल है।

१. जन्य मात्र का जनक है।
२. कालिक सम्बन्धेन संसार का आश्रय है।
३. विभु है।
४. नित्य है।

१. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग ये ५ गुण समवायेन काल में रहते हैं।

यह एक होने पर भी उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है।

काल

१. भूत २. भविष्यत् ३. वर्त्तमान

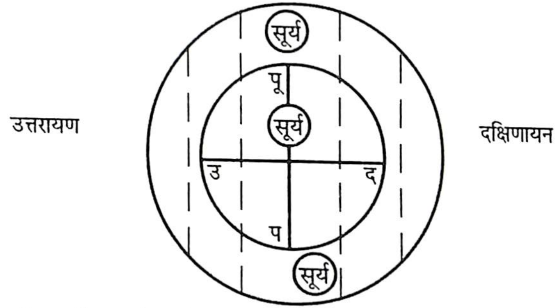

टि. १. बिन्दु पंक्ति सूर्य-मार्ग प्रदर्शक है।
२. सूर्य के परिस्पन्द से क्षणादि व्यवहार होता है।

चि॰ न॰ ९ का॰ ४६-४७

दूरादि व्यवहार का हेतु दिक् है।

१. नित्य है।
२. एक है।
३. किन्तु उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है।
४. परम महत् परिमाणवत् है।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये ५ गुण समवाय सम्बन्धेन दिग्वृत्ति है।

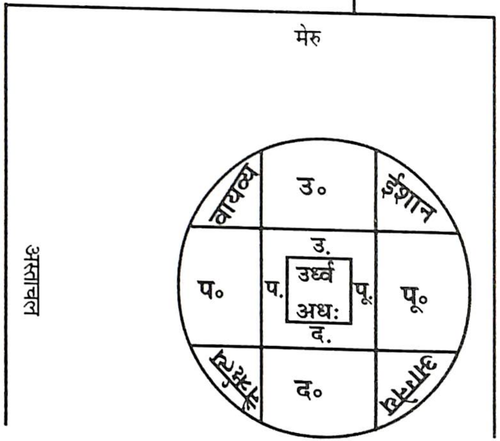

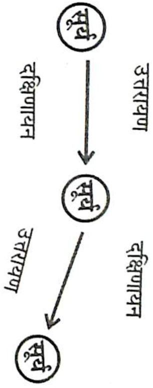

चि० न० १० का० ४७-५१

(ज्ञानाधिकरण) आत्मा है।

आत्मा

१. जीवात्मा

क. संसारी है
ख. शरीर भेद से भिन्न-भिन्न है
ग. नित्य है।
घ. बन्ध और मोक्ष का भागी है।

१. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग ६. बुद्धि ७. सुख ८. दुःख ९. इच्छा १०. द्वेष ११. प्रयत्न १२. भावना १३. धर्म १४. अधर्म ये १४ गुण समवाय सम्बन्ध से जीवात्मा में रहते हैं।

(१) संसारावस्था

जीवात्मा अनन्त है

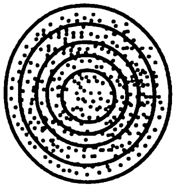

१. सुख दुःख का सम्बन्ध संसारावस्था है।
२. आत्मा ही चैतन्याश्रय है। शरीर, इन्द्रिय, मन नहीं है।
३. क्षणिक विज्ञान नहीं है। दूसरे की आत्मा उसकी प्रवृत्ति से अनुमेय है। किन्तु अपनी आत्मा "अहम्" इत्याकारक मानस प्रत्यक्ष का विषय है।

टि० बिन्दु आनन्त्य का सूचक है।

(२) मोक्षावस्था

१. शरीर से रहित मुक्तावस्था होती है।
२. उस समय आत्मा में संख्यादि ५ गुण मात्र रहते हैं।
३. आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति मोक्ष है।
४. यह मोक्ष जीव शरीर के भेद से प्राप्य है।

२. परमात्मा

१. परमात्मा एक है। २. सर्वज्ञ है। ३. अपरिच्छिन्न है। ४. सृष्टि, स्थिति, लय इन तीनों का निमित्त कारण है। ५. ईश्वर का तत्वज्ञान साक्षात् या पुण्य द्वारा जीव शरीर भेद प्रत्यक्ष में उपयुक्त है। ६. परमात्मा में अदृष्ट और शरीर नहीं रहने के कारण सुख दुःख उत्पन्न नहीं होता है।

१. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग ६. बुद्धि ७. इच्छा ८. यत्न ये ८ गुण समवाय सम्बन्ध से ईश्वर में हैं।

(टि०)

ईश्वर की बुद्धि, इच्छा कृति ये ३ नित्य हैं, एक एक हैं, सर्व विषयक हैं और अविकल भी हैं।

सर्व विषयक नित्य ज्ञानवान् परमात्मा

चि० न० ११

का० ८५

सुखादि के उपलब्धि का साधन कर्त्ता इन्द्रिय मन है।

१. अणु रूप है।
२. अनन्त है।
३. आत्म भेद से भिन्न-भिन्न है।
४. नित्य है।

१. संख्या २. परिमाण ३. पृथक्त्व ४. संयोग ५. विभाग ६. परत्व ७. अपरत्व ८. वेग ये ८ गुण समवाय सम्बन्ध से मन में रहते हैं।

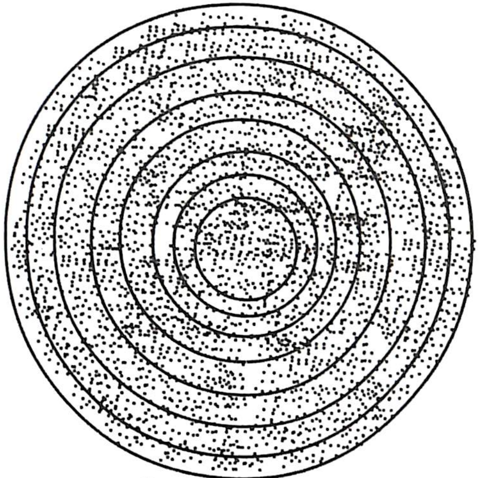

व्यक्ति भेद से मन अनन्त है।

टि० बिन्दु आनन्त्य सूचक है।

चि॰ न॰ १२

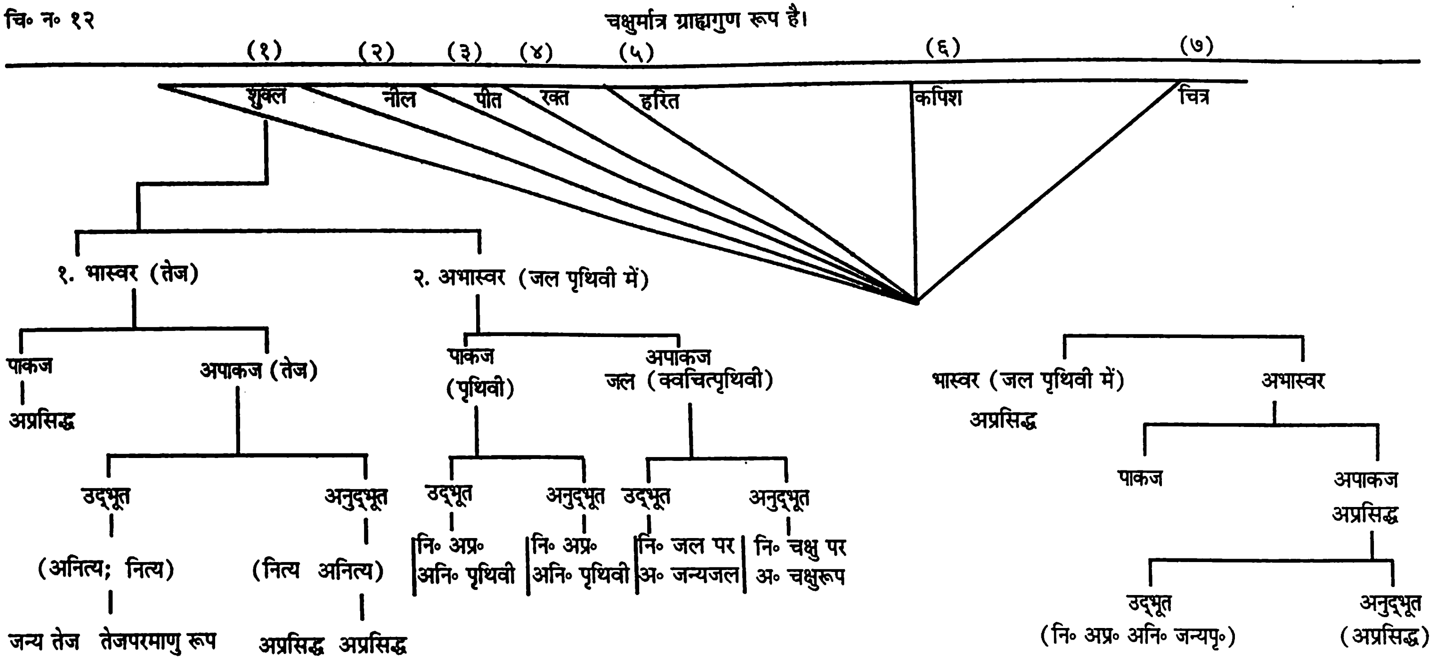
चक्षुर्मात्र ग्राह्यगुण रूप है।
(१) शुक्ल
(२) नील
(३) पीत
(४) रक्त
(५) हरित
(६) कपिश
(७) चित्र
१. भास्वर (तेज)
२. अभास्वर (जल पृथिवी में)
पाकज
अप्रसिद्ध
अपाकज (तेज)
उद्भूत
(अनित्य; नित्य)
जन्य तेज तेजपरमाणु रूप
अनुद्भूत
(नित्य अनित्य)
अप्रसिद्ध अप्रसिद्ध
पाकज
(पृथिवी)
उद्भूत
नि॰ अप्र॰
अनि॰ पृथिवी
अनुद्भूत
नि॰ अप्र॰
अनि॰ पृथिवी
अपाकज
जल (क्वचित्पृथिवी)
उद्भूत
नि॰ जल पर
अ॰ जन्यजल
अनुद्भूत
नि॰ चक्षु पर
अ॰ चक्षुरूप
भास्वर (जल पृथिवी में)
अप्रसिद्ध
अभास्वर
पाकज
अपाकज
अप्रसिद्ध
उद्भूत
(नि॰ अप्र॰ अनि॰ जन्यपृ॰)
अनुद्भूत
(अप्रसिद्ध)

रूप पर विचार।

(१) पृथिवी, जल और तेज के प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य है।
(३) चक्षु का सहकारी है।
(४) पृथिवी, जल और तेज में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) पृथिवी में पाकज और जल तेज में अपाकज रूप रहते हैं।
(७) असमवायि एवं निमित्त कारण हैं।
(८) नित्य अनित्य दोनों हैं पाकाश्रय पृथिवी में अनित्य अन्यत्र नित्यमें नित्य तद्भिन्न अनित्य हैं।
(९) शुक्लादि सात प्रकार के हैं।
(१०) अपाकज रूप कारण गुणपूर्वक है।
(११) पाकज अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) पृथिव्यादि से जन्य है।
(१३) पृथिवी, जल और तेज वृत्ति गुणादि का समानाधिकरण है।
(१४) उक्त द्रव्य में अवृत्ति गुणादि के साथ वैयधिकरण्य है।
(१५) चक्षु:संयुक्तसमवाय से ग्राह्य है।
(१६) समवाय सम्बन्ध से रहित है।
(१७) रूपत्वप्रतियोगिकसमवायानुयोगी हैं।
(१८) रूपाश्रयनिष्ठ समवायादि का प्रतियोगी है।
(१९) अकर्मज है।
(२०) व्याप्यवृत्ति है (किसी के मत से अव्याप्यवृत्ति है)।
(२१) पृथिव्यादि ३ का साधारण धर्म है।
(२२) इन तीनों से भिन्न में नहीं रहता है।
(२३) द्रव्यादि प्रत्यक्ष में कारण है। का० १००
(२४) का० ३५ के उत्तरार्ध मुक्तावली में "नच यत्र" इत्यादि ग्रन्थ और अपर परिष्कृत लक्षण से स्वरस आता है कि अपाकज पृथिवी भी लब्ध है।

टि० भास्वर नीलादि रूप शनिग्रहादियों में पाया जाता है।

रस पर विचार।

(१) स्व प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) रसना से ग्राह्य है।
(३) रसना का सहकारी है।
(४) पृथिवी, जल में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) पाकज अपाकज दोनों हैं।
(७) असमवायि और निमित्त कारण हैं।
(८) पृथिवी में अनित्य अन्यत्र नित्यगत नित्य, अनित्यगत अनित्य है।
(९) इसके ६ प्रभेद हैं।
(१०) अपाकज अनित्य रस कारण गुणपूर्वक है। और पाकज अकारण गुणपूर्वक है।
(११) पृथिवी जल से जन्य है।
(१२) पृथिवी जल वृत्ति गुणादि के साथ समानाधिकरण है वह तद् भिन्न के साथ वैयाधिकरण्य है।
(१३) रसना संयुक्तसमवाय से ग्राह्य है।
(१४) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१५) रसत्व प्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(१६) रसाश्रयनिष्ठ समवायादि का प्रतियोगी है।
(१७) अकर्मज है।
(१८) व्याप्यवृत्ति है।
(१९) पृथिवी, जल का साधारण धर्म है।
(२०) इससे भिन्न में नहीं रहता है।
(२१) पाकानाश्रय भी यदि पृथिवी मानी जाय तो उस पृथिवी में रूप रसादियों की परावृत्ति नहीं होने के कारण वे अपाकज होंगे।
(२२) जल परमाणु का रस नित्य और सब अनित्य है।
(२३) मूर्त्त गुण है।
(२४) पृथिवी में पाकज और जल में अपाकज है।

चि० नं० १३

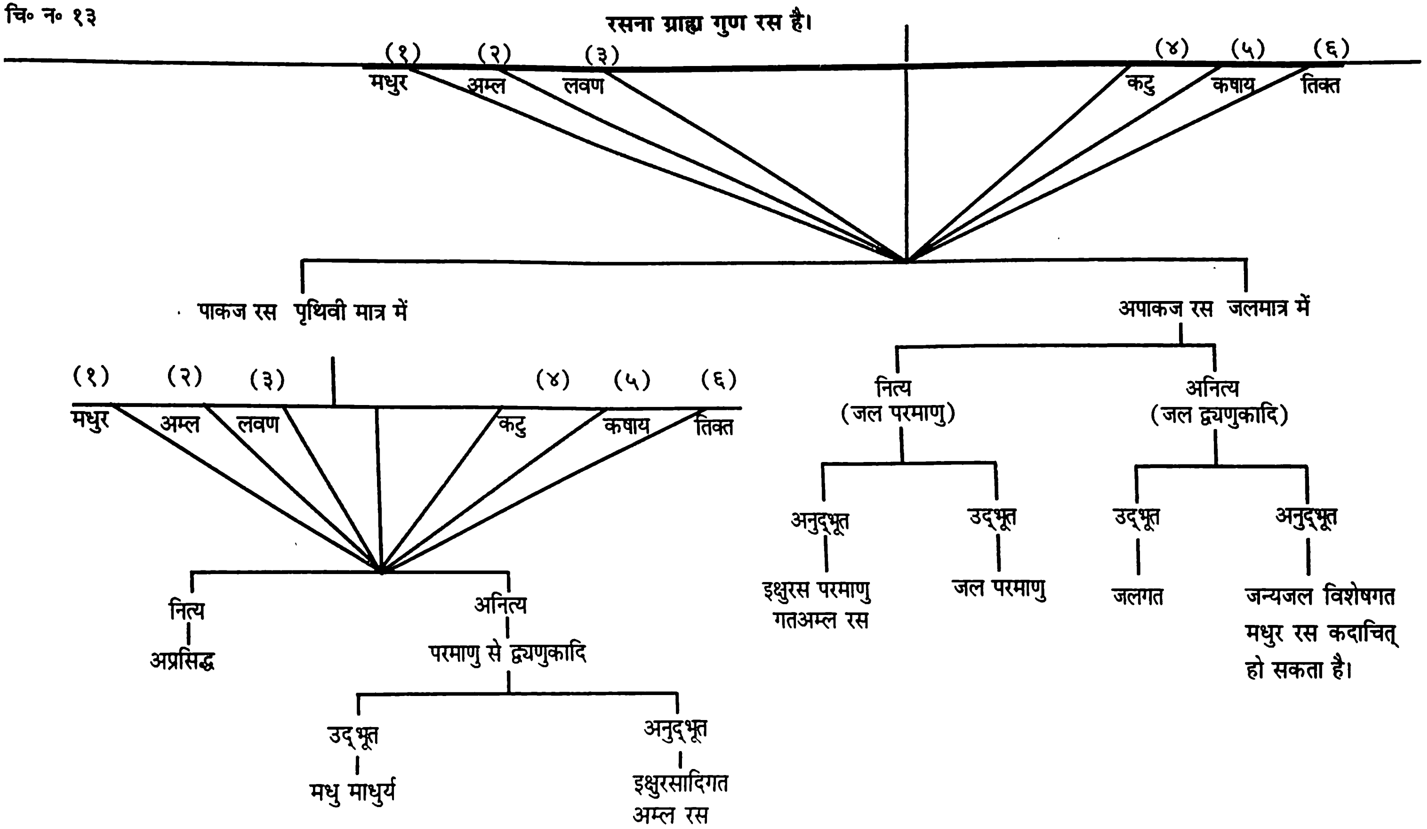
रसना ग्राह्य गुण रस है।
(१) मधुर
(२) अम्ल
(३) लवण
(४) कटु
(५) कषाय
(६) तिक्त
पाकज रस पृथिवी मात्र में
अपाकज रस जलमात्र में
(१) मधुर
(२) अम्ल
(३) लवण
(४) कटु
(५) कषाय
(६) तिक्त
नित्य
अप्रसिद्ध
अनित्य
परमाणु से द्व्यणुकादि
उद्‌भूत
मधु माधुर्य
अनुद्‌भूत
इक्षुरसादिगत
अम्ल रस
नित्य
(जल परमाणु)
अनुद्‌भूत
इक्षुरस परमाणु
गतअम्ल रस
उद्‌भूत
जल परमाणु
अनित्य
(जल द्व्यणुकादि)
उद्‌भूत
जलगत
अनुद्‌भूत
जन्यजल विशेषगत
मधुर रस कदाचित्
हो सकता है।

चि० नं० १४

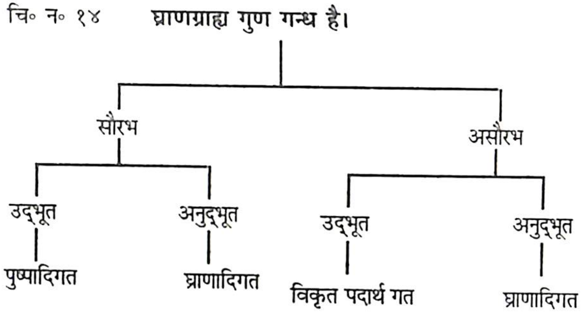

गन्ध पर विचार।

(१) स्व प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य है।
(३) घ्राण का सहकारी है।
(४) पृथिवी में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) मूर्त गुण है।
(७) असमवायि और निमित्त कारण है।
(८) अपाकज गन्ध कारण गुण पूर्वक है और पाकज अकारण गुण पूर्वक है।
(९) यह असमवायि कारण भी होता है।
(१०) पृथिवी से जन्य है।
(११) सौरभ असौरभ दो प्रभेद हैं।
(१२) घ्राण संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१३) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१४) अकर्मज है।
(१५) व्याप्यवृत्ति है।
(१६) पृथिवी का असाधारण धर्म है।
(१७) इससे अतिरिक्त में नहीं रहता है।
(१८) पाकज होने के कारण अनित्य है।
(१९) पृथिवी वृत्तियों के साथ सामानाधिकरण्य है।
(२०) तद्भिन्नों के साथ वैयधिकरण्य है।
(२१) गन्धत्व प्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(२२) पृथिवीनिष्ठ समवाय का प्रतियोगी है।

चि० न० १५

त्वगिन्द्रिय मात्रग्राह्य गुण स्पर्श है।

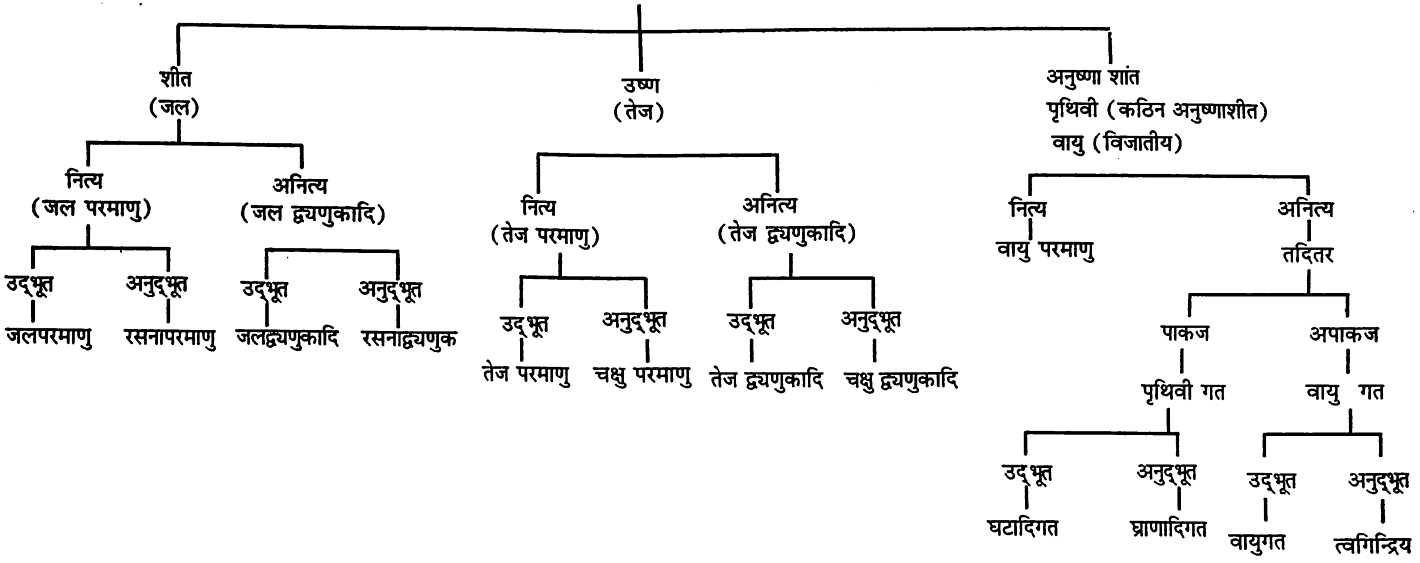

स्पर्श पर विचार।

(१) स्व प्रत्यय में कारण है।
(२) त्वगिन्द्रिय ग्राह्य है।
(३) त्वक् सहकारी है।
(४) पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) पाकज एवं अपाकज हैं।
(७) असमवायि और निमित्त कारण है।
(८) जल, तेज, वायु के परमाणुगत नित्य अन्यत्र अनित्य हैं।
(९) शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत के भेद से ३ प्रकार के हैं। जल में शीत तेज में उष्ण और पृथिवी, वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। उसमें भी पृथिवी में पाकज और वायु में अपाकज स्पर्श है।
(१०) मूर्त्त गुण है।
(११) अपाकज स्पर्श कारण गुणपूर्वक और अन्य स्पर्श अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) पृथिवी जल, तेज वायु से जन्य है।
(१३) त्वक् संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१४) स्पर्शत्व प्रतियोगिक समवाय का अनुयोगी है।
(१५) पृथिव्यादि चतुष्टय के समवाय का प्रतियोगी है।
(१६) अकर्मज है।
(१७) व्याप्यवृत्ति है।
(१८) कठिन और सुकुमार स्पर्श पृथिवी मात्र वृत्ति है।
(१९) जल, तेज, वायु के परमाणु का स्पर्श नित्य है अन्यत्र अनित्य है।
(२०) अपाकज स्पर्श असमवायिकारण होता है।
(२१) उष्ण स्पर्श असमवायि और निमित्त कारण भी होते हैं।
(२२) पृथिवी, जल, तेज वायु अन्यतमानुयोगिक समवाय का प्रतियोगी है।

चि० न० १६ **गणना व्यवहार का असाधारण कारण संख्या है।**

(एकत्व द्वित्वादि से परार्ध पर्यन्त)

- एकत्व
  - नित्य — परमाणुओं में एवं आकाशादि में रहती है।
  - अनित्य — अनित्यद्रव्य घटादि में
- द्वित्वादि परार्धपर्य्यन्त

संख्या पर विचार।

(१) स्वकीय प्रत्यक्ष में कारण है।

(२) चक्षु और त्वचा से ग्राह्य है।

(३) चक्षु और त्वचा का सहकारी है।

(४) नव द्रव्य में रहता है।

(५) सामान्य और मूर्त गुण है।

(६) अपाकज है।

(७) असमवायि निमित्त कारण है।

(८) एकत्व संख्या, असमवायि और निमित्त दोनों कारण है द्वित्वादि अनित्य है।

(९) अनन्त है।

(१०) एकत्व कारण गुणपूर्वक है और द्वित्वादि अकारणगुणपूर्वक हैं।

(११) द्रव्य से जन्य है।

(१२) परिमाण गुण का जनक है।

(१३) सकल गुण से सामानाधिकरण्य है।

(१४) गुणत्वादि के साथ वैयधिकरण्य है।

(१५) त्वक् संयुक्त चक्षु-संयुक्त समवाय दोनों से ग्राह्य है।

(१६) समवाय सम्बन्ध से रहता है।

(१७) संख्यात्व प्र० समवाय का अनुयोगी है।

(१८) द्रव्यानुयोगिक समवाय का प्रतियोगी है।

(१९) गणना व्यवहार का असाधारण कारण है।

(२०) नित्यगत एकत्व नित्य और अनित्यगत एकत्व अनित्य है।

(२१) व्यासज्यवृत्ति [धर्मद्वय समनियतवृत्ति] द्वित्वादि संख्यारूप धर्म अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होता है। एकाश्रय में समवाय से अनेकाश्रय में समवाय अन्यतर पर्याप्ति सम्बन्ध से रहती है और अपेक्षाबुद्धि एवं आश्रय के नाश से नष्ट होती हैं।

चि० न० १७ **मान व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण है।**

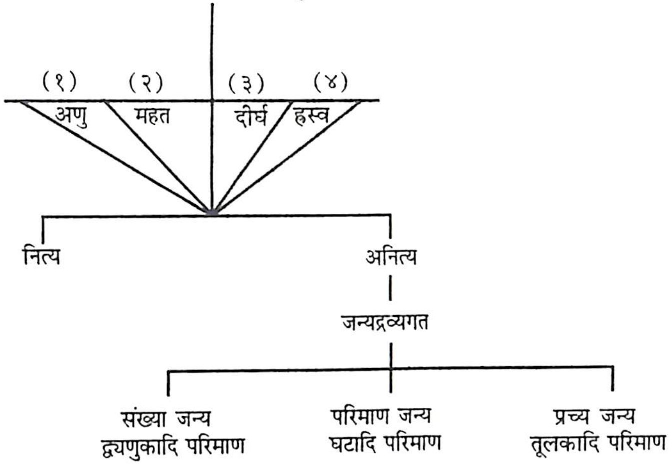

परिमाण पर विचार।

(१) स्व प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) चक्षु और त्वचा दोनों से ग्राह्य है।
(३) नव द्रव्यों में रहता है।
(४) सामान्य गुण है।
(५) अपाकज है।
(६) असमवायि निमित्त कारण है।
(७) नित्यगत नित्य, अनित्यगत अनित्य है।
(८) अणुत्व, दीर्घत्व, महत्व ह्रस्वत्व भेद से चतुर्विध है।
(९) भूत, मूर्त, विभु तीनों का गुण है।
(१०) कारण गुणपूर्वक है।
(११) संख्या, परिमाण प्रच्यजन्य है।
(१२) अनित्य परिमाण परिमाण का जनक है।
(१३) गुण, कर्म जाति के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१४) इनसे भिन्न के साथ वैयधिकरण्य है।
(१५) संयुक्त समवाय से प्रत्यक्ष होता है और समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१६) परिमाणत्व प्र० समवाय का अनुयोगी है।
(१७) द्रव्य अनु० समवाय का प्रतियोगी है।
(१८) अकर्मज है।
(१९) व्याप्यवृत्ति है।
(२०) द्रव्यों का धर्म है।
(२१) गुणों में नहीं रहता है।
(२२) अनुमान से ग्राह्य है।

टि० प्रचय = शिथिलाख्य संयोग।

चि॰ न॰ १८

पृथक्त्व इस प्रतीति का असाधारण कारण पृथक्त्व है।

- एकत्व
  - नित्य
    - नित्यगत नित्य
  - अनित्य
    - अनित्यगत अनित्य
- द्वित्वादि
  - अनित्यमात्र

(१) स्व प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) चक्षु और त्वचा से ग्राह्य है।
(३) नव द्रव्यों में रहता है।
(४) सामान्य गुण है।
(५) अपाकज है।
(६) असमवायि, निमित्त कारण है।
(७) एक पृथक्त्व नित्यगत नित्य और अनित्यगत अनित्य है। द्वि पृथक्त्वादि सर्वत्र अनित्य है।
(८) एकविध है।
(९) भूत, मूर्त, विभु तीनों का गुण है।
(१०) एक पृथक्त्व कारण गुणपूर्वक है द्वि पृथक्त्वादि अकारण गुणपूर्वक है।
(११) द्रव्य जन्य है।
(१२) पृथक् २ व्यवहार का असाधारण कारण है।
(१३) इनसे भिन्न के साथ वैयधिकरण्य है।
(१४) संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१५) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१६) पृथक्त्वप्र॰ समवाय का अनुयोगी है।
(१७) द्रव्य अनु॰ समवाय का प्रतियोगी है।
(१८) अकर्मज है।
(१९) व्याप्यवृत्ति है।
(२०) द्रव्यों का साधर्म्य; गुणों का वैधर्म्य है।

चि॰ न॰ १९

दो द्रव्य पदार्थों के मेल का नाम संयोग है।

- एककर्मज
  - श्येन शैलसंयोग
    - अभिधान
      - (शब्दजनक)
    - नोदन
      - (शब्द का अनुत्पादक)
- उभयकर्मज
  - टक्कर
- संयोगजसंयोग
  - कपाल वृक्ष संयोग से घट वृक्ष का संयोग

(१) स्व प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) चक्षु और त्वचा से ग्राह्य है।
(३) सकल द्रव्यों में रहता है।
(४) सामान्य गुण है।
(५) अपाकज है।
(६) असमवायि, निमित्त कारण है।
(७) नित्य और अनित्य है।
(८) नित्यगत नित्य और अनित्यगत अनित्य है और अनन्त है।
(९) अकारण गुणपूर्वक हैं।
(१०) द्रव्यजन्य है।
(११) संयोगज संयोग का जनक है।
(१२) द्रव्यत्व के साथ समानाधिकरण्य है।
(१३) संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१४) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१५) संयोगत्व प्र॰ समवाय का अनुयोगी है।
(१६) कर्मज है।
(१७) अव्याप्यवृत्ति है।
(१८) द्रव्यों का धर्म है।
(१९) गुणादियों में नहीं रहता है।
(२०) कोई विभुओं का परस्पर संयोग नहीं मानते हैं।
(२१) गजादि के आकार का चक्षु और त्वक् संयुक्त समवाय से प्रत्यक्ष होता है। वह [आकार] अवयवों का आरम्भक संयोग रूप है।

चि० न० २०

(१) स्व प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) चक्षु और त्वचा से ग्राह्य है।
(३) सकल द्रव्यों में रहता है।
(४) सामान्य गुण है।
(५) अपाकज है।
(६) असमवायि, निमित्त कारण है।
(७) नित्य और अनित्य है।
(८) नित्यगत नित्य और अनित्यगत अनित्य है।
(९) अनन्त है।
(१०) सकल द्रव्यों का गुण है।
(११) द्रव्य जन्य है।
(१२) अकारण गुणपूर्वक है।
(१३) विभागज विभाग आदि का जनक है।
(१४) द्रव्यत्व के साथ सामानाधिकरण्य और गुणत्वादि के साथ वैयधिकरण्य हैं।
(१५) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१६) विभागत्व प्र० समवाय का अनुयोगी है।
(१७) द्रव्य अनु० समवाय का प्रतियोगी है।
(१८) कर्मज है।
(१९) अव्याप्यवृत्ति है।
(२०) द्रव्यों में रहता है।
(२१) गुणादि में नहीं रहता है।

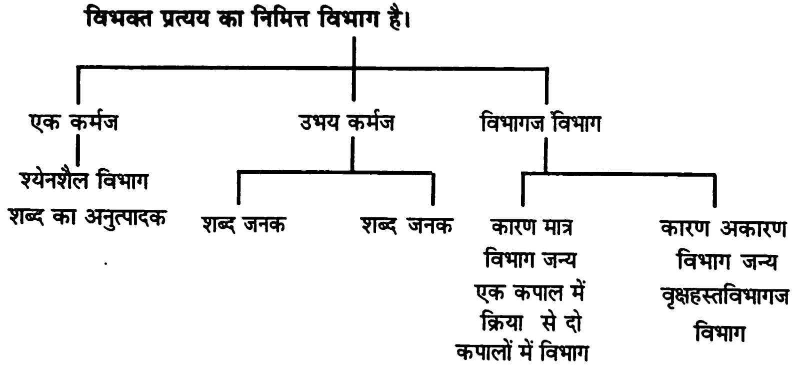

चि० न० २१ परव्यवहार का असाधारण कारण परत्व है।

कालिकक (ज्येष्ठ) — दैविक (दूर)

(१) स्व प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) दैशिक परत्व चक्षु और त्वचा से ग्राह्य है।
(३) कालिक परत्व अतीन्द्रिय है।
(४) दैशिक परत्व, चाक्षुष, त्वाच ज्ञान सहकारी है। कालिक परत्व सहकारी नहीं है।
(५) मूर्त में रहता है।
(६) सामान्य गुण है।
(७) अपाकज है।
(८) असमवायि और निमित्त कारण है।
(९) नित्यगत नित्य, अनित्यगत अनित्य है।
(१०) द्विविध है।
(११) भूत, मूर्त दोनों का गुण है।
(१२) अकारण गुणपूर्वक है।
(१३) मूर्त द्रव्य जन्य है।
(१४) परत्व व्यवहार का असाधारण कारण है।
(१५) मूर्त द्रव्यनिष्ठ धर्म्मों के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१६) इनसे भिन्न के साथ वैयाधिकरण्य है।
(१७) संयुक्त समवाय सम्बन्ध से ज्ञेय है।
(१८) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१९) परत्वत्व प्रतियोगिक समवाय का अनुयोगी है।
(२०) स्वाश्रयानुयोगिक समवाय प्रतियोगी हैं।
(२१) अकर्मज है।
(२२) व्याप्यवृत्ति है।
(२३) मूर्त्तों का साधर्म्य है।
(२४) तद्भिन्नों का वैधर्म्य है।

चि० न० २२ अपर व्यवहार का असाधारण कारण अपरत्व है।

कालिकक (छोटा) — दैशिक (समीप)

इसकी भी व्याख्या परत्ववत् ही समझना चाहिये।

बुद्धिपर विचार

(१) बुद्धि का समवायिकारण आत्मा है।

(२) असमवायिकारण आत्ममन:संयोग है।

(३) निमित्तकारण त्वङ्मन: संयोग है।

(४) निमित्तकारण चर्ममन: संयोग है
(पक्षधर मिश्र का मत)

(५) साधारणकारण ईश्वरज्ञान ईश्वरेच्छा ईश्वर प्रयत्न काल अदृष्ट है।

(६) विषयमात्र के प्रत्यक्ष में कारण है।

(७) निर्विकल्पक अतीन्द्रिय है। और सविल्पक मनोग्राह्य है।

(८) वह आत्मा का सहकारी कारण है।

(९) आत्मा में रहता है। परमात्मा में नित्य जीवात्मा में अनित्य।

(१०) विशेषण है।

(११) इसके दो भेद हैं, स्मृति, अनुभव

(१२) कारणगुणपूर्वक जीवात्मा में और अकारणगुणपूर्वक परमात्मा में

(१३) आत्मवृत्ति गुणादि का समानाधिकरण है।

(१४) आत्मेतर द्रव्यनिष्ठ गुणादि के साथ वैयधिकरण्य है।

(१५) समवाय सम्बन्ध से रहता है।

(१६) ज्ञानत्वप्रतियोगिकसमवायानुयोगी है।

(१७) ज्ञानाश्रयनिष्ठ समवायादि का प्रतियोगी है।

(१८) अव्याप्यवृत्ति है।

चि० न० २३

का० ५०,५१,५२,५३,५७

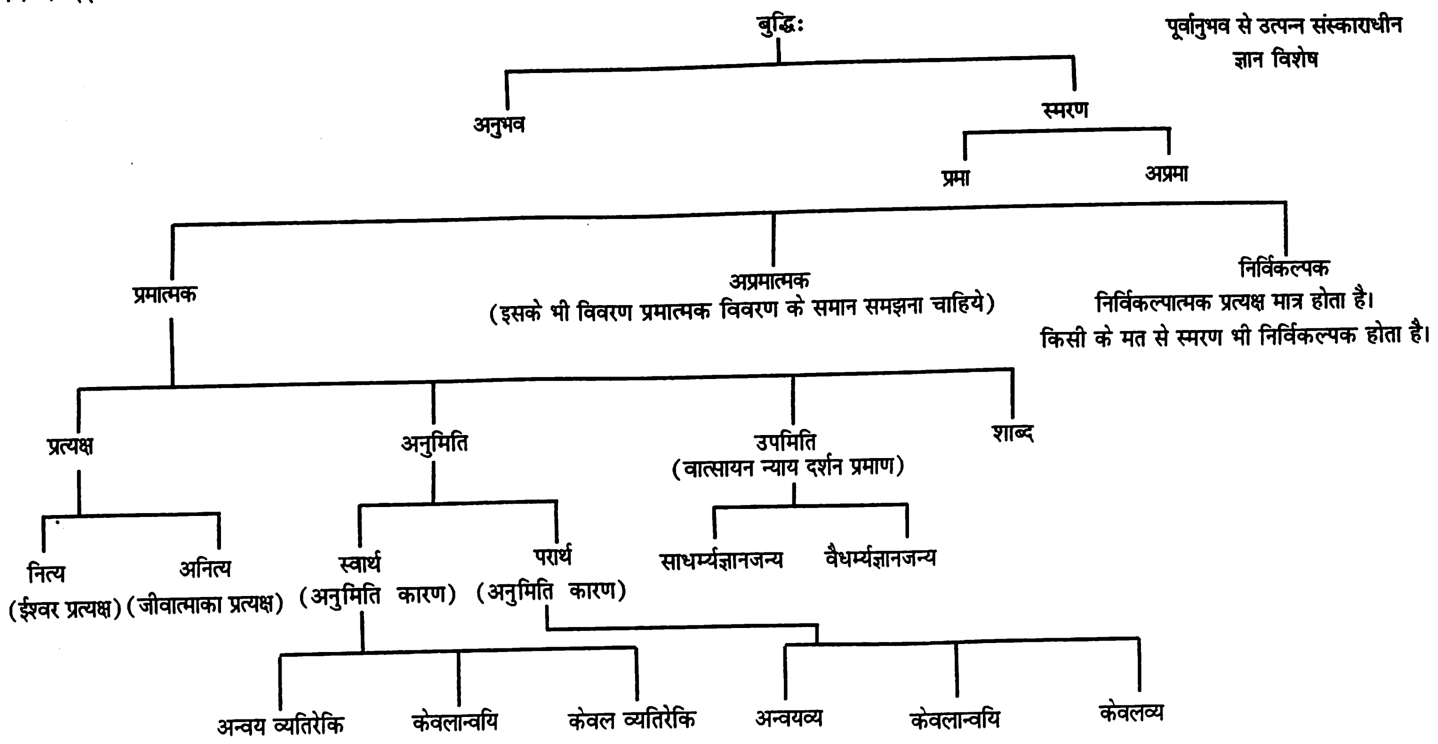

लौकिक

(१) चाक्षुष

- निर्वि — (१) उद्भूत रूप (२) उद्भूतरूपपवद्द्रव्य (३) संख्या (४) परिमाण (५) पृथक्त्व (६) संयोग (७) विभाग (८) परत्व (९) अपरत्व (१०)द्रवत्व (११) स्नेह (१२) वेग इन वारहों की जाति और इन सबों का अभाव।
- सवि — उक्त विषय जाति और उनके अभाव

(२) घ्राणज

- निर्वि — (१) सौरभ (२) सौरभत्व (३) सौरभाभाव (४) सौरभत्वाभाव (५) असौरभ (६) असौरभत्व (७) असौरभाभाव (८) असौरभत्वाभाव (९) गन्धत्व (१०) गन्धत्वाभाव (११) गन्धाभाव
- सवि — ये ही विषय

(३) श्रावण

- निर्वि — (१) शब्द (२) शब्दत्व (३) शब्दाभाव (४) शब्दत्वा भाव (५) शब्दत्वव्याप्यजाति (६) उनका अभाव।
- सवि — पूर्ववत्

(४) रासन

- निर्वि — (१) रस (२) रसत्व (३) रसत्वव्याप्यजाति (४) इनके अभाव
- सवि — पूर्ववत्

(५) त्वाच

- निर्वि — (१) उद्भूत स्पर्शवत् द्रव्य (२) संख्यादि ७ (९) द्रवत्व १० स्नेह इनकी जाति और इनके अभाव
- सवि — येही १ विषय, जाति और अभाव।

(६) मानस

- निर्वि — (१) बुद्धि (२) सुख (३) दुःख (४) इच्छा (५) द्वेष (६) यत्न (७) जीवात्मा इनकी जाति और और इनके अभाव।
- सवि — उक्त विषय जाति और अभाव।

अलौकिक

(१) शब्दार्थ विषयक

- (१) रूढिजन्य
- (२) योगजन्य
- (३) योग रूढ जन्य

(२) लक्ष्यार्थ विषयक

- (१) जहत्स्वार्थ लक्षणजन्य,
- (२) अजहत्स्वा. लक्षणजन्य,
- (३) निरूढलक्षण जन्यलक्षणाब
- (४) स्वारसिक लक्षण जन्य,

(१) सामान्य लक्षण जन्य

- चाक्षुष (चक्षुः सन्निकृष्ट पदार्थ विशेषण से तदाश्रयसकल व्यक्ति का प्रत्यक्ष)
- घ्राणज (घ्राण सन्निकृष्ट इत्यादि.)
- श्रावण (श्लोत्रसन्निकृष्ट इत्यादि.)
- रासन (रसनासन्निकृष्ट इत्यादि.)
- त्वाच (त्वक्सन्निकृष्ट इत्यादि.)
- मानस (मं:सन्निकृष्ट इत्यादि)

(२) ज्ञान लक्षण जन्य

- (१) (२) (३) (४) (५) (६) चाक्षुष, घ्राणज श्रावण रासन त्वाच मानसधर्मज

(३) योगज धर्मजन्य

- (१) युक्त
- (२) युञ्जान धर्मज

चि० न० २४

ज्ञान के कारणता का चित्र।

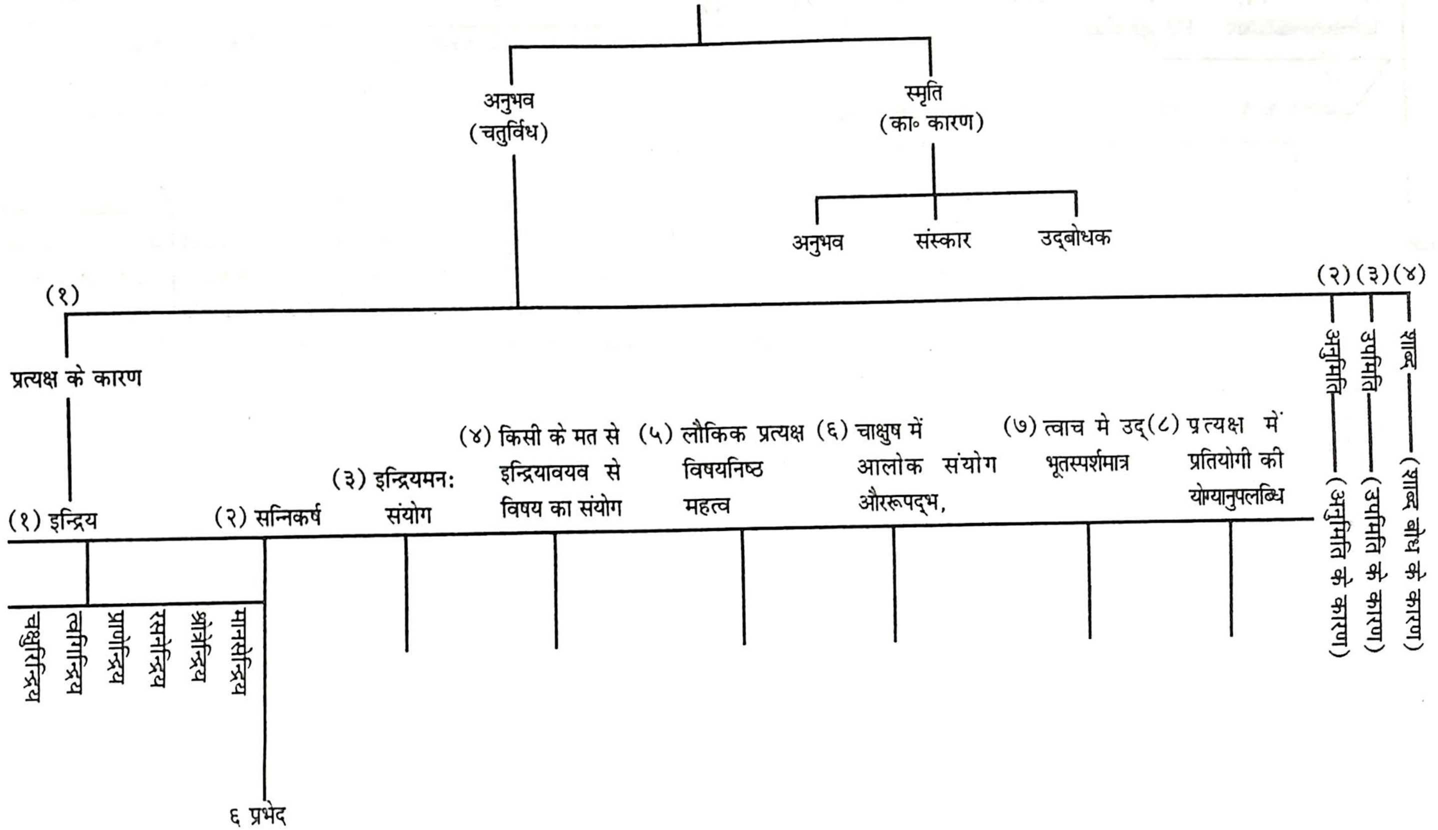

(१) चाक्षु — आलोक संयोगाव महत्वाव उ.भू.रू.व.

सन्निकर्ष	विषय
१. संयोग से	घटादिद्रव्य का प्र.
२. संयुक्त समवाय से	द्र. समवेत गुणादि का प्र.
३. संयुक्त समवेत समवाय से	द्रव्यसमवेत गुणादि गत जातिप्र.
४. संयुक्त विशेषणतादि से	चाक्षुषप्रत्यक्ष विषय अभा. प्र

यह दिग्दर्शन मात्र है (विशेषण विशेषणता सन्निकर्ष घटाभावमें घटाभाव का प्रत्यक्ष इत्यादि स्थलों में होता है) इत्यादि

(२) त्वक् — उद्‌भूत स्पर्शावच्छिन्न महत्वावच्छिन्न

सन्निकर्ष	विषय
१. संयोग से	घटादिद्रव्य का प्र.
२. संयुक्त समवाय से	द्र. समवेत गुणादि का प्र.
३. संयुक्त समवेत समवाय से	द्रव्यसमवेत गुणादि गत जातिप्र.
४. संयुक्त विशेषणतादि से	चाक्षुषप्रत्यक्ष विषय अभा. प्र

यह दिग्दर्शन मात्र है (विशेषण विशेषणता सन्निकर्ष अभावगत अभाव का प्र.) इत्यादि।

(३) घ्राण — महत्वावच्छिन्न उद्‌भूत गन्धावच्छिन्न

सन्निकर्ष	विषय
१. संयुक्त समवाय से	द्रव्यगत गन्धका प्र
२. संयुक्त समवेत समवाय से	द्रव्यवृत्ती गन्धगतजातिका प्र.
३. संयुक्त विशेषणतादि से	द्रव्यगत अभावादिका प्र

यह दिग्दर्शन मात्र है (विशेषण विशेषणता सन्निकर्ष अभावगत अभाव का प्र.) इत्यादि।

(४) रसना — महत्वावच्छिन्न उद्‌भूत रसावच्छिन्न

सन्निकर्ष	विषय
१. संयुक्त समवाय से	द्रव्यगत गन्धरस का प्र
२. संयुक्त समवेत समवाय से	द्रव्यनिष्ठ रसगतजाति का प्र.
३. संयुक्त विशेषणता से	द्रव्यनिष्ठ अभाव का प्र.

यह दिग्दर्शन मात्र है (विशेषण विशेषणता सन्निकर्ष अभावगत अभाव का प्र.) इत्यादि।

(५) श्रोत्र — श्रोत्र

सन्निकर्ष	विषय
१. समवाय से	शब्दका प्र
२. समवेत समवाय से	शब्दसमवेत शब्दत्व का प्र
३. समवेत विशेषणतादि से	शब्दगत अभावादिका प्र

यह दिग्दर्शन मात्र है (विशेषण विशेषणता सन्निकर्ष आत्मवृत्ति अभावगत अभाव का प्र.) इत्यादि।

(६) मान — मन:

सन्निकर्ष	विषय
१. संयोग से	आत्माका प्र
२. संयुक्त समवाय से	आत्मसमवेत गुणका आत्म
३. संयुक्त समवेत समवाय से	समवेत २ गुणत्वादिका प्र.
४. संयुक्त विशेषणतादि से	आत्मवृत्ती अभाव का

अनुमिति के कारण
- (१) व्याप्तिज्ञान
- (२) परामशज्ञान
- (३) पक्षता
- (४) प्रतिबन्धकाभाव

उपमिति के कारण
- (१) सादृश्यादि ज्ञान
- (२) अतिदेशवाक्यार्थस्मृति

शाब्दबोध के कारण
- (१) पदज्ञान
- (२) वृत्तिज्ञान
- (३) पदार्थोपस्थिति
- (४) अकांक्षाज्ञान
- (५) योग्यताज्ञान
- (६) आसत्तिज्ञान
- (७) तात्पर्यज्ञान

चि० २५

सन्निकर्ष

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)

(१)

(१ चक्षु+विषय	(२) त्वक्+विषय	(३) मनः+ विषय
आलोकसंयोगावच्छिन्न, महत्वावच्छिन्न, उद्भूतरूपावच्छिन्न, चक्षुर्घटादि विषय संयोग।	उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न, महत्वावच्छिन्न त्वक् घटादि विषय संयोग।	आत्ममनः संयोग।

जन्य पृथिवी जन्य जल जन्य तेज

(१)	(२)	(३)	(४)
जन्य पृथिवी	जन्य जल	जन्य तेज	जन्य वायु

(अर्वाचीन मत से)

(२)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
आलोकसंयोगावच्छिन्न, महत्वावच्छिन्न,उद्भूतरूपावच्छिन्न,चक्षुसंयुक्त समवायद्रव्य समवेत गुणजाति प्र.	उ.भू. स्पर्शावमहत्वाव त्वक् संयुक्त समवाय से द्रव्य समवेत १गुण २क्रिया ३ जाति का प्रत्यक्ष होता है।	घ्राण संयुक्त समवाय से गन्ध का प्रत्यक्ष होता है।	रसना संयुक्त समवाय से द्रव्य समवेत रस का प्रत्यक्ष होता है।		मनः संयुक्त समवाय से आत्मसमवेत बुद्ध्यादि-गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

(३), (४), (५)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)		
आलोकसंयोगावच्छिन्न,महत्वाव, उद्भूत रूपाव चक्षुः संयुक्त समवेत समवायसेद्रव्य समवेतगुणकर्म स० जातिकाप्र०	उद्भूतस्पर्शावच्छिन्न, महत्वाव, त्वक्सं समवेत समवाय से द्रव्यसमवेत गुण-समवेतजाति का प्र० होता है।	घ्राणसंयुक्त समवेत समवाय से द्रव्यसमवेतगन्धसमवेतजाति प्रत्यक्ष होता है।	रसनासंयुक्त समवेतसमवाय से रसगत जाति का प्रत्यक्ष होता है।		मनः संयुक्त समवेत समवाय से आत्म समवेत गुणसमवेत जाति का प्रत्यक्ष होता है।	

(६)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
आलोकसंयोगावच्छिन्नमहत्वा व.उद्भूतरू० व. चक्षुसंयुक्त विशेष-णता से द्रव्यगत-अभावगत का चाक्षुष प्र० होता है।	उ.भू. स्पर्शा व. महत्वा व. त्वक् संयुक्त विशेषणता से द्रव्यगत अभाव का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है।	घ्राण संयुक्त विशेषता से द्रव्यगतगन्धाभावादि का घ्राणज प्रत्यक्ष होता है।	रसनासंयुक्त विशेषणता से द्रव्यनिष्ठरसाभावादि का रासन प्रत्यक्ष होता है।	श्रोत्रविशेषणतासे द्रव्यनिष्ठ रसाभावादि का रासन प्रत्यक्ष होता है।	मनःसंयुक्त विशेषणता से आत्म-गत अभावों का मानस प्रत्यक्ष होता है।

चि॰ न॰ २६

संसार के अनुकूल कामना विषय का नाम सुख है।

ऐहिक (अनित्य) — पारलौकिक (अनित्य)

(१) स्वकीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) मन से ग्राह्य है।
(३) मन का सहकारी है।
(४) आत्मा में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) निमित्त कारण है।
(८) अनित्य है।
(९) एक ही भेद है।
(१०) विभु का गुण है।
(११) अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) धर्मजन्य है।
(१३) स्वकीय ध्वंसादि का जनक है।
(१४) आत्मवृत्ति धर्मों से सामानाधिकरण्य है।
(१५) इससे भिन्न से वैयधिकरण्य है।
(१६) संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१७) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१८) सुखत्वादि प्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(१९) आत्मादिनिष्ठ समवायादि का प्रतियोगी है।
(२०) अकर्मज है।
(२१) अव्याप्यवृत्ति है।
(२२) आत्मा का साधर्म्य है।
(२३) इससे भिन्न का वैधर्म्य है।

चि॰ न॰ २७

संसार के प्रतिकूल कामना विषय का नाम दुख है।

ऐहिक (अनित्य) — पारलौकिक (अनित्य)

(१) अधर्मजन्य है।
(२) दुःखत्वादि प्रतियोगिक समवायादिका अनुयोगी है।

टि॰ :– और सब सुख ही के समान जानना चाहिये।

चि० न० २८

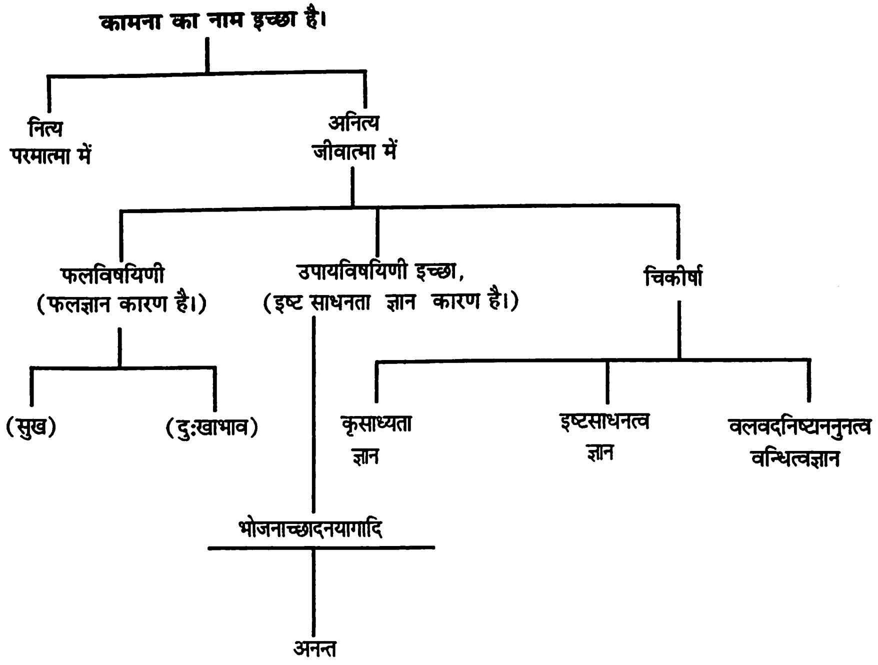

(१) स्वकीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) मन से ग्राह्य है।
(३) मन का सहकारी है।
(४) आत्मा में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) निमित्त कारण है।
(८) जीवात्मा में अनित्य है।
(९) परमात्मा से नित्य है।
(१०) फलविषयिणी, उपाय विषयिणी दो प्रकार की है।
(११) विभु का गुण है।
(१२) अकारण गुणपूर्वक है।
(१३) आत्मा से जन्य है।
(१४) ज्ञान का जनक है।
(१५) आत्मवृत्तियों के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१६) आत्मा में अवृत्तियों के साथ वैयधिकरण्य है।
(१७) मन: संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१८) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१९) इच्छात्वप्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(२०) आत्मादिनिष्ठ समवायादि का प्रतियोगी है।
(२१) अकर्मज है।
(२२) अव्याप्यवृत्ति है।
(२३) आत्मा में रहता है।
(२४) आत्म भिन्न में नहीं रहता है।

चि० नं० २९

द्वेष।

(१) स्वकीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) मन से ग्राह्य है।
(३) मन का सहकारी है।
(४) आत्मा में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) निमित्त कारण है।
(८) सर्वत्र अनित्य है।
(९) एक ही प्रभेद है।
(१०) विभु का गुण है।
(११) अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) द्विष्टसाधनता ज्ञान से जन्य है।
(१३) आत्मवृत्ति के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१४) आत्मा में अवृत्तियों के साथ वैयधिकरण्य है।
(१५) मन:संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१६) द्वेषत्व प्रतियोगिक समवाय का अनुयोगी है।
(१७) आत्मादिनिष्ठ समवायादि का प्रतियोगी है।
(१८) अकर्मज है।
(१९) अव्याप्यवृत्ति है।
(२०) आत्मा में रहता है।
(२१) आत्म भिन्न में नहीं रहता है।
परमात्मा में नहीं रहता है।

द्विष्टसाधनताज्ञान द्वेष का निमित्त कारण है।

अनित्य है

|

जीवात्मा में रहता है

चि० नं० ३०

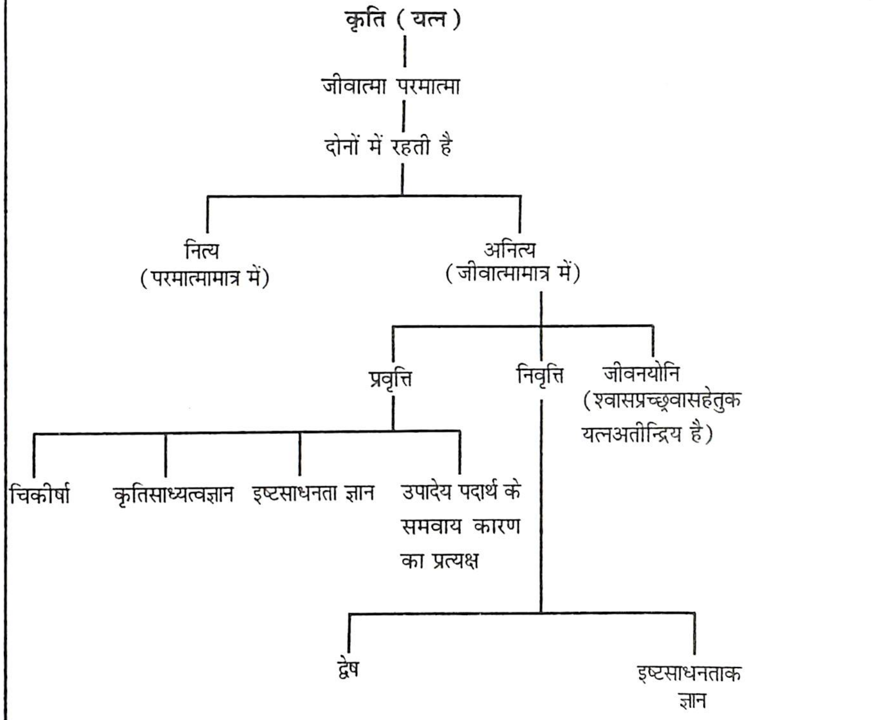

(१) स्वकीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) मन से ग्राह्य है।
(३) मन का सहकारी है।
(४) आत्मा में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) निमित्त कारण है।
(८) नित्यगत नित्य अनित्यगत अनित्य है।
(९) तीन प्रकार का है।
(१०) विभु का गुण है।
(११) अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) चिकीर्षा जन्य है।
(१३) कार्यमात्र का जनक है।

यत्न

(१४) आत्मवृत्ति गुणों के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१५) तद्भिन्न के साथ वैयधिकरण्य है।
(१६) मनःसंयुक्त समवाय से प्रत्यक्ष होता है।
(१७) समवायसम्बन्ध से रहता है।
(१८) यत्नत्वप्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(१९) आत्मनिष्ठ समवायादि का प्रतियोगी है।
(२०) अकर्मज है।
(२१) अव्याप्यवृत्ति है।
(२२) आत्मा में रहता है।
(२३) आत्मा से भिन्न में नहीं रहता है।

चि॰ न॰ ३१

गुरुत्व

- नित्य (परमाणुओं में)
- नित्य (द्व्यणुकादि में)

(१) किसी के प्रत्यक्ष में कारण नहीं है।
(२) किसी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है।
(३) पतन का सहकारी है।
(४) पृथिवी जल में रहता है।
(५) सामान्य गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) असमवायि, निमित्त कारण है।
(८) नित्य तथा अनित्य है।
(९) एक ही तरह का है।
(१०) कारण गुणपूर्वक है।
(११) आद्यपतनस्वकीयध्वंसादि का जनक है।
(१२) पृथिवी जलवृत्तियों के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१३) पृथिवी जल में अवृत्तियों के साथ वैयधिकरण्य है।
(१४) अतीन्द्रिय है। अतएव प्रत्यक्ष का विषय है।
(१५) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१६) गुरुत्वत्व प्रतियोगिक समवाय का अनुयोगी है।
(१७) गुरुत्व प्रतियोगिक समवाय का प्रतियोगि है।
(१८) अकर्मज है।
(१९) व्याप्य वृत्ति है।
(२०) पृथिवी, जल में रहता है।
(२१) उससे भिन्न में नहीं रहता है।

चि॰ न॰ ३२

स्पन्दन क्रिया का असमवायि कारण द्रवत्व है।

- सांसिद्धिक
  - नित्य (जलपरमाणु)
  - अनि त्य (द्व्यणुकादि)
- नैमित्तिक अनित्य (पृथिवी तेज में)

(१) स्वीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) चक्षु त्वचा से ग्राह्य है।
(३) चक्षु त्वचा का सहकारी है।
(४) पृथिवी जल में रहता है।
(५) सांसिद्धिक द्रवत्व विशेष गुण है। नैमित्तिक द्रवत्व सामान्य गुण है।
(६) पाकज अपाकज दोनों है।
(७) असमवाय, निमित्त दोनों है।
(८) पाकज सब जगह नित्य है और अपाकज नित्यगत नित्य, अनित्य गत अनित्य है।
(९) दो प्रभेद का है।
(१०) भूत मूर्त दोनों का गुण है।
(११) कारण गुणपूर्वक है।
(१२) नैमित्तिकद्रवत्व अग्निसंयोग से जन्य है।
(१३) स्पन्दन का जनक है।
(१४) पृथिवी जल तेज वृत्तियों के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१५) उससे भिन्नों के साथ वैयधिकरण्य है।
(१६) संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से ग्राह्य है।
(१७) द्रवत्वत्वप्रतियोगिक समवाय का अनुयोगी है।
(१८) द्रवत्वत्वप्रतियोगिक समवाय का प्रतियोगी है।
(१९) अकर्मज है।
(२०) व्याप्यवृत्ति है।
(२१) पृथिवी जल तेज में रहता है।
(२२) उससे भिन्न में नहीं रहता है।

चि० न० ३३ **चूर्णादि पिण्डीभाव का कारण स्नेह है।**

- उत्कृष्ट
  - नित्य (जल परमाणु में)
  - अनित्य (जल द्व्यणुकादि में)
- अपकृष्ट
  - नित्य (दाह प्रतिकूलघृत तैलादि परमाणु के अन्तर्गत जल में)
  - अनित्य (दाह प्रतिकूलघृत तैल द्व्यणुकादि के अन्तर्गत जल में)

(१) स्वीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) त्वचा से ग्राह्य है।
(३) त्वचा का सहकारी है।
(४) जल में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) असमवायि निमित्त कारण है।
(८) नित्यगत नित्य अनित्यगत अनित्य
(९) एकही प्रकार का है।
(१०) भूतमूर्त का गुण है।
(११) कारण गुणपूर्वक है।
(१२) जलजन्य है।
(१३) चूर्णादि पिण्डी भाव का कारण है।
(१४) जलवृत्तियों के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१५) उससेभिन्नके साथ वैयधिकरण्य है।
(१६) संयुक्तसमवायसे ग्राह्य है।
(१७) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१८) स्नेहत्व प्रतियोगिक समवायादिका अनुयोगी है।
(१९) स्नेह प्रतियोगिक समवायादिका प्रतियोगी है।
(२०) अकर्मज है।
(२१) व्याप्यवृत्ति है।
(२२) जल में रहता है।
(२३) उससे भिन्न में नहीं रहता है।

चि० न० ३४ **संस्कार**

- वेगाख्य पृथिव्यादि ४ और मन में रहता है।
  - कर्मज (नोदनसंयोग विशेष से वाणादि में उत्पन्न होता है।)
  - वेगज
- स्थिति स्थापक पृथि व्यादि चार में रहता है।
- भावनाख्य जीवात्मा में रहता है।

(१) स्वीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) मन से ग्राह्य है।
(३) मन का सहकारी है।
(४) आत्मा में रहता है।
(५) सामान्य गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) असमवायि निमित्त कारण है।
(८) नित्यगतनित्य, अनित्यगतअनित्य है
(९) तीन प्रकार का है।
(१०) विभु का गुण है।
(११) स्थितिस्थापक कारण गुणपूर्वक है। इससे भिन्न अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) अनुभव जन्य है।
(१३) स्मरण जनक है।
(१४) आत्मवृत्ति धर्म से सामानाधिकरण्य है।
(१५) तद्वृत्ति धर्म से वैयधिकरण्य है।
(१६) संयुक्त समवाय से ग्राह्य है।
(१७) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१८) संस्कारत्व प्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(१९) संस्कार प्रतियोगिक समवाय का प्रतियोगी है।
(२०) अकर्मज है।
(२१) व्याप्यवृत्ति है।
(२२) आत्मा में रहता है।
(२३) इससे भिन्न में नहीं रहता है।
(२४) अतीन्द्रिय है।

चि० न० ३५

विहितकर्मजन्य धर्म है।

प्रारब्ध | सञ्चित | क्रियमाण

(१) यागादिरूप कारण से अदृष्टरूप व्यापार का स्वर्गादि रूप कार्य होता है। एवं सुखसाधक शरीरादि का भी कारण धर्म ही है।
(२) कर्मनाशा नदी इत्यादि से धर्म का नाश होता है।
(३) प्रारब्ध कर्मका नाश भोग के बिना नहीं होता है। तत्त्वज्ञान से सञ्चित और क्रियमाण कर्म का नाश होता है।

चि० न० ३६

निषिद्धकर्मजन्य अधर्म है।

प्रारब्ध | सञ्चित | क्रियमाण

(१) निषिद्ध कर्म और नित्यकर्म का त्याग इन दोनों के आचरण से नरकादि और नरकादि साधन शरीर होता है।
(२) प्रारब्ध पापकर्म का भी नाश भोग के विना नहीं होता है।
(३) एवं तत्वज्ञान से सञ्चित क्रियमाण पापकर्म का भी नाश हो जाता है।

अदृष्टः = (धर्म अधर्म)

(१) किसी के प्रत्यक्ष में कारण नहीं है।
(२) अतीन्द्रिय है।
(३) अदृष्ट से भिन्न जो सुखदुःख का कारण उसका अदृष्ट सहकारी कारण है।
(४) आत्मा में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) निमित्त कारण है।
(८) अनित्य ही है।
(९) दो प्रकार का है।
(१०) जीवात्मा का गुण है।
(११) अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) विहित और निषिद्ध कर्मजन्य है।
(१३) सुख दुःख का जनक है।
(१४) आत्मवृत्ति धर्म से सामानाधिकरण्य है।
(१५) आत्मा अवृत्ति धर्मों से वैयधिकरण्य है।
(१६) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१७) अदृष्टत्व प्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(१८) अदृष्ट प्रतियोगिक समवायादि का प्रतियोगी है।
(१९) अकर्मज है।
(२१) अव्याप्यवृत्ति है।
(२२) जीवात्मा में रहता है।
(२३) इससे भिन्न में नहीं रहता है।

चि० न०
३७

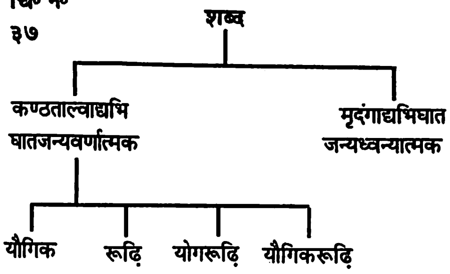

(१) स्वीय प्रत्यक्ष में कारण है।
(२) श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है।
(३) श्रोत्र का सहकारी है।
(४) आकाश में रहता है।
(५) विशेष गुण है।
(६) अपाकज है।
(७) निमित्त और समवायिकारण है।
(८) अनित्य ही है।
(९) दो प्रभेद है (वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक)
(१०) विभु का गुण है।
(११) अकारण गुणपूर्वक है।
(१२) अभिघात जन्य है।
(१३) शाब्द ज्ञानादि का जनक है।
(१४) गगनत्वादि के साथ सामानाधिकरण्य है।
(१५) इससे भिन्न के साथ वैयधिकरण्य है।
(१६) समवाय सन्निकर्ष से ग्राह्य है।
(१७) समवाय सम्बन्ध से रहता है।
(१८) शब्दत्वप्रतियोगिक समवायादि का अनुयोगी है।
(१८) शब्द प्रतियोगिक समवायादि का प्रतियोगी है।
(१९) अकर्मज है।
(२१) अव्याप्यवृत्ति है।
(२२) आकाश में रहता है।
(२३) इससे भिन्न में नहीं रहता है।
(२४) शब्द की उत्पत्ति "कदम्बगोलकन्याय" और "वीचीतरंगन्याय" से मानते हैं
(२५) कोई कोई शब्द को नित्य भी मानते हैं।

चि॰ न॰ ३८ गुणनिरूपणम् का॰ २९–३४ वि॰=विशेषगुण।

कोष्ठ से "नहीं" समझना

नम्बर	का॰	पदार्थ	वि॰गु॰ स्पर्श॰	परिमाण	पृथक्त्व	संयोग	विभाग	परत्व	अपरत्व	वेग	वि॰ रूप	वि॰ नैमित्तिकद्रवत्व	गुरुत्व	वि॰ रस	वि॰ स्नेह	वि॰ गन्ध	वि॰ बुद्धि	वि॰ सुख	वि॰ दुःख	वि॰ इच्छा	वि॰ द्वेष	वि॰ यत्न	वि॰ भावना	वि॰ धर्म	वि॰ अधर्म	वि॰ शब्द
			१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
१	३०	वायु ९	है	है	है	है	है	है	है	है																
२	३०	तेज ११	है	है	है	है	है	है	है	है	है	है	है													
३	३१	जल १४	है	है	है	है	है	है	है	है	है	सा. है	है	है	है	है										
४	३२	पृथिवी १४	है	है	है	है	है	है	है	है	है	सा. है	है	है	है		है									
५	३२, ३३	आत्मा १४		है	है	है	है	है										है	है	है	है	है	है	है	है	
६	३३	काल ५		है	है	है	है																			
७	३३	दिशा ५		है	है	है	है																			
८	३३	आकाश ६		है	है	है	है																			है
९	३४	ईश्वर ८		है	है	है	है																			
१०	३४	मन ८		है	है	है	है	है	है	है																

चि॰ न॰ ३९ *परममहत्परिमाण अतीन्द्रिय सामान्य इनसे भिन्नोंका

का॰ ८, १४-१५, २४-२९ जो जिसका साधर्म्य है इससे भिन्नों का वह वैधर्म्य है। साधर्म्य निरूपण।

			१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
नम्बर	का॰ न॰	पदार्थ	सत्ता	ज्ञेयत्व	वाच्यत्व	प्रमेयत्व	अनेकत्वे सति भावत्व	समवायित्व	निर्गुणत्व	क्रयत्व	सामान्य शून्यत्व	कारणत्व	आश्रितत्व	द्रव्यत्व	गुणवत्व	परत्व	अपरत्व	मूर्त्तत्व	क्रियावत्व	वेगवत्व	सर्वगतत्व	परममहत्परिमाणवत्व	भूतत्व	स्पर्शवत्व	द्रव्यसमवायि-कारणत्व	अव्याप्यवृत्तिवि॰ गुणवत्व	क्षणिक विशेष गुणवत्व	रूपवत्व	द्रवत्ववत्व	प्रत्यक्ष विषयत्व	गुरुत्ववत्व	रसवत्व	नैमित्तिकद्रवत्ववत्व	विशेष गुणवत्व
१	८ प॰	द्रव्यादित्रय	सा.																															
२	१३प॰	सप्त पदार्थ		सा.	सा.	सा.																												
३	१४	द्रव्यादि पञ्च					सा.	सा.																										
४	१४प॰	गुणादि ६							सा.	सा.																								
५	१५	सामान्यादि ४									सा.																							
६	१५	अणुपरिमाणआत्मा से भिन्न*										सा.																						
७	२४	नित्य द्रव्य से भिन्न का											सा.																					
८	२४	क्षित्यादि ९ का												सा.	सा.																			
९	२५	क्षिति, जल, तेज पवन मन														सा.	सा.	सा.	सा.	सा.														
१०	२६	काल,आकाश,दिशा आत्मा																			सा.	सा.												
११	२६	क्षित्यादि ५ का																					सा.											
१२	२६२७	क्षित्यादि ४ का																						सा.	सा.									
१३	२७	आकाश आत्मा																								सा.	सा.							
१४	२८	पृथिवी, जल, तेज																										सा.	सा.	सा.				
१५	२८	पृथिवी, जल																													सा.	सा.		
१६	२८	पृथिवी, तेज																															सा.	
१७	२९	आत्मा और भूत																																सा.

चि० नं० ४० समूह गुण गुणीनिरूपण *जीवनयोनि यन्त्र ++इच्छादि के निमित्त कारण है ३५

नम्बर	कारिका नम्बर	रूप	रस	गन्ध	स्पर्श	परत्व	अपरत्व	द्रवत्व	स्नेह	वेग	स्थितिस्था	धर्म	अधर्म	भावना	शब्द	बुद्धि	सुख	दुःख	इच्छा	द्वेष	यत्न	संख्या	परिमाण	पृथक्त्व	संयोग	विभाग	द्वित्वादि संख्या	द्विपृथक्त्वादित्व	गुरुत्व	एकत्व	नाम गुणी
१	८६	"	"	"	"	"	"	"	"	"	"																				ये १० गुण केवल मूर्त के हैं।
२	८७											"	"	"	"	"	"	"	"	"	'										ये १० गुण केवल अमूर्त के हैं।
३	८८																						"	"	'	"					ये ४ अनेक व्यक्तिवृत्ति गुण हैं।
४	८९	"	"	"	"			"	"			"	"	"	"	"	"	"	"	"	'										ये १६ विशेष गुण कहते हैं।
५	९१	"	"	"	"			सा.	"			"	"	"	"	"	"	"	"	"	'										ये १० सामान्य गुण कहते हैं।
६	९२							नैद्र.		'												"	"	'	"	"			'		ये ९ गुणचक्षु और त्वचासे ग्राह्य
७	९३							द्र.	"													"	"	'	"	"					ये५ गुणचक्षुरादिबाह्येन्द्रियग्राह्य हैं
८	९३	"	"	"	"										"																ये ५ गुण अतीन्द्रिय हैं।
९	९३–९४											"	'	"							*								"		ये १० आत्मा, आकाशके विशेष
१०	९४											"	"	"	"	"	"	"	"	"	यन्त्र										गुण हैं। अकारण गुणोत्पन्नभीहैं
११	९५–९६	अपा० रूप	अपा० रस	अपा० गन्ध	अपा० स्पर्श			सा. द्र.			संस्का												"	ए० पृ०		"				"	ये १२ कारण गुणपूर्वक हैं।
१२	९६									"															"	"					ये तीन कर्मज गुण हैं।
१३	९७	रूप	रस	गन्ध	अनुष्णस्पर्श				"		स्थि स्था				"								"	ए० पृ०						'	ये १०गुण असमवायि कारणमात्र हैं
१४	९७.९८											"	"	"		"	"	"	"	"	"										ये ९ आत्माके विशेष गुण हैं।
१५	९८				उष्ण स्पर्श			द्रवत्व	"																"	"			"		ये ६ अस.नि.मि. दोनों कारण हैं
१६	९८–९९											"	"	"	"	"	"	"	"	"	"						"	"			ये १२ विभु के विशेष गुण हैं

टि० अनुष्ण=शीत+अनुष्णा शीत। टि०–द्रव्य द्रव्योंमें संयोग सम्बन्ध से, अवयवी अवयवों में, गुणकर्म द्रव्यों में, जातिद्रव्य गुण कर्मों में, विशेष नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से, द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेषातिरिक्त पदार्थ अपने अपने अधिकरणों में स्वरूप सम्बन्ध से, सभी पदार्थ स्वसमान कालिक कालोपाधि और महाकाल में कालिक सम्बन्ध से, एवं स्वसमान कालिक दिगुपाधि और दिशा में दैशिक सम्बन्धसे, एवम् स्वात्मक पदार्थों में अभेद (तादात्म्क) सम्बन्ध से, रहते हैं। *अव्याप्य वृत्ति भी हैं

चित्र नं० ४१ इन्द्रियग्राह्य पदार्थ परिष्कारात्मक चित्र।

६	५	४	३	२	१	सि० नम्बर
मनोग्रा.	श्रोत्र ग्राह्य	घ्राण ग्राह्य	रसना ग्राह्य	त्वक् ग्राह्य	चक्षुग्राह्य	नाम इन्द्रिय
				द्व च ०	द्व्यणुकादिपृथिवी	पृथिवी
				पृथिवीकाल	द्व्य० जल	जल
				द्व्य० तेज	द्व्य० तेज	तेज
				द्व्य० वायु*		वायु
						आकाश, काल
						दिशा, आत्मा
						मन
					उद्भूत रूप	रूप
			उ० रस			रस
		उ० गन्ध				गन्ध
				उ० स्पर्श		स्पर्श
				उ० संख्या	उद्भूत संख्या	संख्या
				उ० परिमाण	उ० परिमाण	परिमाण
				उ० पृथक्त्व	उ० पृथक्त्व	पृथक्त्व
				उ० संयोग	उ० संयोग	संयोग
				उ० विभाग	उ० विभाग	विभाग
				उ० परत्व	उ० परत्व	परत्व
				उ० अपरत्व	उ० अपरत्व	अपरत्व
बुद्धि						बुद्धि
सुख						सुख
दु:ख						दु:ख
इच्छ						इच्छा
द्वेष						द्वेष
यत्न						यत्न
						गुरुत्व
				उ० द्र०	उ० द्र०	द्रवत्व
				उ० स्नेह	उ० स्नेह	स्नेह
				वेगाख्य	वेगाख्य	संस्कार
						धर्म
						अधर्म
	उ० शब्द					शब्द
				उ० उत्क्षे०	उ० उत्क्षे०	उत्क्षेपण
				उ० अप०	उ० अप०	अपक्षेपण
				उ० आकु०	उ० आकु०	आकुञ्चन
				उ० प्रसा०	उ० प्रसा०	प्रसारण
				उ० गमन	उ० गमन	गमन
उ० जाति	उ० जाति	उ० जाति	उ० जाति	जाति	जाति	जाति
						अनन्त विशेष
				+	×	समवाय
उ० प्रा०	उ० प्रा०	उ० प्रा०	उ० प्रा०	उ० प्रा०	उ० प्राग०	प्रागभाव
उ० प्रध्वं०	उ० प्रध्वं०	उ० प्रध्वं०	उ० प्रध्वं०	उ० प्रध्वं०	उ० प्रध्वं०	प्रध्वंसाभाव
उ०अत्य०	उ०अत्य०	उ०अत्य०	उ०अत्य०	उ०अत्य०	उ०अत्य०	अत्यन्ता भाव
उ०अन्यो०	उ०अन्यो०	उ०अन्यो०	उ०अन्यो०	उ०अन्यो०	उ०अन्यो०	अन्योन्याभाव

*नवीन मतसे

+× किसी के मतसे है और किसी के मतसे नहीं

चि० नं० ४२
का० ६८ उत्त०

पञ्चलक्षणी–व्याप्ति चित्र।

व्याप्ति = साध्यवदन्य निरूपितवृत्तित्वाभाव।

मु० न.	लक्षण	साध्य	(साध्यवत्) वत्	(साध्यवदन्य)अन्य	निरूपित	वृत्तित्व	अभाव	प्रथम व्याप्ति । – टिप्पणी
२, ३	समन्वय	वह्नि	पर्वतादि ५(पर्व,चत्व गोष्ठ, महा०अयो०)	ह्रदादि	"	शैवालादि	अभावधूम मे	"वह्निहमान् धूमात्" (समन्वय स्थल)
५	दोष	"	वह्न्यवयव	पर्वतादि ४	"	धूम मे है (अत:)	धूम मे वृत्तित्वाभाव नहीं रहा	"वह्निमान् धूमात्"=हेतु। अव्याप्त। यहाँ समवायेन साध्यवत् को लेकर पूर्वपक्ष किया है।
४	निवारकलक्षण		वत् (साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन) *	अन्य	"	वृत्तित्व–	अभाव	द्वितीय व्याप्ति
	स०	वह्नि	पर्वतादि ४	ह्रदादि	"	शैवालादि मे	धूम में	" " (अव्याप्ति वारण) (निर्दुष्ट लक्षण का स्मरण कर ही पर्वतादि ४ माने हैं।
७	द्वि० दो०	"	पर्वत	महानसादि ३	"	धूम मे है	धूम में नहीं है	" " (पुन: द्वि. अव्याप्ति)
६	नि० ल०	साध्य	वद्	(अन्य+साध्यवत्वाव० प्रतियोगिताकभेदवान्)	"	वृत्तित्व	अभाव	तृ० व्या०
	स०	वह्नि	पर्वतादि ५	ह्रदादि	"	शैवाल मे	धूम में	" " लक्षण समन्वय। द्वि० अव्या० वारण
९	तृ० दो०	"	"	धूमावयव	"	धूम मे है	धूम में नहीं है	इसलिये " " यहाँ तृ० पुन: अव्याप्तिदोष हुआ
८	नि० ल०	साध्य	वत् (")	अन्य (")	"	वृत्तित्व(हेतुतावच्छे० सम्बन्धावच्छिन्न)×	अभाव	चतु० व्याप्ति०
	स०	वह्नि	पर्वतादि ५	(ह्रदादि धूमावयवादि)	"	(शैवालादि) वन्हि	धूम में	" " लक्षण समन्वय। तृ०अव्या० दो, वारण
१०	च० दो०	धूम	पर्वतादि ४	ह्रदादि	"	शैवालादि	वह्नि में	धूमवान् वह्नि मे अतिव्याप्ति।

१०	नि० ल०	साध्य	वत् (")	अन्य (")	"	वृत्तिता (×) "	अभाव साध्यवदन्य निरूपितवृत्तितात्वा-वच्छिन्न प्रतियोगि-ताक अभाव)	अवृत्तित्वाभाव पद से वृत्तित्व सामान्याभाव विवक्षित है–अत: साध्याभावाधिकरण विशेष पकड़कर दोष नहीं होगा।
	स०	धूम	पर्वतादि ४	ह्रदादि अयोगोलक भी	"	शैवाल वह्नि में है	वृत्तित्वा भाव वह्नि में नहीं रहा	" अतिव्याप्ति नहीं हुई।
११	पञ्चम दो०	द्रव्यत्व	द्रव्य	गुण कर्म	"	सत्ता पर और विशिष्ट सत्ता पर भी (क्योंकि गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ता भी शुद्ध सत्तारूप है	विशिष्ट सत्ता पर नहीं रहा।	अत: "द्रव्यं विशिष्ट सत्वात्" (गुणकर्मान्यत्व) यहाँ अव्याप्ति हुई।
१२, १३	नि० ल०	साध्य	वत् (")	अन्य (")	"	वृत्तितावच्छेदक (जो) हेतुतावच्छेदक	तद्वत्व	व्याप्ति ल०
	स०	द्रव्यत्व	द्रव्य	गुणादि	"	गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तात्व	तद्वत्व गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ता में है।	अब अव्याप्ति नहीं
१४	व० दो०	ज्ञेयत्व	पदार्थ मात्र	अप्रसिद्ध	×	×	×	अत: ज्ञेयत्ववान् वाच्यत्वात् यहाँ अव्याप्ति
१५	स० दो०	सत्ता	द्रव्य गुण कर्म	सामान्यादि ४	"	हेतुतावच्छेदक समवाय सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तितानवच्छेदक तो सुतरां असम्भव ही है।	×	सत्तावान् जाते:। यहाँ भी अव्याप्ति ।–

चि॰ न॰ ४३

सिद्धान्त लक्षण और उस पर परिष्कार

*अयोगोलक भी गृहीत है
+न कि तद्वह्निका अभाव।

(क) "सद्धेतु में साध्याभाव लक्षण घटक नहीं होना चाहिये एवम् व्यभिचारी में साध्याभाव लक्षण घटक होना चाहिये"
(ख सद्धेतु स्थान मे हेत्वधिकरण साध्याभाव प्रतियोगी (साध्य) का अनधिकरण नहीं होना चाहिये एवम् व्यभिचारी में होना चाहिये।।
का॰ ६९

मु॰ न॰ १	लक्षण	हेतु	(हेतु) मत्–	(हेतुमत्निष्ठ)अभाव	(हेतुमन्निष्ठ अभाव) अप्रतियोगी साध्य	तादृशसाध्य	सामानाधिकरण्य (हेतु के साथ)	व्याप्ति
	स॰	वाच्यत्व	सकल पदार्थ	घटादि का (चालनीय न्याय से)	ज्ञेयत्व	ज्ञेयत्व	वाच्यत्व	"ज्ञेयत्ववान् वाच्यत्वात्" एवम् "सत्तावान् जाते:" में लक्षण समन्वय
	स॰	जाति	द्रव्य गुण कर्म	"	सत्ता	सत्ता	जाति	
	स॰ वारण	वह्नि	पर्वतादि ४अयो गोलक भी	धूमाभावादि	धूम नहीं	×	×	"धूमवान् वह्नि:" में अभावका प्रतियोगी साध्य है न कि अप्रतियोगी अत: अतिव्याप्ति नहीं हुई यहाँ हेतुमत
२	दोष (सामान्यव्याप्तिमे)	धूम	पर्वतादि	तत्तद्वह्न्यभावका चा॰ न्याय से	अप्रतियोगीसाध्य नहीं हुआ किन्तु प्रतियोगी है	×	×	"वह्निमान् धूमात्" अव्याप्ति
३	उद्धार (वि॰ व्याप्ति से)	तद्धूम	तद्धूमवत् तत्पर्वत	तद्वह्निभिन्नवह्नि का अभाव +	तद्वह्नि	तादृश तद्वह्नि	सामानाधिकरण्य तद्धूम में है	(किन्तु) विशेषव्याप्ति मे "तद्वह्निमान् तद्धूमात्" लक्षण समन्वय हुआ
४	दोष२	द्रव्यत्व	द्रव्य	तत्तद्गुणा भाव चा॰ न्याय से	का अप्रतियोगी कोई गुण रूपसाध्य नहीं हुआ	तादृशसाध्य	सामानाधिकरण्यहेतु मे नहीं रहनेके कारण	'गुणवान् द्रव्यत्वात्' में भी अव्याप्ति
४	लक्षण	हेतु	सामानाधिकरणजो	अभाव	तत्प्रतियोगितानवच्छे जो साध्यतावच्छेदक	तद्वच्छिन्न जो साध्य	सामानाधिकरण्य	व्याप्ति
	समन्वय	धूम	पर्वतादि ४	वह्निघटोभयाभावादि	वह्नित्व	वह्नि	धूम में है	'वह्निमान् धूमात्' में भी समन्वय
	"	द्रव्यत्व	रक्त घट	नीलाभाव	गुणत्व	गुण	द्रव्यत्व है	अत: गुणवान् द्रव्यत्वात् में भी समन्वय

५	दोष	पृथिवीत्व	पृथिवी	शुक्लादि ७ रूप का अभाव च० न्याय से)	रूपत्व व्याप्ति शुक्लत्वादि जाति प्रतियोगितावच्छेदक ही हुआ न कि प्रतियोगितानवच्छेदक हुआ।			रूपत्व व्याप्ति जातिमद्वान् पृथिवीत्वात्" में अव्याप्ति	(इस अव्याप्तियों में दूसरेका समाधान)–४० साध्य और हेतु के भेद से अर्थात् स्थल भेद से व्याप्ति का लक्षण भिन्न २ होता है। इसलिये 'रूपत्व व्याप्य जाति मद्वान् पृथिवीत्वात्' "दण्डिमान् दण्डि संयोगात्" इत्यादि स्थलों में हेतु समानाधिकरणाभाव प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदक जो साध्यता वच्छेदकतावच्छेदक धर्म तद्धर्म विशिष्ट जो साध्यता वच्छेदकतदवच्छिन्न–समानाधिकरण्य ही व्याप्ति है।
६	उद्धार (समाधान)	पृथिवीत्व	पृथिवी	घटपटाभाव	रूपत्व व्याप्य जातिगत जातित्व (स्वाश्रया श्रयत्व सम्बन्ध से)	रूपत्व व्याप्य जातिमत् (नीलादि ७ का)	तत्सामानाधिकरण्य। पृथिवीत्व में है।	इस प्रकार उक्त व्याप्ति दोष निवारण हुआ (क्योंकि रूपत्व व्याप्य जाति मत्वान् नास्ति यह सामान्या भाव नहीं है	हेतु=पृथिवीत्व, दण्डिसंयोग। साध्य=रूपत्वव्याप्य जातिमत्दण्डी। हेत्वधिकरण=पक्षपृ.मठादि। उक्त दोनोंस्थलों के हेत्वधिकरणों में यथाक्रम रूपत्व-व्याप्य जातिमत् का और दण्डि का अभाव नहीं है। यदि ये अभाव यथाक्रम पृथिवी में और दण्डि संयोगाधिकरण (मठ) में रहते तो अभावों का प्रतियोगितावच्छेदक रूपत्व व्याप्य जाति एवं तत्तत्सकल दण्ड और प्रतियोगितावच्छेदकता वच्छेदकरूपत्वव्याप्यजातित्व एवं दण्डत्व होता।
९	(उक्तसजातीय द्वितीय) दोष	दण्डि संयोग	दण्डि संयोगाधिकरण(मठ)	तत्तदण्डवान् का (अभाव) चा०न्या०से	तत्तत्सकल दण्डप्रतियोगितावच्छेदक ही हुआ न कि प्रतियोगितानवच्छेदक हुआ			अत: 'दण्डि मान् दण्डिसंयोगात्' में (पूर्ववत् अव्याप्ति)	जिस हेतु ये अभाव पृथिवी और दण्डिसंयोगाधिकरण में यथाक्रम नहीं हैं इसलिये पृथिवी और दण्डि संयोगाधिकरण(मठ) वृत्ति अभावका प्रतियोगिता वच्छेदकतानवच्छेदकजो साध्यतावच्छेदकता वच्छेदकरूपत्वव्याप्य जातित्व और दण्डत्वतद्धर्म विशिष्ट जो रूपत्वव्याप्य जाति और दण्डरूप साध्यतावच्छेदक तदवच्छिन्न जो साध्य तत् सामानाधिकरण्य पृथिवीत्वात्मक और दण्डि संयोगात्मक हेतुओं में रहने के कारण लक्षण समन्वय हुआ।
९	उद्धार (समाधान)	"	"	घटपटाभाव	दण्डत्व (स्वाश्रया श्रयत्व परम्परा सम्बन्ध से	दण्डी	तत्सामानाधिकरण्य दण्डि संयोग में है)	इसलिये यहाँ भी पूर्ववत् अव्याप्ति-दोष निवारण हुआ	

११	दोष	गुण कर्मान्यत्व विशिष्टसत्ता	द्रव्य और गुण कर्म भी है (क्योंकि गुण कर्मान्यत्वविशिष्ट सत्ता और शुद्धसत्ता एक है।	अत: गुण कर्ममे द्रव्यत्वा भाव है।	तत्प्रतियोगिता वच्छेदक द्रव्य त्वत्व) ही साध्य तावच्छेदक है।	×	×	अत: "द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्वात्" में अव्याप्ति।
११	लक्षण में परिष्कार	हेतु (सामानाधिकरण) घटक हेत्वधिकरण का = हेतुतावच्छेदकावच्छिन्ना जो निरूपकतातादृशनिरूपकतानिरूपित जो अधिकरणतातद्वत् अर्थ है		तन्निष्ठ अभाव	तत्प्रतियोगिता नवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न जो साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्ति है।
	समन्वय	गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ता	द्रव्य मात्र न कि गुण कर्म क्योंकि तादृश अधिकरणता द्रव्य में ही मानी जाती है।	घटाभावादि	द्रव्यत्वत्व	द्रव्यत्वत्व	तत्सामानाधिकरण्य गुण कर्मान्यत्व वि. सत्तामे है	इसलिये उक्त अव्याप्ति दोष का वारण हुआ।
१३	दोष	धूम	धूमावयव	वन्ह्यभाव	तत्प्रतियोगिता नवच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक हुआ अत:	×	×	"वन्हिमान् धूमात्" में अव्याप्ति।
१४	पुन: लक्षण मे परिष्कार	हेतु अधिकरण=हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न(हेतुतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितअधिकरण अर्थ है		अभाव	तत्प्रतियोगिता नवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न जो साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्ति है।
	स०	संयोगसं०व- धूमत्वावच्छिन्न निरूपकता निरूपितअधिकरणता (वत्)	पर्वतादि ४	घटाद्यभाव	वह्नित्व	वह्नि	धूम में	

१५	दोष	एतद् वृक्षत्व	एतद् वृक्ष	अपरदेशावच्छेदन कपिसयोगाभाव	तत्प्रतियोगिता वच्छेदक कपि संयोगत्व नहीं	×	×	अत: "कपि संयोगी एतद् वृक्षत्वात्" मे अव्याप्ति।
१४	पुन: ल, परि	प्रतियोगि व्यधिकरण	हेत्वधिकरण (हेतुता वच्छेदक सम्बन्धा वच्छिन्नहेतुतावच्छेदका वच्छिन्न निरू ॰नि॰ अधिकरणतावद्वृत्ति	अभाव	तत्प्रतियोगितान वच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न जो साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्ति है।
	स॰ दो॰ निवारण	प्रतियोगि व्यधिकरण	हेतुसमानाधिकरण	जो अभाव सो कपि संयोगाभाव नहीं होगा किंतु घटाभावादि	तत्प्रतियोगितान वच्छेदक जो कपि संयोगत्व साध्यतावच्छे॰	तदवच्छिन्न जो कपि संयोग	तत्सामानाधिकरण्य एतद्वृक्षत्व रूप हेतु मे रहने कारण से हुआ	कपि संयोगाभाव जो एतत् वृक्ष में है सो प्रतियोगि-समानाधिकरण होकर न कि प्रतियोगिव्यधिकरण होकर है अत: अव्याप्ति वारण
१६	लक्षणान्तर्गत प्रतियोगिव्यधिकरण शब्दार्थ निरूपण	यदि प्रतियोगिव्यधि-करण प्रतियोग्यनधि-करण वृत्ति	हेतु समानाधिकरण हेतुतावच्छेदक सं॰ वच्छिन्न हेतुतावच्छेदक कावच्छिन्न	अभाव	तत्प्रतियोगितान वच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न जो साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्ति है। निरूपकता निरूपित अधिकरणतावत् वृत्ति
१६, १७	दोष	कपिसंयोग रूप प्रतियोगि का अनधिकरण जो गुणकर्म उनमें वृत्ती और	(अपरदेशावच्छेदेन) एतद् वृक्ष रूपहेत्वधिकरण में वृत्ति जो	कपिसंयोगाभाव	तत्प्रतियोगितावच्छेदक ही कपिसंयोग-त्व रूप सा॰वच्छेदक हुआ अत:	×	×	यदि प्रतियोगि व्यधिकरण शब्द का प्रतियोग्यनधिकरण वृत्ति अर्थ करें तो "कपि संयोगी एतद्वृक्षत्वात्" में अव्याप्ति बनी रहेगी।
१८	पुन: परि॰	यदि प्रतियोगिव्यधि-करण प्रतियोग्यधिकरण वृत्तिभिन्न	हेतु समानाधिकरण हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न =हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न निरूपकतानिरूपित-	अभाव	तत्प्रतियोगितान वच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न जो साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्ति है। –अधिकरणतावत् वृत्ति) जो
	स॰	प्रतियोग्यधिकरण वृत्तिभिन्न	एतत् वृक्षत्वरूप हेतु समानाधिकरण	कपिसंयोगाभाव नहीं होगा क्योंकि वह अपर देशा-वच्छेदेन	कपि संयोत्व	कपि संयोग	तत्सामानाधिकरण्य एतत् वृक्षत्वरूपहेतु मे है।	अत: प्रतियोगिव्यधिकरण शब्द का यदि प्रतियोग्यधि-करण वृत्ति भिन्न अर्थ करें तो यहाँ लक्षण समन्वय हुआ। प्रतियोग्यधिकरण वृत्ति ही हुआ अत: घटाभाव ही लेना पड़ेगा।

१५	दोष	प्रतियोग्यधिकरण वृत्तिभिन्न	(और) सत्ता रूप हेतु समानाधिकरण	संयोगाभावनही हुआक्योंकिवह द्रव्यमेभी अपर देशावच्छेदेन वृत्तिही+	संयोगत्व	संयोग	तत्समानाधिकरण्य सत्तारूप हेतुमे अत:	"संयोगी सत्वात्" में अति व्याप्ति + हुआ अत: घटाभाव है
१९	लक्षण (इस लक्षणमे स द्धेतु स्थलमे हेत्वधिकरण साध्याभावप्र तियोगीसाध्य ×	प्रतियोग्यनधिकरण	जो हेत्वधिकरण तद्वृत्ती	(जो) अभाव	तत्प्रतियोगितान वच्छेदकजो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	प्रतियोगि व्यधिकरण का यदि प्रतियोग्यनधिकरण जो हेत्वधिकरण तदवृत्ति जो अभाव ऐसा अर्थ करें तब "कपित्वात्" इत्यादि स्थलों में अव्याप्ति दोष नहीं हो सकता है × का अनधिकरण नहीं होना चाहिये और व्यभिचारी होना चाहिये
(क)	स०	कपिसंयोगाभावका प्रतियोगी जो कपि संयोग उसका अनधिकरण	एतत् वृक्षत्वाधिकरण नहीं हुआ। किन्तु	घटाद्यभावहीक प्रतियोग्यनधिक रणहेत्वधिकरण हुआ अत:	कपिसंयोगत्व	कपि संयोग	तत्सामानाधिकरण्य एतद्वृक्षत्वरूप हेतु मे है। अत:	यहाँ "कपि संयोगी एतद् वृक्षत्वात्" लक्षण समन्वय
(ख)	स०	संयोगाभावका प्रति योगी जो संयोग अनधिकरण(जो)	गुणकर्मरूप हेत्वधि करण० (तद्वृत्ति)	संयोगाभाव	तत्प्रतियोगितावच्छे दकही साध्यतावच छेदक हुआ अत:	×	×	"संयोगी सत्वात्" में अतिव्याप्ति दोष वारण
२०	दो०	गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ताभावप्र तियोगीजो गुणकर्मा न्यत्व विशिष्टसत्ता (उसकी सत्ता रूप होने के कारण गुण	गुणकर्मरूप हेत्वधि करण नहीं होगा अत:	गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ताभा व नहींलिया जायेगा किन्तु घटाभाव ही होगा	गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तात्व (प्रतियोगितानवच छेदकसाध्यतावच छेदक	गुण कर्मान्यत्व विशिष्टसत्ता रूप साध्य	तत्सामानाधिकरण्य जाति हेतु में रहने के कारण	गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तावान् जाते: में अतिव्याप्ति *कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तारूपं शुद्धसत्तात्मक प्रतियोगी का अनधिकरण
२०	लक्षणमे पुन: परिष्कार	प्रतियोग्यनधिकरण प्रतियो गितावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपित निरूपकता अधिकरणत्वा भाववत् (जो)	हेत्वधिकरण (तद्वृत्ति)।	अभाव	तत्प्रतियोगितावच्छे दकजो साध्यता वच्छेदक	तदवच्छिन्न जो साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्ति है। अधिकरणत्वाभाववत् जो हेत्वधिकरण=अधिकरणत्वा भाववत् का अनधिकरण जो हेत्वधिकरण

	स॰	विशिष्ट सत्ताभाव प्रतियोगितावच्छेदक जो विशिष्टसत्तात्व तदवच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वा भा॰	जो गुणकर्मरूप हेत्वधिकरण (तद्वृत्ति)	जो गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ताभाव	तत्प्रतियोगितानवच्छेदक विशिष्ट सत्तात्वरूसाध्यतावच्छेदक होने के+	×	×	प्रतियोग्यनधिकरणकायदिप्रतियोगितावच्छेद कावच्छिन्न निरूपकता निरूपित अधिकरणत्वाभाववत् अर्थ करें तो "गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तावान् जाते:" मे अतिव्याप्ति वारण हुआ। *वयत्+करण
२२	दो॰	ज्ञानाभाव का प्रतियोगी जो ज्ञान उसका विषयता सम्बन्ध से वस्तुमात्र अधिकरण है अनधिकरण	हेत्वधिकरण नहीं होने के कारण	ज्ञानाभाव लक्षण घटकनहीं होगा किन्तु अभावान्तरही होगा	तत्प्रतियोगितानवच्छेदकज्ञानत्वरूप साध्यतावच्छेदक कोहोने के कारण	तदवच्छिन्न साध्य	सामानाधिकरण्य द्रव्यत्व रूपहेतु में रह जायगा अत:	"ज्ञानवान् द्रव्यत्वात्" में अतिव्याप्ति होगी।
२३	दो॰	समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्यभावीयप्रतियोगिताव॰ वह्नित्वावच्छिन्न वह्निरूप प्रतियोगीका*	जो पर्वतादि रूप हेत्वधिकरणतद्वृत्ति समवाय सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक	वन्ह्यभाव	प्रतियोगितानवच्छेदक वन्हित्व रूप साध्यतावच्छेको नहीं होने ×	×	×	अव्याप्ति हुई। एवम् यदि प्रतियोगिता वच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी का अनधिकरणमात्र समझें। तो "वह्निमान् धूमात्" में अव्याप्ति। *समवायसम्बन्धेन अनधिकरण। × के कारण व्याप्ति है।
२१	ल॰ मे परि॰	प्रतियोग्यनधिकरण= साध्यतानवच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न* निरूपकतानिरूपित अधिकरणत्वाभाववत् जो	हेत्वधिकरण(तद्वृत्ति)	अभाव	तत्प्रतियोगितानवच्छेदक सा॰वच्छेदक	तदवच्छिन्न साध्य	सामानाधिकरण्य	निरूपकता साध्यता वच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्ना होनी चाहिये। *प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न
	स॰	ज्ञानाभाव का प्रतियागी जो ज्ञान उसका समवायसम्बन्धसे अनधिकरण जो	हेत्वधिकरण रूप आतेतर द्रव्य तद्वृत्ति	ज्ञानाभाव	प्रतियागिता नव॰ ज्ञानत्व रू॰सा॰ व॰ के नहीं होने के कारण	×	×	"ज्ञानवान् द्रव्यत्वात्" में अतिव्याप्ति का वारण
	स॰	समवायेन वह्न्यभाव प्रतियोगी जो वह्नि उसका साध्यतावच्छेदकसंयोग सम्बन्धेन अनधिकरण	पर्वतादि रूप हेत्वधिकरण नहीं होने के कारण घटाभावादि होगा	समवायेन वह्न्यभावलक्षण घटक नहीं होगा किन्तु वच्छेदक	तत्प्रतियोगितानवच्छेदकजो वन्हित्व रूप साध्यता	तद्वच्छिन्न साध्य	तादृश सामानाधिकरण्य धूमरूप हेतु में रहने के कारण	लक्षणसमन्वय हुआ।

२४	विकल्प १म	प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नायत्किञ्चितव्यक्तिका अनधिकरण	जो हेत्वधिकरण तद्वृत्ति	अभाव	तत्प्रतियोगितानवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्ति है। अर्थात्–यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण का प्रतियोगितावच्छेदका वच्छिन्न यत्किञ्चित् व्यक्ति का अनधिकरण अर्थ करें तो "कपिसंयोगी एतत् वृक्षत्वात्" में अव्याप्ति।– × संयोग उसका अनधिकरण जो + तत्प्रतियोगितान वच्छेदक *व्याप्ति है। यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण अर्थ करेंगे तो "कपि संयोगी एतत् वृक्षत्वात्" मे अव्याप्ति वारण हुआ किन्तु प्रतियोगि व्यधिकरण अभाव ही अप्रसिद्ध होगा। यथा पूर्वलक्षण वृत्तित्वविशिष्ट घटाभाव के अभाव का अभाव=पूर्वक्षण वृत्तित्वविशिष्ट घटाभाव स्वरूप है पूर्वक्षण वृत्तित्व विशिष्ट घटाभाव=शुद्ध घटाभाव स्वरूप है घटाभाव का प्रतियोगी=जैसे घट है वैसे पूर्वक्षण वृत्तित्व विशिष्ट घटाभाव का अभाव भी है। तव घटाभाव के प्रतियोगिता वच्छेदकावच्छिन्न सामान्य मे पूर्वक्षण वृत्तित्व विशिष्ट घटाभाव का अभाव भी लिया जायगा जो केवलान्वयि है। अत: उसका अनधिकरण हेत्वधिकरण नहीं होगा इसलिये कोई अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण हो ही नहीं सकता। किन्तु वह्निमान् धूमात्" इत्यादि स्थलों में प्रतियोगि व्यधिकरण अभाव अप्रसिद्ध नहीं होगा क्योंकि प्रतियोगिव्यधिकरण आपने साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कहा है तब घटाभाव का पूर्वक्षण वृत्तित्व विशिष्ट घटाभाव का जो अभाव तद्रूप जो प्रतियोगि उसका साध्यतावच्छेदक संयोग सम्बन्ध से अधिकरण ही अप्रसिद्ध है अत: उस प्रतियोगी को नहीं लेकर घटरूप ही प्रतियोगी लिया जायगा उसका संयोग सम्बन्ध से अनधिकरण पर्वतादि रूप हेत्वधिकरण होने के कारण घटाभावादि ही प्रतियोगी लिया जायगा उसका संयोग सम्बन्ध से अनधिकरण पर्वतादि रूप हेत्वधिकरण होने के कारण घटाभावादि ही प्रतियोगि व्यधिकरण होजायगा। अत: इन स्थलों में अव्याप्ति नहीं होगी।
२५, २६,	दोष का उपपादन	कपिसंयोगाभावका प्रतियोगितानवच्छेदकावच्छिन्न यत्किञ्चित जो वृक्षावृत्ति कपि ×	एतत्वृक्ष रूप हेत्वधिकरण (तद्वृत्ति)	कपिसंयोगाभाव	तत्प्रतियोगितावच्छेदक ही साध्यतावच्छेदक हुआ अत:	+	+	
२४	विकल्प २य	प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्यानधिकरण जो	हेत्वधिकरण (तद्वृत्ति)	अभाव	तत्प्रतियोगितानवच्छेदक जो साध्यता जो वच्छेदक	तदवच्छिन्न जो साध्य	तत्सामानाधिकरण्य*	
	एवं दोषका वारण	प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्यानधिकरण जो	एतत्वृक्ष रूप हेत्वधिकरण को नहीं होने के कारण	कपिसंयोगाभाव लक्षण घटक नहीं होगा किन्तु घटाभावादिही होगा+	कपिसंयोगाभाव	कपिसंयोग	तत्सामानाधिकरण्य एतत्वृक्षत्व में है अत: अव्याप्ति नहीं हुई।	
२९	समन्वय "वह्निमान् धूमात्" मे दोष निवारक	साध्यतावच्छेदक संयोग सम्बन्ध से पूर्वलक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावाभावरूपप्रतियोगी काअधिकरण हीअप्रसिद्ध है तव अनधिकरण तो सुतरांअप्रसिद्ध हैअत: पूर्वलक्षणवृत्तित्वविशिष्ट घटाभावाभाव रूपप्रतियोगी नहीं	पर्वतादिरूप हेत्वाधि–करणके होने से कारण तद्वृत्ति					

		लिया जायगा। किन्तु घटरूपप्रतियोगीलिया जायेगा साध्यतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धसे घटरूपप्रतियोगी का अनधिकरण	अधिकरणही संसार है तब					+अव्याप्ति वारण हुआ।(स्पष्टार्थ)यद्यपि "अभावाधिकरणजो अभाव वह अधिकरण स्वरूप है। अतः घटाभाव निष्ठ= जो वहन्य भाव वह घटाभावरूप हैतवघटा भाव का प्रतियोगी जैसे घट हुआ वैसा ही वह्नि भी हुआ। तब साध्यतावच छेदक सम्बन्ध से घटाभाव प्रतियोगितावच्छेदका वच्छिन्न सामान्यान्तर्गत वह्नि रूप प्रतियोगी का अनधिकरण हेत्वधिकरण नहीं होने के कारण प्रतियोगि व्यधिकरण अभाव पुनः अप्रसिद्ध ही रह जायगा अतः वह्निमान् धूमात् में भी अव्याप्ति वारण नहीं हुआ। परन्तु यदि उक्त नियम न मानें तो घटाभाव निष्ठ वहन्यभाव घटाभाव रूप न होगा तब घटाभाव का प्रतियोगी वह्नि नहीं हो सकता, यदि पूर्वक्षण वृत्तित्वविशिष्ट घटाभाव का अभाव घटाभाव का प्रतियोगी हो सकता तो उसका संयोग सम्बन्धेन अधिकरण अप्रसिद्ध होने के कारणप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्य में वह नहीं लिया जायगा किन्तु घटाभाव लिया जायगा। तब घटरूप प्रतियोगी का संयोग सम्बन्ध से अनधिकरण पर्वतादि रूप हेत्वधिकरण होने के कारण घटाभाव ही प्रतियोगी व्यधिकरण हो जायगा अतः "वह्निमान् धूमात्" में अव्याप्ति नहीं भी हो तथपि "धूमाभाववान् वह्न्यभावात्" यहाँ स्वरूप सम्बन्ध के साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध होने के कारण उक्त रीति से कोई अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं होगा अतः अव्याप्ति होगी। * अव्याप्ति हुई। * व्याप्ति। + अतः अव्याप्ति नहीं हुई। ऽअव्याप्ति हुई।
२९	दोष	घटाभावका प्रतियोगी जैसे घट है वैसे ही पूर्वपक्ष वृत्तित्वविशिष्ट घटाभाव अभाव भी है।(उसका	उसका अनधिकरण हेत्वधिकरण नहीं होने के कारण	घटाभावद्प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं होगा अत०	×	×	+	
२९	ल० परि०	साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्यानधिकरण	जो हेत्वधिकरण तद्वृत्ति	जो अभाव	तत्प्रतियोगितानवच्छेदक जो साध्यताजोवच्छेदक	तदवच्छिन्न	सामानाधिकरण्य	
३०	समन्वय	साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन पूर्वक्षण वृत्तित्वविशिष्ट घटाभावाभावात्मक प्रतियोगीका अधिकरण हीअप्रसिद्ध है अतः घटरूपप्रतियोगी का अनधिकरण जो	हेत्वधिकरण तद्वृत्ति	जो अभाव	वह्नित्व	वह्नि	धूम में हैं। +	
३०	पुनः दो०	घटाभावमे वृत्ति जो वन्ह्यभाव यह घटाभाव स्वरूप है अतः घटाभाव का वह्नि भी प्रतियोगी हुआ उसका अनधिकरण	हेत्वधिकरण जो वह अप्रसिद्ध है अतः	×	×	×	ऽ	

३१,३२	❀ दोष विकल्प ३य	प्रतियोगीतावच्छेदकीभूत यत्किञ्चित् धर्मावच्छिन्नानधिकरण जो	हेत्वधिकरणतद्	अभाव	तत्प्रतियोगिता नवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न साध्य	तत्सामानाधिकरण्यव्याप्ति	❀अभावाधिकरणक अभाव यदि अधिकरणस्वरूप नहीं माना जाय तथापि धूमाभाववान् वह्न्यभावात् इत्यादिस्वरूप सम्बन्धेन साध्यकस्थलमें अव्याप्ति हुई।
	समन्वय	"धूमाभाववान् वह्न्यभावात्" यहाँ घटाभाव प्रतियोगितावच्छेदक घटत्वरूप यत्किञ्चित् धर्मा❀	जलादिरूपहेत्वधिकरण होनेकेकारण	घटाभावादि ही प्रतियोगीव्यधिकरण होगा	धूमाभावत्व	धूमाभाव	वह्न्यभाव रूप हेतु में है।	अत: लक्षण समन्वय हुआ। ❀ वच्छिन्नानधिकरण
३३,३४	दोष	कपिसंयोगाभावाभाव कपिसंयोग और गुण सामान्याभावाभावगुण सामान्यरूप है तब कपिसंयोगकोभीगुण +	जोआत्मरूप हेत्वधिकरणतद्वृत्ति	कपिसंयोगाभावाभाव	तत्प्रतियोगितानवच्छेदककपिसंयोगाभावत्वरूप साध्यतावच्छेदकके नहीं होने के कारण	×	×	+ सामान्यान्तर्गतहोने के कारण गुणसामान्या भावाभाव से भिन्न कपिसंयोगाभावाभाव नहीं है अत: कपिसंयोगाभावाभावप्रतियोगितानवच्छेदक जो गुणसामान्याभावत्वतद्धर्मावच्छिन्न जो गुणसामान्याभाव उसके अनधि०कपिसंयोगाभाववान्आत्मत्वात् में अव्याप्ति
इस लक्षण में सद्धेतु में साध्यता वच्छेदका वच्छिन्न प्रतियोगिता लक्षण घटक नहीं होना चाहिये। और व्यभिचारी में साध्यता वच्छेदका वच्छिन्न प्रतियोगिता लक्षण घटक होना चाहिये।।								
३५	परि०	यादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न	अनधिकरण	हेत्वधिकरण	तादृश प्रतियोगितानवच्छेदकजोसाध्यतावच्छेदक	तदवच्छिन्न साध्य	तत्सामानाधिकरण्य	व्याप्तिहै। नवीन लक्षण (तद्वच्छिन्न साध्य सामानाधिकरण्य तद्वच्छिन्ननिरूपकता निरूपिताधिकरणतावद्वृत्तित्व) करनेसे "कपिसंयोगी एतत् वृक्षत्वात्" "धूमाभाववान् वह्न्यभावाद्" कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात् इत्यादि स्थलों में अव्याप्ति वारण हुआ क्योंकि (१) कपिसंयोगत्व योगितावच्छेदकाव-(२) धूमाभावत्व(३)कपिसंयोगाभावत्व धर्मावच्छिन्ना प्रतियोगिता में गृहीत नहीं होगी क्योंकि एतत् धर्मावच्छिन्नानधिकरण हेत्वधिकरण नहीं होगा।
३५	दोष	साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन यादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण कहने से "कालोघटवान् काल परिमाणात्" यहाँ	अधिकरण ही (न किअनधिकरण)	महाकाल रूप हेत्वधिकरण* है अत:	×	×	×	

		साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध कालिक है। उस सम्बन्धसे सभी पदार्थ महाकालरूप हेत्वधिकरणमें रहते हैं अतः यादृशप्रतियोगितामें किसी प्रतियोगिता को नहीं ले सकते क्योंकि जिस प्रति-योगिता को लेंगे तादृशप्रतियोगिताव-च्छेदकावच्छिन्न के						कालो घटवान् कालपरिमाणात् में अव्याप्ति।
३७,३८	मतान्तर से दोष निवारण	महाकालान्यत्व विशिष्ट घटत्वाव-च्छिन्नप्रतियोगिताव-च्छेदक जो महाका-लान्यत्वविशिष्ट घटत्व तदवच्छिन्नका	अनधिकरण	महाकाल रूप हेत्वधिकरण होने के कारण	तादृश प्रतियोगिता नवच्छेदक जो घटत्व रूप साध्यता वच्छेदक	तदवच्छिन्न साध्य	सामानाधिकरण्य काल परिमाण रूप हेतुमें रहनेकेकारण लक्षण समन्वय हुआ अतः	यादृशप्रतियोगिता महाकालान्यत्व विशिष्ट घटत्वा वच्छिन्ना प्रतियोगिता यहाँ लक्षण घटक है।
३९	चरम लक्षण	प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से यादृश प्रतियोगितावच्छेदका वच्छिन्न का	अनधिकरण	हेत्वधिकरण हो	तादृश प्रतियोगिता सामान्यमेंयत्सम्बन्धा वच्छिन्नत्वयद्धर्माव-च्छिन्नत्व उभयाभाव	तद्धर्मावच्छिन्न तेनसम्बन्धेनहेतु का व्यापक है	औरतादृशव्यापक का तेन सम्बन्धेन हेतुनिष्ठ सामानाधि करण्य व्याप्ति है	

१. गुरु धर्म को प्रतियोगिता वच्छेदकत्व मानकर उक्त लक्षण किया गया है अतएव "कम्बुग्रीवादि मद्वान् कपालत्वात्" इत्यादि स्थल में अव्याप्ति नहीं हुई।

पञ्चलक्षणी व्याप्तिलक्षण तथा परिष्कार।

१ साध्यवदन्य निरूपित वृत्तित्वाभाव।

२ साध्यवत् (साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन) अन्य निरूपित वृत्तित्वाभाव।

३ साध्यवदन्य निरूपित वृत्तित्व (हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न) अभाव।

४ साध्यवदन्य निरूपित वृत्तित्वाभाव (साध्यवदन्य निरूपित वृत्तितात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक-अभाव)

५ साध्यवदन्य निरूपितवृत्तितानवच्छेदक जो हेतुतावच्छेदक तदवत्व।

सिद्धान्त लक्षण।

१ हेतुमन्निष्ठ जो अभावतदप्रतियोगी जो साध्य तादृश साध्य सामानाधिकरण्य

२ हेतु समानाधिकरण जो अभाव तत्प्रतियोगिता नवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक तदवच्छिन्न साध्य सामानाधिकरण्य।

टि॰ न॰ १ हेतुमत= हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न हेतुनिष्ठ निरूपकता निरूपिताधिकरणतावत्।

टि॰न॰ २ हेतुसामानाधिकरण=हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न निरूपकता निरूपिताधिकरणतावत्।

३ प्रतियोगिव्यधिकरण हेतुसामानाधिकरण जो अभाव तत्प्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकतदवच्छिन्न साध्य सामानाधिकरण्य।

टि॰ प्रतियोगिव्यधिकरण= (क) प्रतियोग्यनधिकरण वृत्ति।

तथा (ख) प्रतियोग्यनधिकरण वृत्तिभिन्न।

४ प्रतियोग्यनधिकरण हेत्वधिकरण वृत्ति जो अभाव तत्प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न साध्य सामानाधिकरण्य।

टि॰ प्रतियोग्यनधिकरण= प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न निरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वाभाववत्।

साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न निरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वाभाववत्।

प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न= (क) यत्किञ्चित् व्यक्त्यनधिकरण वा (ख) सामान्यानधिकरण (ग) प्रतियोगितावच्छेदकीभूत यत्किञ्चित् धर्म्मावच्छिन्नानधिकरण।

५ यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण हेत्वधिकरण हो तत्प्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यता-वच्छेदकावच्छिन्न साध्य सामानाधिकरण्य।

६ चरम, प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न यादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण हेत्वधिकरण हो तादृश प्रतियोगिता सामान्य में यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व (साध्यतावच्छेदक संबंधावच्छिन्नत्व) यद्धर्मावच्छिन्नत्व (साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्व) उभयाभावद्धर्मावच्छिन्न=(साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्नत्व) तेन संबंधेन (साध्यतावच्छेदक संबंधाच्छिन्नत्व) हेतु का व्यापक है और तादृश व्यापक का तेन संबंधेन हेतुनिष्ठ समानाधिकरण व्याप्ति है।

१	लक्षण	साध्य	(साध्यवत्) वत्	(साध्यवदन्य) अन्य	निरू-पित	साध्यवदन्य निरूपितवृत्तित्व
२	परिष्कृत लक्षण	"	वत् (साध्यतावच्छेदक (सम्बन्धेन) १	" अन्य	"	"
३	"	"	"	२अन्य(साध्यवत्वाव॰ प्रतियोगिताकभेदवान्	"	"
४	"	"	"	"	"	वृत्तित्व हेतुताव॰ सम्बन्धा-वच्छिन्न) ३
५	"	"	"	"	"	वृत्तिता
६	"	"	"	"	"	वृत्तिता नवच्छेदक जो) हेतुतावच्छेदक ५

टि॰ (क) "सद्धेतुमें साध्याभाव लक्षण घटक नहीं होना चाहिये" व्यभिचारी में साध्याभाव लक्षण घटक होना चाहिये।

१	ल॰	हेतु	हेतुमत्	हेतुमन्निष्ठ अभाव	(हेतुमन्निष्ठ अ॰) अप्रति-योगी साध्य	तादृशसाध्य
२	प॰ल॰	"	समानाधिकरण हेतुमत् वृत्ति जो	अभाव	तत्प्रतियोगिता नव॰ सा॰ व॰	तद्वच्छिन्न जो साध्य तत्
३		(हेतु-हेतुतावच्छेदका-वच्छिन्न जो निरूपक तानिरूपित जो अधि-करणता तद्वत् अर्थ है	(समानाधिकरण)	निष्ठ अभाव	"	"
४		(हेतु= हेतुतावच्छेदकसम्बन्धाव-च्छिन्नहेतुनिष्ठ निरूपकता-निरूपिताधिकरणतावत्	मत्	अभाव	"	"
५	"	प्रतियोगिव्यधिकरण	हेतुसमानाधिकरण	"	"	"
६	"	यदि प्रतियोगिव्यधिकरण= प्रतियोग्यनधिण्करण वृत्ति	"	"	"	"
७	"	यदिप्रतियोगिव्यधिकरण= प्रतियोग्यनधिकरण वृत्तिभिन्न	"	"	"	"

(पञ्चलक्षणी चित्र)			
साध्यवदन्य निरूपितवृत्तित्व अभाव	समन्वय स्थल "वन्हिमान्धूमात्"	वह्नय वयव लेकर 1. (दोषस्थल)	"वह्निमान्"धूमात् अव्याप्ति
"	"	महानसादि ४ लेकर	"
"	"	धूमावयव ३	"
"	"	ह्रदादि निरूपित वृत्तित्वाभाव वह्नि में है। ४	"
अभाव (साध्यवदन्यनिरूपित वृत्तितात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक)४	"धूमवान् वन्हे" (अयोगोलक लेकर वारण)	सत्ता और विशिष्टता एक होने के कारण ५	'द्रव्यंविशिष्ट सत्वात्' में अव्याप्ति।
तदवत्व	द्रव्यं विशिष्टसत्वात्	१) ज्ञेयत्व वदन्य अप्रसिद्ध होने के कारण २) (एवम्) सामान्यादि में समवाय से किसी के नहीं रहने के कारण	ज्ञेयत्ववान् वाच्यत्वात् सत्तावान् जाते:' में क्रमश: अव्याप्ति।
लक्षण टि० (क) "सद्धेतु स्थल में हेत्वधिकरण साध्याभाव प्रतियोगी का अनधिकरण नहीं होना चाहिये एवं व्यभिचारी में होना चाहिये।			
समानाधिकरण्यहेतुके साथ	"ज्ञेयत्ववान् वाच्य त्वात्" सत्तावान् जाते:	विशेष व्याप्ति में भी उभयाभाव लेकर और चालनी न्याय से	"तद्वन्हिमान् तद्धमात्" गुणवान् द्रव्यत्वात्मे क्रमश: अव्याप्ति।
समानाधिकरण्य	"तद्वन्हिमान् तद्धमात्" गुणवान् द्रव्यत्वात्	रूपत्वव्याप्यजातिमत्वान् पृथिवीत्वात् "दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्" में स्वाश्रयाश्रयत्व सम्बन्ध करके या लक्षणान्तर करके निर्वाह।	किन्तु 'द्रव्यं गुण कर्मान्यत्वविशिष्ट सत्वात् में अव्याप्ति।
"	गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्वात्	तादृश अधिकरणता द्रव्य ही में मानी जाती है। समन्वय हुआ किन्तुधूमावयव लेकर।	'वह्निमान् धूमात् में अव्याप्ति।
"	"वन्हिमान् धूमात्"	किन्तु वृक्ष में अपरदेशावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव के हेतु	'कपिसंयोगी एतत् वृक्षत्वात् में अव्याप्ति।
"	कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्'	कपिसंयोगाभाव को प्रतियोगी समानाधिकरण समन्वय। अत: प्रतियोगिव्यवधिकरणपर विचार।	×
"	×	कपिसंयोग रूप प्रतियोगी का अनधिकरण गुण कर्म होने के कारण। कपिसंयोगाभाव लिया गया अत: पुन:।	कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात् में अव्याप्ति।
"	"	कपिसंयोगाभाव को प्रतियोग्यधिकरण वृत्तिभिन्न नहीं होनेके कारण समन्वय किन्तुसंयोग अव्याप्यवृत्ती है अत:।	संयोगी सत्वात् में अतिव्याप्ति।

८	टि० "(ख)	प्रतियोग्यनधिकरण	जो हेत्वधिकरण (तद्वृत्ति)	अभाव "	तत्प्रतियोगिता नवच्छेदकजो	तद्वच्छिन्न साध्य तत्
९	"	प्रतियोग्यनधिकरण= प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न निरूपकतानिरूपितअधिकरणत्वाभाववत् जो	"	"	"	"
१०	"	प्रतियोग्यनधिकरण= साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपित अधिकरणत्वाभाववत् (जो)	"	"	"	"
११	"	प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न=यत्किञ्चित व्यक्ति का अनधिकरण	जो हेत्वधिकरण वृत्ति	"	"	"
१२	"	प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न=सामान्यानधिकरण	हेत्वधिकरण वृत्ति	"	"	"
१३	"	प्रतियोगितावच्छेदकीभूत यत्किञ्चित धर्मावच्छिन्नानधिकरण(जो)	"	"	"	
१४	"	यादृश प्रतियोगितावच्छेदका वच्छिन्न	अनधिकरण	हेत्वधिकरण हो	"	"
१५	चरम ल० "	प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धसेयादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नका	"	"	तादृशप्रतियोगितासामान्य में यत्संबंधावच्छिन्नत्वसाध्यतानवच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्न साध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्व उभयाभाव	तद्धर्मावच्छिन्न सा०) तेन सम्बन्धेन(सा०)हेतु का व्यापक है

सामानाधिकरण्य	संयोगी सत्वात्,	शुद्धसत्ता और विशिष्टसत्ता एक है अत: विशिष्ट सत्ता का अधिकरण गुणकर्म भी होने के कारण।	गुण कर्मान्यंत्व विशिष्ट सत्तावान् जाते: में अति व्याप्ति।
"	"गुण कर्मान्यत्व विशिष्ट सत्तावान् जाते:	ऐसा निवेश से अनधिकरण गुण कर्म रूप हेत्वधिकरण हुआ अत: वारण किन्तु।	ज्ञानवान् द्रव्यत्वात् और वन्हिमान्धमात्'में क्रमश: अतिव्याप्ति और अव्याप्ति
"	'ज्ञानवान्द्रव्यत्वात्' 'वन्हिमान् धूमात्'	अब क्रमश: समवाय और संयोग वारण और समन्वय किन्तु प्रतियो-गितावच्छेदकावच्छिन्न पर विचार	×
"	×	वृक्षावृत्ति कपिसंयोगको लेकर	कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात् में अव्याप्ति।
"	'कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्'	साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध के कारण अभाव अप्रसिद्ध नहीं होगा। विस्तृत	"धूमाभाववान् वन्ह्यभावात् वन्ह्यभावान् में अव्याप्ति।
"	"धूमाभाववान् वह्निभावात्"	यत्किञ्चित धर्म से घटत्व को लेकर समन्वय किन्तु	"कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्" में अव्याप्ति।
"	'कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वात्' इत्यादिमें	यादृश तादृश के निवेश से समन्वय हुआ, किन्तु	"कालो घटवान् कालपरि-माणात्" में अव्याप्ति।
औरतादृश व्यापक का तेन सम्बन्धेन हेतु निष्ठसमाना-धिकरणव्याप्ति है	काली घटवान् काल परिमाणात्'	कोई तो महाकालान्यत्व विशिष्ट घटा-भाव को लेकर समन्वय करते हैं, तद् भिन्न केवल परिष्कार से	

टि० गुरुधर्म को प्रतियोगिता वच्छेदकत्व मानकर उक्त लक्षण किया गया है अतएव "कम्बुग्रीवादि मद्वान् कपालत्वात्" इत्यादि सद्धेतु में अव्याप्ति नहीं हुई।

चि०न० ४५		पक्षता का लक्षण । का० न० ७० और उसके मुक्तावली का चरम परिष्कार।					
१	ल०	सिषाधयिषा= साध्यानु-मितीच्छा	विरहविशिष्ट	सिद्धि (साध्यनिश्चय)	तादृश सिध्यभाव	पक्षता है	एतावता तादृश साध्य निश्चयाभाव रूप (पक्षता) धर्मवान् पक्ष है।
२	समन्वय	वह्न्यनुमितीच्छा-	"	वह्नि निश्चय	वह्नि निश्चयाभाव	पक्षता है	
३	दो०	यत्किञ्चित् ज्ञानेच्छा रूप सिषाधयिषा	विरह विशिष्ट सिद्धि नहीं है				क्योंकि "वन्हिव्याप्य धूमवान् पर्वतो वह्निमाश्च" सिद्धि यत्किञ्चित् ज्ञानम् में जायताम्" सिषाधयिषा) इस स्थल में अनुमिति नहीं होती है अब हो जायगी अत: परिस्कार।
४	ल०	यादृश२सिषाधयिषा और यादृश यादृश सिद्धि सत्वमेयल्लिङ्ग जन्य अनुमिति हो तादृश सिषाधयिषा	विरह विशिष्ट	जो सिद्धि (अनुमितिप्रतिबन्धक है)	तादृश सिद्धि का अभाव	तल्लिङ्ग जन्य अनुमितिजनक पक्षता है	(एवम् तादृश धूमवान् पक्ष है ऐसा लक्षण करने से "पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमान् इत्यादि निश्चय करने पर भी अनुमित्यनुपपत्ति नहीं हुई।

चि० न० 46		(सिषाधयिषा विरह वैशिष्ट्य विशेषण देने पर भी समन्वय हो जायगा					
१	ल०				सिद्ध्याभाव	पक्षता है	✹ क्योंकि सिद्धिभावरूप कारण ३य क्षण में रह गया
२	स०	सिद्धि १म क्षण में	सिषाधयिषा (२य क्षण में)	परामर्श (३य क्षण में)	अनुमिति (४र्थ क्षण में)	यहाँ अनुमिति होती है सो हो जायगी	इसी तरह सिद्धिसिषाधयिषा परामर्श इन तीनों के व्युत्क्रम करने से जहाँ अनुमिति होती है वहाँ होगी जहाँ नहीं वहाँ न होगी – अत: समन्वय हुआ।
३	दो०	सिद्धिपरामर्श (१म क्षण में समूहालम्बन	सिषाधयिषा (२य क्षण में)	×	(३य क्षण में) अनुमिति	यहाँ अनुमिति होता है सो न होगी	क्योंकि सिद्धिरूप प्रतिबन्धक ही है। अत: उक्त निवेश करना आवश्यक है।
४	प०ल०	सिषाधयिषा	विरह विशिष्ट	सिद्धि	तादृशसिद्ध्यभाव	पक्षता है	अब पूर्ववत् समन्वय हुआ।

चि०न० ४७ पक्षता का लक्षण । का० न० ७० और उसके मुक्तावली का चरम परिस्कार। ५४

	क्षण	क्षण	क्षण	क्षण	क्षण
१	१	२	३	४	५
२	परामर्श	(सिद्धि)	अनुमित्सा	अनुमिति	अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि अनुमिति कारण परामर्श का नाश ३य क्षण में हो गया।
३	सिद्धि	परामर्श	"	"	अनुमिति होगी, क्योंकि सिद्धि रूप प्रतिबन्धक का नाश ३य क्षण ही में हो गया।
४	सिषाधयिषा	सिद्धि	परामर्श	"	अनुमिति न होनी चाहिये सो नहीं होगी क्योंकि सिषाधयिषा का ३य क्षण नाश में हो जायगा और सिद्धि३य क्षण में रह जायगी।
५	परामर्श	सिषाधयिषा	सिद्धि	"	अनुमिति होगी, क्योंकि परामर्श का ३य क्षण में नाश हो जायगा।
६	सिद्धि	"	परामर्श	"	अनुमिति होगी, क्योंकि सिद्धि रूप प्रतिबन्धक का अभाव ३य क्षण में हुआ।
	सिषाधयिषा	परामर्श	सिद्धि	"	अनुमिति नहीं होगी, क्योंकि ३य क्षण में इच्छा के नाश से इच्छा विरह विशिष्ट सिद्ध रूप प्रतिबन्धक रह जायगा।

चि० न० 48 का० न० ७० का मुक्तावली, पक्षता के लक्षण में सिषाधयिषा विरहविशिष्टत्व विशेषण का सार्थक्य बोधक सिद्धान्त चित्र।

	१ क्षण	२ क्षण	३य क्षण	
१	परामर्श + सिद्धि प्रत्यक्षात्मक वा स्मरणात्मक प्रत्यक्षात्मकवा स्मरणात्मक	अनुमित्सा	अनुमिति	इस प्रकार समूहालम्बन से ३य क्षण में अनुमिति होगी और अनुमिति के पूर्व क्षण में सिषाधयिषासिद्धि परामर्शों के विद्यमानता के कारण सिषाधयिषा विरह विशिष्टत्व विशेष की सार्थकता हुई।
२	अनुमित्सा	परामर्श प्रत्यक्षात्मक वा स्मरणात्मक प्रत्यक्षात्मक वा स्मरणात्मक	अनुमिति	

१. जिसमें साध्यका सन्देह या सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्ध्यभाव हो वह पक्ष है (२) जिसमें साध्य का निश्चय हो वह सपक्ष है (३) जिसमें साध्याभाव का निश्चय हो वह विपक्ष है

५६

चिन्न० ४९ यद्विषयकत्वे न ज्ञानस्यानुमिति विरोधित्वम् तत्त्वम् हेत्वाभासत्वम् यह दोष का लक्षण है। उसका समन्वय।

यद्विषयकत्वेन	ज्ञानस्य	अनुमिति-	विरोधित्वम्	तत्वम्	हेत्वाभासत्वम्	यहाँ अनुमिति पद से अनुमिति तत्कारण पदार्थ दो में से एक का ग्रहण होता है।
वन्ह्यभाववद्ध्रद विषयकत्वेन	वन्ह्यभाववान् ह्रद:	वन्हिमान् ह्रद:	×	वन्ह्यभाववद्ध्रद त्वम्	×	वन्ह्यभाववान्ह्रद में है इसलिये यह दोष हुआ। तद्वत्ता धूम में है। इसलिये ह्रद पक्षक वह्नि साध्यक स्थल में धूम दुष्ट हुआ।
वन्ह्यभावविषयक त्वेन	वन्ह्यभाववान् पर्वत: इसभ्रम को	वन्हिमान् पर्वत:	+	वह्न्यभाव में है	+	इसलिये बाध भ्रमैकदेश में अतिव्याप्ति हुई।
यादृश विशिष्ट विषयकत्वेन	ज्ञानस्य	अनुमिति--	विरोधित्वम्	तत्त्वम्	हेत्वाभासत्वम्	एक देश में अतिव्याप्ति वारण हुआ।
वन्ह्यभाववत् पर्वत अप्रसिद्ध है	०	०	०	०	०	अत: अतिव्याप्ति नहीं है।

चि॰ न॰ ५०

का॰ ७०, ७२ में मुक्तावली।

यद्विषयक निश्चय अनुमिति वा परामर्श अन्यतर का प्रतिबन्धक हो वही हेत्वाभास दोष है तदाश्रय दुष्ट है।

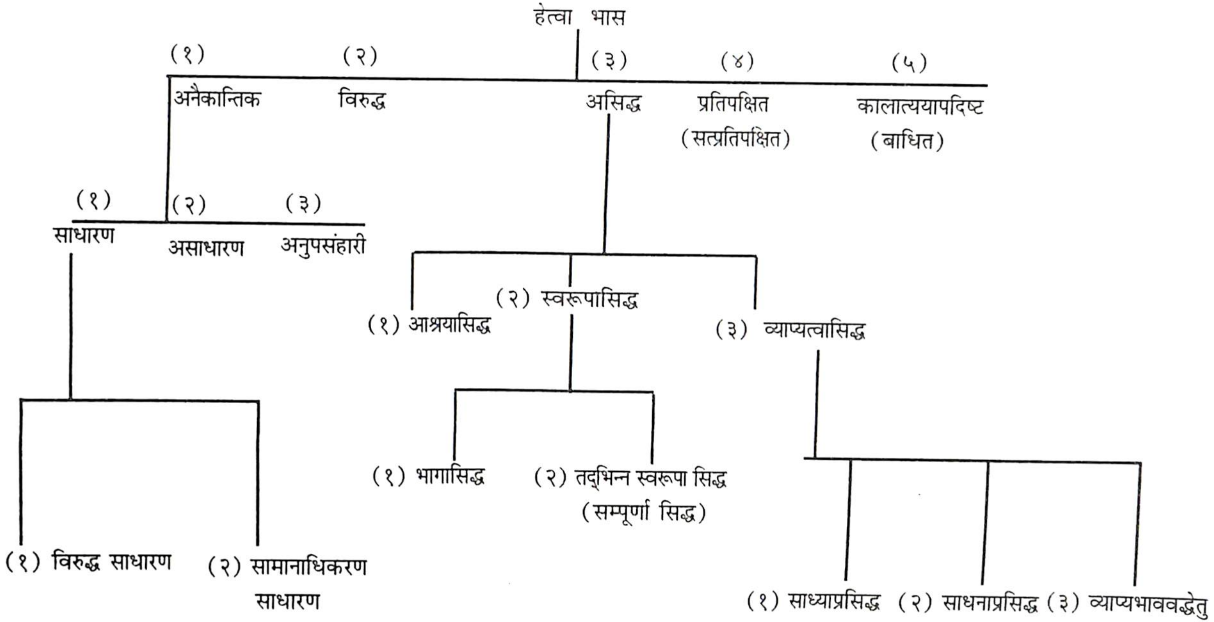

चि॰न॰ ५१ हेत्वाभास के पाँचों प्रभेदों का सामान्यविवरण। ५८

नाम हेत्वाभास	प्रभेद	लक्षण	नित्य	अनित्य	प्रतिबन्धक	प्रतिबध्य	उदाहरण	टिप्पणी
अनैकान्तिक (व्यभिचार)	१. साधारण २. असाधारण ३. अनुपसंहारी	साधारणाद्यन्यमत्वम्	नवीन और कुछ प्राचीनों के मत से	कुछ प्राचीनों के मत से	व्यभिचारग्रह	व्याप्तिग्रह	१. पर्वतोवह्निमान् २. शब्दोऽनित्य: ३. सर्वमभिधेयम्	प्रमेयत्वात् शब्दत्वात् प्रमेयत्वात्
विरुद्ध	×	हेतुनिष्ठसाध्यव्याप कीभूताभाव प्रति-गित्ववत्वम्	नवीनों के मत से	प्राचीनों के मत से	साध्याभाव व्याप्यहेतुग्रह	साध्यग्रह	अयं गौ: अश्वत्वात्	हेतु में विरुद्धत्व ज्ञान साध्याभावनिरूपित व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानरूप होने के कारण साध्याभावानुमिति होती है अत:साध्यानु-मिति नहीं
असिद्ध	१. आश्रयासिद्ध २. स्वरूपासिद्ध ३. व्याप्यत्वासिद्ध	आश्रयासिद्धाद्यन्यमत्वम् परामर्श प्रतिबन्धक यथार्थज्ञानविषयत्वं वा	"केवल नित्य है	"	पक्षता वच्छेदकाद्य भाव ज्ञानम्	परामर्श	१. काञ्चनमयपर्वतो वह्निमान्(२)ह्रदोद्रव्यं धूमात्(३) पर्वतो वन्हिमान्नीलधूमात्	साधनाप्रसिद्धिसाध्याप्रसिद्धिप्रभृति,व्याप्य-त्वासिद्धि में ही आ जाती है। इसलिये विभाग में न्यूनता नहीं है।
सत्प्रतिपक्ष		अगृहीताप्रामाण्यकप क्षधर्मिक साध्यविरोधि व्याप्यवत्तोपस्थितिकालीन पक्षधार्मिकसाध्यव्याप्य वत्तोपस्थिति विषयत्वम्	नवीनोंकेमत से	प्राचीनों के मत से	परस्पराभाव व्याप्यवत्ताग्रह	साध्यानुमिति एवंसाध्याभावा नुमिति	शब्द: नित्य:श्रावण-त्वात् शब्द: अनित्य: कृतकत्वात्	सत्प्रतिपक्षस्थल में दो हेतु रहते हैं विरोध स्थल में एक ही हेतु रहता है
कालात्ययापदिष्ट (बाधित)		साध्याभाववत् पक्षकत्वम्	"	"	साध्याभाववत् पक्षज्ञान	पक्षमेसाध्यव त्ताज्ञान		

चि०न० ५२ हेत्वाभास का विस्तृत चित्र। ✺ जो विपक्षमात्र में रहता है वह विरुद्ध साधारणऔर जो सपक्ष विपक्ष दोनों में रहता है वह समानाधिकरण साधारण है।

नाम हेत्वाभास	प्रभेद और नाम	नित्य अनित्यदोष		लक्षण प्रतिबन्धक		प्रतिबध्य		दृष्टान्त		टिप्पणी
१ अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) वा अनैकान्तिक (सव्यभिचार)	तीन प्रभेदहैं (क) साधारण (ख) असाधारण (ग) अनुपसंहारी	नित्य	अनित्य	प्रा० मत	न० मत	प्रा० मत	न० मत	प्रा० मत	न० मत	कुछ प्राचीनोंकेमत से अनित्य और तद्भिन्न प्राचीन एव नवीनों केमत से नित्य दोष है।
		नित्य	अनित्य	(क) "निश्चितसाध्य वद्भिन्न वृत्तित्व"	"साध्यवद्भिन्न वृत्तित्वत्वादि	"साध्यवद्भिन्ना वृत्तित्व इत्यादि अन्वयव्याप्ति ज्ञान	एवम्	पर्वतो वन्हिमान् प्रमेयत्वात् (दोनों के मत से)	एवम्	
साधारणत्व वा साधारण	विरुद्ध, समानाधि०	"	"	"	"	"	"	"	"	✺

ख	असाधारणत्व (व्यभि-चार) वा असाधारण (सव्यभिचार)	१	(न. मत) नित्य	(प्रा॰ मत) = अनित्य	प्रा॰ मत पक्षमात्र वृत्तित्वत्व	(न. मत) हेतुनिष्ठ साध्य व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व	साध्यसामानाधिकरण्य घटित व्याप्ति ज्ञान	पक्षः साध्यवत् इत्याकारक ज्ञान	शब्दःअनित्यः शब्दत्वात्	पर्वतोवन्हिमान् जलात्
(ग)	अनुपसंहारित्व(व्यभिचार) वा अनुपसंहारी सव्यभिचारी)	"	(न. मत) नित्य	(प्रा॰ मत) = अनित्य	(१) साध्यसन्देहविषय-विश्वकत्व(२)साध्यएवं हेतुनिष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्वत्व	एवम्	साध्य सामानाधि-करण्य ज्ञान	व्यतिरेक ज्ञान	सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात् दोनों के मतों से	एवम्
२	विरोध या विरुद्ध	"	"	"	अनवगतसाध्यसहचारत्वे सति अवगत साध्या-भाव सहचारकत्व	हेतुनिष्ठ साध्या सामानाधिकरण्य	व्याप्ति ज्ञान	साध्यसामाना-धिकरण्य ज्ञान	अयं गौः अश्वत्वात् (दोनों के मतों से)	एवम्
३	असिद्धि वा असिद्ध	(३ भेद) (क)आश्रयासिद्धि (ख)स्वरूपासिद्धि (ग)व्याप्यत्वासि.			परामर्श प्रतिबन्धक यथार्थ ज्ञान विषयक	एवम्				
(क)	आश्रयासिद्धि आश्रया सिद्ध				पक्षनिष्ठ पक्षतावच्छेदकाभावत्व	"	पक्ष में पक्षतावच्छेदक ज्ञान चाहे अनुमित्यात्मक हो या परामर्शात्मक	एवम्	काञ्चनमय पर्वतो वन्हिमान् धूमात्	एवम्
(ख)	स्वरूपा सिद्धिवा स्वरूपा सिद्ध	दो भेद ख-भागासिद्धि ख-तद्भिन्नस्वरूपासिद्धि(सम्पूर्णासि.)			(ख) पक्षनिष्ठहेत्वभावत्व	"	पक्ष में हेतुका ज्ञान	"	हृदोवन्हिमान् धूमात्	"
ख २ १	भागासिद्धि तदन्यस्वरूपा सिद्धि	"			१ पक्षैकदेशनिष्ठहेत्वभावत्व २ सकलपक्षनिष्ठहेत्वभावत्व		ख-१ पक्षमें हेतुका ज्ञान ख-२ "		ख-नरोधार्मिक १-विद्यावत्त्वात् २-हृदोद्रव्यं धू.	

ग	व्याप्यत्वासिद्धि वा व्याप्यत्वासिद्ध	३ भेद ग-साध्याप्रसिद्धि ग-साधनाप्रसिद्धि ग-व्यात्यभाववत् हेतु	ग-नित्य ग-१ " ग-२ " ग-३ "	(प्रा॰. मत) = अनित्य	साध्यव्याप्यतानवच्छेदक हेतु १ साध्यनिष्ठसाध्यतावच्छेदकाभावत्व २हेतुनिष्ठ हेतुतावच्छेदकाभावत्व ३ हेतुनिष्ठव्याप्यत्यभावत्व		ग-१साध्य में साध्यतावच्छेदक का ज्ञान ग-२ हेतु में हेतुतावच्छेदक ज्ञान ग-३ हेतु में व्याप्ति ज्ञान	१-पर्वत:काञ्चनमयवन्हि॰ धू॰ २-पर्वतोवन्हिमान् को॰ धू॰ ३-" "नील धूमात्	
४	सत्प्रतिपक्षत्वं वा सत्प्रतिपक्ष	१	नित्य नवीन	अनित्य (प्राचीन)	साध्यविरोधि साधक परामर्शकालीनसाध्य-साधकपरामर्श विषयत्व	पक्षनिष्ठ साध्याभाव व्याप्यवत्व	पक्ष में साध्य का ज्ञान पक्ष में साध्य का ज्ञान	पर्वतो वन्हि-मान् धूमात्	ह्रदोवन्हि-धूमात्
५	कालात्ययापदिष्टत्व (घि) वा कालात्ययापदिष्ट (बाधित)	"	"	"	पक्षनिष्ठ साध्याभावत्व		पक्ष में साध्य का ज्ञान	उत्पत्तिकालीन घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्	

गवये गो सादृश्य ज्ञानम् = उपमानम्

उपमान खण्ड चित्र

चि०न० ५३

का० न० ७९, ८० में मुक्तावली।

उपमितिः—गवयो गवय पद वाच्यः इत्याकारक गवयादि पद, शक्ति ज्ञान

करण	व्यापार (करण का)	सहकारी करण
(गवयादि में जो सादृश्य ज्ञान)	("गो सदृशो गवय पद वाच्यः) इत्यादि अतिदेश वाक्यार्थ स्मरण)	(मन)

शब्दखण्ड चित्र

चि०न० ५४

कारिका न० ८१—में मुक्तावली

शाब्दबोध

करण	व्यापार (कारण का)	सहकारी करण	कारण
पद ज्ञान है न कि ज्ञाय मानपद	(पदजन्य पदार्थो पस्थिति	पदतदर्थों का सम्बन्ध विशेषरूप जो शक्ति है उसका ज्ञान सहकारी कारण है आत्म मनः संयोग	१ आसति ज्ञान २ योग्यता ज्ञान ३ तात्पर्य्य ज्ञान ४ आकांक्षा ज्ञान

शक्ति ग्रह के भेद	लक्षण का बीज	लक्षण का स्वरूप शक्य सम्बन्ध	लक्षण के भेद

शक्तिग्रह प्रभेद

- १ व्याकरण (भूसत्तायाम् इत्यादि)
- २ उपमान (गोसदृशो गवय:)
- ३ कोष (शीतंगुणेतद्वदर्था: सुषीम: शिशिरोजड़ इत्यादि)
- ४ आप्तवाक्य (कोकिल:पिक:)
- ५ वृद्धव्यवहार (घटमानय इत्यादि)
- ६ वाक्यशेष (वसंते सर्वस-स्यानामित्यादि)
- ७ विवरण (पचतिपाकं करोति)
- ८ प्रसिद्ध पदसान्निध्य (इहसहकारतरौ पिको मधुरं रौति)

टि॰ पद की शक्ति अर्थ में है न कि वाक्य की तथा समास की—अन्वयानुपपत्ति में लक्षणा बीज मूल ही में खण्डित है।

लक्षण/प्रभेद

- (१) जहत् स्वार्था॰ उ॰ गङ्गायां घोष:
- (२) अजहत् स्वार्था॰ काकेभ्यो दधि रक्षताम्
- (३) निरुढ़ा॰ नीलोघट:
- (४) आधुनिकी॰ वह्निना सिञ्चति
- (५) गौण॰ गोर्वाहीक:

टि॰ १ बहुब्रीहि में उत्तरपद की लक्षणा होती है पूर्वपद तात्पर्य्य ग्राहक है तत्पुरुष में पूर्वपद की लक्षणा होती है क्वचित् उत्तर पद की

२ समाहार द्वन्द और कर्मधारय में लक्षणा नहीं है।

विषयता स्कन्ध।

विशेष्य विशेषण भाव :–

शब्द के शब्द में, अर्थ के अर्थ में, शब्द के अर्थ में अर्थ के शब्द में विशेष्य विशेषण भाव रहता है।

अवच्छेद्यावच्छेदक भाव :–संसर्गतारूप विषयता अवच्छिन्ना ही होती है निर्विकल्पक ज्ञानीय विषयता निरवच्छिन्ना ही होती है। तद्‌भिन्न सावच्छिन्ना निरवच्छिन्ना दोनों होती है विषयतादियों के अधि करण में जो विशेषण वह विषयतादियों का अवच्छेदक होता है (अर्थात् स्वाधिकरण का जो विशेषण हो वह स्वावच्छेदक होता है)। यथा घटवद् भूतलम् यहाँ घटनिष्ठ प्रकारता का अधिकरण जो घट उसमें घटत्व विशेषण है। इसलिये घटनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदक घटत्व हुआ।

येन सम्बन्धेन प्रकार विशेष्य मे ज्ञात होता है वह सम्बन्ध भी प्रकारता का अवच्छेदक होता है। यथा "घटवद्‌भूतलम्" इस स्थल मे घट (प्रकार) संयोग सम्बन्ध से "विशेष्य" भूतल में ज्ञात होता है। इसलिये घटनिष्ठ प्रकारता का अवच्छेदकसंयोग सम्बन्ध भी हुआ।

जो जिसका अवच्छेदक होता है उससे वह अवच्छिन्न (अवच्छेद्य) होता है। यथा "घटवद् भूतलम्" इत्याकारक ज्ञानीय घटनिष्ठ प्रकारता का संयोग सम्बन्ध और घटत्व रूप धर्म अवच्छेदक हुआ। इसलिये वह प्रकारता संयोग सम्बन्धावच्छिन्ना और घटत्व रूप धर्मावच्छिन्ना है।

तदवच्छिन्न (तद्धर्मावच्छिन्न) शब्द का

(१) तन्निष्ठावच्छेदकता निरूपक अर्थ मे और

(२) तदाश्रयरूप अर्थ मे भी प्रयोग होता है।

यथा (१) घटनिष्ठ प्रकारताको घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपक होने के कारण घटनिष्ठ प्रकारता घटत्वावच्छिन्ना है।

(२) एवं घट का घटत्वाश्रय होने के कारण घट भी घटत्वावच्छिन्न होता है। अवच्छिन्न शब्द का प्रयोग इसके अतिरिक्त भी अनेक अर्थो मे होता है। यथा मूलावच्छिन्नो वृक्षः, मूलावच्छिन्नः समवायः, पर्वतत्वावच्छिन्नो वह्निः, वीणावच्छिन्नः शब्दः एतत्कालावच्छिन्नो घटः इत्यादि।

अवच्छेद्याऽवच्छेदक भाव।

* जाति और अखण्डोपाधि से भिन्न पदार्थों का अनुल्लेख रहने पर भी तद्‌गत विषयता निरवच्छिन्न नहीं होती है। और जाति एवं अखण्डोपाधि का उल्लेख रहने पर तद्‌गत विषयता सावच्छिन्ना एवं अनुल्लेख रहने पर निरवच्छिन्ना होती है।

निरूप्य निरूपक भाव :– जिसका जो निरूपक होता है वह उससे निरूपित होता है। यथा ज्ञान विषयता का निरूपक है इसलिये विषयता ज्ञान से निरूपित होती है। कितने को परस्पर निरूप्य निरूपक भाव भी होता है। यथा प्रकारता, विशेष्यता इन दोनों मे विशेष्यता निरूपित प्रकारता और प्रकारता निरूपित विशेष्यता अतएव प्रकारता निरूपक विशेष्यता और विशेष्यता निरूपक प्रकारता होती है।

(१) + किसी के मत में संसर्गता ही के साथ प्रकारता विशेष्यता को निरूप्य निरूपक भाव होता है। आपस में साक्षात् नहीं।

(२) * जाति अखण्डोपाधि से भिन्न पदार्थों का भी स्वरूपत: भान होता है। यह नवीन नैयायिक लोग मानते हैं।

+ धर्मनिष्ठ अवच्छेदकता सम्बन्धावच्छिन्ना होती है और सम्बन्धनिष्ठ अवच्छेदकता सम्बन्धानवच्छिन्ना होती है जो संसर्गता कहलाती है।

विषयता चित्र।

- ज्ञानीयविषयता
  - घटघटत्वे इत्याद्याकारक निर्विकल्पक ज्ञानीय विषयता
  - घट इत्याद्याकारक सविकल्पक ज्ञानीय विषयता
    - (१) विशेष्यता (२) प्रकारता (३) उद्देश्यता (४) विधेयता (५) संसर्गता
- इच्छीयविषयता
  - सविकल्पक ज्ञानवत्
- यत्नीयविषयता
  - सविकल्पक ज्ञान से अधिक उपादानता और साध्यतारूप दो विषयतायें मानी जाती है।
- द्वेषीयविषयता
  - सविकल्पक ज्ञानवत्
- भावनीयविषयता
  - सविकल्पक ज्ञानवत्

शाब्द बोध।

पहले शब्दका प्रत्यक्ष होता है तब पद, पदार्थ सम्बन्ध रूप शक्ति और लक्षणा इन दोनों में अन्यतर के ग्रह से उपस्थित (धर्म धर्मी सम्बन्ध रूप अर्थ स्मरण) तब शाब्द बोध होता है।

उपस्थिति का उदाहरण (–यथा "घटो नील:" यहाँ घट पद से समवाय सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यताक उपस्थिति शक्तिग्रह से एवं समवाय सम्बन्धावच्छिन्न नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपित नीलाश्रयनिष्ठ विशेष्यताक उपस्थिति निरूढ़ लक्षणा ग्रह से होती है।

इन दोनों उपस्थितियों में घटत्वनिष्ठ प्रकारता एवं नीलाश्रय और घटनिष्ठ विशेष्यताद्वय ये तीनों निरवच्छिन्न हैं।

शाब्द बोधका उदाहरण।

नील प्रकार है, घट विशेष्य है और तादात्म्य सम्बन्ध है तथा च– समवाय सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपिता जो समवाय सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता तादृश विशेष्यता शाली शाब्दबोध होता है।

+ टि० (१) अवच्छेदकता ४ प्रकार की होती है (१) स्वरूप सम्बन्ध रूप (२) अनतिरिक्तवृत्तित्व रूप

(३) अन्यून वृत्तित्वरूप (४) अन्यूनानतिरिक्त वृत्तित्वरूप

(२) यज्ञपति उपाध्याय के मतमे संसर्गता भी सम्बन्धावच्छिन्ना होता है।

एक ज्ञानीय अनन्तराभासमान समानाधिकरणविषयताद्वय को गदाधर के मत से परस्पर अवच्छेद्यावच्छेदक भाव होता है यथा–

"नीलघटवद्भूतलम्" इत्याकारक (शाब्दबोधीय) नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपित जो घटनिष्ठ विशेष्यता सम्बन्धिनिष्ठ विशेष्यता निरूपित जो घटनिष्ठ प्रकारता इन दोनों को एक ज्ञानीय अनन्तराभासमान समानाधिकरण विषयत्वरूप होने के कारण परस्पर अवच्छेद्यावच्छेदक भाव होगा। तव निरुक्त "नील घटवद्भूतलम्" इत्याकारक जो शाब्दबोध है सो तादात्म्यसम्बन्धा

वच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित घटत्वावच्छिन्न जो विशेष्यता तादृश विशेष्यत्वावच्छिन्न जो संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारता तादृश प्रकारता निरूपिता जो सम्बन्धित्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृश विशेष्यत्वावच्छिन्ना जो तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न सम्बन्धित्वावच्छिन्ना प्रकारता तादृश प्रकारता निरूपिता जो भूतलत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृश विशेष्यत्वा निरूपक है।

एक ज्ञानीय अनन्तराभासमान समानाधिकरण विषयताद्वय को जगदीश के मत से अभेद होता है यथा:– "नीलघटवद्‌भूतलम्" इत्याकारक ज्ञानीय (नीलनिष्ठ प्रकारता निरूपित घटनिष्ठ विशेष्यता एवं (सम्बन्धिनिष्ठ विशेष्यता निरूपित घटनिष्ठ प्रकारता) इन दोनों का एक ज्ञानीय अनन्तराभासमान समानाधिकरण विषयता रूप होने के कारण अभेद होगा। तब निरुक्त जो "नीलघटवद् भूतलम्" इत्याकारक शाब्द बोध है वह तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित जो संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारता तादृश प्रकारता निरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित भूतलत्वा वच्छिन्न विशेष्यता निरूपक ज्ञान है।

चैत्र:स्तोकं पचति –तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न स्तोकत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित पाकत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न, पाकत्वावच्छिन्न, विशेष्यत्वावच्छिन्न, पाकत्वावच्छिन्न अनुकूलत्व सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता निरूपित, कृतित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्न (कृतित्वावच्छिन्न) प्रकारता निरूपित, चैत्रत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपक शाब्द बोध होता है।

शाब्दबोध विस्तार चित्र :–

नीलो घट:।

= [नील:] + तादा॰ स॰ + [घट:]

= [नीलत्व, सम॰ स॰ नील] + तादा॰ स॰ [घटत्व, सम॰ स॰ × घट:]

= [नीलत्व, (अव,) सम॰ स॰ + नील (प्रकार)] + तादा॰ स॰ + [घटत्व, (अव) + सम॰ स॰ + घट विशेष्यक]

अवच्छेदकता प्रकारता अवच्छेदकता विशेष्यता

= [नीलत्व, (अव,) सम॰ स॰ + नील (प्रकार)] + तादा॰ स॰ + [घटत्व (अव) + सम॰ स॰ + घट (विशेष्य)

हेत्वाभासचित्र

क्रम संख्या	हेत्वाभास के नाम और अवान्तर भेद	स्थल, जहाँ हेतु दुष्ट होता है	दोषस्वरूप, जिसका ज्ञान प्रतिबन्धक होता है	प्रतिवध्यज्ञान
१ अनैकान्तिक	(क) साधारण	पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्	हेतुनिष्ठ विपक्ष वृत्तित्व	अन्वयव्याप्तिज्ञान
	(ख) असाधारण	शब्दोनित्य: शब्दत्वात्	हेतुनिष्ठ सपक्षव्यावृत्तत्व	साध्यसामानाधिकरण्यज्ञान
	(ग) अनुपसंहारी	सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्	हेतुनिष्ठ अत्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यकत्वादि	व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान
२	**विरुद्ध**	अयं गौररवत्वात्	हेतुनिष्ठ साध्यासामानाधिकरण्य	साध्य सामानाधिकरण्यज्ञान
३ असिद्ध	(क) आश्रयसिद्ध	काञ्चनमय: पर्वतो वह्निमान् धूमात्	पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्ष	अनुमिति और पक्षधर्मताज्ञान
	(ख-१) स्वरूपासिद्ध	ह्रदो द्रव्यं धूमात्	हेत्वभाववत्पक्ष	पक्ष धर्मताज्ञान
	(ख-२) भागासिद्ध	द्रव्यं गुणवत् पृथिवीत्वात्	पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन हेत्वभाववत्पक्ष	पक्ष धर्मताज्ञान
	(ग-१) व्याप्यत्वासिद्ध	पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्	व्याप्त्यभाववद्धेतु	व्याप्तिज्ञान
	(ग-२) साध्याप्रसिद्ध	पर्वत: काञ्चनमयवह्निमान् धूमात्	साध्यतावच्छेदकाभाववत्साध्य	अनुमिति और व्याप्तिज्ञान
	(ग-३) साधनाप्रसिद्ध	पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमयधूमात्	हेतुतावच्छेदकाभाववद्धेतु	पक्षधर्मताज्ञान
४	**● सत्प्रतिप्रक्ष**	ह्रदो वह्निमान् धूमात्	साध्याभावव्याप्यवत्पक्ष	अनुमिति
५	**कालाव्ययापदिष्ट (बाधित)**	ह्रदोवह्निमान् धूमात्	साध्याभाववत्पक्ष	अनुमिति

● परस्पर विरुद्ध साध्यतदभावोभय परामर्श दशामें दोनों हेतुओंमें सत्प्रतिपक्षितत्व व्यवहार होता है।

अथ व्याप्तेर्लक्षणं तद्दोषाश्च संक्षोपतोनिर्दिश्यन्ते।	
लक्षणम्	दोष:
साध्यवदन्यावृत्तित्वं (साध्यतावच्छेदकनिष्ठावच्छेदकतानिरूपित साध्य निष्ठावच्छेदकताक प्रतियोगिताक भेदवदन्यावृत्तित्वम् व्याप्ति:	वह्निमान् धूमादित्यत्राव्याप्ति:
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन य: साध्यवान् तदन्यावृत्तित्वं (साध्यतावच्छेदकनिष्ठावच्छेदकता निरूपित साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न साध्यनिष्ठावच्छेदकताक प्रतियोगिताक भेद वदन्यावृत्तित्वम्) व्याप्ति:	" "
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवदवृत्तित्वम् व्याप्ति:	"
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवन्निरूपित हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न वृत्तित्वाभावो व्याप्ति:	धूमवान् वह्नेरित्यत्रातिव्याप्ति:
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवन्निरूपित हेतुतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावो व्याप्ति:	द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वे सति सत्त्वादित्यत्राव्याप्ति:
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवन्निरूपित हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न वृत्तितावच्छेदकतावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावद्धेतुतावच्छेदकं व्याप्ति:	ज्ञेयत्ववान् वाच्यत्वात् "सत्ता वान् जाते:" इत्यादाव्याप्ति:
अथ सिद्धान्त लक्षणम् हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगिभिन्न साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	वह्निमान् धूमादित्यत्र गुणवानृद्रव्यत्वादित्यत्र चाव्याप्ति:
हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकभिन्न साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	रूपत्वव्याप्य जातिमत्वान् रूपादित्यत्राव्याप्ति:
[नानासाध्यतावच्छेदकस्थले] हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितावच्छेदकता नवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकतावच्छेदकावच्छिन्नावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	द्रव्यंगुणकर्मान्यत्वे सति सत्त्वादित्यत्राव्याप्ति:
हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरण वृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्ति: (मतमिदंकेषञ्चित्। अत्र सामाधानान्तरं मूलग्रन्थादवसेयम्)	वह्निमान् धूमादित्यत्राव्याप्ति:
हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरण वृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्राव्याप्ति:
हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरणवृत्ति प्रतियोगिव्यधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	"

लक्षणस्वरूपम्	दोष:
हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नाधिकरण वृत्ति प्रतियोग्यधिकरणा वृत्त्यभाव प्रतियोगितानवच्छेदक- साध्यतावच्छेदका-वच्छिन्नसामानाधिकरण्यं	संयोगी सत्वादित्यत्रातिव्याप्ति:
(१) स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावान् जातेरित्यत्राति-व्याप्ति:
स्वप्रतियोगितानवच्छेदकावच्छिन्ना नधिकरणीभूत हेत्वधिकरणवृत्त्यभाव प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	ज्ञानवान् सत्त्वादित्यात्राति व्याप्ति:
स्वप्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न स्वप्रतियोगितानवच्छेदका-वच्छिन्नाधिकरणत्वाभाववद्धेत्वधिकरण वृत्त्यभाव प्रतियोगितान-वच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	वह्निमान् धूमादित्यत्राव्याप्ति:।
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचिदनधिकरणे हेत्वधिकरणे वर्तमानो योऽभावस्तदीयप्रति-योगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:।	कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्राव्याप्ति:।
साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न सामान्यानधिकरण हेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदक साध्य-तावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	असम्भव:, धूमाभाववान् वह्न्यभावादित्य-त्राव्याप्तिर्वा।
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धा वच्छिन्न यत्किञ्चित् प्रतियोगिता वच्छेदका वच्छिन्नसामान्यानधिकरण हेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वादित्यत्राव्याप्ति:।
साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नंयादृश प्रतियोगितावच्छेदका वच्छिन्नानधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्य तादृश प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:	कालोघटवान् कालपरिमाणादित्राव्याप्ति: (एतद्दोष वारणायोपायान्तरं मूलेस्पष्टम्)
प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता वच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणीभूतहेत्वधिकरण वृत्त्यभाव प्रतियोगिता सामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभाव: तद्धर्मावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:।	प्रमेयवह्निमान् धूमादित्यत्राव्याप्तिर्यद्यप्यत्रापिलक्षणे तथापि गुरुधर्मस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व-स्वीकारात्सा वारणीया।

(१) हेत्वधिकरण परिष्कार: पूर्वोक्तोऽत्राप्यतिदेशनीय:।

शाब्दबोध विषयक आचार्य्योंके भिन्न-भिन्न तरीके।

घटवद्भूतलम्।

साधारण रूप (अनुलोम)

संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित भूतलत्वावच्छिन्न (भूतलनिष्ठ) विशेष्यता निरूपक जो ज्ञान वह "घटवद्भूतलम्" इत्याकारक ज्ञान है।

साधारण रूप (विलोम)

भूतलत्वावच्छिन्नविशेष्यता निरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न प्रकारत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपक जो ज्ञान वह "घटवद्भूतलम्" इत्याकारक ज्ञान है।

नीलघटवद्भूतलम्।

गदाधर मत (अनुलोम)

तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न संयोगसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित भूतलत्वावच्छिन्न भूतलनिष्ठ विशेष्यता निरूपक जो ज्ञान वह नील घटवद्भूतलम् इत्याकारक ज्ञान है।

गदाधर मत (विलोम)

भूतलत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न प्रकारत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारतात्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपकज्ञान वह नीलघटवद्भूतलम् इत्याकारक ज्ञान है।

जगदीश मत (अनुलोम)

तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित संयोगसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न सम्बन्धित्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित भूतलत्वावच्छिन्न (भूतलनिष्ठ) विशेष्यता निरूपक जो ज्ञान वह नील घटवद्भूतलम् इत्याकारक ज्ञान है।

जगदीश मत (विलोम)

भूतलत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न सम्बन्धित्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित संयोग सम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपक जो ज्ञान वह नील घटवद्भूतलम् इत्याकारक ज्ञान है।

गदाधर मत

नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित तादात्म्यत्वावच्छिन्नसंसर्गता निरूपित घटत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित संयोगत्वावच्छिन्न संसर्गतानिरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्नप्रकारता निरूपित तादात्म्यत्वावच्छिन्न संसर्गता निरूपित भूतलत्वावच्छिन्न विशेष्यतानिरूपक नील घटवद्भूतलम् इत्याकारक ज्ञान है।

जगदीश मत (विलोम)

नीलत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित तादात्म्यत्वावच्छिन्न संसर्गता निरूपित घटत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित संयोगत्वावच्छिन्न संसर्गता निरूपित सम्बन्धित्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित तादात्म्यत्वावच्छिन्न संसर्गता निरूपित भूतलत्वावच्छिन्न विशेष्यता निरूपक नीलघटवद्भूतलम् इत्याकारक ज्ञान है।

अथ न्याय कोष: ॥

अ ।

अखण्डोपाधि:–जातिभिन्नोऽखण्ड: धर्मविशेष:। असमवेतत्वे सत्यनुगतत्वम्।

अघटकत्वम्–तद्विषयत्वाव्यापकविषयताकत्वम्।

अति व्याप्ति:–लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वम् यथा गो: शृङ्गित्वं लक्षणम्, लक्ष्यगोवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यमहिष्यादिवृत्ति:। लक्ष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्ये सति लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेद सामानाधिकरण्यम्।

अधिकरणत्वम्–यथार्थविशिष्टधीविशेष्यत्वम् विषयताविशेष इति केचन।

अनतिरिक्तवृत्तित्वम्–स्वान्यूनवृत्तितत्कत्वम्।

अनवस्था–(अनवस्थिति:)–क्लृप्तवस्तुसजातीयवस्तुपरम्पराकल्पनस्य विरामाभाव:।

अनित्यत्वम्–ध्वंसप्रागभावान्यतरप्रतियोगित्वम्।

अनुमिति:–व्याप्तिज्ञानकरणकं ज्ञानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानम्। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मत्व विषयताशालिनिश्चयत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यताशालिज्ञानम्।

अन्यतमत्वम्–तावद्‌भेदावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवत्त्वम्।

अन्यतरत्वम्–भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम्।

अर्थान्तरम्–प्रकृतानाकांक्षितार्थाभिधानम्, प्रकृतोपयुक्तार्थमुपेक्ष्यासम्वद्धार्थाभिधानम्।

अवच्छिन्नत्वम्–अवच्छेद्यत्वम्–इदमेतद्विशिष्टे एतत्प्रकारकम् इति प्रतीतिसाक्षिक: स्वरूपसम्बन्धविशेष: इदमेतद्विशिष्यकत्वांशे एतत्प्रकारकमितिप्रतीतिसाक्षिको वा।

अवच्छेद:–विशेषणोपाधिना विशेषकारणम्।

अवच्छेदकत्वम्=अनतिरिक्तदेशवृत्तित्वम्। अन्यूनातिरिक्त कालीनविशेषसम्बन्धवत्त्वंवा।

अवच्छेदकत्वम्–प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मत्वम्। अनतिरिक्तवृत्तित्वम् तच्च व्यावर्तकत्वसामानाधिकरण्य स्वनिष्ठावच्छेदकताकत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन यत्किञ्चिद्धर्मविशिष्टत्वम्।

अव्याप्ति:–लक्ष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्

अव्याप्यवृत्तित्वम्–स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् स्व प्रतियोगित्व स्वसामानाधिकरण्यैतदुभयसम्बन्धेनाभाववत्त्वम्।

असम्भव:–लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्।

अखण्डोपाधि:–असमवेतत्वे सत्यनुगतत्वम्।

अख्याति:–स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतभेदैकत्वज्ञानम्

अजहल्लक्षणा–शक्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बद्धार्थाऽन्तरे वृत्ति:, यथा शोणोधावत्तीत्यत्र शोणपदस्य शोणगुणविशिष्टेऽश्वादि द्रव्ये।

अज्ञातत्वम्–प्रमाणजन्य ज्ञानाविषयत्वम्।

अज्ञाननिग्रहस्थानम्–परिषदा विज्ञातस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि वाक्यार्थस्याबोध:।

अणुत्वम्–सूक्ष्मपदार्थत्वे सत्यारम्भकत्वम्।

अतिदेश:–स्वविषयमुल्लङ्घ्यान्यविषये उपदेश:। एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्ध:।

अतिप्रसंग:–यस्य बोधो यत्राभिमतस्तत्र तदन्यस्यापि बोधप्रसंग:। प्रस्तुतविषयादन्यत्र प्रसक्तिर्वा।

अतीन्द्रियत्वम्–लौकिकसाक्षात्कार विषयगुणत्वन्यूनवृत्ति संस्कारत्वान्यधर्मसमवाय्यन्यगुणत्वम्।

अत्यन्तनिवृत्ति:–कारणसहितकार्य्यनिवृत्ति:।

अत्यन्ताभाव:–त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽभाव: यथा भूतले घटो नास्ति।

अद्वैतत्वम्–सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वम्।

अधिकरणम्–साक्षात्परम्परया वा क्रियाश्रय: ।

अधिगम:–प्राप्ति:।

अधिकारी–मुख्यगौणप्रयोजनप्राप्तिकामी।

अध्यात्मशास्त्रं–आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रम्।

अनादित्वम्–उत्पत्तिरहितत्वम्।

अनिर्वचनीयख्याति: – सदसदादिप्रकारैरनिर्वाच्यस्यैवाध्यस्तपदार्थस्य भानम्।

अनुगतत्वम्–एकत्वे सत्यनेकवृत्तित्वम्।

अनुपलब्धिप्रमाणम्–योग्यत्वे सत्यनुपलम्भोऽभावप्रमाकरणम्।

अनुमानप्रमाणम्–योग्यत्वे सत्यनुपलम्भोऽभावप्रमाकरणम्।

अनुमानप्रमाणम्–अनुमितिप्रमाकरणम्।

अनुयोगी–यस्मिन्नभाव:, यस्मिन् संबंध:, यस्मिन् सादृश्यम् वास्ति स: विशिष्टप्रतीतिविषयविशेष:।

अनुव्यवसायत्वम्–ज्ञान विषयक ज्ञानत्वम्।

अनेकत्वम्–अपेक्षाबोध विषयत्वम्। एकत्व भिन्नसंख्याविशिष्टत्वं वा।

अन्यतरकर्मजसंयोग:–क्रियाऽभाववत्समवेतत्वे सति

क्रिया- वत्समवेत: संयोग:।

अन्यथाख्याति:–अन्याकारज्ञानस्यालम्बनम्। तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानं वेति भाट्टवैशेषिका:।

अन्यथासिद्धत्वम्–स्वकारणकारणत्वम् लघुसमनियतपूर्ववर्तिन: कार्यसम्भवे तद्भिन्नत्वम्।

अन्वय:–स्वसत्तानियतसत्तावत्कार्य्यसम्बन्ध:। यत्सत्त्वे यत्सत्त्वम्।

अन्वयदृष्टांत:–साध्यव्याप्तिसाधनं यत्र प्रदर्श्यते स:।

अन्वयव्यभिचार:–कारणसत्त्वे कार्याभाव:। स्वाधिकरण वृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगिकार्यकत्वम्।

अन्वयव्याप्ति: – हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रति-योगिसाध्यसामानाधिकरण्यम्।

अन्वयसहचार:–कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वम्।

अपरत्वम्–अपरव्यवहारासाधारणकारणम्।

अपरसामान्यत्वम्–न्यूनदेशवृत्तिजातित्वम्।

अपसिद्धान्तनिग्रहस्थानम्–एकसिद्धान्तमतमाश्रित्य कथाप्रवृत्तौ तद्विरुद्ध सिद्धान्तमतमालम्व्योत्तरदानम्।

अपूर्वम्–वैध निषिद्धक्रियाजन्ययो: कालान्तर भाविनो:-सुखदु:खयो र्हेतुभूते पुण्य-पापे।

अपेक्षा–कार्यनिमित्तयोरन्योन्याभिसम्बन्ध:।

अपेक्षाबुद्धि:–विनाशकविनाशप्रतियोगिनी बुद्धि:. अनेकैकत्वविषयिणी बुद्धिर्वा।

अपोह:–शिष्यस्य मिथ्याग्रहणायाकरणसामर्थ्यम्।

अपौरुषेयत्वम्–वाक्यार्थज्ञानापेक्षोच्चारणकमात्रवृत्त्यानु पूर्वाशून्यत्वम्,

अप्रमात्वं–अप्रामाण्यं–दोषसहकृतं ज्ञानसामग्रीजन्य-त्वम्। तदभाववति तत्प्रकारकत्वम्।

अबाध्यत्वम्–त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वम्।

अभाव:–निषेधमुखप्रतीतिविषय:।

अभावप्रमा–योग्यानुपलब्धिकरणिका प्रमा यथा घटाद्य-नुपलब्ध्या घटाभावप्रमा भूतले जायते।

अभिज्ञाप्रत्यक्षम्–इदन्तामात्रावगाहिज्ञानम् विषय सम्बद्धेन्द्रियजन्यं ज्ञानम्। यथाऽयं घटोऽयं पट इत्यादि।

अभिधानत्वम्–अन्वयबोधफलकशब्दप्रयोगत्वम्

अभिधेयविधित्वम्–कृतिसाध्यत्वेसतीष्ट साधनत्वम्

अभिन्नत्वम्–भेदानधिकरणत्वम्।

अभिभव:–वलवत्सजातीयसम्बन्धकृतमग्रहणम्। वल-वत् सजातीय तिरस्करणम्।

अभिव्यञ्जकत्वम्–अस्ति व्यवहारजनकत्वम्।

अभ्युपगमवाद:–वादिवलनिरीक्षणार्थमनिष्टस्वीकरणम्।

अयुतसिद्धत्वम्–असम्बद्धयोरविद्यमानत्वम्।

अरणि:–घर्षणद्वाराग्निजनककाष्ठम्।

अलीकम्–तादृशप्रतियोगिताविशिष्टत्वे सत्यप्रतीय मानम्।

अवच्छिन्नत्वम्–तत्तत्पदार्थ विशिष्टत्वम्।

अवधानत्वम्–विषयान्तरसञ्चाराभाववत्वम्।

अवधारणत्वम्–एकाकारावगाहिज्ञानत्वम्। अन्ययोग व्यवच्छेदकत्वम्।

अवयव:–समुदायांशरूप:। अवच्छिन्नपरिमाणवान्।

अवयवित्वम्–कार्यद्रव्यत्वम् अवयवजन्यद्रव्यत्वं वा

अवगीतत्वम्–वलवदनिष्ठाननुबन्धित्वम्।

अव्यभिचरितत्वम्–साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावा प्रतियोगित्वम्। साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा।

अव्याप्ति:–लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम् यथा गो: कपिलत्वं लक्षणम् श्वेतगवादौ लक्ष्यैकदेशेऽवृत्तिलक्ष्यता–वच्छेदक समानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वम्।

असमवायिकारणम्–समवायेन कार्याधिकरणेसमवाय स्वसमवायि समवेतत्वान्यतरसम्बन्धेन सम्बद्धं कारणम्।

असाधारणकारणत्वम्–कार्य (त्वातिरिक्त धर्मावच्छिन्न कार्यता निरूपित कारणता शालित्वम्) तावच्छेदकावच्छिन्न कार्यानुत्पादकत्वेसति कार्यविशेषोत्पादकत्वम्।

असाधारणत्वम्–तद्वृत्तित्वे सति तदितरावृत्तित्वम् लक्ष्यतावच्छेदक व्यापकत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदक व्याप्यत्वम्।

अहंकार:–अभिमानात्मिकान्त: करणवृत्ति:।

आ

आकांक्षा–स्वरूपयोग्यत्वे सति अजनितान्वयबोधजन कत्वम्। यत्पदस्य, यत्पदाभाव प्रयुक्तमन्वयबोधाजनकत्वं तत्पद समभिव्याहततत्पदत्वम्।

आक्षेप:–प्रतिषेधपुरस्सरोक्ति:।

आख्यातत्वम्–सुब्भिन्नत्वेसति संख्याबोधकप्रत्ययत्वम्।

आख्यानम्–पूर्ववत् कथनम् स्वयंदृष्टार्थकथनं वा

आचार्य:–मतप्रस्थापक: मन्त्रव्याख्याकृद्वा। आचिनोतिच शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि, स्वयमप्याचरेद्यस्तु स आचार्य इतिस्मृत:।।

आत्मा–ज्ञानाधिकरणम् १ अमूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरजाति-मत्त्वं वेति तार्किका:।

१ आत्माश्रयत्वम्–स्वग्रहणसापेक्षग्रहकत्वम् १ सा-पेक्षापादकप्रसंगत्वम्।

आदि:–परस्मिन्सति यस्मात्पूर्वोनास्ति स: समुदाय-विशिष्टत्वम् आदित्वम् वै॰ स्वघटकत्वस्वघटकोत्तरत्वा-

भाववत्त्व स्वघटकपूर्वत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन।

आधेयता–आधेयमित्याकारक प्रतीतिनियामक धर्म-विशेषः।

आपत्तिः–सम्यग्वर्त्तनोपायानुपलम्भः।

आपातत्वम्–संशयादिग्रस्तत्वम् १ अविचारितवाक्य-जन्यत्वं वा २ अज्ञान निवृत्तावसमर्थज्ञानमापातज्ञानम्।

अप्रामाण्यम्–शंकास्पदज्ञानत्वम्।

आप्तत्वम्–प्रयोगहेतुभूतयथार्थज्ञानत्वम् १लोकवेद साधारणप्रतारणाद्यजन्यहिताहितोपदेशकर्तृत्वे सति तद्भिन्नो-पदेशाकर्तृत्वम्।

आरादुपकारकम्–द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म।

आरोपः–अतद्वति तत्प्रकारकं बाधज्ञानकालीनज्ञानम्।

आलयविज्ञानम्–आलयं, लयपर्यन्त स्थायिविज्ञानम्।

आश्रयासिद्धत्वम्–पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकत्वम्।

आसक्तिः–विषयान्तर परिहारेणैकविषयावलम्बनम्।

आसत्तिः–यत्पदार्थेन सह यत्पदार्थस्यान्वयोपेक्षितस्तयोः-पदयोरव्यवधानम्। शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेनाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिर्वा।

आहार्यम्–स्वविरोधिधर्म धर्मितावच्छेदकत्वप्रकारकं ज्ञानम्।

आहार्यज्ञानम्–बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानं यथा माणवके प्रेम्णा चिन्तामणिबुद्धिः।

उ

उपचारः–शक्यार्थत्यागेनान्यार्थबोधनम् अनियतसम्बन्धे नान्यत्र वृत्तिः यथा मञ्चाःक्रोशन्ति इत्यादौ पुरुषैः सभं मञ्चसम्बन्धोऽनियतः।

उपलक्षणत्वम्–स्वप्रतिपादकत्वेसति स्वेतरप्रतिपादकत्वम् १ स्वार्थबोधकत्वेसति इतरार्थबोधकत्वम् २ कादाचित्कत्वे सति व्यावर्त्तकत्वम् यथा काकादिकं देवदत्तगृहादेः।

उपायः–साक्षात्परम्परया वा यत्किंचित्कार्यजनने समर्थः।

उपलक्षितत्वम्–स्वसमानाधिकरणस्वेतरकालीन स्वप्रति-योगिकाभाववत्त्वसम्बन्धेन स्वसम्बन्धित्वम्

उपसर्जनत्वम्–स्वार्थविशिष्टयर्थान्तरबोधकत्वम् १ अन्य पदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित प्रकारताप्रयोजकत्वम्।

उपसंहारः–विस्तरेण ।नरूपितस्य पदार्थस्य सारांशकथनेन तन्निरूपणसमापनम् १ ग्रन्थ तात्पर्यावधारकलिंगविशेषः ।२।

उपलक्षणत्वम्–विवक्षितान्वय प्रतियोगितानवच्छेदक-त्वे सति व्यवच्छेदकत्वम्।

एकत्वम्–स्वसजातीयनिष्ठ भेदप्रतियोगितानवच्छेद-कैकत्वम्।

एकैकवृत्ति गुणत्वम्–स्वाश्रयान्योन्याभावव्यापकात्यन्ता-भावप्रतियोगिगुणत्वम्।

क

कल्पना–अविद्यमानपदार्थस्य अन्यत्रस्थितस्यान्यत्र प्रतिभासरूपो मानसव्यापारः।

कादाचित्कत्वम्–सत्त्वे सति किंचित्कालवृत्त्यभाव प्रतियोगित्वम्।

कुतर्कः–श्रुतिविरोधितर्कः।

केवललक्षणा–शक्यसाक्षात्सम्बन्धः।

केवलव्यतिरेकित्वम्–अन्वयव्याप्ति शून्यत्वे सति व्यतिरेकव्याप्तिमत्त्वम्।

केवलान्वयित्वम्–अत्यन्ता भा(वाप्रतियोगित्वम्) वीय-प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वम् असद्विपक्षत्वम्

कालोपाधिः–क्षणादिना व्यवहारविषयत्वनियामको धर्मः क्रियामात्रं वा ।

क्षणः–निमेषक्रियावच्छिन्नस्य कालस्य चतुर्थोभागः स्वाधेय पदार्थप्रागभावानाधारः समयः।

क्षणिकत्वम् – स्वाधिकरणसमयप्रागभावाधिकरण (नुत्पत्तिकत्वम् १) वृत्तित्वमिति बौद्धाधिकारे २ तृतीय क्षणवृत्तिध्वंस प्रतियोगित्वम् घटादिवारणाय तृतीयक्षणवृत्तीति। ४ क्षणान्तरासम्बन्धित्वे सति क्षणसम्बन्धित्वम्

ख

खण्डप्रलयः–जन्यद्रव्यानधिकरण कालः।

ग

गमकत्वम्–नित्यसाकांक्षत्वम्।

घ

घटकत्वम्–तद्विषयताव्यापकविषयतावत्त्वम्।

घटितत्वम्–तद्विषयिताव्याप्यविषयतावत्त्वम्।

च

चक्षुः–रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियम्।

चरमत्वम्–स्वजातीयपदार्थप्रागभावानधिकरणत्वम् स्वेतरभावकारणानपेक्षकार्यकत्वम्।

चेष्टा–इष्टानिष्टप्राप्ति परिहारानुकूल व्यापारः।

ज

जनकत्वम्–अन्यथासिद्धशून्यसत्वेसति नियतपूर्ववृत्ति-त्वम्।

जल्पः–उभयपक्षस्थापनवती विजिगीषु कथा।

परमतनिराकरणत्वे सति स्वमतस्थापनम्।

जहदजहल्लक्षणा–वाच्यार्थैकदेशत्यागेनैकदेशवृत्तिः।

जहल्लक्षणा–शक्यमात्रपरित्यागेन तत्सम्बन्ध्यर्थान्तरे वृत्तिः। यथा गंगायां घोष इत्यत्र गंगापदस्य तीरे, अजहल्लक्षणायामतिव्याप्तिवारणाय शक्यमात्रपरित्यागेनेति

जात्युत्तरम्–असदुत्तरम्

जीवः–प्राणधारणानुकूलव्यापाराश्रयः (१)सुखादि समवायिकारणम् (२)

जीवनम्–प्राणधारणानुकूलो व्यापारः।

ज्ञानलक्षणसन्निकर्षः–स्वविषयविषयक प्रत्यक्षजनकः

ज्ञानेन्द्रियम्–ज्ञानकरणमिन्द्रियम्।

त

तर्कः–अनिष्टप्रसञ्जकः (१) व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः, यदि पर्वते वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्।

तात्पर्यम्–वक्तुरिच्छा (१) तत्प्रतीतिजननानुकूल वृत्तिमत्त्वम्।

तादात्म्यम्–भेदसहिष्णुवभेदत्वमिति केचित् (१) तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्।

तुल्यत्वम्–स्वभिन्नजातिसमनियतत्वम्।

तुल्यवलविरोधः–अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोर्द्वयो शास्त्रयोरेकत्र युगपत्प्राप्तिः।

द

दार्ष्टान्तिकत्वम्–दृष्टान्तप्रयुक्तत्वम्।

द्वित्वम्–अपेक्षाबुद्धि विशेषविषयत्वम्। (१) अपेक्षाबुद्धि जन्यो गुणविशेषः (२)

देहः–प्रतिक्षणमुपचीयमानावयवः (१) इन्द्रियाश्रयो वा।

द्रवत्वम्–आद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्।

द्रव्यत्वम्–गुणसमवायित्वम्।

नान्तरीयकत्वम्–अन्यनिष्पादक यत्ननिष्पाद्यत्वम्।

नास्तिकः–परलोकाद्यभावप्रतिपादकः (१) वेद निन्दको वा (२)

निरूपणम्–लक्षणप्रमाणस्वरूपाभिधानम्।

निरूपकत्वम्–स्वरूपसम्बन्धविशेषः

निर्विकल्पकम्–संसर्गानवगाहि ज्ञानम् यथा घट घटत्वे इति ज्ञानम्।

नैयायिकः–षोडशपदार्थानुसारिन्यायज्ञः।

नोदनसंयोग–स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगः।

नोदना–क्रियासु प्रवर्तकं वचनम्।

न्यायः–लोकशास्त्रप्रसिद्धदृष्टान्तः १प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् प्रमाणानुग्राहकस्तर्कः।२

न्यायशास्त्रम्–पदार्थानां सर्वेषामनुगमरूपेणप्रकाशको ग्रन्थः।

निरूपितत्वम्–स्वरूपसम्बन्धविशेषः (१)

निर्णयः–तदभावाप्रकारकं तत्प्रकारकं ज्ञानम् (१) विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणम् (२)।

प

पदार्थत्वम्–पद (निष्ठवृत्तिनिरूपकत्वम् १) जन्य ज्ञान विषयत्वम्, (२) द्रव्याद्यन्यतमत्वम्।

परीक्षा–परमतनिराकरणपूर्वकस्वमतस्थापनम्।

परममहत्वम्–अपकर्षानाश्रयपरिमाणत्वम्।

परमाणुः–मूर्तत्वे सतिनिरवयवः (१)। जालसूत्रमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः, तस्य षष्ठितमो भागः परमाणुः स उच्यते।

परसामान्यत्वम्–अधिकदेशवृत्तिजातित्वम्

परामर्शः–व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्।

परार्थानुमानम्–न्यायप्रयोज्यानुमानम्।

परार्थानुमितिः–स्वयंव्याप्याद्व्यापकं प्रतीत्यपरप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुक्तादवयववाक्यात्परस्य व्यापकप्रत्ययः

पौरुषेयत्वम्–प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्यविनिर्मितत्वम् (१) पूर्वानुपूर्व्यनपेक्षपुंविशेषबुद्ध्यधीनानुपूर्वीमत्त्वं वा (२) सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम्।

प्रतितन्त्रसिद्धान्तः–वादिप्रतिवाद्येकतरमात्राभ्युपगत- प्रतिपादनं प्रतिपाद्य मुख्यतः प्रतिज्ञाय पश्चात् तत्सिद्धिहेतु प्रदर्शनम् उपोद्घातवारणाय मुख्यइति, असम्बद्धहेतुव्यावृत्त्यर्थं तत्सिद्धीति।

प्रतियोगी–यस्याभावः यस्यसम्बन्धः यस्य सादृश्यं वा सः ३। धर्मिभिन्नत्वे सति भेदनिरूपकत्वम्।

प्रत्यक्षम्–इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानम्। सन्निकर्षध्वंसवारणाय ज्ञानमिति, अनुमित्यादिवारणायेन्द्रियार्थ सन्निकर्षेति, ज्ञानाकरणकं ज्ञानम्।

प्रत्यक्षप्रमाणम्–प्रत्यक्षप्रमाकरणकम्। प्रमाकरणानुमानादावतिव्याप्तिवारणाय प्रत्यक्षेति, भ्रमप्रत्यक्षकरणेऽतिप्रसंगवारणाय प्रमापदम्।

प्रत्यभिज्ञा–तत्तेदन्तावगाहिज्ञानम् (१) संस्कारेन्द्रिय संप्रयोगोभयजन्यज्ञानम् (२) यथा सोऽयं देवदत्त इति।

प्रध्वंसाभावत्वम्–अविनाशित्वेसति (जन्यत्वम्) प्रतियोगिसमवायिमात्रवृत्यभावत्त्वम्। अन्योन्याभाववारणाय मात्रेति, सामयिकाभावादिवारणाय सत्यन्तम्।

प्रमेयत्वम्–प्रमाविषयत्वम्।

प्रसङ्गसङ्गतित्वम्–उपोद्घातभिन्नत्वेसत्यनन्तराभिधान

प्रयोजक जिज्ञासाजनक ज्ञानविषयत्वम्।

प्रागभावत्वम्–अजन्यत्वे सति विनाशित्वम्। घटादिवारणाय सत्यन्तम्, परमाणुवारणाय विनाशित्वमिति।

प्राणः–शरीरान्तःसञ्चरीवायुः। महावाय्वादावतिव्याप्तिवारणाय विशेषणम्, मनआदिवारणायविशेष्यम्, धनञ्जयवारणायसञ्चारीति।

पुनरुक्तिः–अनुवादान्यत्वे सति निष्प्रयोजनं पुनरभिधानम्।

प्रतियोगितावच्छेदकः–येन रूपेणाभावादेः प्रतियोगिता बोध्यते स धर्मः (१) येन सम्बन्धेनाभावः स सम्बन्धः (२)।

प्रतियोगित्वम्–स्वरूपसम्बन्धविशेषः (१)

प्रतिसन्धानम्–अनुचिन्तनम्।

फलोपधायकत्वम्–कार्याव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्वम् यथा कुलालहस्तस्य दण्डे।

भ

भावनासंस्कारः–जन्यज्ञानजन्यसंस्कारः (१) पूर्वानुभवजन्यः स्मृतिहेतुः (३) आत्मादिवारणाय प्रथमदलम्, अनुभवध्वंशवारणाय द्वितीयदलम्।

भाविकालः, भविष्यत्वम्–सूर्यपरिस्पन्दादिक्रिया प्रागभावावच्छिन्नः कालः (१) वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वम् (२)।

भूतकालः–सूर्यपरिस्पन्दादि क्रियाध्वंसावच्छिन्नः कालः (१) वर्तमानध्वंसप्रतियोगित्वम् (२)

भेदः–पृथक्करणम् (१) अन्योन्याभावो वा।

म

मनः–सुखदुःखादि साक्षात्कारकारणमिन्द्रियम् आत्ममनःसंयोगादि वारणायेन्द्रियमिति, चक्षुरादिवारणाय सुखेति।

महाकाल–अनवच्छिन्नकालः। उपाध्यनवच्छिन्नः कालः।

य

यथार्थज्ञानम्–फलवत्प्रवृत्तिजननयोग्यम्, यथा रजते इदं रजतमितिज्ञानम् (१) दुष्टसामग्रयद्यजन्यं ज्ञानम् (२)

युक्तिः अर्थावधारणम्–(१) स्वपक्षसाधक विपक्ष बाधकप्रमाणोपन्यासः (२)

योग्यानुपलब्धिः–अभावप्रतियोगिसत्त्व प्रसञ्जन प्रसञ्जितोपलब्धिरूप प्रतियोगिकानुपलब्धिः, यथा भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिः सिद्धघटाभावप्रतियोगिनो घटस्य यद्यत्र घटः स्यादिति प्रसञ्जनेन (आपादनेन) तर्ह्युपलभ्येतेति प्रसञ्जितोपलब्धिरूपप्रतियोगिका घटस्यानुपलब्धिस्तस्या भूतले घटाभाव प्रमा जायते।

योगिजशरीरं–शुक्रशोणियोः परस्परमेलनजन्यम्

ल

लक्षणा–बोध्यसम्बन्ध इति थी॰ १ शक्यसम्बन्धः २ द्विविधा केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति शक्यपरम्परा सम्बन्धः लक्षितलक्षणा यथा द्विरेफोऽरौदिति वाक्ये द्विरेफस्य भ्रमरपदे सम्बन्धस्तस्य च मधुकरे।

लक्ष्यम्–वक्तृतात्पर्यविषयत्वे सति शक्यसम्बद्धम् लक्षितुं योग्यम्।

लक्षणम्–यो धर्मो लक्ष्ये व्याप्त्या वर्तते, न वर्तते चान्यः स धर्मः १ लक्षतावच्छेदकसमनियतम् २।

व

वितण्डा–स्वपक्षस्थाप (न हीना विजिगीषुकथा) ना राहित्येन परपक्ष निराकरण वाक्यम्।

वितर्कः–संदेहाद्यनन्तरं जायमान ऊहः।

विनिगमना विरहः–एकतर पक्षपाति युक्तिविरहः।

विपर्ययः–बाध्यमानं ज्ञानम्। अतस्मिंस्तत्प्रत्यः।

विप्रतिपत्तिः–संशयजनकवाक्यम् १ परस्पर विरुद्धार्थ (प्रतिपादकवादि वचनम २) क वाक्यद्वयजन्यप्रतीतिद्वयम् ३।

विभुत्वं–सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्। सर्वदेशवृत्तित्वम्

वृत्तित्वम्–आधेयत्वम्। (क्वचिन्निरूपकता)

वृत्तिः–शक्तिः लक्षणा, कृतद्धितान्तसमासानामन्यतमः

वैयधिकरण्यं–भिन्नविभक्त्यन्तानां पदानां विभिन्नार्थ निष्ठत्वम्।

व्यतिरेकः–यदभावे यदभावः यथा यत्र यत्र सर्वप्राणिहिंसनशीलत्वे सति पशुत्वाकृतिविशिष्टा काचन व्यक्तिर्नभवति तत्र तत्र सिंहप्रत्ययोऽपि न भवति।

व्यतिरेकव्याप्तिः–साध्याभाव (पुरस्सर त्वम्) व्यापको भूताभावप्रतियोगित्वम्।

व्यतिरेक सहचारः–कारणाभावे कार्याभावः।

व्यतिरेक्यनुमानम्–व्यतिरेकव्याप्ति विशिष्टहेतुकानुमानम्।

व्यधिकरणत्वम्–तदधिकरणावृत्तित्वम्।

व्यपदेशः – निमित्तसद्भावाद्विशिष्टोऽपदेशो मुख्योव्यवहारः।

व्यभिचारः–साध्याभाववद्वृत्तित्वम्।

व्यापकत्वम्–अधिकदेशवृत्तित्वम् हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं वा तत्सामानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वम्।

तन्निष्ठाऽन्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वम्।

प्रतियोग्यनधिकरण हेतुमन्निष्ठाभावप्रतियोगिता सामान्ये

यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वं यद्धर्मावच्छिन्नत्वमेतदुभयाभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतु व्यापकत्वम्।

व्याप्तिः–साध्य (साध्या भाववदवृत्तित्वम् १) साधन योर- व्यभिचरितसम्वन्धः २।

व्युपत्तिः – शास्त्रजन्यशब्दार्थज्ञानादिसम्पाद्यसंस्कार विशेषः।

व्यासज्यवृतित्वम्–एकत्वानवच्छिन्न पर्याप्तिकत्वम्

विग्रहः–वृत्यर्थाविबोधकं वाक्यम्। समासादिवृत्ति समानार्थकवाक्यविशेषः।

विनिगमकम्–अन्यतरपक्षपातिनी युक्तिः विनिगमना वा)

विशेषणता–स्वरूपसम्बन्धरूपसन्निकर्षविशेषः प्रकारताख्यो विषयताविशेषः।

वैयधिकरण्यम्–तदनधिकरणवृत्तित्वम् तदधिकरणा-वृत्तित्वम्।

वैशिष्ट्यम्–सम्बन्धः। यस्य यत्र यः सम्बन्धः स एव तत्र तस्य वैशिष्ट्यम्।

व्यभिचारः–साध्याभाववद्वृत्तित्वम्

श

शक्तत्वम्–कार्योत्पादनयोग्यत्वम्। शक्तिमत्वम्।

शरीरत्वम्–भोगावच्छेदकत्वम्।

शाब्दबोधः–एक पदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गविषयकं शक्ति-ज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यं ज्ञानम्।

स

सखण्डोपाधिः–वहु पदार्थघटितो धर्मः

सङ्गतिः–अनन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञान विषयत्वम्।

समवायः–अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः नित्यत्वे सति सम्बन्ध त्वम् आकाशादिवारणाय सम्बन्धत्वमिति संयोग वारणाय सत्यन्तम्।

सविकल्पकम्–वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानम् यथा घटमहं जानामीत्यादि ज्ञानम्। इच्छादिवारणाय ज्ञानमिति निर्विकल्पक वारणाय वैशिष्ट्यावगाहीति।

सहकारित्वम्–स्वभिन्नत्वे सति स्वकारणत्वम्।

साक्षात्सम्बन्धः–यन्निष्ठसंसर्गतायाः प्रतियोग्यनुयोगि विषयता निरूपितत्वमिति हरिनाथ भट्टाचार्यः।

संसर्गता–सम्बन्धनिष्ठविषयता।

सादृश्यम्–तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वम्।

समनियतत्वम्–व्यापकत्वे सति व्याप्यत्वम्

समारब्धत्वम्–वर्तमानकालवृत्तिध्वंसप्रतियोग्याद्यकृति विषयत्वम्।

सामानाधिकरण्यम्–तदधिकरणवृत्तित्वम्।

संशयः–अनवधारणज्ञानम्। १ एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्ध (नानाकोट्यवगाहि ज्ञानम्)

संसर्गाभावः–संसर्ग प्रतियोगिकोऽभावः १ तादात्म्यभिन्न सम्वन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताकोऽभावो वा

स्थूलशरीरं–शुक्रशोणितनिर्मितत्वे सत्यस्थ्यादि समुदायः।

स्मृतिः–उद्भूतसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम् संस्कारध्वंसेऽति व्याप्ति वारणाय ज्ञानमिति, प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्र पदम् अनुभवेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्यमिति असम्भव वारणायोद्भूतेति।]

स्वतोग्राह्यत्वम्–दोषाभावसहकृतयावत्स्वाश्रयग्राहक सामग्री (मात्र) ग्राह्यत्वम्।

सुषुप्तिः–पूरीतता मनःसंयोगः।

स्वरूपयोग्यकारणत्वम्–कारणता विच्छेदकधर्मवत्त्वम् यथा वनस्य दण्डे।

स्वरूपसम्बन्धः–प्रतियोग्यनुयोग्यन्यतरात्मकसम्बन्धः १ सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्ट प्रतीतिजननयोग्यत्वम्।

स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासः–पक्षेऽभाववत्वम्।

स्वारसिक लक्षणा–अधुनातन तात्पर्यविषयीभूतार्थ निष्ठालक्षणा।

स्वार्थानुमानं–न्यायाप्रयोज्यानुमानम्

स्वार्थानुमितिः–स्वस्य व्याप्य प्रतीत्यन्तरं व्यापकप्रत्ययः।

ह

हेत्वाभासत्वम्–अनुमितिकारणीभूताभाव प्रतियोगियथार्थ ज्ञानविषयत्वम्।

इति न्यायकोषः।

अर्थ सार्थ न्याय कारिका:

१ **नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।**
तस्मैकृष्णाय नम: संसार महीरुहस्यवीजाय॥

नवीन मेघवत् कान्तिवाले, तथा गोप युवतियों के वस्त्रों को चुराने वाले संसार के निमित्तकारण जो कृष्ण उन्हें नमस्कार है।

२ **द्रव्यं गुणस्तथाकर्म सामान्यं सविशेषकम्।**
समवायस्तथाऽभाव: पदार्था: सप्तकीर्तिता:॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय अभाव ये सात "पदार्थ" कहे जाते हैं।

३ **क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योम कालदिग्देहिनोमन:।**
द्रव्याण्य(थ गुणारुपं रसोगन्धस्तत: परम्॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये नौ) द्रव्य हैं।। (रूप, रस, गन्ध,

४ **स्पर्श: संख्या परिमिति: पृथक्त्वञ्चतत: परम्।**
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम्॥

स्पर्श, संख्या, परिमिति, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व,

५ **बुद्धि: सुखं दु:खमिच्छाद्वेषोयत्नोगुरुत्वकम्।**
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च॥

बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, यत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, शब्द ये गुण है)

६ **उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।**
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च॥

उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म हैं।

७ **भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेवच।**
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते॥

भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन ये गमन पद से लिये जाते हैं।

८ **सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेवच।**
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते॥

पर और अपर ये दो सामान्य हैं। द्रव्य गुण, कर्म्म में रहने वाली सत्ता पर सामान्य कहलाती है।

९ **परभिन्नाच या जाति: सैवाऽपरतयोच्यते।**
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते॥

पर सामान्य ये भिन्न जाति अपर (व्याप्य) जाति कहलाती है। और द्रव्यत्वादि परापर दोनों जाति कहलाती है।

१० **व्यापकत्वात्परापि स्याद्व्याप्यत्वादपरापिच।**
अन्त्योनित्यद्रव्यवृत्तिविशेष: परिकीर्तित:॥

द्रव्यत्वादि जाति घटत्वापेक्षया व्यापक और सत्तापेक्षया व्याप्य है। अन्त्य व्यावर्तकों के अवसान में रहनेवाला विशेष नित्य द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

११ **घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुण कर्मणो:।**
तेषु जातेश्च सम्बन्ध: समवाय: प्रकीर्तित:॥

घटादि कपालादि में गुण और कर्म्म द्रव्य में जाति-द्रव्य गुणकर्म्म में और विशेष नित्य द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

१२ **अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।**
प्रागभावस्तथाध्वंसोऽप्यत्यन्ताभावएवच॥
अभाव दो प्रकार के हैं, संसर्गाभाव, अन्योन्याभाव, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव के

१३ **एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते**
सप्तानामपि साधर्म्यं ज्ञेयत्वादिकमुच्यते॥
भेद से संसर्गाभाव भी तीन प्रकार का है) सातों पदार्थों का साधर्म्य ज्ञेयत्व, वाच्यत्व, और प्रमेयत्व है।

१४ **द्रव्यादयः पंच भावा अनेके समवायिनः।**
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिर्निगुणक्रियः॥
द्रव्यादि पाँच पदार्थ के (१) अनेकत्वे सति भावत्व (२) समवायित्व। द्रव्य, गुण, कर्म्म, का सत्तावत्त्व और गुणादि छः का निर्गुणत्व एवं निष्क्रियत्व साधर्म्य है।

१५ **सामान्य परिहीनास्तु सर्वेजात्यादयोमता।**
पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्॥
सामान्यादि चार का सामान्य शून्यत्व एवं अणु परिमाण परममहत्परिमाण अतीन्द्रिय सामान्य और विशेष से भिन्न का कारणत्वसाधर्म्य है।

१६ **अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।**
कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्॥
अन्यथा सिद्ध भिन्ननियतपूर्ववर्ती कारण कहलाते हैं। वह तीन प्रकार का है।

१७ **समवायिकारणत्वं ज्ञेयम था य समवायि हेतुत्वम्।**
एवं न्यायनयज्ञै स्तृतीय मुक्तं निमित्तहेतुत्वम्॥
न्यायज्ञों से समवायि असमवायि और तीसरा निमित्त कारण कहा गया है।

१८ **यत्समवेतकार्यं भवतिज्ञेयंतुसमवायि जनकं तत्।**
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परंतृतीयंस्यात्॥
जिसमें समवाय सम्बन्धेन कार्य उत्पन्न हो वह समवायि कारण है। एवं-उसी में समवाय वा स्व समवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से वृत्ती होकर जो कार्य जनक हो वह असमवायि कारण है। इन दोनों से भिन्न निमित्त कारण है।

१९ **येनसह पूर्वभावः कारणमादाय वायस्य अन्यं।**
प्रतिपूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभाव विज्ञानम्॥
(कार्य के प्रति कारण का नियत पूर्व वृत्तित्व जिस रूप से गृहीत हो "जिसका कारणद्वारा ही अन्वय व्यतिरेक हो" जिसमें अन्यत्र पूर्व वृत्तिता ज्ञान होकर हो।

२० **जनकं प्रतिपूर्ववृत्तितामपरिज्ञायनयस्यगृह्यते ।**
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः।
यत्कार्यं जनक के प्रति पूर्व वृत्तिता का ज्ञान होकर ही यत्कार्य के प्रति जिसमें पूर्व वृत्तिता का ज्ञान हो और लघु नियत पूर्व वृत्ति को छोड़कर सभी अन्यथा सिद्ध हैं)

२१ **एवं पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।**
घटादौ दण्ड रूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥

(उक्त पाँच अन्यथा सिद्ध हैं–घटादि कार्य्य के प्रति दण्डत्वादि पहला, दण्ड रूपादि दूसरा।

२२ **तृतीयंतु भवेद्व्योम कुलाल-जनकोऽपरः।**
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥

आकाश तीसरा, कुलाल पिता चौथा और गदहा इत्यादि पाँचमाँ अन्यथा सिद्ध हैं) इन पाँच अन्यथा सिद्धों में पाँचवाँ अन्यथा सिद्ध ही आवश्यक है (पूर्व चार अन्यथा सिद्धों का उसी में समावेश हो जाता है।

२३ **समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।**
गुणकर्ममात्रवृत्तिज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्॥

समवायि कारणत्व द्रव्यमात्र वृत्ति एवं–असमवायि कारणत्व गुण कर्ममात्र वृत्ति है।

२४ **अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते।**
क्षित्यादीनां नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता॥

नित्य द्रव्यों से भिन्न का साधर्म्य द्रव्यत्व और गुणवत्त्व है।

२५ **क्षितिर्जलं तथातेजः पवनो मन एवच।**
परापरत्वं मूर्तत्वं क्रिया वेगाश्रया अमी॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन इनके साधर्म्य परत्व अपरत्व मूर्तत्व क्रियावत्व और वेगवत्व है।

२६ **कालिखात्म दिशांसर्वगतत्वं परमं महत्।**
क्षित्यादिपञ्चभूतानिचत्वारिस्पर्शवन्तिहि॥

आकाशादि चार का सर्वगतत्व तथा परममह- परिमाणवत्व पृथिव्यादि ५ का भूतत्व और पृथिव्यादि ४ का स्पर्शवत्व।

२७ **द्रव्यावरम्भश्चतुर्षुस्याद थाकाशरीरिणाम्।**
अव्याप्यवृत्तिः क्षणिको विशेष गुण इष्यते॥

द्रव्य समवायि कारणत्व तथा आकाश और जीवात्मा का अव्याप्य वृति विशेष गुणवत्त्व और क्षणिक विशेष गुणवत्त्व साधर्म्य हैं।

२८ **रूपद्रवत्वप्रत्यक्षयोगिनः प्रथमास्त्रयः।**
गुरुणो द्वे रसवती द्वयोर्नैं मित्तिको द्रवः॥

पृथ्वी, जल, तेज का रूपवत्व द्रवत्ववत्व प्रत्यक्ष विषयत्व, पृथ्वी जल का गुरुत्व और रसवत्त्व पृथ्वी तेजका नैमित्तिक द्रवत्ववत्व। साधर्म्य है।

२९ **आत्मानो भूतवर्गाश्च विशेष गुणयोगिनः।**
यदुक्तं यस्यसाधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत्॥

आत्मा तथा भूतवर्ग का विशेषगुणवत्त्व साधर्म्य है। जो जिसका साधर्म्य कहा गया है–तद्भिन्न का वह वैधर्म्य है।

३० **स्पर्शादयोऽष्टावेगाख्यःसंस्कारोमरुतोगुणा।**
स्पर्शाद्यष्टौ रूप वेगौ द्रवत्वं तेजसोगुणाः॥

वायु के स्पर्शादि ८ और वेगाख्य संस्कार ये ९ एवं तेज के स्पर्शादि ८, रूप, वेग और नैमित्तकद्रवत्व ये ११ गुण है।

३१ स्पर्शादयाऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वंच द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथास्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥

जल के स्पर्शादि ८, वेग, गुरुत्व, सांसिद्धिकद्रवत्व, रूप, रस, और स्नेह ये १४ गुण है।

३२ स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कंसंख्यादिपञ्चकं भावनातथा॥

स्पर्शादि ८, वेग, गुरुत्व, सांसिद्धिकद्रवत्व रूप, रस, और गन्ध, ये १४ पृथ्वी के गुण है। बुद्ध्यादि छः संख्यादि पाँच तथा भावना

३३ धर्माधमौ गुणाएते आत्मानः स्युश्चतुर्दश।
संख्यादि पञ्चकं कालदिशोः शब्दश्चतेचखे॥

धर्म और अधर्म ये चौदह गुण जीवात्मा के है। संख्यादि पाँच, और काल दिशा के गुण है। संख्यादि पाँच और शब्द ये छः गुण आकाश के हैं।

३४ संख्यादयः पञ्चबुद्धिरिच्छायत्नोऽपिचेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्चवेगश्च मानसे॥

संख्यादि पाँच एवं बुद्धि, इच्छा, और यत्न, ये आठ गुण परमेश्वर के हैं। संख्यादि पाँच परत्व, अपरत्व और वेग ये आठ गुण मन के हैं।

३५ तत्रक्षितिर्गन्धहेतुर्नानारुपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधोमतः॥

नवों द्रव्यों में केवल पृथ्वी गन्ध का समवायिकारण है और नाना रूपवती है। पृथ्वी ही में छः तरह के रस और दोनों तरह के गन्ध (दुर्गन्ध और सुगन्धि) हैं।

३६ स्पर्शस्तस्यास्तु ह्यनुष्णाशीतपाकजः।
नित्यानित्यावसाद्वेधा नित्यास्यादणु लक्षणा॥

पाकज अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व भी पृथ्वी का लक्षण जानना चाहिये।

३७ अनित्यातुतदन्यास्यात्सैवावयवयोगिनी।
साचत्रिधाभवेद्देहमिन्द्रियं विषयस्तथा॥

नित्य तथा अनित्य प्रभेद से पृथ्वी दो प्रकार की है। परमाणु रूप पृथ्वी, नित्य है और उससे भिन्न पृथ्वी अनित्य (कार्यरूपा) है। वही अनित्य पृथ्वी अवयववती है। वह अनित्य पृथिवी शरीर, इन्द्रिय, और विषय भेद से तीन प्रकार की होती है।

३८ योनिजादिभवेद्देह मिन्द्रियं घ्राणलक्षणम्।
विषयोद्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः॥

(क) योनिज और अयोगिज शरीर रूप पृथ्वी है। (ख) घ्राणादि इन्द्रिय रूप पृथ्वी है। (ग) द्व्यणुक से ब्रह्माण्डपर्यन्त विषय रूप पृथिवी है।

३९ वर्णःशुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीत लौ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम्॥

जलमें शुक्ल रूप मधुररस शीतस्पर्श स्नेह (चिकना- पन) और सांसिद्धिक द्रवत्व रहते हैं ऐसा कहा गया है।

४० नित्यतादि प्रथमवत्किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनंसिन्धुर्हिमादिर्विषयो मतः॥

प्रथमवत् (अर्थात् पृथ्वी के समान) जल भी नित्य अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। किन्तु पृथ्वी से जल में इतना ही विशेष है कि जलीय शरीर अयोनिज मात्र है। जलीय इन्द्रिय रसनेन्द्रिय है और समुद्र बर्फ प्रभृति (नवी, सरोवरवनौरी इत्यादि) सब विषय जल रूप है।

४१ उष्णःस्पर्शस्तेजसस्तुस्याद्रूपंशुक्लभास्वरम्।
नैमित्तिकं द्रवत्वंतुनित्यतादि च पूर्ववत्॥

तेज का स्पर्श उष्ण है। रूप भास्वर शुक्ल (परकीय रूपादि का व्यञ्जक) है द्रवत्व नैमित्तिक है (अग्नि संयोगादि से द्रवत्व होता है) एवं नित्यता और अनित्यता जल के समान है।

४२ इन्द्रियं नयनं वह्निस्वर्णादि विषयो मतः।
अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तुपवने मतः॥

तैजस इन्द्रिय नेत्र है और अग्नि तथा सोना चाँदी लोहा इत्यादि धातु तैजस विषय है। यह शास्त्रों का अभिमत है। वायु अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्शवान् है। तिर्यग्गमनवान् (टेढ़ी चाल चलनेवाला) है।

४३ तिर्यग्गमन वानेषज्ञेयः स्पर्शादिलिङ्गकः।
पूर्ववन्नित्यताद्युक्तं देहव्यापित्वगिन्द्रियम्॥

और स्पर्शादि हेतुओं से अनुमान करने योग्य है (एतावता उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है)। उसकी नित्यता और अनित्यता पूर्ववत् जाननी चाहिये। शरीर में व्याप्त जो त्वचा वही वायवीय इन्द्रिय है।

४४ प्राणादिस्तु महावायुपर्यन्तो विषयोमतः।
आकाशस्यतु विज्ञेयः शब्दोवैशेषिको गुणः॥

ाणादि से लेकर महावायुपर्यन्त वायवीय विषय है आकाश का विशेषगुण शब्द है।

४५ इन्द्रियंतु भवेच्छोत्रमेकः सन्नप्युपाधितः।
जन्याना जनकःकालो जगतामाश्रयोमतः॥

श्रोत्र आकाश का इन्द्रिय है। आकाश के एक रहने पर भी उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है। अन्य पदार्थ मात्र का काल जनक है (साधारण निमित्त कारण है) और सम्पूर्ण संसार का कालिक सम्बन्ध से आश्रय है।

४६ परापरत्वधीहेतुः क्षणादि स्यादुपाधितः।
दूरान्तिकादिधीहेतुरेका नित्यादिगुच्यते॥

कालकृत् परत्व और अपरत्व के ज्ञान का असाधारण कारण काल है। क्षण आदि काल के औपाधिक भेद हैं दूरत्व और समीपत्व के ज्ञान का असाधारण कारण दिशा है वह एक है और नित्य है।

४७ उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक्।
आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणंहि सकर्तृकम्॥

दिशा के एक रहने पर भी उपाधि भेद से प्राची प्रतीची आदि विभिन्न व्यवहार का विषय होती है। आत्मा सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय से उत्पन्न हुए का ज्ञान का अधिकरण है) इसका कारण

यह है कि करण सकर्तृक होता है (करण कार्य-सम्पादन में कर्त्ता की अपेक्षा करता है)

४८ शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथंस्मृति॥

४८ शरीर ज्ञानादिक्रिया का कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि मृत शरीर में ज्ञान नहीं रहता है। यदि तत्तदिन्द्रियों को तत्तदिन्द्रियजन्य ज्ञान का आश्रय मानें तो एक इन्द्रिय के नाश हो जाने पर उस इन्द्रिय से अनुभूत पदार्थ का स्मरण द्वितीय इन्द्रिय को कैसे होगा क्योंकि नियम है कि एक व्यक्ति से अनुभूत पदार्थ व्यक्तयन्तर को स्मरण नहीं होता। इसलिए यही स्थिर हुआ कि इन्द्रिय भी कर्त्ता नहीं हो सकता।

४९ मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षंतदाभवेत्।
धर्मा धर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणं योगतः॥

मन को भी चेतन नहीं मान सकते हैं क्योंकि मन को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर ज्ञानादि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिये यही पर्यवसित होता है कि जीवात्मा धर्म अधर्म का आश्रय है। और सुखदु:खादि विशेष गुण के सम्बन्धसे प्रत्यक्ष का विषय होता है।

५० प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः।
अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः॥

जैसे चलते हुए रथ में कोचवान् नहीं देखे जाने पर भी उसका अनुमान किया जाता है कि इस रथ में कोचवान् अवश्य है। उसी प्रकार दूसरे जीवात्मा का (प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी उस व्यक्ति की) प्रवृत्ति से उस (जीवात्मा का अनुमान होता है। आत्मा "अहंकार:" का आश्रय है (अहम् इत्याकारक प्रत्यक्ष का विषय है) और मन ही से वह ग्रहण किया जाता है (मनोमात्रजन्य प्रत्यक्ष का विषय है)

५१ विभुर्बुद्ध्यादि गुणवान्बुद्धिस्तु द्विविधामता।
अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा॥

आत्मा विभु (सर्वमूर्त संयोगी) है। और बुद्ध्यादि १४ गुणवाला है। बुद्धि-अनुभव और स्मरण के भेद से दो प्रकार की है। अनुभव के चार प्रभेद हैं।

५२ प्रत्यक्षमप्यनुमितिस्तथोपिमितिशब्दजे।
घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं मतम्॥

(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमिति (३) उपमिति (४) और शाब्द। घ्राणज, त्वाच, चाक्षुष, श्रावण, रासन, मानस इनके प्रभेद से प्रत्यक्ष ६ प्रकार का माना जाता है।

५३ घ्राणस्य गोचरोगन्धो गन्धत्वादिरपिस्मृतः।
तथारसोरसज्ञायास्तथा शब्दोऽपिचश्रुतेः॥

गन्ध, गन्धत्वादि (आदि शब्द से गन्धाभाव और गन्धत्वाभाव) घ्राणेन्द्रिय का गोचर है। घ्राणेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषय है। एवं रसरसत्वादि रसनेन्द्रिय ग्राह्य है और शब्दत्वादि कर्णेन्द्रिय के गोचर हैं।

५४ उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणितद्वन्तिपृथक्त्वसंख्ये।
विभागसंयोगपरापरत्व, स्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम्॥

उद्भूत रूप का तथा उद्भूत रूप वाले द्रव्य का, पृथक्त्व तथा संख्या का, विभाग तथा वत्व का, और परिमाण का, चक्षु से ग्रहण होता है (उक्त पृथक्त्वादि को योग्यवृत्ति समझना चाहिये।

५५ क्रिया जातिर्योग्यवृत्तिः समवायश्चतादृशः।
गृह्णातिचक्षुः संयोगादालोकोद्भूत रूपयोः॥

योग्यवृत्ति क्रिया जाति समवाय का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय से होता है। आलोक (प्रकाश) तथा उद्भूत रूप के सम्बन्ध से चक्षु उक्त रूपादि विषयों को ग्रहण करता है।

५६ उद्भूतस्पर्शवदद्रव्यंगोचर:सोऽपिचत्वच:।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम्।।
द्रव्याध्यक्षे– *

जिस द्रव्य का स्पर्श उद्भूत हैं वह द्रव्य तथा उद्भूतस्पर्श और रूप को छोड़कर जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं ये सब त्वगिन्द्रिय से भी ग्रहण किये जाते हैं। द्रव्य के त्वाच प्रत्यक्ष के प्रति रूप की भी कारणता है (इसलिये वायु का अनुमान ही होता है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं होता है)

५७ *त्वचोयोगो मनसो ज्ञानकारणम्।
मनोग्राह्यं सुखंदु:खमिच्छाद्वेषोमति:कृति।।

मन के साथ त्वगिन्द्रिय का संयोग ज्ञान का कारण है। (अतएव सुषुप्ति काल उपपन्न होता है)।सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, यत्न (अपनी आत्मा) अपने मन से ग्रहण किये जाते हैं।

५८ ज्ञानंयन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।
महत्वं षड्विधेहेतुरिन्द्रियं करणंमतम्।।

निर्विकल्पक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है अर्थात् किसी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होता है। षड्विध प्रत्यक्ष के प्रति महत्परिमाण कारण होता है और इन्द्रिय करण होता है।

५९ विषयेन्द्रिय संबन्धो व्यापार: सोऽपि षड्विध:।
द्रव्यग्रहन्तु संयोगात्संयुक्त समवायत:।।

घटपटादि विषयों के साथ नेत्रादि इन्द्रियों का जो प्रत्यक्षानुकूल सम्बन्ध होता है वह पूर्वोक्त षड्विध प्रत्यक्ष के प्रति व्यापार कहा जाता है यह सम्बन्ध रूप व्यापार ६ प्रकार के होते हैं। द्रव्य का ग्रहण संयोग सम्बन्ध से होता है।

६० द्रव्येषुसमवेतानांतथातत्समवायत:।
तत्रापिसमवेतानां शब्दस्यसमवायत:।।

द्रव्य समवेत रूपादि का ग्रहण संयुक्त समवाय सम्बन्ध से होता है। द्रव्य समवेत समवेत रूपत्वादि का "संयुक्तसमवेत समवाय" सम्बन्ध से होता है। शब्द का समवाय सम्बन्ध से होता है।

६१ तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेनतुग्रह:।
प्रत्यक्षंसमवायस्य विशेषणतयाभवेत्।।

शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले "शब्दत्वादिका" समवेत समवाय सम्बन्ध से ग्रहण होता है और समवाय का विशेषणता सम्बन्ध से ग्रहण होता है।

६२ विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहोभवेत्।
यदिस्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते।।

उसी प्रकार अभावों का भी ग्रहण विशेषणता सम्बन्ध से होता है "अत्र यदि घट: स्यात्तर्हि उपलभ्येत" इस प्रकार प्रतियोगि प्रत्यक्ष की आपत्ति जहाँ दी जा सकती है वहीं घटाभावादि का प्रत्यक्ष होता है। इसी हेतु से अन्धकार में घटादि के अभावों का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

६३ अलौकिकस्तुव्यापारस्त्रिविध: परिकीर्तित:।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा।।

अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार के होते हैं– सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज।

६४ आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
तदिन्द्रियजतद्धर्म बोध सामग्रयपेक्ष्यते।।

सामान्याश्रय विषयक जो अलौकिक प्रत्यक्ष उसमें सामान्य ज्ञान प्रत्यासत्ति अर्थात् सन्निकर्ष है। तदिन्द्रियजन्य तद्धर्म प्रकारक अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति तदिन्द्रिय जन्य तद्धर्म प्रकारक लौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री प्रयोजक है।

६५ विषया यस्य तस्यैव व्यापारोज्ञानलक्षणः।
योगज द्विविधः प्रोक्तो युक्त युञ्जानभेदतः।।

ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति यद्विषयक है वह तद्विषयक ज्ञानोत्पादक होती है। युक्त युञ्जान भेद से योगज धर्म दो प्रकार के होते हैं।

६६ युक्तस्यसर्वदाभानं चिन्तासहकृत्येऽपरः।
व्यापारस्तु परामर्शः करणंव्याप्तिधीर्भवेत्।।

युक्त योगी को सर्वदा विषय का भान होता रहता है और युञ्जान को ध्यान करने से भान होता है।

६७ अनुमायांज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं नहि।
अनागतादि लिङ्गेन नस्यादनुमितिस्तदा।।

अनुमिति में परामर्श व्यापार है। एवं व्याप्ति ज्ञान करण है और व्याप्यत्वेन ज्ञायमानलिङ्ग (अनुमिति का) करण नहीं है, क्योंकि अनागत एवं अतीत लिङ्ग से अनुमिति होती है सो नहीं होगी।

६८ व्याप्यस्यपक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते।
व्याप्तिःसाध्यवदन्यस्मिन्न सम्बन्धउदाहृतः।।

साध्य व्याप्तिविषय हेतु में पक्षवृत्तित्वावगाही जो ज्ञान वह परामर्श कहलाता है साध्यवद् भिन्न निरूपित वृत्तित्वाभाव व्याप्ति है अर्थात् साध्याधिकरण से भिन्न में हेतु का सम्बन्ध नहीं रहना ही व्याप्ति है।

६९ अथवाहेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना।
साध्येनहेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते।।

हेतु के अधिकरण में रहने वाला जो विरह-अभाव उस अभाव का अप्रतियोगी जो साध्य तादृश साध्य के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य साध्य निरूपित व्याप्ति है।

७० सिषाधयिषया शून्यासिद्धिर्यत्र न विद्यते।
सपक्षस्तत्रवृत्तत्वज्ञानादनुमितिर्भवेत्।।

साध्य के विषय करने की इच्छा को सिषाधयिषा कहते हैं तादृश सिषाधयिषा के अभाव सहित जो सिद्धि (पक्ष में साध्य का निश्चय) उसका अभाव पक्षता है वह जहाँ रहे वह पक्ष है और उस पक्ष के साथ जो व्याप्ति विशिष्ट हेतु वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानात्मक परामर्श उसको रहने से अनुमिति होती है।

७१ अनैकान्तोविरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तुपञ्चधा।।

७१ यद्विषयक निश्चय अनुमिति या परामर्श अन्यतर का प्रतिबन्धक हो वही हेत्वाभास कहलाता है।)। हेत्वाभास ५ प्रकार के हैं यथा (१) अनैकान्तिक (२) विरुद्ध (३) असिद्ध (४) प्रतिपक्षित (सत्प्रतिपक्ष) (५) और कालात्ययापदिष्ट (बाधित)। अनैकान्तिक (सव्यभिचार) के तीन प्रभेद हैं। यथा (१)

७२ आद्यःसाधारणस्तुस्यादसाधारणकोऽपरः।
तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकान्तिकोभवेत्॥

साधारण (२) असाधारण (३) अनुपसंहारी

७३ यः सपक्षेविपक्षे च भवेत्साधारणस्तुसः।
यस्तूभयस्माद्व्यावृतः सचासाधारणो मतः॥

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहे वह "साधारण" नाम का हेत्वाभास कहाता है। जो हेतु "सपक्ष वा विपक्ष" किसी में नहीं रहे (किन्तु पक्षमात्र में रहे) वह असाधारण हेत्वाभास है

७४ तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः।
यः साध्यपतिर्नैवास्ति सविरुद्ध उदाहृतः॥

जिस स्थल में वस्तुमात्र पक्ष है अर्थात् पक्षता केवलान्वयि है वह हेतु अनुपसंहारी (हेत्वाभास) कहलाता है। जो हेतु साध्यवत् में नहीं रहे वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

७५ आश्रयासिद्धिराद्यास्यात्स्वरूपा सिद्धिरप्यथ।
व्याप्यत्वासिद्धि रपरा-स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा॥

७६ पक्षासिद्धिर्यत्रपक्षोभवेन्मणिमयोगिरिः।
ह्रदोद्रव्यंधूमवत्त्वादत्रासिद्धिरथापरा॥

(१) आश्रयासिद्धि (२) स्वरूपासिद्धि (३) व्याप्यत्वासिद्धि के भेद से असिद्धि तीन प्रकार की हैं। "मणिमयः पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस स्थलमें पर्वत रूप पक्षमें मणिमयत्वका अभाव आश्रयासिद्धि है। अतः धूमरूप हेतु यहाँ आश्रयासिद्ध्यात्मक दोष से हेत्वाभास है। ह्रदोद्रव्यं धूमवत्वात्" इस स्थल में ह्रद रूप पक्ष में धूमवत्व का अभाव स्वरूपासिद्धि है अतः धूमवत्वरूप हेतु स्वरूपासिद्ध्यात्मक दोष से हेत्वाभास है। (व्यर्थ विशेषण घटित हेतु व्याप्यत्वासिद्धि दोष कहलाता है) पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात् यहाँ नील धूम व्याप्यत्व सिद्धि दोष से हेत्वाभास है।

७७ व्याप्यत्वासिद्धिरपरानीलधूमादिके भवेत्।
विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिपक्षता॥

परस्पर विरुद्ध साध्यद्वय साधक जो हेतु द्वय उसके परामर्श होने पर उक्त दोनों हेतु सत्प्रतिपक्ष कहलाते हैं।

७८ साध्यशून्यो यत्रपक्षस्त्वसौ बाधउदाहृतः।
उत्पक्षिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यते॥

जिस स्थल में साध्याभाववत् पक्षतावच्छेदक विशिष्ट पक्ष है वहाँ हेतु कालात्ययापदि४ (बाधित) कहलाता है—"यथा उत्पत्तिकालीनघटः गन्धवान् पृथ्वीत्वात्" यहाँ पक्षतावच्छेदक उत्पत्ति कालविशिष्ट घट रूप पक्ष गन्धाभाववत् है। अतः इस स्थल का पृथ्वीत्वरूपहेतु बाधित कहलाता है।

७९ ग्रामीणस्य प्रथमतः–पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां- यास्यात्साकरणं मतम्॥

प्रथमत: गवयादि को देखते हुए ग्रामीण की जो अपरिचित गवयादि में गोसादृश्य की बुद्धि हुई वही बुद्धि उपमिति रूप ज्ञान में करण माना जाता है। किसी आरण्यक कथित जो "गो सदृशेगवयपद वाच्य:" इत्याकारक अतिदेश वाक्य तदर्थ की स्मृति हुई वह

८० वाक्यार्थस्यातिदेशस्य– स्मृतिर्व्यापारउच्यते।
गवयादिपदानांतु शक्तिधीरुपमाफलम्॥

उपमिति में व्यापार कहा जाता है और पीछे उस ग्रामीण को "गवयो गवयपदवाच्य: इत्याकारक जो गवयादिपद- निरूपित शक्ति का ज्ञान हुआ वही उपमित्याकारक ज्ञान रूप कार्य्य है।

८१ पदज्ञानंतु करणं द्वारं तत्र पदार्थश्री:।
शाब्दबोध: फलं तत्र शक्तिधी: सहकारिणी॥

शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान करण और पदजन्य पदार्थोपस्थिति व्यापार है पद और अर्थ इन दोनों में शक्तिरूप जो विशेष सम्बन्ध उसका ज्ञान सहकारी कारण है अर्थात् पदज्ञानोत्तर शक्ति ज्ञानजन्य पदार्थोपस्थिति द्वारा शाब्दबोध रूप फल होता है।

८२ लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तित:।
आसत्तिर्योग्यताकांक्षा तात्पर्यज्ञानमिष्यते॥

शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है। तात्पर्य की अनुपपत्ति जहाँ ज्ञात होती है उस जगह लक्षणा से पदार्थ की स्मृति और शाब्दबोध होते हैं। [आसत्तिज्ञान योग्यताज्ञान आकाङ्क्षा और तात्पर्यज्ञान ये शाब्दबोध के प्रति कारण हैं। पदों के परस्पर सान्निध्य को आसत्ति कहते हैं।

८३ कारणंसन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते॥
पदार्थे तत्र तद्वत्तां योग्यता परिकीर्तिता।

पदार्थ इत्यादि कारिका से योग्यता का निरूपण करते हैं।

८४ यत्पदेन विनायस्याननुभावकताभवेत्।
आकांक्षावक्तुरिच्छातु तात्पर्यं परिकीर्तितम्॥

जिस पद के बिना जिस पद में यादृश शाब्दबोध जनकत्व नहीं होता है तत्पद सहित तत्पद में तादृश शाब्दबोध ानुकूल आकांक्षा रहती है। और वक्ता की इच्छा तात्पर्य है।

८५ साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।
अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते॥

सुखादिप्रत्यक्ष के प्रति मन करण कहा जाता है। एक काल में अनेक इन्द्रियों से नाना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये वह अणु माना जाता है।

८६ अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया-निर्गुणानिष्क्रियागुणा:।
रूपं रस: स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्॥

गुण, द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हें किन्तु गुण में, गुण और क्रिया नहीं रहती है ऐसा जानना चाहिये। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, वेग, स्थितिस्थापक ये सब मूर्त (पृथिवी, जल, तेज, वायु,

८७ द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मतामूर्त गुणाअमी
धर्माधर्भौ भावनाचशब्दोबुद्ध्यादयोऽपिच

मन के गुण हैं। धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, बुद्धि, सुख, दु:ख

८८ एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः
संख्यादयोविभागान्ता उभयेषां गुणामताः।।

इच्छा, द्वेष, यत्न ये दश अमूर्त के गुण हैं ऐसा विद्वानों ने कहा है। संख्या, परिमाण पृथक्त्व संयोग और विभाग ये पाँचों गुण मूर्त (पृथ्वी जल तेज वायु और मन) और अमूर्त (आकाश, काल दिशा और आत्मा) इन दोनों में अर्थात् द्रव्य मात्र में रहते हैं।

८९ संयोगश्च विभागश्चसंख्याद्वित्वादिकास्तथा
द्विपृथक्त्वादयस्तद्व देतेऽनेकाश्रिता गुणाः।।

संयोगं विभाग द्वित्वादि संख्या द्विपृथक्त्वादि ये चार अनेक में रहने वाले गुण हैं।

९० अतःशेषगुणाः सर्वे मताएकैकवृत्तयः।
बुद्ध्यादिषटकं स्पर्शान्ताः स्नेहःसांसिद्धिकोद्रवः।

उक्त चारों गुणों से भिन्न जितने गुण हैं वे सब एक एकमात्र में रहने वाले हैं) बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये विशेष गुण कहे जाते हैं।

९१ अदृष्टभावनाशब्दाअमीवैशेषिकागुणाः

९१ संख्यादिरपरत्वान्तो- द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा।।

संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व, असांसिद्धिक

९२ गुरुत्ववेगौ सामान्य-गुणा एते प्रकीर्तिताः।।

९२ संख्यादिपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एवच।

अर्थात् नैमित्तिक द्रवत्व गुरुत्व और वेग सामान्य गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व।

९३ एतेतुद्वीन्द्रिय ग्राह्याः-

९३ अथ स्पर्शान्त शब्दकाः।
बाह्यैकैकेन्द्रिया ग्राह्याः-

९३ गुरुत्वादृष्ट भावनाः।

और स्नेह ये गुण दो इन्द्रियों से ग्राह्य हैं। रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द ये सब गुण बाह्य एक-एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं।

९४ अतीन्द्रियाविभूनां तु ये स्युर्बैशेषिका गुणाः।
अकारणगुणोत्पन्ना एतेतु परिकीर्तिताः।।

गुरुत्व, अदृष्ट और भावना ये अतीन्द्रिय हैं। विभु के विशेष गुण अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्र, धर्म, अधर्म, भावना, शब्द ये दश गुण अकारण गुणोत्पन्न हैं

९५ अपाकजास्तु स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम्।
स्नेहवेगगुरुत्वैक पृथक्त्वपरिमाणकम्।।

अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और असांसिद्धिक द्रवत्व, स्नेह, वेग, गुरुत्व, एकत्व, एक पृथक्त्व, परिमाण स्थितिस्थापक ये सब कारण गुणोत्पन्न हैं।

९६ स्थितिस्थापक इत्येतेस्युःकारणगुणोद्भवाः।।
संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैतेतु कर्मजाः।।

संयोग विभाग और वेग ये तीन गुण कर्मज हैं।

९७ स्पर्शान्तरपरिमाणैक पृथक्त्वंस्नेहशब्द
के भवेद्समवायित्वम्–
अथवैशेषिके गुणे॥

रूप रस गन्ध स्पर्श परिमाण एकत्व एक पृथक्त्व (एकमात्रनिष्ठपृथक्त्व) स्नेह शब्द (और स्थितिस्थापक) ये गुण असमवायि कारणमात्र होते हैं। आत्मा में जो विशेष गुण हैं (बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष यत्न धर्म अधर्म भावना) वे निमित्त कारण मात्र होते हैं।

९८ आत्मनः स्यान्निमित्तत्वम्– उष्णस्पर्श गुरुत्वयोः॥

उष्ण स्पर्श, गुरुत्व,

९९ वेगोऽपिच द्रवत्वे च संयोगादिद्वयेतथा।
द्विधैव कारणत्वं स्याद्– अथ प्रादेशिको भवेत्॥

९९ वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा।

वेग द्रवत्व संयोग विभाग ये सब असमवायि और निमित्त दोनों तरह के कारण होते हैं। विभु के विशेष गुण (बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष यत्न धर्म अधर्म भावना शब्द संयोग विभाग) ये सब प्रादेशिक हैं।

१०० **चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादिरुपलम्भकम्।**
चक्षुषःसहकारीस्याच्छुक्लादिकमनेकधा॥

जो रूप चक्षुमात्र से ग्राह्य और द्रव्यादि के प्रत्यक्ष में कारण तथा चक्षु का सहकारी (सहायक) भी है। यह रूप शुक्लादि प्रभेद से सात प्रकार का है।

१०१ **जलादि परमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम्॥**

१०१ **रसस्तु रसनाग्राह्योमधुरादिरनेकधा॥**

जल और तेज के परमाणु में जो रूप है वह नित्य है उससे भिन्न जितने रूप हैं वे सब अनित्य हैं। रस रसनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय है और मधुरादि भेद से ६ प्रकार का है।

१०२ **सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत्॥**

१०२ **घ्राणग्राह्याभवेद्गन्धोघ्राणस्यैवोपकारकः॥**

एवं रसना का सहकारी है ओर उसमें भी रूप के तरह नित्यत्व, अनित्यत्व माना जाता है। गन्ध घ्राणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय है और घ्राण का सहकारी है।

१०३ **सौरभश्चा सौरभश्च सद्वेधापरिकीर्तितः।**
स्पृर्शस्त्वगिन्द्रिय ग्राह्यस्त्वचःस्यादुपकारकः॥

सौरभ असौरभ भेद से गन्ध दो प्रकार का है। स्पर्श त्वगिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय है एवं त्वचा का सहकारी है।

१०४ **अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्सत्रिविधोमतः।**
काठिन्यादिक्षितावेव नित्यतादिचपूर्ववत्॥

अनुष्णाशीत, शीत तथा उष्ण भेद से स्पर्श तीन प्रकार के हैं। कठिन स्पर्श और सुकुमारस्पर्श पृथ्वीमात्र में रहता है। स्पर्श में नित्यत्यानित्यभाव रूप के समान समझना चाहिये।

१०५ **एतेषां पाकजत्वंतु क्षितौनान्यत्रकुत्रचित्।**
तत्रापि परमाणौस्यात्पाको वैशेषिकेनये॥

पृथ्वीमात्र में रूप रस गन्ध स्पर्श पाकज होते हैं वैशेषिक के मत में पृथ्वी में भी पार्थिव परमाणु पात्र में पाक होता है, इसलिये उनके मत से पार्थिव परमाणु मात्र में रहने वाले रूपादि पाकज हैं।

१०६ **नैयायिकानांतुनये द्व्यणुकादावपीष्यते।**
गणना व्यवहारेतु हेतुः संख्याभिधीयते॥

नैयायिकों के मत से परमाणु और द्व्यणुकादि अवयवी में भी पाक होता है। गणना व्यवहार का असाधारण कारण संख्या है।

१०७ **नित्येषुनित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते।**
द्विजादयः परार्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजामताः॥

नित्यमें रहने वाली एकत्व संख्या नित्य है और अनित्य में रहने वाली अनित्य है द्वित्व से लेकर परार्द्ध पर्यन्त संख्या अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है अतएव वह अनित्य होगी।

१०८ **अनेकाश्रयपर्याप्ता एतेतु परिकीर्तिताः।**
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नांशस्तेषां निरूपितः॥

द्वित्वादि संख्या अनेकाश्रय में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहती है और अपेक्षा बुद्धि नाश से उन संख्याओं का नाश होता है।

१०९ **अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धिरिष्यते।**
परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम्॥

अनेक तत्तद्धर्म्म विशेष्यक एकत्व प्रकारक जो 'अयमेकः अयमेकः' इत्याकारक ज्ञान यह अपेक्षा बुद्धि कही जाती है। मान व्यवहार का असाधारण कारण "परिमाण" अर्थात् परिमिति है।

११० **अणुदीर्घं महद्ध्रस्वमितितद्भेद ईरितः।**
अनित्येतदनित्यंस्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम्॥

उक्त "परिमाण" अणु, दीर्घ, महत् तथा हस्व के भेद से चार प्रकार का है।

अनित्य द्रव्यगत परिमाण अनित्य है और नित्य द्रव्यगत परिमाण नित्य है अनित्य परिमाण

१११ **संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते।**
अनित्यं द्व्यणुकादौ तु संख्याजन्यमुदाहृतम्॥

संख्या परिमाण प्रचय इन तीनों से उत्पन्न होते हैं। द्व्यणुक, त्र्यणुकगत अनित्य परिमाण संख्या जन्य कहा गया है।

११२ **परिमाणंघटादौतु परिमाणजमुच्यते।**
प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन उच्यते॥

घटादि (अवयवी) गत परिमाण कपालादि (अवयव) गत परिमाण से उत्पन्न होता है, तूलकादिगत शिथिल (ढीला) संयोग प्रचय कहा जाता है और प्रचय से तूलकादि में परिमाण की उत्पत्ति होती।

११३ **परिमाणं तूलकादौ– नाशस्त्वाश्रय नाशतः।**
संख्यावत्तुपृथक्त्वंस्यात्पृथक्प्रत्ययकारणम्॥

परिमाण का नाश आश्रय नाश के अधीन है।

११४ **अन्योन्याभावतो नास्य– चरितार्थत्वमिष्यते।**
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा॥

यह इससे पृथक् है इस व्यवहार का असाधारण कारण पृथक्त्व है उसमें नित्यत्वानित्यत्व संख्या के समान है, वह पृथक्त्व अन्योन्याभाव से गतार्थ नहीं हो सकता है क्योंकि "इदमस्मात् पृथक्" इत्याकारक पृथक्त्व प्रतीति से "इदमिदश" इत्याकारक अन्योन्याभाव की प्रतीति में वैलक्षण्य का स्पष्ट भान होता है।

११५ **अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैवसंयोगईरितः।**
कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः॥

अमिलित द्रव्यद्वय का जो मिलन वह संयोग कहा जाता है वह संयोग तीन प्रकार का है जिसमें प्रथम अन्यतर कर्मजन्य है अर्थात् संयुक्त होने वाले दो द्रव्यों में किसी एक द्रव्य के कर्म से पैदा होने वाला है।

११६ **तथोभयक्रियाजन्यो– भवेत्संयोगजोऽपरः।**
आदिमःश्येनशैलादि संयोगः पैरिकीर्तितः॥

दूसरा उभय कर्मजन्य और तीसरा संयोग जन्य है इन तीनों में पर्वत के साथ श्येनादि पक्षी का संयोग प्रथम अन्यतर कर्मजन्य संयोग है।

११७ **मेषयोः संनिपातोयः– सद्वितीय उदाहृतः।**
११७ **कपालतरु संयोगः– त्संयोगस्तरुकुम्भयोः॥**

भेड़ों का सन्निपात (टक्कर) रूप द्वितीय उभय कर्मजन्य संयोग है। कपाल वृक्ष के संयोग से उत्पन्न घट वृक्ष का संयोग तृतीय संयोगजन्य संयोग हैं।

११८ **तृतीयः स्यात्कर्मजोऽपि–द्विधैव परिकीर्तितः।**
अभिघातो नोदनंच शब्दहेतु रिहादिमः॥

अन्यतर कर्मजन्य और उभय कर्मजन्य रूप जो कर्मज संयोग यह अभिघात और नोदन के भेद से दो प्रकार का होता है।

११९ **शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्याद् विभागोऽपि त्रिधाभवेत्।**
एककर्मोद्भवस्त्वाद्योद्वयकर्मोद्भवोऽपरः॥

शब्द का जनक जो संयोग यह अभिघात कहा जाता है और शब्द का अजनक जो संयोग वह नोदन कहा जाता है। विभाग भी तीन प्रकार का होता है। प्रथम एक कर्मजन्य, अन्यतर कर्मजन्य है द्वितीय उभय कर्मजन्य है और तृतीय

१२० **विभागजस्तृतीयःस्यातृतीयोऽपिद्विधा भवेत्।**
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः॥

विभाग जन्य है। तृतीय जो विभाग जन्य विभाग वह भी कारण मात्र विभागजन्य विभाग और कारणाकारण विभागजन्य विभाग के भेद से दो प्रकार का होता है।

१२१ **परत्त्वञ्चा परत्त्वञ्च द्विविधं परिकीर्तितम्।**
दैशिकं कालिकं चापि मूर्त एवतु दैशिकम्॥

दैशिक और कालिक भेद से परत्व तथा अपरत्व दो-दो प्रकार के होते हैं। जिनमें दूरत्व, समीपत्व रूप दैशिक परत्वापरत्व मूर्तं

१२२ **परत्वं मूर्तसंयोग भूयस्त्वज्ञानतो भवेत्।**
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम्॥

मात्र में रहते हैं। दैशिक परत्व बहुतर मूर्त संयोगान्तरितत्व ज्ञान से उत्पन्न होता है और दैशिक अपरत्व अल्पतर मूर्त संयोगान्तरितत्व ज्ञान से उत्पन्न होता है।

१२३ **तयोरसमवायीतु दिक्संयोगस्तदाश्रये।**
दिवाकर परिस्पन्द भूयस्त्व ज्ञानतोभवेत्॥

दैशिक परत्वपरत्व का असमवायि कारण दैशिक परत्वापरत्वाश्रय के साथ दिशा का संयोग है। दिवाकर के परिस्पन्द (क्रिया) में भूयस्त्व ज्ञान से ज्येष्ठत्व रूप कालिक परत्व उत्पन्न होता है।

१२४ **परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः।**
अत्रत्वसमवायीस्यात्संयोगः कालपिण्डयोः॥

एवं दिवाकर परिस्पन्द में अल्पत्व ज्ञान से कनिष्ठत्व रूप कालिक अपरत्व उत्पन्न होता है। कालिक परत्वापरत्व का असमवायिकारण कालिक परत्व परत्वाश्रय के साथ काल का संयोग है।

१२५ अपेक्षाबुद्धि नाशेन नाशस्तेषां निरूपितः।
बुद्धेः प्रपञ्चप्रागेव प्रायशो विनिरूपितः॥

अपेक्षा बुद्धि के नाश से दैशिक और कालिक परत्वा परत्व का नाश होता है। बुद्धि के प्रभेद (प्रकार) का निरूपण पूर्व ही अधिक हो चुका है।

१२६ **अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदृश्यते।**
अप्रमाचप्रमाचेति ज्ञानंद्विविधमिष्यते॥

अब उसके अवशिष्ट प्रकार बतलाए जाते हैं। यथार्थ और अयथार्थ के भेद से ज्ञान दो प्रकार के होते हैं। तदभाववद्विशेष्यक और तत्प्रकारक जो ज्ञान वह अयथार्थ ज्ञान कहा जाता है।

१२७ **तच्छून्येतन्मतिर्यास्यादप्रमासानिरूपिता।**
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः॥

अयथार्थ ज्ञान विपर्यास और संशय के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

१२८ **आद्योदेहेष्वात्मबुद्धिः शंखादौपीततामतिः।**
भवेन्निश्चयरूपाया संशयोऽथ प्रदर्श्यते॥

निश्चयात्मक भ्रम विपर्यास कहलाता है यथा "गौरोहम्" इत्याकारक देह विशेष्यक आत्मत्व प्रकारक निश्चय एवं "शंखः पीतः" इत्याकारक शंख विशेष्यक पीतत्व प्रकारक निश्चय विपर्यास है। अब संशय का स्वरूप बतलाते हैं।

१२९ **किंस्विन्नरोवास्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तुसंशयः।**
तदभावाप्रकाराधीस्तत्प्रकारातु निश्चयः॥

"अयं नरो वा स्वाणुर्वा" इत्याकारक बुद्धि संशय रूप है एवं तदभावप्रकारक तत्प्रकारक ज्ञान निश्चय है।

१३० **ससंशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः।**
साधारणादिधर्मस्य ज्ञानसंशय कारणम्॥

एक वस्तु विशेष्यक विरुद्धभावाभाव प्रकारक ज्ञान संशय होता है। साधारणादि धर्मज्ञान संशय का कारण है। ज्ञान संशय है। साधारणादि धर्म ज्ञान संशय का कारण है।

१३१ **दोषोऽप्रमायाजनक:प्रमायास्तुगुणोभवेत्।**
पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविध:स्मृत:॥

अप्रमाके प्रति दोष और प्रमाके प्रति गुण कारण है। पित्त दूरत्वादि भेद से दोष अनन्त प्रकार के हैं।

१३२ **प्रत्यक्षेतु विशेष्येणविशेषणवतासमम्।**
संन्निकर्षो गुणस्तुस्यादथ त्वनुमितौपुन:॥

विशेषण विशिष्ट विशेष के साथ जो इन्द्रिय का सन्निकर्ष वह प्रत्यक्ष प्रमाण गुण है। साध्य विशिष्ट पक्ष में जो साध्य व्याप्य हेतु वैशिष्ट्यायगाही

१३३ **पक्षेसाध्यविशिष्टेतु परामर्शो गुणो भवेत्।**
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौगुण:॥

परामर्श वह अनुमिति प्रमा में गुण हैं। गवयादि पद के शक्यार्थ गवयादि में जो गवयादि का सादृश्य ज्ञान वह उपमिति प्रमा में गुण है।

१३४ **शाब्दबोधे योग्यताया- स्तात्पर्यस्याथवा प्रमा।**
गुण: स्याद् भ्रमभिन्नन्तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा॥

प्रमात्मक योग्यता ज्ञान अथवा प्रमात्मक ज्ञान तात्पर्य ज्ञान शाब्दबोध प्रमा में गुण है।

१३५ **अथवा तत्प्रकारं- यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम्।**
तत्प्रमा-न-प्रमानापिभ्रम:स्यान्निर्विकल्पकम्॥

"तदाश्रय विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान" प्रमा है और निर्विकल्पक ज्ञान न प्रमा है न भ्रम है।

१३६ **प्रकारतादिशून्यंहि सम्बन्धानवगाहितत्।**
प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपतित:॥

जिस हेतु निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारता विशेष्यता शून्य और सम्बन्धानवगाही होता है।

प्रमात्व स्वतो ग्राह्य नहीं है अर्थात् जिस सामग्री से ज्ञान का ग्रह होता है उसी सामग्री से तज्ज्ञाननिष्ठ प्रमात्व का ग्रह नहीं होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तर "इदं ज्ञानं प्रमा न वा" इत्याकारक संशय नहीं होगा। इसका हेतु मुक्तावली में बतलाया गया है।

१३७ **व्यभिचारस्याग्रहोऽपिसहचारग्रहस्तथा।**
हेतुर्व्याप्तिग्रहेतर्क: क्वचिच्छंका निवर्तक:॥

व्यभिचार ज्ञानाभाव और सहचार ग्रह ये दोनों व्याप्ति ज्ञान के कारण हैं और तर्क कहीं कहीं व्याप्ति ज्ञान के प्रतिबन्धक व्यभिचार शंका का विघातक होने से व्याप्ति ज्ञान में उपयोगी होता है।

१३८ **साध्यस्यव्यापकोयस्तुहेतोरव्यापकस्तथा।**
स उपाधिर्भवेत्तस्यनिष्कर्षोयं प्रदर्श्यते॥

साध्य का व्यापक और हेतु अर्थात् साधन का अव्यापक जो पदार्थ वह उपाधि कहलाता है। उस उपाधि का निष्कर्ष बतलाते हैं।

१३९ **सर्वेसाध्य समानाधिकरणा:स्युरुपाधय:।**
हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता॥

सभी उपाधि साध्य के समानाधिकरण होते हैं और हेतु के किसी अधिकरण में उन उपाधियों का व्यभिचारित्व (अभाव) और साध्य का व्यभिचारित्व (अभाव) रहा करता है।

१४० **व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम्।**
शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते॥
१४१ **अनुमानगतार्थत्वादितिवैशेषिकं मतम्।**
तन्न सम्यग्विनाव्याप्तिबोधं शब्दादिबोधतः॥

हेतु में व्यभिचार का अनुमान करना उपाधि का प्रयोजन है।) वैशेषिक (कणाद) के मत से शब्द और उपमान इन दोनों में अनुमान से पृथक प्रमाण्य नहीं है। अर्थात् अनुमान ही में ये दोनों अन्तर्गत है किन्तु नैयायिक मत से यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द और उपमानजन्य बोध व्याप्तिबोध की अपेक्षा नहीं करता है।

१४२ **त्रैविध्यमनुमानस्यकेवलान्वयिभेदतः।**
द्वैविध्यंतु भवेद्व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः॥

केवलान्वयि केवल व्यतिरेकि और अन्वय व्यतिरेकि के भेद से अनुमान तीन प्रकार का होता है एवं अन्वय और व्यतिरेक के भेद से व्याप्ति दो प्रकार की होती है।

१४३ **अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादिहोच्यते।**
साध्याभाव व्यापकत्वंहेत्वभावस्य यद्भवेत्॥

उसमें अन्वयव्याप्ति का प्रदर्शन पूर्व ग्रन्थ से किया जा चुका है अब व्यतिरेक व्याप्ति का प्रदर्शन यहाँ किया जा रहा है। (साध्याभाव व्यापकी भूत जो अभाव तादृशाभाव प्रतियोगित्व व्यतिरेकव्याप्ति है।

१४४ **अर्थापत्तिस्तु नैवेह प्रामाणान्तरमिष्यते।**
व्यतिरेकव्याप्तिबुद्ध्याचरितार्थाहिसायतः॥

अर्थापत्ति प्रमाणान्तर और अनुमानातिरिक्त प्रमाण नहीं है क्योंकि व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान में यह अन्तर्भूत हो सकती है।

१४५ **सुखंतुजगतामिव काम्यं धर्मेणजायते।**
अधर्मजन्यंदुःखंस्यात्प्रतिकूलं सचेतसाम्॥

सकल प्राणियों की इच्छा का विषय जो सुख यह धर्म से उत्पन्न होता है। सकल प्राणियों के द्वेष का विषय जो दुःख वह अधर्म से उत्पन्न होता है।

१४६ **निर्दुःखत्वे सुखेचेच्छातज्ज्ञानादेवजायते।**
इच्छातु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि॥

दुःखाभाव की इच्छा में दुःखाभाव ज्ञान और सुख की इच्छा में सुख ज्ञान कारण है। दुःखाभाव और सुख के साधन में इष्ट साधनता ज्ञान रहने से उस साधन की इच्छा होती है।

१४७ **चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छाचया भवेत्।**
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत्॥

कृति साध्यत्व प्रकारक इच्छा को चिकीर्षा कहा जाता है। कृति साध्यता का ज्ञान और इष्टसाधनता का ज्ञान उस (चिकीर्षा) का कारण है।

१४८ **बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिःस्यात्प्रतिबन्धिका।**
तद्हेतुत्व बुद्धेस्तुहेतुत्वं कस्यचिन्मते॥

चिकीर्षा के प्रति बलवद्द्विष्ट साधनता का ज्ञान प्रतिबन्धक है।)

एवं किसी के मत से चिकीर्षा के प्रति बलवत् अनिष्ट के अजनकत्व का ज्ञान ही कारण है।

१४९ **द्विष्टसाधनताबुद्धि र्भवेद्द्वेषस्य कारणम्।**
प्रवृत्तिश्चनिवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम्।।

उपाय द्वेष के प्रति बलवद्द्विष्टसाधनता ज्ञान कारण है। एवं दुःख और सुखाभाव रूप फल के द्वेष के प्रति तत्तत्फल का ज्ञान कारण है।

१५० **एवंप्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम्।**
चिकीर्षा कृति साध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा।।

ऐसा पण्डितों ने कहा है। चिकीर्षा, कृति साध्यता ज्ञान इष्ट साधनता ज्ञान और प्रवृत्ति का साध्य जो पदार्थ उसके

१५१ **उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत्।**
निवृत्तिस्तु भवेद्द्वेषाद्द्विष्टसाधनताधियः।।

समवायि कारण का प्रत्यक्ष– ये प्रवृत्ति के कारण है द्विष्ट साधनताबुद्धि की द्वेष से निवृत्ति होती है।

१५२ **यानो जीवनयोनिस्तु सर्वदातीन्द्रियो भवेत्।**
शरीरेण प्राणसंचारे कारणं परिकीर्तितम्।।

प्राणियों के जीवन पर्य्यन्त रहने वाला जीवनयोनि नाम का यत्न अतीन्द्रिय है और वह शरीर में प्राण संसार का कारण माना जाता है।

१५३ **अतीन्द्रियगुरुत्वंस्यात्पृथिव्यादिद्वयेतुतत्।**
(अनित्ये तदनित्यं स्या) न्नित्ये नित्यमुदाहृतम्।।

१५४ **तदेवा समवायिस्यात्पतनाख्येतुकर्म्मणि।**
सांसिद्धिकंद्रवत्वंस्यान्नैमित्तिकमथापरम्।।

१५५ **सांसिद्धिकं तु सलिलेद्वितीयंक्षितितेजसोः।**
परमाणौ जलेनित्यमन्यत्रा नित्यमुच्यते।।

पूर्वा० गुरुत्व पृथिवी और जल में रहता है और अतीन्द्रिय है परमाणुगत गुरुत्व नित्य और तदन्यगत गुरुत्व अनित्य है। और वही गुरुत्व आद्यपतन का असमवायि कारण है। सांसिद्धिक नैमित्तिक भेद से द्रवत्व दो प्रकार के होते हैं। उनमें सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक द्रवत्व पृथ्वी और तेज में रहता है। जल परमाणु में रहने वाला द्रवत्व नित्य और पार्थि तैजस परमाण्वादि एवं जलीय द्व्यणुकादि में रहने वाला द्रवत्व अनित्य है।

१५६ **नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु,।**
द्रवत्वं स्पन्दने हेतुर्निमित्तं संग्रहं तु तत्,।।

सुवर्णादि रूप तेज में और घृत लाक्षादिरूप पृथ्वी में रहने वाला द्रवत्व वह्नि संयोग रूप निमित्त से पैदा होने के कारण नैमित्तिक कहा जाता है। द्रवत्व स्यन्दन का असमवायि कारण और संग्रह का निमित्त कारण है।

१५७ **स्नेहोजले, सनित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ।**
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता।।

जलमात्र में रहने वाला स्नेह नित्य अनित्य के भेद से दो प्रकार का है। अणुपरमाणु में नित्य और जन्य जल में अनित्य स्नेह रहता है। तैलादि में जल रहने पर भी उस जल में अधिक स्नेह रहने के कारण वह जल अग्नि के अनुकूल ही होता है।

१५८ संस्कारभेदो वेगोऽथस्थितिस्थापकभावने॥
मूर्तमात्रे तु वेग: स्यात्कर्म्मजो, वेगज: क्वचित्॥

वेग स्थिति स्थापक और भावना के भेद से संस्कार तीन प्रकार का होता है। वेग मूर्त मात्र में रहता है और कर्मज और वेगज के भेद से दो प्रकार का होता है।

१५९ स्थितिस्थापक संस्कार: क्षितौ, केचिच्चतुर्ष्वपि।
अतीन्द्रियासौविज्ञेय: त्क्वचित्स्पन्देऽपि कारणम्॥

स्थिति स्थापक संस्कार पृथ्वी में माना जाता है और किसी के मत से वह पृथिव्यादि चारों में माना जाता है। वह संस्कार अतीन्द्रिय है और कहीं कहीं आवृष्टि शाखादि में जो स्पन्द होता है उसका कारण है

१६० भावनाख्यस्तुसंस्कारोजीववृत्तिरतीन्द्रिय:।
उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चय: कारणं भवेत्॥

जीवात्मा में रहने वाला भावनारव्य संस्कार अतीन्द्रिय है। और उपेक्षानात्मक निश्चय उसका कारण होता है।

१६१ स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते ।
धर्माधर्म्मावदृष्टस्याद्धर्म्म:स्वर्गादि साधनम्॥

१६२ गंगास्नानादियागादिव्यापार: सतुकीर्तित:।
कर्मनाशाजलस्पर्शादिनानाश्यस्त्वसौ मत:॥

'सएवायं देवदत्त:' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा और स्मरण का कारण भावनाख्य संस्कार है। धर्म अधर्म दोनों अदृष्ट शब्द के अर्थ हैं उनमें धर्म स्वर्ग का कारण है। और वह धर्म गङ्गा स्नानादि यागादिरूप क्रिया का व्यापार है। उक्त कर्मनाशा नदी के जल स्पर्शादि से धर्म का नाश होता है।

१६३ अधर्म्मोनरकादीनां हेतुर्निंदितकर्म्मज:।
प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्तीत्विमौगुणा॥

श्रुति स्मृति निषिद्ध कर्म से उत्पन्न होने वाला अधर्म नरकादि सकल दु:खों का कारण है। और प्रायश्चित्तादि से नाश्य है। एवं धर्म अधर्म दोनों जीवात्मा में रहते हैं।

१६४ इमौतु वासना जन्यौ ज्ञानादपि विनश्यत:।

धर्म और अधर्म मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं और तत्वज्ञान से नष्ट होते हैं।

शब्दोध्वनिश्चवर्णश्च मृदङ्गादिभवोध्वनि:॥

१६५ कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्तेकादयोमता:।
सर्वाशब्दानभोवृत्ति: श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते॥

१६६ वीचीतरङ्ग न्यायेन तदुपत्तिस्तुकीर्तिता।

पू० ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक के भेद से शब्द दो प्रकार के होते हैं। उनमें मृदङ्गादिजन्य शब्द ध्वन्यात्मक है और कण्ठ संयोगादि जन्य ककाराद्यात्मक शब्द वर्णात्मक है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दोनों प्रकार के शब्द आकाश में समवेत है और श्रोत्रेन्द्रिय में उत्पन्न होने पर ज्ञात होते हैं। वीचीतरंगन्याय से शब्द की उत्पत्ति होती है।

कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्ति: कस्यचिन्मते॥

किसी के मत से कदम्बगोलक न्याय से शब्द की उत्पत्ति होती है।

१६७ उत्पन्न:को विनष्ट: क इति बुद्धेरनित्यता।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते॥

ककारादि शब्दों के उत्पाद विनाश की प्रतीति होने के कारण शब्द में अनित्यता मानी जाती है। यह वही ककार है जिसको पूर्व में सुन चुका हूँ। यह प्रतीति पूर्वश्रुत ककार के सजातीय ककार को विषय करती है।

१६८ **तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपिदर्शनात्।**
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हिनः।।

जिस औषध को मैंने किया था वही औषध दूसरे से भी किया गया है इत्यादि स्थल में अन्यकृत औषध को स्वकृत औषध से भिन्न रहने पर भी उसकी प्रत्यभिज्ञा होने के कारण उस प्रत्यभिज्ञा को सजातीय विषयक अवश्य मानना होगा। अतः ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक सभी शब्द अनित्य ही हैं। यह हम नैयायिकों का सिद्धान्त है।

इति सार्थन्यायकारिकावली समाप्ता।।

संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला का १४वाँ पुष्प

पर्यावरण एवं भारतीय नारी

(संस्कृत वाङ्मय के आलोक में)

(प्रथम भाग)

प्रधान सम्पादक
प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय
कुलपति

सम्पादक
डॉ. ज्ञानधर पाठक

लेखिका
डॉ. ज्योत्स्ना मोहन

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली - १६

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016